4450

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं॰ रामस्वरुपशर्मा गौडः

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

11.2

4450

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

4450

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१८

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

सायणभाष्यसहिता

अथर्ववेदसंहिता

सैव

हिन्दीभाषानुवादसंवलिता

भाग १

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

पं० रामस्वरूपशर्मा गौडः

PHONE : (Shop) 320414 (Office) 333445
चौखम्भा संस्कृत भवन
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Post Box No. 1160
(Opp. Chitra Cinema)
Chowk, Varanasi-221 001

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

Chaukhamba Vidyabhawan
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI - 221001
Telephone : 320404 Price : 2000/-

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ५७२१४

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

4450

THE
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
18

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
नरिया, वाराणसी-५

ATHARVA-VEDA-SAṀHITĀ

Along with

SĀYAṆABHĀṢYA

Volume 1

Edited with Hindi Translation

By

Pt. Ramswaroop Sharma Gaud

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(*Oriental Publishers & Distributors*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

Telephone : 63076

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

Telephone : 57214

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHI 110007

Telephone : 236391

श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान
4450

❀ श्रीः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

❀ भाष्यभूमिका ❀

बन्दना १
भाष्यसूचना २
अथर्ववेदके विषयमें तर्क वितर्क ३
अन्तमें इस वेदकी व्याख्या करनेका कारण ६९
अथर्ववेदकी शाखायें ७१
अथर्ववेदके सूत्र ७२
सूत्रोंमें प्रतिपादित अथर्ववेदके कर्म ७२
नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मोंका रूप ८३
तीन प्रकारके कर्मोंके अनुष्ठानका समय और स्थान ८३

❀ प्रथम काण्ड ❀

प्रथम अनुवाक—

प्रथम सूक्तका मेधाजनन आदि कर्मों में विनियोग, सम्पात शब्दकाअर्थ, उपधान शब्दका अर्थ,अथर्ववेदसे कैसी व्याधियें शान्त होती हैं। अनुमन्त्रण, अभिमन्त्रण, आवपन, शब्दका अर्थ किसी द्रव्यका उल्लेख न होने पर भक्षयति और जुहोति शब्दका अर्थ। सबको अभिमन्त्रण करके करे। एक प्रकारके अनेक कर्मोंको विकल्पसे एक २ करे वा सबको करे। शत्रुहस्तित्रासन आदिमें इस सूक्तका विनियोग ८७

प्रथम मन्त्र। देवताओंका शरीर होता है या नहीं ? आचार्य के कर्म करने पर यजमानको फल कैसे मिल सकता है ? १०२

विषय	पृष्ठ
उपाकर्मसंस्कारके जपके समय, संग्राममें विजय प्राप्त कराने वाले कर्म, बाणको हटाना, ज्वर अतिसार, अतिमूत्र और नाडीव्रणको शान्त करना और विजयकी कामना वालेकी अपराजिता महाशान्ति और पुष्पाभिषेकमें विद्मा शरस्य-नामक द्वितीय सूक्तका विनियोग। अपराजित गणकी सूची, पृथ्वी शब्दका अर्थ। वेदका नित्यत्व	१२१
मूत्र पुरीष आदि रुक जाने पर विद्मा शरस्य आदि तीसरा सूक्त	१३८
मंत्रोंके देवता किस प्रकार समझने चाहिये	१४६
चतुर्थ सूक्त। अपोनप्त्रीय सूक्त। बृहद्गण लघुगण शन्तातीय और अपांसूक्त। चतुर्थसूक्तका गौओंके रोगोंकी शान्ति, सब रोगोंमें घृत होम, लाभ हानि जय पराजय आदि कर्मोंमें सिद्धि और असिद्धिको जाननेके पदार्थोंका अनुमन्त्रण, संग्रामभूमिकी परीक्षा और अर्थोत्थापन कर्ममें विनियोग। वैद्य हिंसा पर विचार। आभिचारिक श्येनभाग आदिका निषेध। जलमें अमृत है।	१५१
पञ्चम सूक्त। इस सूक्तका गौओंके रोगोंकी शांति पुष्टि प्रजनन ऐन्द्राग्नपशु और आदित्यामहाशांतिमें विनियोग होता है जाया शब्दकी व्याख्या	१६६
छठा सूक्त। इसका प्रथमसूक्तकी समान सर्वत्र विनियोग होता है और इन्द्रमहाख्य नामवाले कर्मके आचमनमें और राजाके पुष्पाभिषेकके कलशके अभिमन्त्रणमें भी इसका विनियोग होता है।	१७५

द्वितीय अनुवाक—

प्रथम सूक्त। इसका भूत पिशाचोंके आवेशको उतारनेमें विनियोग है। अग्निका हविको पहुँचाना और जातवेदाः शब्दकी व्याख्या और अग्निके राक्षससंहर्तृत्वमें प्रमाण।	१८२

विषय पृष्ठ

द्वितीय सूक्त। इसका विनियोगपूर्व सूक्तकी समान होता है। १६४

तृतीय सूक्त। इस सूक्तसे सर्वसम्पत्कर्मोंमें वासित नीलमोंको बाँधे। वासित शब्दका अर्थ। इसी सूक्तसे राज्यसे च्युत हुए राजाको फिर राज्य दिलानेके लिये ओदन खिलावे। तथा ऐरावती और बार्हस्पत्या नाम वाली महाशान्ति में आदि भी इसका विनियोग होता है इन्द्र शब्दकी व्याख्या २०१

चतुर्थ सूक्त। इससे जलोदर रोगकी निवृत्तिके लिये अभिषेक करे। झूँठ बोलनेसे जलोदर रोगकी उत्पत्ति। झूँठ बोलने वालेको वरुणदेव दण्ड देते हैं। २१३

पञ्चम सूक्त। इससे सुखप्रसवके कर्म करे। पुत्र शब्दका अर्थ। २२१

तीसरा अनुवाक-

प्रथम सूक्त। इस सूक्तका वात पित्त और कफसे उत्पन्न हुए रोगोंमें मधु आदि पिलाते समय विनियोग होता है। दुर्दिन और अतिवृष्टि निवारणके जलप्रक्षेप और सब व्याधियोंमें सम्पातित अभिमंत्रित जलप्रक्षेपके समय इसका विनियोग होता है। अग्निमें होम करनेसे वृष्टिका होना। २३१

द्वितीय सूक्त। अशनि निवारणकर्मके अशनि-उपस्थानमें और सोम आदि द्रव्योंके घरमें दबानेमें इसका विनियोग किया जाता है। तथा उपाकर्ममें इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। २४०

तृतीय सूक्त। इसका स्त्री पुरुषको दुर्भाग्ययुक्त करनेमें विनियोग है। २४८

चतुर्थ सूक्त। इसका लक्ष्मीकरण आदिमें विनियोग होता

विषय पृष्ठ

है। मिश्रधान्य शब्दका अर्थ। नदी शब्दकी व्याख्या। घृतकी व्याख्या। २५४

पञ्चम सूक्त। इससे शत्रुको मारनेके लिये अभिमन्त्रित सीस आदि पिलावे। रात्रिमें राक्षसोंके घूमनेका वर्णन। २६१

चतुर्थ अनुवाक–

प्रथम सूक्त। इससे घावके रुधिरके प्रवाह और स्त्रीके रक्तके अधिक बहनेको दूर किया जाता है। २६९

द्वितीय सूक्त। इससे दुर्लक्षणोंको दूर करनेके लिये मुख धुलवाना आदि कर्म करे। २७६

तृतीय सूक्त। इसका सांग्रामिक आदि कर्मोंमें, ब्राह्मणका आयुध उठाना और देवप्रतिमाका हँसना आदि अद्भुत होने पर किये जानेवाले घृतहोम में विनियोग होता है। और बैल धेनुके स्तनको पिये तो इस सूक्तसे घृतका होम करे। २८४

चतुर्थ सूक्त। इसका सांग्रामिक कर्मोंमें विनियोग होता है। और दर्शपूर्णमास यागकी हविको देखनेमें भी इसका विनियोग होता है। २९१

पञ्चम सूक्त। सांग्रामिक कर्मोंमें इसका विनियोग किया जाता है। ग्रामगमन आदिमें स्वस्त्ययन चाहने वाला इस सूक्तको पढ़ कर दाहिना पैर उठावे, धूल तृण उड़ावे और इन्द्रोपस्थान करे। वेदिकरणकी आदिमें इस सूक्तको जपे। और गोवरसे ढ़की हुई चितिका ब्रह्मा इस सूक्तसे अनुमन्त्रण करे। वृत्र शब्दका अर्थ। २९८

पञ्चम अनुवाक–

प्रथम सूक्त। इससे हृद्रोग और कमलवाय आदिको हटानेके लिये रक्तवृषभरोममिश्रित जल पिलावे। इत्यादि ३०५

विषय पृष्ठ

द्वितीय तृतीय सूक्त । इनसे श्वेतकुष्ठको हटानेके लिये भृङ्गराज आदिको पीस कर लगावे । पलित रोगको नष्ट करनेके लिये औषधि लगावे । ३११

चतुर्थ सूक्त । इससे ऐकाहिक ज्वर संततज्वर शीतज्वर और सामयिक ज्वरको दूर करे । ३२१

पञ्चम सूक्त । खड्ग आदिको हटानेके लिये इससे होम करे, प्रहार करनेके लिये उद्यत शत्रुको देखकर इसका जप करे । दुःशकुन होने पर और काक मैथुन आदि अद्भुतमें इस सूक्तको जपे । स्वस्ति चाहने वाला रात्रिको सोते समय इस सूक्तको जपे । और उपाकर्मके घृतहोममें भी इसका विनियोग किया जाता है । ३२६

छठा सूक्त । इससे विजयके लिये आयुध देनारूप स्वस्त्ययन करे । प्रेतं पादौ ऋचासे पैरको अभिमन्त्रित करके रक्खे । ३३५

सप्तम सूक्त । इससे उद्विग्नके उद्वेगको हटाया जाता है । राक्षस और देव शब्दकी व्याख्या । ३४१

छठा अनुवाक—

प्रथम सूक्त । इसका माहेन्द्री महाशान्तिमें और इस की चार ऋचाओंका शत्रुमर्दित राष्ट्रकी वृद्धिके लिये विनियोग होता है । ३४८

द्वितीय सूक्त । इससे आयुष्यकर्ममें स्थालीपाकमें तीन पिण्डोंको डाल कर उनका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके खावे । उपनयनमें बालककी नाभिको छूकर इसको जपे । आयुष्कामके वैश्वदेवयागमें और उपस्थानमें यह पढ़ा जाता है । अध्यायोत्सर्जन कर्मके तथा उपनयन और उपाकर्मके घृतहोममें इसका विनियोग होता है तथा ऐरा-

विषय पृष्ठ

वती और वैश्वदेवीनाम वाली महाशान्तिमें और पुष्पाभिषेकमें तथा दर्श पूर्णमास यागके वषट्कारानुमन्त्रणमें भी इसका विनियोग किया जाता है, प्रयाज और अनुयाज देवताओंका वर्णन ॥ ३५६

तृतीय सूक्त। इस सूक्तका चतुःशरावौदन–सवमें किये जाने वाली निरुप्त हविके सम्पातन और अभिमर्शनमें विनियोग होता है तथा इसीसे दातृवाचन और दान भी करे। तथा धूमकेतुरूप अद्भुतदर्शनके लिये दिग्देवताके बकरेका अवदान करे तथा इसकी तीसरी ऋचाके अतिरिक्त प्रत्येक ऋचासे चरुका होम करे। ग्राम नगर देश और प्राकारके फटने पर नीवमें पुरोडाश और पत्थरोंको रक्खे। और इस सूक्तकी पहिली ऋचासे सर्वरोगोंकी चिकित्सामें आप्लावन अवसेचन और पायन आदि करे। अंहोलिङ्गगणकी सूची। अश्वमेधमें छोड़े हुए घोड़ेका इस सूक्तसे ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे और सर्वस्वस्त्ययनकी इच्छा वाला इस सूक्तकी अंतिम ऋचासे रात्रिमें उपस्थान करे ॥ ३६७

चौथा सूक्त। इससे वंध्याके पुत्रजननकर्ममें शान्तौषधि सहित अभिषेक करे और पुरोडाश गेंद और अलंकार देवे तथा पुष्टिकी वा सम्पत्ति कामनावाला इससे द्यावापृथिवीका याग और उपस्थान करे और दर्शपूर्णमास यागमें पहिली ऋचाका पत्नीकी अञ्जलिमें जल पूर्ण पात्र रखनेमें विनियोग करे ॥ ३७६

पञ्चम सूक्त। इसका बृहद्गण और लघुगणके प्रयोगमें तथा अर्थोत्थापन कर्ममें विनियोग किया जाता है। गोदानमें बालकको स्नान करावे और मधुपर्कके पाद्योदकाभिमन्त्रण और पुष्पाभिषेकके कलशाभिमन्त्रणमें भी में इसका विनि-

विषय पृष्ठ

योग होता है । और जलरहित देशमें जल प्रादुर्भाव होने पर इससे घृतका होम करे जलपूर्ण कलश टूटने पर इससे जलको अभिमन्त्रित कर नवीन घटमें डाले ॥ ३८४

छठा सूक्त । सभाविजयकर्ममें इससे मधूक नाम वाली औषधिका भक्षण करे । विवाहमें मधूकमणिको रक्तसूत्रसे अंगुलिमें बाँधे । चतुर्थीकर्ममें मधूकमणिको औक्षमें डालकर इससे अभिमन्त्रण करके वधू और वर परस्पर सङ्गम करें ॥ ३९२

सातवाँ सूक्त । इससे सर्वसम्पत्कर्मोंमें वासित नीलम बाँधे और सारूप वत्सौदनमें पुरुष वना कर खावे आयु चाहनेवाला इससे दो सुवर्णजटित नीलमोंको बाँधे और भात खावे । ब्रह्मचारीके उपनयनमें इससे घृतहोम भी होता है। आदित्या शान्तिके दो नीलम बाँधनेमें इसका पाठ होता है । और पुरोहित प्रतिदिन इस सूक्तसे अलंकारोंको अभिकर राजाको देय । हिरण्यगर्भ नामवाले महादानमें सुवर्ण की मालाको इससे अभिमन्त्रित करके यजमानके बाँधे ॥ ३९८

❀ द्वितीय-काण्ड ❀

प्रथम अनुवाक—

प्रथम सूक्त । अभिमत काममें सिद्धि वा असिद्धिको जाननेमें इसका विनियोग होता है । विवाहसे पहिले कुमारी के सौभाग्यसूचक कर्मोंमें इसका विनियोग होता है । इस की तीसरी ऋचाका वैश्वकर्म होममें विनियोग होता है ॥ ब्रह्मका अनन्यत्व । परम धाम । ज्ञानीकी श्रेष्ठता । सब ब्रह्ममय है । ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म होजाता है । शब्दब्रह्म । अग्निका अन्नादत्व ॥ ४११

विषय	पृष्ठ
द्वितीय सूक्त । इसका गन्धर्व अप्सरा भूत और ग्रह आदिके शान्तिके लिये किये जाने वाले सर्वौषधि होममें और चौराहेके कपालाग्निहोममें विनियोग होता है तथा घृत मांस मधु सुवर्ण धूल आदिकी भयंकर वर्षारूप अद्भुतमें तथा वन्दर कुत्तारूप यक्षके अद्भुतमें और गीदड़के मेंडककासा मुख होनारूप अद्भुतमें इससे घृतकी आहुति देय । ग्रहयज्ञमें प्रधानहोमके पीछे इस सूक्तसे घृतहोम करे चातन, मातृनाम और वास्तोष्पत्य गणकी सूची । महाशान्तिमें इससे होम करके कुम्भमें होम करे । ब्रह्मा अश्वमेधमें सूक्तकी दूसरी ऋचासे घोड़ेका अनुमन्त्रण करे ॥	४३४
तृतीय सूक्त । ज्वर, अतिसार, बहुमूत्र और नाड़ीव्रण को शांत करनेके लिये इस सूक्तसे मूँजकी रस्सी बाँधे, खेतकी मट्टी पिलावे, घृतका लेप करे और चमड़ेकी धौंकनीसे अपान शिश्न और नाड़ीके व्रणके मुखको फूके ॥	४४६
चतुर्थ सूक्त । इस सूक्तसे कृत्यादूषणके लिये अपनी रक्षाके लिये और विघ्नशांतिके लिये जंगिडमणिको सनके डोरेमें पिरो संपात और अभिमन्त्रण करके बाँधे ॥	४५२
पञ्चम सूक्त । बल चाहने वाला इस सूक्तसे इन्द्रकी पूजा वा उपस्थान करे। अभिषव होमके षोडशिग्रहके इन्द्रोपस्थानमें, दूसरेके राज्यमें विजय पुष्टि और पशु चाहने वालेके लिये की जाने वाली ऐन्द्री महाशान्तिमें भी इसका विनियोग होता है । इन्द्रके हरे घोड़ोंका प्रमाण ॥	४५८
द्वितीय अनुवाक—	
प्रथम सूक्त । इससे सम्पत्ति चाहने वाला अग्निका उपस्थान वा याग करे । और भूत रोग तथा चोरोंके भयसे	

विषय पृष्ठ

संवत्सरके दारुण होजाने पर घृतकी इससे आहुति देय। ब्रह्मा अग्निचयनके प्राजापत्य पशु पर इस सूक्तको जपे ४६८

द्वितीय सूक्त। लौकिक वैदिक आक्रोश, ब्राह्मणशाप और क्रूरपुरुषकी दृष्टि लगने पर इससे सम्पातन और अभिमन्त्रण करके यवमणिको बाँधे। नक्षत्र और ग्रहोंके भयको दूर करने वाली भार्गवी महाशांतिके दूबके मणिके बन्धनमें इस सूक्तका पाठ होता है॥ ४७६

तृतीय सक्त। इस सूक्तसे कुलपरम्परागत कोढ़ क्षय और ग्रहणी रोगको शान्त करनेके लिये जलपूर्ण घटके निमित्त होम और अभिमन्त्रण करके घरसे बाहर रोगीपर छिड़के। इसकी दूसरी ऋचासे उक्त व्याधिको शांत करनेके लिये उषःकालमें अभिषेक करे। तीसरी ऋचासे अर्जुन काष्ठ, जौंका भुस और तिलका मंजरीको एकत्रित करके बाँधे और इसी ऋचासे मट्टी, वमईकी मट्टीको जीवपशुके चमड़ेसे बाँध कर बाँधे। चौथी ऋचासे जलपूर्ण घटका अभिमन्त्रण करके रोगीको बैल वाले हलके नीचे बैठा कर ऊपरके जलको उस पर छिड़के। पाँचवीं ऋचासे शून्यगृहमें जलपूर्ण कलशके निमित्त होम करे, पासके पुराने गढ़े पर होम करे फिर उस गढ़ेमें पिरालको विछा कर उस पर रोगीको बैठावे और घटके जलसे रोगीको आचमन करावे और उस जलको रोगी पर छिड़के। इन सब कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मको करे। अचेतनोंके अभिमानी देवता। ४८२

चतुर्थ सूक्त। ब्रह्मग्रहकी शान्तिके लिये पलाश आदिकी लाख और सुवर्णसे मण्डित मणिके निमित्त इस सूक्तसे होम और अभिमन्त्रण करके उस मणिको बाँधे। दश ब्राह्मण

विषय पृष्ठ

ब्रह्मग्रहसे आविष्ट पुरुषको छूकर इसका जप करें ॥ ४८९

पञ्चम सूक्त। इससे पूर्वोक्त रोगोंकी शांतिके लिये चौराहेमें जलपूर्ण घटके निमित्त होम और अभिमन्त्रण करके रोगीकी गाँठो पर कबीलेके टुकड़ोंको बाँधकर मोरछलके द्वारा उस जलसे स्नान करावे और जल छिड़के ॥ ४९९

तीसरा अनुवाक—

प्रथम सूक्त । स्त्री शूद्र राजा ब्राह्मण कापालिक अन्त्यज और शाकिनी आदिके अभिचार करने पर अपनी रक्षाके लिये और कृत्याको दूर करनेके लिये इस सूक्तसे तिलकमणिको अभिमन्त्रित करके बाँधे । कृत्याको दूर करनेके शान्तिजलमें यह सूक्त पढ़ा जाता है। राज्य श्री ब्रह्मतेजकी कामना वालेके लिये तथा जिस पर अभिचार होता है वा किया जाता है, इनके लिये की जाने वाली बार्हस्पत्या महाशान्तिके तिलकमणिबन्धनमें यह सूक्त पढ़ा जाता है। कृत्याको दूर करनेके लिये इसकी पहली ऋचासे सूत्रोक्त द्रव्यको गुल्फ पर छिड़के ॥ ५०९

द्वितीय सूक्त। इससे अभिचारकर्मकी दीक्षाके बाँसके दण्डेको काटे। तथा इस सूक्तसे शत्रुनिषूदनकर्ममें दक्षिण की ओर मुख करके दौड़ते हुए शत्रुके पैरोंमें वृक्षके पत्ते फैंके फिर उनको फरसेसे टुकड़े कर उन धूल सहित पत्तों के टुकड़ोंको वधक पात्रमें लाकर भाड़में भूने ॥ ५१९

तृतीय सूक्त। इसका गोदान नामवाले संस्कारकर्मके शांत्युदकमें अनुयोजन करे। तथा इसी कर्ममें इसी सूक्तसे घृतकी आहुति देकर ब्रह्मचारीके शिर पर होम (की राख) को रक्खे। तथा इस कर्ममें दूसरी तीसरी ऋचासे वस्त्र देय।

विषय पृष्ठ

चौथी ऋचासे दाहिने पैरको पत्थर पर रखवावे । पाँचवीं ऋचासे पहिलेके वस्त्रको कर्ता ग्रहण करे । तथा पुरोहित इस सूक्तकी दूसरी तीसरी ऋचासे प्रतिदिन प्रातःकाल वस्त्रको अभिमन्त्रित कर राजाको देय । और आरती करते समय चार धूलिकणोंको चारों दिशाओंमें फैंक कर पाँचवीं को चौथी ऋचासे राजाके शिर पर रक्खे ॥ वस्त्रोंके देवता और ब्राह्मणोंके राजा सोम हैं । गौके विषयमें शतपथकी आख्यायिका । ५२८

चतुर्थ सूक्त । जिस स्त्रीके बालक मर जाते हों उस स्त्री के सन्ताननाशको दूर करने वाले कर्म इस सूक्तसे किये जाते हैं। इत्यादि ५३७

पञ्चम सूक्त । आयुकी कामना वाला इससे स्थालीपाक ओदनको शान्तिजलसे प्रोक्षण और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे । ५४६

छठा सूक्त । आयुकी चाहना वाला इस सूक्तसे घृत आदि तेरह वस्तुओंकी आहुति देय । और इस सूक्तकी दूसरी ऋचा से ब्रह्मा आग्रयणेष्टिमें द्यावापृथिवीकी हविका अनुमन्त्रण करे । स्वाहा शब्दके विषयमें विचार ॥ ५५०

सातवाँ सूक्त । आयु चाहने वाला इससे पहिले सूक्तकी समान घृत आदिकी आहुति देय । ५५६

चतुर्थ अनुवाक—

प्रथम सूक्त । इससे अभिचारकर्ममें शरकी समिधाओं को रक्खे कृष्ण धान जौ तिल आदिको बोवे इस सूक्तकी तीसरी चौथी और पाँचवीं ऋचाका चातनगणमें पाठ है । अतः चातनगण जहाँ आवे तहाँ सर्वत्र इसका पाठ होता है । ५५९

विषय पृष्ठ

दूसरा तीसरा चौथा पाँचवाँ और छठा सूक्त। इनसे अभिचारकर्मके पुरस्ताद्धोमोंमें घृतकी आहुति देय। ५६२

सप्तम सूक्त। इससे अलक्ष्मीविनाशकर्ममें समुद्रके मध्यमें अग्निमें होम कर चरुका सम्पातन और अभिमन्त्रण कर चरुका भक्षण करे। तथा इसी कर्ममें इससे खंडित जौके सत्तुओंको लाल वर्णकी बकरीके दूधमें डाल कर घृतकी आहुति देय, फिर सम्पातन और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे तथा इसी कर्ममें इससे तृणग्रन्थियोंको बना कर जलपूर्ण पात्रमें प्रत्येक ऋचासे डाले और उस जलसे मार्जन करे। ५७४

अष्टम सूक्त। शान्त्युदक आदिमें इसका विनियोग है। तथा कुष्ठ आदि सब रोगोंकी चिकित्सामें इस सूक्तसे पिठवनका लेप करे। ५८२

नवम सूक्त। गौओंकी पुष्टि चाहने वाला इससे बछड़ेकी लार मिले नवीन (पहिलौन गौके) दूधके निमित्त होम और अभिमन्त्रण करके उसका प्राशन करे। तथा इससे अभिमन्त्रित करके गौको देय। तथा इससे अभिमन्त्रित जलपूर्ण पात्रको गोष्ठमें लेजाय। इसी प्रकार बछड़ेके और अपने एकसे रूप वाली गौके दूधके बने भातमें गूगल नमक और गोवरके पिण्डोंको डाल कर उन उपलोंको तीन रात तक अग्निमें दवा कर चौथे दिन निकाले और सम्पातन तथा अभिमन्त्रण करके खावे ५८८

पञ्चम अनुवाक—

प्रथम सूक्त। इससे विवादजयकर्ममें पाठामूलका अभिमन्त्रण करके खाता हुआ अपराजित देशसे सभा-

विषय पृष्ठ

स्थानमें प्रवेश करे। तथा इससे अभिमन्त्रित पाठाको खाता हुआ प्रतिवादीसे भाषण करे। तथा इससे अभिमन्त्रित पाठामालाको शिर पर धारण करे। रुद्रशब्दकी व्याख्या। ५६५

द्वितीय सूक्त। गोदान और चौलकर्ममें इस सूक्तको पढ़ माता पिता पुत्रको तीन वार एक दूसरेको देवें। तथा इसी कार्यमें इस सूक्तसे घृतके पिण्डोंके निमित्त होम और अभिमन्त्रण करके उनको खिलावे ॥ ६०४

तृतीय सूक्त। इससे तृषार्तकी चिकित्सा होती है। गोदान और चौलकर्ममें कुमारके मस्तक पर व्रीहि जौ और जण्ड इसकी दूसरी तीसरी ऋचाओंसे अभिमन्त्रित कर झाडे। इत्यादि ६१२

चतुर्थ सूक्त। इसका स्त्री वशीकरणमें प्रयोग होता है ६२३

पञ्चम सूक्त। इसका कृमिरोग पर प्रयोग किया जाताहै। ६२८

छठा अनुवाक–

प्रथम सूक्त। इसका गौओंके कीड़ोंकी चिकित्सा पर प्रयोग किया जाता है। ६३४

द्वितीय सूक्त। इसका आँख नाक कान शिर और जीभ आदि सब रोगोंकी चिकित्सामें प्रयोग होता है। अश्वमेधकी दीक्षा लेने वाले यजमानकी चिकित्सामें भी इसका विनियोग होता है। ६३६

तृतीय सूक्त। इससे अभिमन्त्रित करके ब्राह्मणोंको अन्न देय। तथा सब लोकों पर अधिपतित्व चाहने वाला इससे इन्द्राग्नीके याग वा उपस्थानको करे। इत्यादि ६४७

चतुर्थ सूक्त। बहुतसे मनुष्योंमें भोजन करते समय दृष्टिदोषको दूर करनेके लिये अन्नको अभिमन्त्रित करके

विषय	पृष्ठ
खावे । तथा सब पर अधिपतित्व करना चाहने वाला इससे इन्द्र और अग्निके याग वा उपस्थानको करे । सम्पूर्ण सवयज्ञोंमें इस सूक्तसे पुरस्ताद्धोमोंको करे । साकमेध नामक कर्ममें इससे वैश्वदेवयागानुमन्त्रण करे । दर्शपूर्णमासयागानुमन्त्रणमें इसकी पाँचवी ऋचासे होम करे ।	६५४
पञ्चम सूक्त । इसका पतिलाभकर्ममें प्रयोग होता है । और इस सूक्तसे बिना फटा कोरा वस्त्र वृषभको उढ़ा कर छोड़ देवे । कन्याके यहाँ बरात लेजानेका प्रमाण । औक्तशब्दका अर्थ ।	६६५

अथर्ववेदसंहिता

❀ हरिः ॐ

अथर्ववेदसंहिता

❀ सायणाचार्यकृत-भाष्यभूमिका ❀

❀ वन्दना ❀

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

अविद्याभानुसंतप्तो विद्यारण्यमहं भजे ।
यदर्ककरतप्तानामरण्यं प्रीति-कारणम् ॥ ३ ॥

बृहस्पति आदि देवता, सब प्रकारकी पुरुषार्थसिद्धिके आरंभमें जिन देवताको प्रणाम करके कृतार्थ हुए हैं, उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं, और जिन्होंने वेदोंसे सम्पूर्ण जगत्को रचा है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥ मैं अविद्यारूप सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त होकर, विद्याके अरण्यरूप देवताका भजन करता हूँ, क्योंकि-सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त हुए पुरुषको अरण्य (वन) ही प्रसन्न करनेका कारण हो सकता है ॥ ३ ॥

❀ भाष्यसूचना ❀

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधतो बुक्कभूपतेः ।
अभूद्धरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः ॥ ४ ॥
विजितारातिव्रातो वीरश्रीहरिहरक्ष्माधीशः ।
धर्मब्रह्माध्वन्यः कलिं स्वचरितेन कृतं युगं कुरुते ॥५॥
साधयित्वा महीं सर्वां श्रीमान् हरिहरेश्वरः ।
भुंक्ते बहुविधान् भोगान् असक्तो रामवत्सुधीः ॥ ६ ॥
विजयी हरिहरभूपः समुद्वहन् सकलभूभारम् ।
षोडशमहांति दानान्यनिशं सर्वस्य तुष्टये कुर्वन् ॥७॥
तन्मूलभूतमालोच्य वेदं आथर्वणाभिधम् ।
आदिशत् सायणाचार्यं तदर्थस्य प्रकाशने ॥ ८ ॥

उन (देवता) की कृपाकटाक्षसे उनके रूपको धारण करनेवाले बुक्क भूपतिसे, क्षीर समुद्रसे चन्द्रमाके प्रकट होनेकी समान हरिहर नामक राजा उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥ शत्रुओंको जीतने वाले, वीरकुलचूड़ामणि, धर्ममार्गदर्शक, ब्राह्मणोंका पोषण करने वाले वह हरिहर राजा अपने चरित्रसे कलियुगको सत्ययुग सा बना रहे हैं ॥ ५ ॥ सुबुद्धि श्रीमान् हरिहर नामक राजा, सारी पृथ्वी का सुशासनसे पालन करके राजा रामचन्द्रकी समान आसक्ति-शून्य होकर अनेक प्रकारके भोगोंको भोगते हैं ॥ ६ ॥ शत्रुओं का विजय करने वाले वह हरिहर राजा, सकल पृथ्वीके भारको धारण कर, जनसाधारणको सन्तुष्ट करनेके लिये सोलह प्रकारके दानोंको करते रहते हैं ॥ ७ ॥ उन्होंने मूलीभूत इस अथर्ववेदकी आलोचना करके, इसके अर्थको प्रकाशित करनेके लिये सायणा-

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ९ ॥
व्याख्याय वेदत्रितयमामुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याकरिष्यति ॥१०॥

ननु "यज्ञं व्याख्यास्यामः । स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" [सत्या० सू० १. १] इति स्मरणादृग्यजुःसाम्नामेव फलवत्कर्मशेषत्वम् अवसीयते । प्रादुर्भावोपि त्रयाणामेव श्रूयते । "त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्"

चार्यसे प्रार्थना की ॥ ८ ॥ कृपालु सायणाचार्य बड़ा भारी संग्रह करके पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाकी व्याख्या कर वेदके अर्थ को प्रकाशित करनेके लिये उद्यत होगए ॥ ९ ॥ परलोकमें फल देने वाले ऋक्, यजु और साम इन तीनों वेदोंकी व्याख्या (भाष्य) करके वह अब इस लोक और परलोक दोनों लोकों में फल देनेवाले चौथे अथर्ववेदके अर्थको प्रकाशित करना चाहते हैं ॥ १० ॥

(इस भूमिकामें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके रूपमें वितर्कमीमांसाके द्वारा अथर्ववेदकी प्रतिष्ठाका वर्णन किया है, पहिले पूर्वपक्षको उठा कर 'अथर्ववेदका अस्तित्व ही नहीं है' यह कहते हैं. कि—)

सत्याषाढ़सूत्रमें कहा है, कि—"यज्ञकी व्याख्या करेंगे, वह यज्ञ (ऋक् यजु साम इन) तीन वेदोंसे किया जाता है १ । १" इससे निश्चित होता है, कि—ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदका ही फलवत्त्व और कर्मशेषत्व है (अर्थात् वे तीन ही फल देने वाले कर्मकाण्डका और वेदान्तका वर्णन करनेवाले वेद हैं) और तीन ही वेदोंका प्रादुर्भाव सुना जाता है । ऐतरेयब्राह्मणमें कहा है, कि—

इति [ऐ० ब्रा० ५. ३२]। "ऋचः सामानि जज्ञिरे। यजुस्तस्माद् अजायत" इति [ऋ० १०. ९०. ९] च॥ संख्यानियमश्च श्रूयते। "वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" [तै० ब्रा० ३. १२. ९. १]। "यम् ऋषयस्त्रयिविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि" इति [तै० ब्रा० १. २. १. २६]॥ धर्मविशेषश्रवणाच्च त्रित्वम् अवगम्यते। "उच्चैर्ऋचा क्रियते उपांशु यजुषा उच्चैः साम्ना" इति [सत्या० सू० १. १. १]। "यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं [तद्] यद् ऋचा तद् दृढम्" इति [तै० सं० ६. ५. १०. ३]॥ ते च ऋगादयो विस्तरेण व्याख्याताः। अस्य तु वेदस्य त्रयीव्यतिरिक्तत्वेन कर्मशेषत्वाभावाद् न व्याख्यानार्हता।

"तीन वेद प्रकट हुए। अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और सूर्यसे सामवेद प्रकट हुआ ५।३२" और ऋग्वेदमें कहा है, कि–"ऋक्से साम और सामसे यजुर्वेद प्रकट हुआ १०।९०।९" संख्याके विषयमें भी इस प्रकार सुना जाता है। "तीन वेदोंके द्वारा सूर्य सर्वत्र जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९।१" "यमृषयः आदिसे प्रतीत होता है, कि–त्रयीवेत्ता ऋषि ऋक् साम और अथर्ववेदके मन्त्रोंको जानते थे। १।२।१।२६" और धर्मविशेषश्रवणसे भी वेद तीन ही प्रतीत होते हैं। यथा–सत्याषाढ़सूत्रके १।७।१ में कहा है, कि–"यज्ञका जो कार्य ऋग्वेद और सामवेदके मन्त्रोंसे किया जाता है वह ऊँचे स्वरसे मन्त्र पढ़ कर किया जाता है और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे जो काम होता है वह उपांशुरूपसे (जोरसे न बोलकर धीरेसे) मन्त्र पढ़ कर होता है" तैत्तिरीय संहिताके ६।५।१०।३। में कहा है, कि–यज्ञका जो काम साम और यजुर्वेदके द्वारा होता है वह शिथिल और जो ऋग्वेद के मन्त्रोंसे होता है वह दृढ़ (स्वरसे करना चाहिये)" अत एव इन ऋक् आदि तीन वेदोंका भाष्य तो मैं कर चुका और अथर्व-

अथोच्यते। ऋग्वेदेन हौत्रमेव प्रतिपाद्यते यजुषा आध्वर्यवम् साम्ना औद्गात्रम् इति वेदत्रस्य प्रतिनियतप्रयोगप्रतिपादनपरत्वात् अवशिष्टब्रह्मकर्तव्यताप्रतिपादकश्चतुर्थो वेदो व्याख्येयः। तदभावे यज्ञशरीरस्य अनिष्पत्तेरिति। मैवम्। उक्तैरेव त्रिभिर्वेदैः क्रत्वपेक्षितस्य ब्रह्मकर्तव्यस्यापि सिद्धेः। तथा च ऐतरेयब्राह्मणे। "यदृ ऋचैव हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्र्य्या विद्ययेति ब्रूयात्" इति [ऐ० ब्रा० ५. ३३]। स्मर्यते च। "ऋग्वेदेन होता करोति सामवेदेनोद्गाता यजुर्वेदेनाध्वर्युः सर्वैर्ब्रह्मा" इति।

वेदमें त्रयीसे अतिरिक्त होनेके कारण कर्मशेषत्वका अभाव है, अत एव इसकी व्याख्या करना उचित नहीं है।

इस प्रकार अथर्ववेदकी अनुपयोगिता दिखाने वाला पूर्वपक्ष कह कर अब उत्तरपक्षरूपसे अथर्ववेदका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं, कि—ऋग्वेदके द्वारा हौत्रकर्म (होतासम्बंधी कर्म), यजुर्वेदके द्वारा आध्वर्यव कर्म (अध्वयु संबंधी कर्म) तथा सामवेदके द्वारा औद्गात्रकर्म (उद्गातासंबंधी कर्म) का प्रतिपादन होता है। इस प्रकार तीनों वेदोंको नियत कर्मका प्रतिपादन करने वाला कह दिया अर्थात् उद्गाता आदिका कर्म इनसे सिद्ध होता है, किन्तु ब्रह्मकर्मका प्रतिपादक कौन वेद है ? अत एव चौथा यह अथर्ववेद ही ब्रह्मकर्मका साधन हो सकता है। अत एव इस अथर्ववेद की व्याख्या करना उचित है। क्योंकि—इसके विना यज्ञकी अङ्गहानि होती है।

(इसमें भी पूर्वपक्ष वाला दोष दिखाता है, कि—) यह न कहो, क्योंकि—उक्त ऋक् साम और यजुर्वेदसे ही यज्ञका अपेक्षित जो ब्रह्मकर्म है, वह भी सिद्ध होसकता है। ऐतरेय ब्राह्मण ५। ३३ में कहा है, कि—"ऋक्के द्वारा होताका कर्म यजुर्वेदके

अतश्चतुर्णां होत्रादीनाम् ऋत्विजाम् अपेक्षितस्य क्रियाकलापस्य त्रय्यैव सिद्धत्वात् न चतुर्थस्य वेदस्याकांक्षास्ति कुतस्तस्य व्याख्यानचिन्तेति ॥

अत्रोच्यते। हौत्रम् आध्वर्यवम् औद्गात्रमिति समाख्यया त्रयाणामपि वेदानां प्रतिनियतहोत्रादिकर्तव्यप्रतिपादनपरत्वावगमात् न ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादने तात्पर्यं संभवति। यथा अन्यपरस्य यजुर्वेदस्य होतृकर्तव्यतायाम् यथा वा तथाविधस्य ऋग्वेदस्य अग्निहोत्रे। एवं त्रय्यां तत्र तत्र प्रतिपादितं यद् ब्रह्मत्वम् तद् अथर्ववेदसिद्धमेव

द्वारा अध्वर्युका कर्म, सामवेदके द्वारा उद्गाताका कर्म होता है। इनके द्वारा ही त्रयीविद्याका विशेषरूपसे आरंभ होता है त्रयीविद्याके आरंभ होने पर ब्रह्मकर्मकी अपेक्षा किस लिये होगी? अर्थात् त्रयीसे ही ब्रह्मकर्म सम्पादित होजावेगा।" और स्मृति भी है, कि—"होता ऋग्वेदके द्वारा कर्म करता है, सामवेदके द्वारा उद्गाता कर्म करता है और यजुर्वेदके द्वारा अध्वर्यु कर्म करता है और ब्रह्मा तीनों वेदोंके द्वारा कर्म कर सकता है अर्थात् ब्रह्मकर्म तीनों वेदोंसे सिद्ध होसकता है।" अत एव होता आदि चार ऋत्विजोंका कर्म इन तीन वेदोंसे ही सिद्ध होनेके कारण, जो अथर्ववेद है उसकी आकांक्षा ही नहीं होती, फिर उसका भाष्य करनेकी चिन्ता क्या की जाय?

अब उत्तरपक्षमें कहते हैं, कि—'हौत्र आध्वर्यव और औद्गात्र' इस प्रकार समाख्या (नाम) के द्वारा तीनों वेदोंकी (पूर्वोक्त) होता आदिके कर्मोंकी साधनकी सामर्थ्य निश्चित होनेके कारण, (इनके अतिरिक्त) ब्रह्मकर्म प्रतिपादनमें तीनों वेदोंका तात्पर्य अर्थात् कर्तृत्व संभव नहीं होसकता। जैसे—अन्यपर अर्थात् अध्वर्यु कर्मके साधक यजुर्वेदका होताके कर्ममें अधिकार नहीं है और होताके कर्मके साधक ऋग्वेदका अग्निहोत्रसाधनमें अधिकार

लेशेनोक्तम् इति अतात्पर्यविषयत्वात् अकृत्स्नत्वाच्च नादरणीयम् । अकृत्स्नत्वमेव अभिप्रेत्य शाखान्तरोक्तं हौत्रं नानुष्ठेयम् इति आश्वलायनेनोक्तम् । "तद्ये केचन छान्दोग्ये वाध्वर्यवे वा हौत्रामर्शाः समाम्नाता न तान् कुर्याद् अकृत्स्नत्वाद्धौत्रस्य" इति [आश्व० ८. १३] ॥ अत एव वाङ्मनसनिर्वर्त्यस्य यज्ञशरीरस्य अर्धमेव त्रिभिर्वेदैर्निष्पाद्यते । अर्धान्तरं तु अथर्ववेदेनैवेति श्रूयते । "प्रजापतिर्यज्ञम् अतनुत । स ऋचैव हौत्रम् अकरोद् । यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्" इति प्रक्रम्य "स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते । मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति" इति [गो०ब्रा०३.२] ऐतेरेयब्राह्मणेपि त्रयीनिष्पाद्य एकः पक्षः मनोनिष्पाद्यः परः पक्ष

नहीं है । त्रयीवेदमें स्वस्वविहित (अपने २ लिये विहित) यज्ञकर्मका विधान है, किन्तु उन २ यज्ञकर्मोंके भीतर जो ब्रह्मकर्म है, वह अथर्ववेदसे सिद्ध होता है । अथर्ववेदके विना तात्पर्यका अर्थात् ब्रह्मकर्मसम्बंधी अनुष्ठान आदिका अभाव रह जाता है और अङ्गहानि होती है । अत एव पहिला मत आदरणीय नहीं है । यज्ञांगकी अपूर्णताको लक्ष्यमें रख कर ही आश्वलायनमें कहा है, कि—"छान्दोग्य आदि विषयमें हौत्र-संबंधी जो कुछ उपदेश पठित है, हौत्रके असम्पूर्ण रहनेके कारण उसको न करें । ८ । १३" अत एव वाणी और मनके द्वारा अभिलषित यज्ञशरीरका आधा भाग तीनों वेदोंके द्वारा और वाकी आधा भाग अथर्ववेदके द्वारा संपादित होता है । गोपथब्राह्मण ३ । २ में कहा है, कि—"प्रजापतिने एक यज्ञका विस्तार किया, उन्होंने ऋक्के द्वारा हौत्रकर्म, यजुर्वेदके द्वारा आध्वर्यव (अध्वर्यु का) कर्म, सामवेदके द्वारा औद्गात्र कर्म अथर्ववेदके द्वारा ब्रह्मकर्म संपादित किया था" अथवा "त्रयीवेदके द्वारा यज्ञका एक पक्ष संस्कृत किया और

इति श्रुतम् । "अयं वै यज्ञो योयं पवते । तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ । वाचा च हि मनसा च यज्ञोवर्त्तत । इयं वै वाग् । अदो मनः । तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति । मनसैव ब्रह्मा संस्करोति" इति [ऐ० ब्रा० ५. ३३]॥ एतदेवाभिप्रेत्य गोपथब्राह्मणे पूर्वभागे प्रश्नपूर्वकम् अथर्वविद एव ब्रह्मत्वम् आम्नातम्। "अथ [ह] प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदान् उवाच । कं वो होतारं वृणीयाम् । कम् अध्वर्युम् । कम् उद्गातारम् । कं ब्रह्माणम् इति । त ऊचुः । ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व । यजुर्विदम् अध्वर्युम् । सामविदम् उद्गातारम् । अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् । तथा हास्य यज्ञः चतुष्पात् प्रतितिष्ठति" इति [गो० ब्रा० २ २४]॥ तत्रैव विपक्षबाधश्च श्रुतः । "अथ चेद् नैवंविदं ब्रह्माणं

ब्रह्माने दूसरे पक्षको मनके द्वारा संस्कृत किया" ऐतरेय ब्राह्मणमें भी एक पक्ष त्रयीनिष्पाद्य और दूसरा पक्ष मनके द्वारा निष्पाद्य है, ऐसा सुना है । यथा—"यह जो पवित्र यज्ञ है, वाक् और मन इसके दो मार्ग हैं, वाक् और मनके द्वारा ही यज्ञ अनुष्ठित है । इस वाक्रूप त्रयीविद्याके द्वारा यज्ञका एक पक्ष संस्कृत होता है और ब्रह्मा मनके द्वारा अन्य पक्षको संस्कृत करता है । ५ । ३३" इसी बातको लक्ष्यमें रख कर गोपथब्राह्मणके पूर्वभागमें प्रश्नपूर्वक अथर्ववेदके जानने वालेको ही ब्रह्मा माना है । यथा—"प्रजापतिने सोमयाग करनेकी इच्छासे वेदोंसे बूझा, कि—मैं किसका होतारूपसे, किसका अध्वर्युरूपसे, किसका उद्गातारूपसे और किसका ब्रह्मारूपसे वरण करूँ ? इसके उत्तरमें वेदोंने कहा, कि—ऋग्वेदको जानने वालेका होतारूपसे, यजुर्वेदको जानने वालेका अध्वर्युरूपसे, सामवेदको जानने वालेका उद्गातारूपसे और अथर्ववेदको जानने वालेका ब्रह्मारूपसे वरण करो । ऐसा करने पर यज्ञ चतुष्पात् होकर प्रतिष्ठित होता है । २ । २४" यहाँ पर विपक्षीके

वृणुते दक्षिणत एवैषां यज्ञो रिच्यते" इति [गो० ब्रा० २. २४]। "यथैकपात् पुरुषो यन् अनुभयचक्रो वा रथो वर्तमानो भ्रेषं न्येति एवमेवास्य यज्ञो भ्रेषं न्येति" इति [गो० ब्रा० ३. २] च ॥

"स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" इति स्मृतिस्तु उदाहृतश्रुत्यनुसारेण मुख्यस्य अथर्वविदोऽसंभवे तत्तच्छाखासु यावदुक्तब्रह्मत्वमात्रेणापि क्रतुशरीरनिष्पत्तिर्भवति इत्येवमभिप्राया ॥

"त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्" इति [ऐ० ब्रा० ५. ३३] श्रुतिरपि प्रकृतव्याहृतित्रयापेक्षत्वाद् अविरुद्धा । "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम् एतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वाङ्गिरसः" इति [बृ०

आक्षेपका खण्डन इस प्रकार किया गया है, कि—"इस प्रकार ब्रह्माका वरण न करने पर यज्ञ होता आदिके दक्षिणदेशमें शून्य रह जाता है। गोपथ ब्राह्मण २। २४" "जैसे एक पैर वाला पुरुष चलनेमें अशक्त होता है अथवा एक पहियेका रथ चलनेमें अशक्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्मासे (अथर्ववेदके मन्त्रोंसे) हीन यज्ञ फलदायक नहीं होता है। गोपथब्राह्मण ३। २"।

(अब पूर्वपक्षमें कहे हुए सब श्रुतिवाक्योंका सामञ्जस्य दिखाते हैं, कि—) पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार अथर्ववेत्ता श्रेष्ठ ब्राह्मणके न मिलने पर, दूसरी शाखाओंमें कहे हुए ब्रह्मकर्मको करने पर ही यज्ञशरीर सिद्ध होजाता है। इस ही अभिप्रायसे "स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" अर्थात् वह यज्ञ तीन वेदोंके द्वारा ही विहित है—किया जाता है—ऐसी स्मृति चली आती है। और "त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्। ऐ० ब्रा० ५। ३३" त्रयीविद्याके द्वारा ही कहे, यह श्रुति भी भूः भुवः स्वः इन व्याहृतियोंको लक्ष्य करके कही गई है, अतः किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है अर्थात् यहाँ वेदको लक्ष्य करके कुछ नहीं कहा है, व्याहृतियोंको लक्ष्य करके कहा है। और बृहदारण्यक ४। ४। १० में जो कहा है, कि—

आ० ४. ४. १०] वाजसनेयकश्रुत्यनुसारेण त्रयाणाम् उत्पत्तिश्रुतिः उपलक्षणतया व्याख्येया ॥

“वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः” इति च श्रुतिः “ऋग्भिः पूर्वाह्ने” [तै० ब्रा० ३. १२. ९. १] इति प्रकृतकालत्रयाभिप्रायेण । वेदानां चतुष्ट्वस्य सर्वत्र श्रुतत्वात् । तथा चाग्रे तापनीयोपनिषदि आम्नास्यते । “ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः” इति [नृ० पू० ता० १] । मुण्डके च । “तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः इति [मु० १. १] ॥

“यम् ऋषयस्त्रयिवदाः विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि” इति [तै० ब्रा० १. २. १. २६] त्रैविध्यं तु वेदगतमन्त्राभिप्रायम् ।

“ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस महाभूतके निःश्वासरूप हैं” इससे भी चार वेद ही सिद्ध हैं । बाजसनेयक श्रुतिके वाक्यके अनुसार तीन वेदोंकी उत्पत्तिका विषय ज्ञात होता है, यह बात सत्य है, किन्तु ‘वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः’ तीनों वेदोंके द्वारा सूर्य सर्वत्र जाते हैं । इस श्रुतिवाक्यका लक्ष्य और है । क्योंकि—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १२ । ९ । १ में कहा है, कि—“ऋक्से पूर्वाह्नमें” । इत्यादि वाक्योंसे तीनों वेदोंसे तीनों काल का बोध होता है । अर्थात् ऋक्के द्वारा पूर्वाह्नमें, यजुके द्वारा मध्याह्नमें और सामके द्वारा सायाह्नमें सूर्यदेव सर्वत्र गमन कर सकते हैं ।—यही भाव प्रकाशित होता है । क्योंकि—वेद चार हैं, यह बात सर्वत्र सुनी जाती है । यथा—नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद् १ में कहा है, कि-“ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इस प्रकार चार वेद हैं ।” मुण्डकोपनिषद् १ । १ में भी कहा है, कि—“उनके मध्यमें अपरा विद्या—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं” तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । २ । १ । २६ के “त्रयीवेत्ता ऋषि जो ऋक् साम और यजुको जानते हैं” इस वाक्यमें तीनों

तद्व उक्तं जैमिनिना। "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" [जै० २.१.३२] "तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" [जै० २. १. ३५]। "गीतिषु सामाख्या" [जै० २. १. ३६]। "शेषे यजुःशब्दः" [जै० २. १. ३७] इति। तद्व अस्मिन्नपि वेदे विद्यत इति न चतुष्ट्वव्याकोपः ॥

उच्चैष्ट्वादिधर्मनियमोपि अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेद इत्युपक्रमवाक्यगतवेदत्रयापेक्ष इति न विरोधः ॥

ननु अस्मिन् वेदे मन्त्राणाम् ऋगाद्युक्तलक्षणयोगात् तदन्यतमव्यपदेशभाक्त्वं युक्तम् ॥ नैष दोषः। अथर्वाख्येन ब्रह्मणा दृष्टत्वात् तन्नाम्ना अयं वेदो व्यपदिश्यते। तथा हि। पुरा खलु सृष्ट्यर्थं

वेदोंके त्रिविध मन्त्रगत अभिप्रायको समझते हैं, ऐसा अर्थ है। इसी बातको महर्षि जैमिनि कहते हैं, कि-"कर्म वेदमन्त्रके अनुसार होते हैं" २।१।३२ जै०। "जहाँ अर्थक्रमसे पादव्यवस्था होती है, तहाँ ऋक् होता है" २।१।३५ जै०। "गीतिविषयमें साम होता है" २।१।३६ जै०। "शब्द विषयमें यजु होता है" २।१।३७। किन्तु इस अथर्ववेदमें ये सब ही विषय विद्यमान हैं, अत एव वेद चार हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। स्वरधर्मनियमक्रममें पूर्वपक्षमें कहा है, कि-अग्निसे ऋग्वेद, वायुसे यजुर्वेद और आदित्यसे सामवेद प्रकट हुआ है, चतुर्थ अथर्ववेदका वर्णन कहीं नहीं है, किन्तु यह उक्ति वेदत्रयकी अपेक्षा रख कर उपक्रमस्वरूपसे प्रयुक्त हुई समझनी चाहिये। उससे चारों वेदोंके अस्तित्वमें कोई दोष नहीं आता है।

यहाँ यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि-"इस अथर्व वेदमेंके मन्त्र ऋग्वेद आदिके ही हैं, अत एव उन तीनों वेदोंमेंसे ही एक का नाम होना चाहिये (चौथेका नहीं)" क्योंकि-अथर्वा नाम वाले ब्रह्मा इस वेदके द्रष्टा हैं अत एव उनके नामसे ही यह वेद

स्वयम्भु ब्रह्म तपस्तेपे । तस्मात् तप्यमानात् सर्वेभ्यो रोमकूपेभ्यः स्वेदधारा अजायन्त । तासु स्वेदजातासु अप्सु स्वां छाया पश्यतो रेतश्चस्कन्द । तद्रेतःसहिता आपो द्विरूपा अभवन् । तत्रैकतः स्थितं रेतो भृज्ज्यमानं सत् भृगुर्नाम महर्षिरभवत् । स एवः भृगुः स्वोत्पादकस्य तिरोहितस्य ब्रह्मणो दर्शनाय "अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छ" इति [गो० ब्रा० १.४] अशरीरया वाचोक्तत्वात् अथर्वाख्योऽप्यभवत् । अवशिष्टरेतोयुक्ताभिरद्भिरावृतस्य वरुणशब्दवाच्यस्य ब्रह्मणस्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोत्तरत् । सोऽङ्गरसभूतत्वात् अङ्गिरा नाम महर्षिरभवत् । ततस्तत्कारणं ब्रह्म तम् अथर्वा-

---

प्रसिद्ध है । इस संबंधमें एक उपाख्यान है, कि—पहिले स्वयंभू ब्रह्माजीने सृष्टिके निमित्त तपस्या आरंभ की । जब वह तप कर रहे थे उस समय उनके सब रोमकूपोंमेंसे पसीना बहने लगा । उस पसीनेके जलमें अपनी परछाहीं (प्रतिबिम्ब) को देख कर उनका वीर्य स्खलित होगया । जलमें उस वीर्यके पड़ने पर जल सहित वीर्य दो भागोंमें बँट गया । एक भागका वीर्य भृज्ज्यमान होने पर (पकने) भृगु नामके महर्षिके रूपमें परिणत होगया । वह भृगु अपने उत्पन्न करनेवाले ब्रह्माजीके अन्तर्धान होजाने पर उनका दर्शन पानेके लिये व्याकुल हुए उनसे आकाशवाणीने कहा, कि—"अथार्वाक् एनं एतास्वेवाप्सु अन्विच्छ" [गोपथब्राह्मण १। ४] अर्थात् तू जिसको देखना चाहता है उसको भली प्रकार इस जलके मध्यमें देखनेकी चेष्टा कर । आकाशवाणीके इस प्रकार कहनेसे उनका एक नाम अथर्वा भी हुआ । तदनन्तर बाकी बचे हुए रेत और जलसे आवृत तप्त ब्रह्माजीके (मुखसे) वरुण ऐसा शब्द निकला और उनके सब अङ्गोंसे रस बहने लगा । अङ्गोंके रससे उत्पन्न होनेके कारण (वहाँ) वह अङ्गिरा नाम वाले महर्षि हुए । तदनन्तर सृष्टिके कारण ब्रह्माजीने अथर्वा ऋषिसे

णम् अङ्गिरसं चाभ्यतपत् । ततः एकर्चद्व्यृचादिमन्त्रद्रष्टारो विंशतिसंख्याका अथर्वाणोङ्गिरसश्चोत्पन्नाः । तेभ्यस्तप्तेभ्य ऋषिभ्यः सकाशात् स्वयंभु ब्रह्म यान् मन्त्रान् अद्राक्षीत् सोथर्वाङ्गिरःशब्दवाच्यो वेदोऽभवत् । अत एकर्चादीनाम् ऋषीणां विंशतिसंख्याकत्वाद्ध वेदोपि विंशतिकाण्डात्मकः सम्पन्नः । अत एव सर्वसारत्वाद्ध अयं वेदः श्रेष्ठः ॥ श्रूयते हि । "श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोधि जातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव" इति [गो० ब्रा० १.६] । तथा "एतद्ध वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद्ध भृग्वङ्गिरसः । येङ्गिरसः स रसः । येथर्वाणस्तद्ध भेषजम् । यद्ध भेषजं तद्ध अमृतम् । यदमृतं तद्ध ब्रह्म" इति [गो०ब्रा०३.४] ॥ एवं सारभूतब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मकर्तव्यप्रतिपादनाच्च अयं ब्रह्मवेद इत्यप्याख्यायते ॥

और अङ्गिरा ऋषिसे तपस्या करनेके लिये कहा । तदनन्तर उनकी तपस्याके प्रभावसे एकर्च द्व्यृच आदि मन्त्रसमूहोंके द्रष्टा बीस अथर्वा और अङ्गिरा प्रकट हुए । उन तप करते हुए ऋषियोंके सामने स्वयंभू ब्रह्माजीने जिन मन्त्रोंको देखा, वह "अथर्वाङ्गिरा" नामक वेद हुआ । एकर्च आदि ऋषि बीस थे अतः इस वेदमें भी बीस काण्ड हैं अत एव सबका सारभूत होनेसे यह अथर्ववेद ही श्रेष्ठ वेद है । गोपथ ब्राह्मणमें कहा है, कि—"तपस्या द्वारा उत्पन्न यह श्रेष्ठ अथर्ववेद ब्रह्मज्ञोंके हृदयमें प्रकाशित हुआ था" गोपथब्राह्मण १ । ६ । गोपथब्राह्मणमें और भी कहा है, कि—"जो भृग्वङ्गिरा नाम वाला है वही (श्रेष्ठ) वेद है । जो अङ्गिरा है वह रस है । जो अथर्वा है वह औषध है । जो औषध है वह अमृत है, जो अमृत है वही ब्रह्म (अथर्व नाम वाला वेद) है" गो. ब्रा. ३।४ इस प्रकार सारभूत ब्रह्मात्मक होनेसे और ब्रह्मकर्म का प्रतिपादन करने वाला होनेसे यह वेद ब्रह्मवेद कहलाता है ।

तथा च श्रुतिः । "चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः" इति [गो० ब्रा ०२.१६] । अत एव सारवत्त्वात् सिद्धमन्त्रता समाम्नायते ।

न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः ।
अथर्वमन्त्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति ।। [प० २.५]

इति । तथा स्कान्दे कमलालयखण्डे आथर्वणमन्त्राणां जपमात्रेणाभिमतफलसाधनत्वम् उक्तम् ।

यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वितः ।
तेषाम् अर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम् । इति ।।

अस्य वेदस्य सर्पवेदादयः पञ्चोपवेदा अङ्गत्वेन समनन्तरं ब्रह्मणा सृष्टाः । तथा च ब्राह्मणम् । "स दिशोन्वैक्षत प्राचीं दक्षिणां प्रतीचीम् उदीचीं ध्रुवाम् ऊर्ध्वाम्" इति प्रक्रम्य "पञ्च वेदान् निरमि-

---

श्रुतिमें भी कहा है, कि-"वेद चार हैं, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद" गो. ब्रा. २।१६ । अत एव सब वेदोंका सार होनेसे अथर्ववेदके मन्त्र सिद्धमन्त्र प्रसिद्ध हैं । यथा—"यदि अथर्ववेदके मन्त्रोंकी प्राप्ति होजाय तो तिथि नक्षत्र ग्रह और चन्द्रशुद्धि आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—अथर्ववेदके मन्त्रोंसे सब विषयोंमें सिद्धि मिल सकती है" [प० २।५] इसीप्रकार स्कन्दपुराणके कमलालयखण्डमें कहा है, कि—अथर्ववेदके मंत्रोंका जप करनेसे अभिमत फलकी सिद्धि होजाती है। यथा "अर्थात् जो व्यक्ति अथर्ववेदके मंत्रोंका श्रद्धापूर्वक जप करता है, वह मंत्रोंके अर्थमें कहे फलको अवश्य पाता है ।"

ब्रह्माजीने इस वेदके अनन्तर ही इसके अङ्गरूपसे सर्पवेद आदि इसके पाँच उपवेदोंकी सृष्टिकी । गोपथब्राह्मण १।१० में "उसने पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण दिशा तथा ध्रुवा और ऊर्ध्वा (ऊपर) को देखा" ऐसा उपक्रम करके कहा है, कि—"उन ब्रह्माजीने पाँच वेदों

मीत सर्पवेदम् पिशाचवेदम् असुरवेदम् इतिहासवेदम् पुराणवेदम्" इति [गो० ब्रा०१.१०]। तदेवम् आमुष्मिकफलेषु दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु अपेक्षितं ब्रह्मत्वम् अनन्यलभ्यत्वाद् अथर्ववेदैकसमधिगम्य इति स्थितम् ॥ तद्वदेव ऐहिकफलानि शान्तिकपौष्टिकानि कर्माणि राजकर्माणि अपरिमितफलानि तुलापुरुषादिमहादानानि च अथर्ववेद एव प्रतिपादितानि ॥ पौरोहित्यं च अथर्वविदैव कार्यम् । तत्कर्तृकाणां कर्मणां राजाभिषेकादीनां तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादितत्वात् । तथा च विष्णुपुराणे—

"पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकानि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च" इति । भट्टाचार्यैरप्युक्तम्

को रचा, उनके नाम इस प्रकार हैं,—सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद इतिहासवेद और पुराणवेद ।" परलोकमें फलमें देने वाले दर्श (अमावस्याके दिन किये जानेवाले) पौर्णमास (पूर्णिमाके दिन किये जाने वाले) यज्ञमें, उत्तरायण तथा दक्षिणायनके अन्तमें होने वाले यज्ञमें इसके अतिरिक्त त्रयी वेदोंमें विहित यज्ञोंमें जिस ब्रह्मकर्मकी अपेक्षा (आवश्यकता) होती है, वह दूसरे वेदोंसे लब्ध नहीं होसकता—पाया नहीं जासकता, अत एव यह स्थिर होगया, कि—ब्रह्मकर्म एकमात्र अथर्ववेदसे ही सिद्ध होसकता है । तथा इस लोकमें फल देनेवाले शान्तिक, पौष्टिककर्म, राजकर्म और अपरिमित फल देने वाले तुलापुरुष आदि महादान अथर्ववेदमें ही कहे हैं । तथा अथर्ववेदको जाननेवालेसे ही पौरोहित्य (पुरोहिताईका) कर्म कराना चाहिये, क्योंकि—पुरोहितोंके कर्म राजाभिषेक आदिका अथर्ववेदमें ही विस्तारपूर्वक वर्णन है ।

इसी बात को विष्णुपुराणमें भी कहा है, कि—"राजाओंका पौरोहित्य शान्तिक तथा पौष्टिककर्म और ब्रह्मकर्म अथर्ववेदसे ही करावे ।"

शान्तिपुष्ट्यभिचारार्था एकब्रह्मर्त्विगाश्रयाः ।
क्रियन्तेथर्ववेदेन त्रय्येवात्मीयगोचराः ।

इति । नीतिशास्त्रेपि

त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात् पुरोहितः ।
अथर्वविहितं कर्म कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ।

इति । मत्स्यपुराणे

पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम् ।

इति । मार्कण्डेयपुराणे

अभिषिक्तोथर्वमन्त्रैर्महीं भुंक्ते ससागराम् ।

इति । अथर्वपरिशिष्टे

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम् ॥
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम् ।

भट्टाचार्योंने भी कहा है,कि—“शान्तिक, पौष्टक और आभिचारिक कर्म एकमात्र ब्रह्मा—ऋत्विक्के ही अधीन हैं । अत एव त्रयीवेदविहित कर्म तथा ब्रह्मकर्म भी अथर्व वेदसे ही किये जाते हैं।”

नीतिशास्त्रमें कहा है, कि—“पुरोहित त्रयीवेदमें और दण्डनीतिमें कुशल होना चाहिये, ऐसा पुरोहित अथर्व वेदमें कहेहुए शान्तिक और पौष्टिक कर्मोंको करावे ।”

मत्स्यपुराणमें भी कहा है, कि—“अथर्व वेदके मन्त्रोंका और ब्राह्मणभागका जानने वाला पुरोहित कहलाता है ।”

मार्कण्डेयपुराणमें भी कहा है, कि—“अथर्व वेदके मन्त्रोंसे अभिषिक्त हुआ राजा समुद्र तककी पृथ्वीको भोगता है ।”

अथर्व परिशिष्टमें भी कहा है, कि—“जिस राजाके राज्यमें शान्तिक कर्मोंके पारको जाननेवाला अथर्व वेत्ता ब्राह्मण निवास करता है, वह राष्ट्र उपद्रवशून्य रहता हुआ बढ़ता रहता है । इस

दानसंमानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत् [प०४.६]। इति ॥

स्याद् एवम्। यद्यस्य अर्थवत्त्वं स्यात् तदास्य व्याख्यानम् उपपन्नं स्यात्। तदेव कुत इति चेत्। उच्यते। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" [तै० आ०२.१५] इत्यनेन विधिना कृत्स्नस्यापि वेदराशेः अर्थावबोधपर्यन्तं तस्य बोधितत्वात्। तथा हि। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यत्र विध्यविरुद्धा भावना प्रतीयते। सा च द्विविधा। शब्दभावना अर्थभावना चेति। तद् उक्तम् आचार्यैः। "इह हि लिङादियुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने प्रतीयेते। शब्दभावना अर्थभावना च" इति। तत्र शब्दभावनाया अर्थभावना भाव्या। लिङादिः करणम्। अर्थवादप्रतिपादिता स्तुतिः इति कर्तव्यता। अर्थभावनायाः स्वर्गादिर्भाव्यः। धात्वर्थः करणम्। प्रयाजादिः इतिकर्तव्यता ॥

कारण राजा जितेन्द्रिय अथर्ववेत्ता ब्राह्मणकी दानमानसत्कार पूर्वक सदा पूजा करे।" प० ४। ६

अब पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है, कि—यदि इसका अर्थवत्त्व (प्रयोजन) होता तो इसका व्याख्यान भी ठीक होता। इसकी व्याख्या भी उपपन्न होती। तो इस शङ्काका उत्तर यह है, कि—तैत्तिरीय आरण्यक २। १५ में कहा है, कि—"स्वाध्याय पढ़े" इस विधिके द्वारा समग्र वेदकी—सब वेदोंकी—अर्थज्ञानसहित (प्रयोजन ज्ञानसहित) पढ़नेकी विधि बोधित होती है। "स्वाध्या पढ़े" इस स्थलमें विधिके अविरुद्ध—अनुकूल-भावना प्रतीत होती है। यह भावना दो प्रकारकी है। एक शब्दभावना और दूसरी अर्थभावना। आचार्योंने भी यही कहा है, कि—"इन लिङ् आदि युक्त वाक्योंमें दो भावनाएँ प्रतीत होती हैं, शब्दभावना और अर्थभावना। तहाँ शब्दभावनासे अर्थभावना चिंतनीय है। लिङ् आदि करणके द्वारा और अर्थवादके द्वारा समुत्पन्न स्तुति ही इतिकर्तव्यता है। अर्थभावनासे स्वर्ग आदिका चिंतवन

ननु धात्वर्थातिरेकिणीं भावनामेव नोपलभामहे कस्या धात्वर्थः करणं स्यात् । कथं वा तस्या विभागः । भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावनेति चेत् न । पचियजिगमिप्रभृतिषु धातुषु अधिश्रयणसंकल्पचलनादयो धात्वर्था एवेति अतिरिक्तस्य भावकव्यापारस्य अभावात् । प्रयत्नो भावकव्यापार इति चेत् न । वृक्षश्चलति काष्ठानि पचन्ति नौर्याति इत्येवमादिषु अचेतनकर्तृकव्यापारेषु तदभावात् । स्पन्दः स इति चेत् [न] । आत्मकर्तृकव्यापारेषु यजतिददातिजुहोतीत्यादिषु तदभावात् । तर्हि उभयानुगतम् औदासीन्यप्रच्युतिसामान्यमेव भावकव्यापारो भविष्यतीति चेत् न । अचेतने शब्दे

करना चाहिये । धातुका अर्थ करण है । और प्रयाज आदि इति कर्तव्यता है ।

यदि कहो, कि–धात्वर्थसे अतिरिक्त भावना, ज्ञानकी विषयीभूत नहीं है । धात्वर्थ करण किसका होगा और उस भावनाका अर्थविभाग किस प्रकार होगा ? यदि तुम कहो, कि–भाव्यवस्तुनिष्ठ जो भावकका व्यापार है वही भावना है । तो यह बात नहीं है, क्योंकि–पच यज गम आदि धातुका अर्थ क्रमशः अधिश्रयण, सङ्कल्प और चलन है, इसके अतिरिक्त भावकव्यापारका अभाव है, यदि कहो, कि–प्रयत्न (चेष्टा) ही भावकका व्यापार है, वही भावना है । तो यह भी नहीं होसकता, क्योंकि–वृक्ष चलता है, काठ पकाते हैं, नौका जाती है, इत्यादि अचेतन कर्ताके व्यापारमें प्रयत्नका अभाव होता है, यदि कहो, कि–स्पन्द ही भावकका व्यापार है । तो यह बात भी युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि–स्वकीयकर्तृव्यापारमें यजन करता है, दान करता है, होम करता है,–इत्यादि स्थलोंमें उसका अर्थात् स्पन्दका अभाव होता है । अब यह कहना भी ठीक नहीं है, कि–"उभयानुगत (स्पंद और प्रयत्नानुगत) औदासीन्यरूप प्रच्युतिसाधारण ही (अकर्मादि)

स्पन्दप्रयत्नयोरभावेन तदुभयसामान्यरूपस्य तस्य अभावात् ।। सत्यम् धात्वर्थाद् अत्यन्तातिरेकिणी भावना नास्तीति । धात्वर्थानामेव पाको यागः प्रयत्नः संकल्पः अधिश्रयणम् विक्लेदनम् अभिधानम् चोदनम् इति प्रातिस्विकं धात्वभिधेयम् अक्रियात्मकं सिद्धस्वभावम् एकं रूपम् । सर्वधात्वर्थानुगतं करोतिप्रत्ययवेद्यं क्रियात्मकं साध्यस्वभावम् अन्योत्पादनानुकूलात्मकम् आख्यातप्रत्ययवेद्यम् अपरं रूपम् । तथा हि । यः स्पन्दते यो यजते यश्चरति यो विदधाति ते सर्वे करोति प्रत्ययं अनुभवन्ति । स्पंदते स्पन्दनं करोति यजते यागं करोति इत्येवं सर्वत्र करोत्यर्थस्यानुगतिः ।

भावकका व्यापार है ।" क्योंकि--ऐसा होने पर अचेतन शब्दमें स्पन्द और प्रयत्नका अभाव होनेसे इन दोनोंके साधारणरूप व्यापारका (कर्मका) अभाव होता है ।। अब उत्तरमें कहते हैं,कि– धात्वर्थसे अत्यन्तातिरेकिणी भावना नहीं होती यह सत्य है । पाक, याग, प्रयत्न, संकल्प, अधिश्रयण, विक्लेदन, अभिधान और चोदन–इसप्रकारका ही अर्थ होता है, वह धातुका (स्वाभाविक) स्वभाव सिद्ध, धातुका अभिधेय (भावना वा धारणाका विषय) अक्रियात्मक (कर्मसम्बन्धशून्य)और सिद्धस्वभाव (परिचय) धातुका एकरूप है । (और दूसरा रूप) सकल धात्वर्थके अनुगत 'करोति' प्रत्ययके द्वारा ज्ञेय (जानने योग्य), क्रियात्मक, साध्यस्वभाव, अन्य (स्वर्ग आदि) के उत्पादनके विषयमें अनुकूलात्मक आख्यातप्रत्ययके द्वारा जाननेमें आने वाला धातुका एक दूसरा रूप है । (अब इस बातको और स्पष्टरूपसे समझाते हैं, कि–) 'यः स्पन्दते', 'यो यजते', 'यश्चरति', 'यो विदधाति'– इत्यादि सर्वत्र करोति (करने) का अर्थ अनुभूत होता है । जैसे 'स्पन्दते' अर्थात् 'स्पन्दनं करोति' 'यजते' अर्थात् 'यागं करोति' इस प्रकार सर्वत्र ही करोतिका अर्थ पीछे २ चल रहा है)

तद् उक्तम् आचार्यैः—

सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति ।
सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते ॥
[मी० भा० वि० २. १. १]

इति ॥ भिन्नेषु विविधधात्वर्थेषु उत्पाद्यवस्त्वन्तरकर्मकम् एतदेवापरं रूपं भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वात् भावनेत्युच्यते । तच्च यजेत दद्यात् जुहुयात् इत्याख्यातप्रयोगेष्वेव अवगमात् पाकः त्यागः रागः इत्यादिषु अनवगमाच्च अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आख्यातप्रत्ययाभिधेयम् अङ्गीक्रियते । यथाहुः—

अभिधाभावनाम् आहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥
[मी० भा० वि० २. १. १]

आचार्योंने भी कहा है, कि—

सिद्धस्वभावकर्तृक्रियावाची आख्यात प्रत्यय होने पर, सामानाधिकरण्यके द्वारा 'करोति' का अर्थ ही अवगत होता (जानने में आता) है ॥ (मी० मा० वि० २।१।१) ।

परस्पर भिन्न विविध धात्वर्थोंमें उत्पादनीय वस्तुका अन्तरकर्मक—ही जो अपर रूप है, यही भाविताके प्रयोजक व्यापारत्ववश भावना नामसे पुकारा जाता है। यह यजेत, दद्यात्, जुहुयात्—ऐसा रूप आख्यातके प्रयोगोंसे ही जाना जाता है। पाकः त्यागः, रागः आदि स्थानोंमें नहीं जाना जाता, अत एव अन्वयव्यतिरेकके द्वारा आख्यातप्रत्ययका अभिधेय अङ्गीकार किया जाता है। कहा है, कि—

"लिङ् आदि अन्या (दूसरी) अभिधाभावना कहलाती है और सब आख्यातोंकी विषय अर्थात्मभावना दूसरी भावना है।" (मी० भा० वि० २ । १।१)

इति । ये प्रयत्नं वा स्पन्दं वा उभयं वा भावनाम् अङ्गीकुर्वते तैरपि तेषां सर्वत्रानुगमाभावात् सर्वधात्वर्थानुगतम् अन्योत्पादनानुकूलरूपमेव भावनेत्यङ्गीकर्तव्यम् । एतदप्युक्तम्—

सिद्धसाध्यस्वभावाभ्यां धात्वर्थो द्विविधो मतः ।
अन्योत्पादानुकूलात्मा भावना साध्यरूपिणी ॥

इति । तस्माद्ध धात्वर्थातिरेकिणी भावनेति सिद्धम् ॥

तथा च अध्ययनविधावपि तव्यप्रत्ययावगताया भावनाया अंशत्रयेण भवितव्यम् । तत्र धात्वर्थः करणत्वेन अन्वेति ॥ भाव्यापेक्षायाम् अत्र तस्यानुपात्तत्वात् "स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" इति [जै० ४. ३. १५] विश्वजिन्न्यायेन स्वर्ग एव भाव्यतया अन्वेतीति पूर्वः पक्षः । ननु कथं स्वर्गस्य

जो धात्वर्थ समूह प्रयत्न वा स्पन्द अथवा प्रयत्न और स्पंद दोनोंको ही भावना मानते हैं । उस धात्वर्थसमूहके सर्वत्र अनुगतका अभाव होता है । अतः सकल धात्वर्थके अनुगत अन्य अर्थके उत्पादनके विषयमें अनुकूलरूप भावना अङ्गीकार करना उचित है । कहा भी है, कि—

धात्वर्थ सिद्धस्वभाव और साध्यस्वभाव भेदसे दो प्रकारका है । इनमें अन्यके उत्पादनके विषयमें जो अनुकूलात्मक भावना है, वह साधयरूपिणी है ।

अत एव धात्वर्थातिरेकिणी भावना है, यह सिद्ध होगया ।

अब अध्ययनविधिमें तव्यप्रत्ययके द्वारा जो भावना प्रतीत होती है, उसके तीन अंश हैं। तहाँ धात्वर्थ, करणत्वके साथ अन्वित है, क्योंकि—भाव्य—वस्तुकी अपेक्षासे उसका लाभ नहीं होता है। "स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" (जै. ४ । ३ । १५)इस जैमिनिसूत्रके अनुसार विश्वजित् न्यायके द्वारा स्वर्ग ही भाव्यतासे अन्वित होता है, यह पूर्वपक्ष है । यहाँ पर स्वर्गकी भाव्यता कैसे

भाव्यता । समनन्तरपदोपात्तस्य स्वाध्यायस्यैव भाव्यत्वाद् इति चेत् न । तस्य अपुरुषार्थत्वेन भाव्यत्वासंभवात् ।। तर्हि अर्थज्ञानमेव दृष्टप्रयोजनरूपत्वाद् भाव्यं भवत्विति चेत् न । विधिम् अन्तरेणापि पदपदार्थव्युत्पत्तिमताम् अधीतेन स्वाध्यायेन अर्थज्ञानस्य जायमानत्वात् ।। तर्हि अधीतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयाद् इति अवघातादिवद् नियमार्थो विधिर्भवत्विति चेत् न । अनारभ्याधीतस्य स्वाध्यायविधेः अक्रत्वर्थत्वेन नियमार्थत्वानुपपत्तेः । अवघातादयोपि क्रतावेव नियम्यन्ते अवघातनिष्पन्नैरेव तण्डुलैः पुरोडाशादिनिष्पादनद्वारा दर्शपूर्णमासापूर्वं संपादयेदिति न तण्डुलादिस्वरूपे । प्रमाणान्तरविरोधात् ।। मा भूत् स्वाध्यायस्य भाव्यता । मा च भूद् अर्थज्ञानस्य । तथापि "यद् ऋचोधीते पयसः कूल्या

होसकती है ? क्योंकि—समनन्तरपदलभ्य स्वाध्यायकी ही भाव्यता होसकती है तो ऐसा नहीं होसकता, क्योंकि—उक्त स्वाध्यायके अपुरुषार्थत्वके कारण भाव्यत्व असम्भव है । यदि उसके अर्थज्ञानको ही दृष्टप्रयोजनरूप होनेसे भाव्यत्व माना जाय तो ऐसा भी नहीं होसकता । क्योंकि—पद पदार्थको समझनेवाले विद्वान् यदि विधिके विना भी पढ़ते हैं तो अर्थज्ञान होजाता है । अब यह भी नहीं कहा जासकता, कि—'अधीत स्वाध्यायके द्वारा अर्थको जाने' इसप्रकार अभिघात आदिकी समान नियमार्थ ही विधि है । क्योंकि—आरम्भ न करके अधीत स्वाध्यायविधि यज्ञार्थ न होनेसे नियमार्थकी अनुपपत्ति है । अविघात (कूटना) आदि यज्ञकार्यमें ही विहित होसकते हैं अवघातनिष्पन्न तण्डुलों (चावलों) से पुरोडाश आदि निष्पादित होता है, उससे दर्श पूर्णमास आदि यज्ञ सम्पादित होता है, किन्तु तण्डुल आदिके द्वारा सम्पादित नहीं होता है, अन्यथा दूसरे प्रमाणोंसे विरोध पड़ता है । यदि कहो, कि—स्वाध्यायकी और अर्थज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, 'यद

अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति। यद्द यजूंषि घृतस्य कूल्या। यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। यद्द अथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्या। यद्द ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदसः कूल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति” [तै० आ० २. १०] इत्यध्ययनं प्रकृत्य पठितार्थवादोक्तघृतकूल्यादिकमेव भाव्यं भवत्विति चेत् न। तस्यापि ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायम् अधिकृत्य पठितत्वेन ग्रहणाध्ययनफलसमर्पकत्वानुपपत्तेः। तथापि अतिदेशतः प्राप्तेः अस्यापि फलं भविष्यतीति चेत् न। अर्थवादस्य अनतिदेश्यत्वात्। तस्माद्द विश्वजिन्न्यायेन स्वर्ग एव अध्ययनविधेर्भाव्यः। यथाहुः—

ऋचोऽधीते' इत्यादि (तै. आ. २।१०) अर्थात् जो ऋग्वेद के मन्त्रोंको पढ़ता है तो स्वधा दूधकी नदियें उसके पितरों के पास पहुँचाती हैं। जो यजुर्वेदके मन्त्र पढ़ता है तो घृतकी नदियें पहुँचाती हैं जो सामवेदके मन्त्रोंको पढ़ता है तो सोम पितरों को पवित्र करता है। जो अथर्वाङ्गिरा वेदके मंत्रोंको पढ़ता है तो पितरोंको मधुकी नदियें पहुँचती हैं और जो ब्राह्मणग्रंथ, इतिहास, पुराण, कल्पसूत्र और मनुष्यसम्बन्धी गाथाओंको पढ़ता है उसके पितरोंके शरीरमें मेदके प्रवाह बहते हैं।”

इस सूत्रके अनुसार अध्ययन करके पठित अर्थवादोक्त घृत कुल्यादि ही भाव्य होजाय—तो ऐसा भी नहीं होसकता, वह भी ब्रह्मयज्ञ और स्वाध्यायको अधिकार करके पढ़े गए हैं, अत एव उनके द्वारा अध्ययनफलसमर्पकवत्का लाभ नहीं होता तथापि यह कहो, कि—अतिदेश प्राप्तिवश इसका भी फल होगा, तो यह बात भी नहीं है, क्योंकि—अर्थवाद कभी भी अतिदेश नहीं होसकता। इस लिये विश्वजित् न्यायके द्वारा अध्ययनविधि का स्वर्ग ही भाव्य है, कहा है, कि—

विनापि विधिना दृष्टलाभान्न हि तदर्थता ।
कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिवत् । इति ॥

अत्रोच्यते । अर्थावबोधार्थमेव अध्ययनं विधीयते ॥ ननु पदपदार्थव्युत्पत्तिमतां पुंसां विधिम् अन्तरेणापि अर्थावबोधो जायत इति विध्यानर्थक्यम् इत्युक्तम् इति चेत् न । अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयात् न पुस्तकादिपठितेनेति नियमार्थत्वाद् विधेः अक्रत्वर्थेषु नियमानुपपत्तिरिति उक्तम् इति चेत् न । "प्राङ्मुखोन्नानि भुञ्जीत" इत्येवमादिषु अक्रत्वर्थेष्वपि नियमदर्शनात् ॥ "व्रीहीन् प्रोक्षति" इत्यादिविधिवत् संस्कारविधानमात्रपर्यवसायित्वाद् अयं विधिर्न स्वाध्यायस्य अर्थ ज्ञानार्थतां बोधयतीति चेत् न । "चरुम्

विधिरहित दृष्टलाभसे अर्थ कभी संभव नहीं होता है । विधि की शक्तिवश विश्वजित् आदिकी समान स्वर्ग कल्पनीय है ।

अब कहते हैं, कि—अर्थ को अर्थात् प्रयोजनको समझनेके लिये ही अध्ययनविधि विहित होती है । यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिये, कि—"पद और पदार्थ की व्युत्पत्ति (समझ) रखने वाले पुरुष विधिके विना भी पद और पदार्थ को पढ़ कर प्रयोजनको समझ लेते हैं, अतः विधि अनर्थक है ।" क्योंकि—"अध्ययनद्वारा संस्कृत जो स्वाध्याय उससे ही प्रयोजनको समझे, केवल पुस्तकमें पढ़ कर ही न जाने, इस प्रकार विधिका नियम है" यदि कहो, कि—उक्तविधि यज्ञके निमित्त नहीं है, अत एव इसमें नियमकी अनुपपत्ति होती है, तो यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि—'पूर्वकी ओर मुख करके भोजन करे' यह विधि भी यज्ञके निमित्त नहीं है, किन्तु यहाँ पर भी नियम दीखता है । यदि कहो कि-'धानों पर जल छिड़कता है' इत्यादिविधिकी समान संस्कार विधानमात्रमें ही पर्यवसित होनेसे (संस्कारमात्रमें ही काममें आने वाली होनेसे)-प्रयोजनका ज्ञान स्वाध्यायके होनेकी

उपदधाति” [तै० सं० ५. ६. २. ५] इति चरोरुपधानविधिः संस्कारं विदधद् यथा तत्संस्कृतस्य चरोः स्थलनिष्पत्तिशेषतां विधत्ते तद्वद् अध्ययनविधिरपि स्वाध्यायस्य अध्ययनसंस्कारं विदधत् तत्संस्कृतस्य तस्य अर्थावबोधार्थत्वं विधत्ते ॥ संस्कारविधेः संस्कारविनियोगपर्यन्तत्वेपि फलत्वाविशेषात् स्वर्गार्थतां कुतो न विधत्त इति चेत् [न]। अर्थावबोधस्य दृष्टप्रयोजनस्य संभवे अदृष्टार्थत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तद् उक्तम् ।

लभ्यमाने फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना ।
विधेस्तु नियमार्थत्वान्नानर्थक्यं भविष्यति । इति ॥

प्राभाकरास्तु

उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद् द्विजः ।

(अर्थज्ञान) सूचना नहीं देती है। तो यह बात भी नहीं है। क्योंकि—'चरुं उपदधाति' (तै० स० ५। ६। २५) चरुसंस्कारमूलक यह उपाधानविधि तैत्तिरीयसंहितामें कही है। उक्त विधिके अनुसार संस्कारके साथ जैसे चरुकी स्थलनिष्पत्ति वा चरुप्रस्तुत कार्य सम्पन्न होजाता है, इसीप्रकार स्वाध्याय (वेद) अध्ययन करते२ उसके अर्थको जता देता है। यदि कहो, कि—संस्कारके विनियोग तक संस्कारविधि होने पर भी फल विषयका विशेष उल्लेख नहीं है, अत एव इस संस्कारविधिसे स्वर्गरूप अर्थविधान क्यों न करें ? तो यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि—दृष्टप्रयोजनरूप अर्थज्ञानके संभव होने पर अदृष्ट अर्थकी कल्पना करना अन्याय है। इसी बातको कहा है, कि—

दृष्ट फलके मिलने पर अदृष्ट फलकी कल्पना नहीं कीजाती है, विधिके नियमार्थ होनेसे अनर्थ विधि विहित नहीं होती।

मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके १४० वें श्लोकमें कहा है; कि—जो द्विज शिष्यका उपनयन कराकर, कल्प और रहस्य सहित

सकल्पं सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते ॥
[म० स्मृ० २. १४०]

इति स्मृत्यनुमितेन 'उपनीयाध्यापनेनाचार्यकं संपादयेद्' इत्यनेन विधिना लब्धानुष्ठानस्य "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यस्याध्ययनविधेः अधिकारपरत्वजिज्ञासायां प्रथमप्रतीतेन आचार्यकाधिकारत्वम् आशङ्क्य अन्तरङ्गत्वाद् अर्थज्ञानाधिकारपरत्वमेव वर्णयन्ति ॥

तद् अयुक्तम् । आचार्यकरणविधेरेव अभावात् ॥ ननूक्तम् । "उपनीय तु यः शिष्यम्" इत्यनया 'स्मृत्या उपनीयाध्यापनेन आचार्यकं भावयेद्' इत्येवंरूप आचार्यकरणविधिरनुमीयत इति । तन्न । एवंरूपायाः श्रुतेः अनेवंरूपया स्मृत्या अनुमातुम् अशक्यत्वात् । तथा हि । इयं स्मृतिः उपनीयाध्यापयिता आचार्य इति

वेदको पढ़ाता है, उसको आचार्य कहते हैं ।

प्राभाकर कहते हैं, कि—उक्त स्मृतिके द्वारा अनुमित विधिके साथ 'उपनयन कराकर अध्यापनसे आचार्यको सम्पादन करे' इस विधिके द्वारा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' की अध्ययनविधि लब्धक्रिय होती है, उसके अधिकारपरत्वकी ज्ञानेच्छा होने पर प्रथम प्रतीत (स्मृतिके द्वारा अनुमित) विधिमें आचार्यके अधिकारकी आशंका कर अन्तरंग होनेसे अर्थज्ञानका अधिकारपरत्व ही घटना है ।

किन्तु आचार्यकरणरूप विधिका अभाव होनेसे यह युक्तियुक्त नहीं है । यदि कहो, कि—कहा है, कि—"उपनीय तु यः शिष्यम्० शिष्यका उपनयन कराकर०" इस "स्मृतिके द्वारा उपनीत करके अध्यापनके हेतु आचार्यकी भावना करे" तो इस प्रकार आचार्य करणकी विधि अनुमित होती है तो ऐसा श्रुतिवाक्य अन्यरूपवाली स्मृतिके द्वारा अनुमित नहीं किया जा सकता । क्योंकि—स्मृतिमें

ब्रवीति । न पुनरध्यापनं विदधाति । तद्विधाने योऽध्यापयिता तम् आचार्यं प्रचक्षत इत्यंशेन एकवाक्यताविरोधात् ॥ ननु 'उपनीयाध्यापयेद्' इति अध्यापनं विधाय विधिसिद्धम् अर्थं 'यस्तु' इति अनूद्य तस्याचार्यत्वं प्रतिपादयतीति चेत् न ॥ स्वारस्येन विध्यप्रतीतौ तदाश्रयणेन वाक्यभेदकल्पनायां प्रमाणाभावात् । तद् उक्तम् ।

संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते ।

इति ॥ किं च । 'योऽध्यापयेद्' इति यच्छब्दयोगोपि विधिशक्तिम् अपहन्ति । तर्हि "यदाग्नेयोष्टाकपालः" [तै० सं० २. ६. ३. ३] इत्यादावपि यच्छब्दयोगाद् विधिशक्तिरपहन्येतेति चेत् । सत्यम् । तत्रापि यच्छब्दवृत्तस्य विधित्वभङ्गेन "यदा-

---

कहा है, कि—उपनीत करके (यज्ञोपवीत कराकर) पढ़ाने वाला आचार्य कहलाता है । किंतु अध्यापनविधिमें यह विधि विहित नहीं है । तद्विधानविषयमें 'जो अध्यापयिता है उसको आचार्य कहते हैं' इस अंशके साथ एकवाक्यताका विरोध पड़ता है । यदि कहो, कि—उक्तविधिमें "उपनीत करके अध्यापन करावे" इस प्रकार अध्यापनाको विहित करके, पश्चात् विधिसिद्ध अर्थको 'यः तु' इस प्रकार कहकर उस (अध्यापक) का आचार्यत्व प्रतिपादन करता है ? किन्तु यह बात भी नहीं है, क्योंकि—इस अर्थमें विधिकी प्रतीति न होकर, वाक्यकी भेदकल्पनामें प्रमाणाभाव है । इस विषयमें कहा है, कि—एकवाक्यस्थलमें वाक्यभेद युक्तियुक्त नहीं है ।

और यह बात भी है, कि 'योऽध्यापयत' यहाँ यत् शब्दका योग भी विधिकी शक्तिको नष्ट करता है, यदि कहो, कि—ऐसा होनेपर "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" (तै० स० २।६।३३) इत्यादिक स्थलमें भी 'यत्' शब्दके योगसे विधिकी शक्ति नष्ट होजानी चाहिये । तो इसका उत्तर यह है, कि तुम्हारा यह कहना सत्य

ग्नेयोष्टाकपालोमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति सुवर्गस्य लोकस्याभिजित्यै” [तै० सं०।२. ६. ३. ३] इत्यर्थवादेन “यत् स्तूयते तद् विधीयते” इति न्यायेन परिकल्पितस्य अन्यस्यैव विधित्वस्वीकारात् ॥ तस्माद् “उपनीय तु यः शिष्यम्” इत्यादिस्मृत्यनुमिता श्रुतिः नाचार्यकरणविधौ प्रमाणम् ॥

ननु “अष्टवर्षं ब्राह्मणम् उपनयीत तम् अध्यापयीत” इत्यत्र नयतेः “संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः” [पा० १. ३. ३६] इति आचार्यकरणे आत्मनेपदविधानाद् उपनयने आचार्यकरणविधिरपेक्षित एव इति चेत् तद् अयुक्तम् ।

षण्णां तु कर्मणाम् अस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।

है, किंतु उस स्थलमें ‘यत्’ शब्दके वर्तमान होनेसे विधिभंग भयसे— ‘जो आग्नेय अष्टाकपाल अमावास्या और पौर्णिमामें अच्युत रहता है’ वह सुवर्ग (स्वर्ग) लोकको जीतनेके लिये समर्थ होता है (२।६।३३) तैत्तिरीयसंहितामें अमावास्यामें और पूर्णिमामें इस अर्थवादके द्वारा ‘जो स्तुत होता है, वही विहित होता है’ इस न्यायसे परिकल्पित अन्यको ही विधि कहकर स्वीकार किया है। इसकारण ‘उपनीय तु यः शिष्यम्—जो शिष्यका उपनयन कराकर०’ इत्यादि स्मृतिवाक्यके द्वारा अनुमानकी हुई जो श्रुति है, वह आचार्यकरणविधिमें प्रमाण नहीं है।

यदि कहो, कि ‘आठ वर्षके ब्राह्मणका उपनयन करे और उसको पढ़ावे’ यहाँ पर “संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः” (पाणिनीय १।३।३६) इस सूत्रके द्वारा आचार्यकरणविषयमें ‘णीञ्’ धातुको आत्मनेपदका विधान होनेसे उपनयनमें आचार्यकरणकी विधि अपेक्षित है। यह बात भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि—

“ब्राह्मणके लिये विहित षट्कर्म (यजन, याजन, अध्ययन,

याजनाध्यापने चैव विशिष्टाच्च प्रतिग्रहः ॥

[म० स्मृ० १०. ७६]

इति द्रव्यार्जनाद्यर्थ तयैव प्राप्तस्य अध्यापनस्य विध्यनर्हत्वात् ॥ ननु तथापि अलौकिकाचार्यकसाधनत्वेन अप्राप्तस्याध्यापनस्य विध्यर्हतेति चेत् न । आचार्यकस्य लोकप्रसिद्धत्वाद् अलौकिकत्वानुपपत्तेः ॥

स्याद् एतत् । "उपनयीत" इत्यात्मनेपदात् सनियमकोपनयनशेषित्वप्रतीतेः आचार्यकम् अलौकिकमिति । न । आचार्यकरणे वर्तमानस्य नयतेः अकर्त्रभिप्राये आत्मनेपदविधानाद् उपनयनाचार्यकयोः परस्परम् अङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः । अन्यथा "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" [पा० १. ३. ७२] इति ञित्त्वादेव

अध्यापन, दान और प्रतिग्रह) में से यज्ञ कराना, पढ़ाना और श्रेष्ठ व्यक्तिसे दान लेना, ये तीन कर्म जीविकाके लिये कहे हैं"

मनु० १० । ७६

इस प्रकार द्रव्य एकत्रित करनेके लिये प्राप्त हुआ जो अध्यापन है, वह विधिके योग्य नहीं होसकता । तथापि यदि यह कहो कि—"इससे अलौकिक आचार्यसाधन होनेसे अप्राप्त जो अध्यापन वह विधियोग्य होजाना चाहिये ।" तो यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि—आचार्यकर्म लोकसिद्ध है, वह अलौकिक नहीं होसकता ।

तुम यह कहो, कि—उपनीयत इस आत्मनेपदसे नियमके साथ वर्तमान जो उपनयन है, उसके शेषित्वप्रतीतिवश आचार्यकर्म अलौकिक है, तो यह बात भी नहीं है । आचार्यकरणमें विद्यमान जो णीञ् धातु है, कर्ताके अभिप्रायसे भिन्न विषयमें उसको आत्मनेपदका विधान है । अत एव उपनयन और आचार्यकरण का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होसकता । अन्यथा "स्वरितञितः

आत्मनेपदे सिद्धे संमाननादिसूत्रम् अनर्थकं स्यात् ॥

ननु क्रियाफलस्य कर्त्रभिप्रायत्वं नाम न कर्त्रभिलषितत्वं किंतु कर्तृगतत्वमेव । अतः उपनयनक्रियाफलस्य माणवकनिष्ठत्वेन अकर्त्रभिप्रायत्वाद् आचार्यकरण एव नयतेः आत्मनेपदं सिद्ध्यतीति चेत् । एवं सति "वसन्ते ब्राह्मणोग्निम् आदधीत" [तै० ब्रा० १. १. २. ६] इत्याधानफलस्य अग्निसंस्कारस्य अग्निगतत्वेन अकर्त्रभिप्रायत्वात् । "स्वरितञितः" इत्यात्मनेपदं न स्यात् । न च उपनयनक्रियाफलस्य संस्कारस्य माणवकाभिलषितत्वाद् अकर्त्रभिप्रायत्वम् इति । आचार्यस्यापि अभिलषितम् । आचार्यानभिलषित्वे तस्य क्रियाफलत्वानुपपत्तेः । न हि क्रिया-

---

कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" (पा० १।३।७२) इस सूत्रसे आत्मनेपद होने पर "संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु निञः" (पा. १।३।३६) सूत्र अनर्थक होजायगा ।

यदि कहो, कि–"जो कर्ताका क्रियाफलाभिप्राय है वह कर्ताका अभिलषित नहीं है, किन्तु वह फल कर्तृगत है, अत एव उपनयनक्रियाका जो फल है वह माणवकनिष्ठ होनेसे कर्त्रभिप्राय नहीं होता है । अत एव आचार्यकरण विषयमें ही णीञ् प्रापणे धातुको आत्मनेपद सिद्ध होता है ।" तो यह बात नहीं है, क्योंकि–ऐसा होने पर 'बसन्ते ब्राह्मणोऽग्निं आदधीत-वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निको ग्रहण करे' (तै. ब्रा० १।१।२।६) इस तैत्तिरीय ब्राह्मणमें कही हुई–अग्न्याधानविधिका आधानफल जो अग्निसंस्कार है, यह अग्निगत है, अतः अकर्त्रभिप्राय होनेसे 'स्वरितञितः०" सूत्रसे आत्मनेपद नहीं होता, इस प्रकार उपनयनक्रियाका फल जो संस्कार वह माणवकका अभिलषित होनेसे कर्ताका अभिप्रेत नहीं होता है, किंतु उक्तसंस्कार आचार्यका अभिलषित है, क्योंकि–आचार्यका अभिलषित न होने पर, उसके

जन्यं यस्य कस्यचिद् अभिलषितं वा क्रियाफलं किं तु कर्त्रभिलषितं सत् क्रियाजन्यं क्रियाफलम् । अन्यथा श्रमादिकमपि क्रियाजन्यम् अहितस्य यस्य कस्यचिद् अभिलषितं चेति स्वर्गकामो यजेत इत्यादौ क्रियाफलस्य अकर्त्रभिप्रायत्वेन आत्मनेपदं न स्यात् । न च अस्मत्पक्ष इव माणवकसमीहितसाधनत्वेनैव उपनेतुः उपनयनक्रियाफलम् अभिलषितम् इति भवतां मतम् येन क्रियाफलम् । अकर्त्रभिप्रायं स्यात् । आचार्यककामस्य अतत्साधने माणवकाधिकारे समीहानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा माणवकाधिकारस्यैव अभिलषितस्य प्रयोजकत्वाद् आचार्यकाधिकारस्य प्रयोजकत्वं न स्यात् । तस्माद् आत्मनेपदादेव क्रियाफलस्य अकर्त्रभिप्रायत्वा-

क्रियाफलकी उपपत्ति नहीं होसकती। क्रियाके कारण अपर किसी कर्ताको अभिलषित फल प्राप्त नहीं होता है, किंतु कर्ताका अभिलषित क्रियाजन्य क्रियाफल उसका ही होसकता है। अन्यथा क्रियाजन्य अन्य व्यक्तिका श्रमादि भी फलदायक होता। इस लिये 'स्वर्गकामो यजेत–स्वर्गकी कामना वाला यज्ञ करे' इत्यादि में क्रियाफलके अकर्त्रभिप्राय होनेसे आत्मनेपद नहीं होता। यदि कहो, कि–माणवक (बालक) के ईप्सित साधनके द्वारा ही उपनेता (उपनयन कराने वाले) को उपनयनक्रियाका फल अभिलषित है, यह आपका मत है, किंतु इसके द्वारा क्रियाफलका कर्त्रभिप्रायत्व सिद्ध नहीं होता, अतः इस बातको भी नहीं कह सकते, क्योंकि–उससे आचार्य–कामनाका साधन न होनेसे माणवकके अधिकारमें ईप्सितकी उपपत्ति नहीं होती है। अथवा उपपत्ति होने पर माणवकके अधिकारके ही अभिलषित वस्तुका प्रयोजक होने पर आचार्याधिकारका प्रयोजकत्व नहीं रहेगा। इस लिये आत्मनेपदसे ही क्रियाफलके अकर्तृगामीपनकी अवगति होती है, इस कारण माणवकके भली प्रकार ईप्सित वस्तु-

वगतेर्माणवकसमीहितसाधनत्वेनैव उपनयनस्य प्रतीतिः ॥

न च "उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद्" इति क्त्वाप्रत्ययेन आचार्यकशेषत्वम् उपनयनस्येति मन्तव्यम् । स्मृतिगतो हि क्त्वाप्रत्ययः "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" [पा० ३. ४. २१] इत्यनुशासनाद् उपनयनाध्यापनयोः समानकर्तृकत्वमेव आचष्टे । तच्च एककर्तृप्रयोज्यत्वम् । तच्च अङ्गाङ्गिभावेनैव उपपद्यत इति उपनयनस्य अध्यापनाङ्गत्वप्रतीतिर्विलम्बेन भवति । "वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत" [आप० ध० १. १. १. १६] इति द्वितीया श्रुतिः प्रत्यक्षश्रुतिगता । तया द्वितीयाश्रुत्या झटिति उपनयनस्य उपनेयशेषत्वं प्रतीयते । "श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे श्रुतिरेव बलीयसी" इत्युपनयस्य उपनेयशेषत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम् ॥

साधन द्वारा ही उपनयनकी प्रतीति होती है ।

"उपनीय तु यः शिष्यम् वेदमध्यायपयेद्" इस विधि में 'उपनीय' यहाँ क्त्वा प्रत्ययके द्वारा उपनयनको आचार्यकर्मका शेषत्व नहीं मानना चाहिये, क्योंकि—स्मृतिमें जो क्त्वा प्रत्यय है वह "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा० ३ । ४ । २१) इस सूत्रके द्वारा एककर्तृकत्व होनेसे उपनयन और अध्यापनके समान कर्तृकत्वको ही कहता है, क्योंकि—इस क्त्वाप्रत्ययका एक कर्तामें ही प्रयोग किया जाता है, अतः यह एककर्तृकत्व परस्पर अङ्गाङ्गिभावसे ही उत्पन्न होता है अतः उपनयन अध्यापनका अङ्ग है, यह प्रतीति विलम्बसे होती है । 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' (आप० ध० १ । १ । १ । १६) यह दूसरा श्रुतिवाक्य प्रत्यक्षश्रुतिके ही अन्तर्गत है । इस दूसरे श्रुतिवाक्यसे उपनयनका उपनयनशेषत्व सहजमें ही प्रतीत होता है । "श्रुतिवाक्य और स्मृतिवाक्यका परस्पर विरोध होने पर श्रुतिवाक्य ही बलवान् होता है ।" इस कारण उपनयनका उपनयनशेषत्व ही अङ्गीकार करना चाहिये ।

ननु उपनयनम् उपनेयशेषोऽस्तु। तथापि उपनेयस्य आचार्यकशेषत्वात् तद्द्वारा उपनयनस्यापि तदङ्गत्वम् इति चेत् न। उपनेयसंस्कारस्य आचार्यकशेषत्वे उपनेयशेषत्वे च सप्रयोजनत्वाविशेषेपि पुरुषान्तरगतत्वेन आचार्यकस्य बहिरङ्गत्वात् एकपुरुषनिष्ठत्वेन अध्ययनस्यान्तरङ्गत्वात् "अन्तरङ्ग बहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः" इति तस्य अध्ययनाङ्गत्वमेव अङ्गीकर्तव्यम् ॥ यदि समानकर्तृकेति विहितस्मार्तक्त्वाप्रत्ययबलादेव अन्तरङ्गत्वं बाध्येत तर्हि भवत्पक्षे अध्यापनविधिप्रयुक्तस्य अध्ययनविधेः किमधिकारपरत्वम् इति जिज्ञासायाम् "अधीत्य स्नायाद्" इति स्मार्तक्त्वाप्रत्ययानुरोधेन अन्तरङ्गत्वयुक्तेर्बाधात् अन्तरङ्गार्थज्ञानपरत्वं परित्यज आचार्याधि-

यदि कहो, कि—चाहे उपनयन उपनयनशेषत्व होजाय, तथापि उपनेय आचार्यकर्मका शेष साधक होनेसे, उसके द्वारा उपनयन भी उसका अङ्ग होजावेगा। तो यह बात नहीं है, क्यों कि—उपनेय संस्कार, आचार्यकर्मका समाप्तिकारक है तथा उपनेयका शेषसाधक है, अतः प्रयोजनके अभावके कारण अन्यपुरुषगत जो आचार्यकर्म है वह बहिरङ्ग होजाता है तथा एक पुरुषनिष्ठ जो अध्ययनकर्म वह अन्तरङ्ग होजाता है। अतः "अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें अन्तरङ्ग बलवान् होता है" इस न्यायसे उसको अध्ययनका अङ्ग कह कर ही स्वीकार करना उचित है। यद्यपि एककर्तृ विहित स्मार्तक्त्वाप्रत्ययकी शक्तिसे ही अन्तरङ्गविधि बाधित होजाती है, ऐसा होने पर आपके पक्षमें अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययनविधिके अधिकारपक्षमें क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-"अधीत्य स्नायात् पढ़कर स्नान करे" इस विधिमें जो स्मार्तक्त्वाप्रत्यय है, उसके द्वारा जैसे अन्तरङ्गविधिका बाध होता है। इसी प्रकार अन्तरङ्गार्थज्ञानपरत्वको परित्याग करके आचार्यका अधिकारपरत्व ही

कारत्वमेव स्यात् । तस्मात् अकर्त्रभिप्रायविहितात्मनेपदबलाद् अन्तरङ्गयुक्तेश्च उपनयनम् अध्ययनाङ्गम् इत्याचार्यकस्य सनियमकोपनयनशेषित्वाभावाद् नास्य अलौकिकत्वसिद्धिः । तदसिद्धौ च अन्यतः प्राप्तस्य अध्यापनस्य आचार्यकशेषत्वेन विध्यसिद्धिः ॥

कथं तर्हि "अध्यापयीत" इति विधिः । "एतयान्नाद्यकामं याजयेत्" इतिवत् प्रयोजकव्यापारान्तर्गतोपि विधिः प्रयोज्यव्यापारपर इति ब्रूमः ॥ ननु तत्र कामश्रुतिबलात् कामिन एव विध्यपेक्षायां प्रयोज्यव्यापारपरत्वम् अस्तु । अत्र तु तदभावात् तत्परत्वं नेति चेत् न । "निषादस्थपतिं याजयेत्" इत्यत्र कामश्रुतेरभावेपि

बलवान् होजावेगा । कर्ताके अभिप्रायसे भिन्न विहित जो आत्मनेपद है, उसकी शक्तिसे अन्तरङ्गयुक्तिका बाध होनेसे उपनयन अध्ययनका अङ्ग है, इस कारण आचार्यकर्म, नियमसहित उपनयनविधिका समापक नहीं होसकता अत एव आचार्यकर्मका अलौकिकत्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि—उसके सिद्ध होने पर अन्यसे प्राप्त जो अध्यापनकर्म है, उसकी आचार्यकर्मशेषत्वके कारण उक्तविधि ही असिद्ध होजाती है ॥

यदि कहो, कि—ऐसा होनेपर 'अध्यापयीत—पढ़ावे' यह विधि युक्तियुक्त कैसे होगी ? तो हम कहते हैं, कि—'इसके द्वारा अन्न आदि चाहने वालेको यज्ञ करावे' यह विधिरूप उक्त 'अध्यापयीत' विधि, प्रयोजक व्यापारके अन्तर्गत होने पर भी प्रयोज्यव्यापार है अब यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, कि—"एतयान्नाद्यकाम०—इससे अन्नकी कामना वालेको०" यहाँ कामनारूप श्रुतिकी शक्तिवश कामी व्यक्तिकी ही विधिमें अपेक्षा होरही है, अत एव यह विधि प्रयोज्यव्यापार पर होजावे, किंतु यहाँ "अध्यापयीत" में प्रयोज्यव्यापारपर नहीं होगी । तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि—"निषादस्थपतिं याजयेत्" यहाँ कामश्रुति (इच्छाश्रवण) के

द्रव्यार्जनार्थत्वेन अन्यतः प्राप्तं याजनं परित्यज्य प्रयोज्यव्यापारस्यैव अप्राप्तस्य विधेयत्वस्वीकारात् ॥ एतेन—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदम् अध्यापयेद् एनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥
[या० स्मृ० १. २. ७]

इत्येतदपि नाध्यापनविधिपरम् इत्यवगन्तव्यम् ।

उपनीय ददद् वेदम् आचार्यः स उदाहृतः ॥
[या० स्मृ० १. २. २६]

इत्येतदपि क्रियायोगमेव आचार्यशब्दाभिधेयम् इति व्यक्तम् उपदर्शयति । तस्माद् अध्यापनस्य विधिरेव नास्तीति सिद्धम् ॥ तदभावेन स्वविधिप्रयुक्ततैव अध्ययनस्य । स च अध्ययनसंस्कृतेनैव स्वाध्यायेन अर्थं जानीयाद् इति विधन इति कृत्स्नस्यापि

अभावमें भी, द्रव्यको एकत्रित करनेके लिये अन्यत्रसे मिला हुआ जो याजनकर्म है, उसका परित्याग करके, अप्राप्त जो प्रयोज्यव्यापार है, वही विधेय होगया है। इस प्रमाणसे "गुरु शिष्यका उपनयनसंस्कार कर महाव्याहृतिपूर्वक वेदको पढ़ावे और शिष्यको शौचाचारकी भी शिक्षा देय।" (याज्ञवल्क्यस्मृति १ । २ । ७) यह स्मृतिकी विधि भी अध्यापन–पर नहीं है, यह ज्ञात होता है।

तथा "उपनीय ददद् वेदं आचार्यः स उदाहृतः (या. स्मृ. १ । २ । २६)–जो उपनयन कराकर शिष्यको वेदकी शिक्षा देता है, वह आचार्य कहलाता है" यह स्मृतिविधि–भी क्रिया योग्य आचार्यशब्दको स्पष्टरूपसे दिखाती है। अत एव यह सिद्ध होगया, कि–अध्यापनकी विधि ही नहीं है। अध्यापनविधिका अभाव होनेसे स्वकीय विधि प्रयुक्तता ही अध्ययनकी विधि है। वह विधि "अध्ययनके द्वारा संस्कृत जो स्वाध्याय उससे स्वाध्यायके

वेदराशेर्विवक्षितार्थत्वेन स्वतःप्रामाण्यात् तदन्तर्गतस्य व्याख्यानं कर्तुं युक्तमेवेति सिद्धम् ॥

वेदस्य स्वतःप्रामाण्यं चोदनासूत्रे आचार्यैरेव उपपादितम् । तत्र बहुधा विवदन्ते वादिनः । प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं च उभयं स्वत इति सांख्याः । उभयं परत इति तार्किकाः । प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परत इति मीमांसकाः । अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति सौगताः ॥

प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं नाम कार्यकारणादेव कार्येण सह उत्पत्तिः । अत्र सांख्या एवं प्रतिपादयन्ति । स्वतः असताम् असाध्यत्वाद् उभयं स्वत इति । तत्र प्रमाणं च यद् असत् तन्न क्रियते यथा

अर्थको जाने" इस प्रकार अर्थ विहित करती है। अत एव संपूर्ण वेदराशिका अर्थ विवक्षित होनेसे स्वतःप्रामाण्यवश उसके भीतर आने वाले अथर्ववेदकी व्याख्या करना ठीक है, यह सिद्ध होगया।

आचार्योंने वेदके स्वतःप्रामाण्यका चोदनासूत्रमें प्रतिपादन किया है। वादी इस सम्बन्धमें अनेक प्रकारका विवाद करते हैं। सांख्यवाले कहते हैं, कि—प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों ही वेदसे प्रतिपन्न (स्वतः सिद्ध) होते हैं। तार्किक कहते हैं, कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों दूसरेसे सिद्ध होते हैं। मीमांसक कहते हैं, कि–प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है और अप्रामाण्य परतः सिद्ध है। सौगत कहते हैं, कि-अप्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, प्रामाण्य अन्यसिद्ध है।

स्वतःसिद्ध जो प्रामाण्य है अर्थात् जो स्वतः—सत्प्रमाण है वह कार्यके कारणसे कार्यके साथ उत्पन्न होता है। सांख्यवादियोंने इस विषयको इस प्रकार प्रतिपादित किया है, कि—'असत्'स्वतः ही अप्रामाण्य है। इस कारण 'सत्' और 'असत्' दोनों ही स्वीय स्वीय स्वरूपविशिष्ट हैं। अर्थात् जो सत् है वह सत् ही है

शशविषाणम् । कारकव्यापारात् पूर्वं कार्यम् असच्चेत् तर्हि न [क्रियेत] क्रियते च । अतः सदेव पूर्वमपि । अपि च कार्यं कारणेन प्राक् संबद्धम् असंबद्धम् वा । संबद्धम् चेद् असतः संबन्धानुपपत्तेः प्रागपि सदेव कार्यम् । असंबद्धम् चेत् इदमेवास्य कारणम् इदमेवास्य कार्यम् इति नियमो न स्यात् असत्ताऽसंबन्धयोरविशेषात् । यथाहुः ।

असत्त्वान्नास्ति संबन्धः कारकैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असंबद्धस्य चोत्पत्तिम् इच्छतो न व्यवस्थितिः । इति ॥

किं च कारणाद् अभिन्नत्वात् कार्यस्य प्रागसत्त्वं नोपपद्यते । तथा हि । तन्तुभ्यः पटो न भिद्यते तत्कार्यत्वात् । यद् यतो भिद्यते

जो असत् है वह असत् ही है। इस विषयमें प्रमाण यह है, कि—जो असत् है उसकी क्रिया नहीं होती, जैसे खरगोशके सींग । कर्ता से पहिले कार्य असंभव (असत्) है, अर्थात् कर्ताके विना कार्य नहीं होसकता । अत एव सत् ही आदिभूत है । अतः कारणके पहिले कार्यसम्बन्ध सप्रमाण नहीं है । और एक बात है, कि—पहिले कार्य कारणके साथ सम्बद्ध है वा असम्बद्ध ? यदि संबद्ध मानोगे तो असत्से सम्बन्ध ही नहीं घटता, अतः कार्य पहिले भी सत् था । और यदि आदिमें असत् मानोगे (असम्बद्ध मानोगे) तो यह इसका कारण है वा यह इसका ही कार्य है ऐसा नियम नहीं होसकता । असत् और असम्बद्धके अर्थमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है (जो असत् है उसके साथ कार्य कारणका किसो प्रकारका सम्बन्ध नहीं होसकता) इस विषयमें शास्त्रमें कहा है, कि—सत्त्वसंगी कारकोंसे असत्त्वका सम्बन्ध नहीं होसकता । असम्बद्ध (असत्) से विषयकी उत्पत्तिकी कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं माना जासकता ।”

और एक बात है, कि—कारणसे कार्य अभिन्न होता है-अलग

न तत् तस्य कार्यम् यथा गौरश्वस्य । तन्तुकार्यं पटः । तस्मात् तन्तोर्न भिद्यते । यद्ध यतो भिद्यते तस्य तेन सह संयोगः अप्राप्तिर्वा स्यात् यथा कुण्डवदरयोर्मेरुविन्ध्ययोर्वा । न हि पटस्य तन्तुभिः सह तद्द उभयम् अस्ति । तस्माद्द न तन्तुभ्यो भिद्यते पट इत्यभेदसिद्धेः कार्यं प्रागपि सदेव इति सिद्धम् ॥

अत्र ब्रूमः । न च क्रियमाणत्वं सत्त्वसाधनम् । असत्त्वेपि तस्योपपत्तेः हेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्तेः संदिग्धात्वात् । तथा हि । न हि सतो घटादेः क्रियमाणत्वं दृष्टम् कृतकरणव्यापारानुपपत्तेः । नाप्य-

---

नहीं होता है, अतः कार्यका पहिले न होना प्रमाणित नहीं होता जैसे तन्तुओंसे पट भिन्न नहीं है, क्योंकि—वह उनका कार्य है उनका परस्परका कर्म सम्बन्ध है। जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, वह उसका कार्य नहीं होसकती (परस्पर भिन्नवस्तु का सम्बन्ध नहीं होसकता) जैसे गौ और अश्व परस्पर भिन्न हैं (यहाँ एकके साथ अन्यका सम्बन्ध नहीं है।) और दूसरे पक्षमें देखो, कि—तंतुका कार्य पट है (तन्तुके साथ पटका सम्बन्ध है) क्योंकि—तन्तुसे पट भिन्न नहीं है। जो वस्तु जिससे भिन्न होती है, उसका उसके साथ संयोग वा अप्राप्ति होसकती है। जैसे कुण्ड और बदर तथा मेरु और विन्ध्याचल, किन्तु पटका तन्तुओंके साथ संयोग वा अप्राप्ति दोनों ही नहीं हैं। इसकारण तन्तुओंसे पट भिन्न नहीं है, इस प्रकार अभेदसिद्धि होनेपर यह सिद्ध होता है, कि—कार्य पहिले भी सत् था। फलतः कार्यसे पहिले सत्का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इस विषयमें (और भी) कहते हैं, कि—क्रियमाणत्व सत्त्वसाधन नहीं है (अर्थात् कर्मसे सत् उत्पन्न नहीं होता है,) असत्से सत्की उत्पत्ति—हेतु विवृत करने पर केवल सन्देह ही बढ़ेगा। जैसे सत्से घट आदिका क्रियमाणत्व दृष्ट नहीं होता है,

सतः क्रियमाणत्वम् अनुपपन्नम् इति। प्रागसतोपि घटादेः सामग्र्यां सत्याम् उत्पत्तिदर्शनात्। यदप्युक्तम्। कारणेन असंबद्धस्य कार्यस्योत्पत्तौ इदमेवास्य कार्यम् इदमेवास्य कारणम् इति नियमानुपपत्तिरिति तदप्यपेशलम् किंचिदेव कारणं कस्मिंश्चिदेव कार्ये शक्तम् इति शक्तितो नियमनसिद्धेः। न च शक्यव्यतिरेकेण शक्तिरेव नास्तीति वक्तव्यम्। अयम् अग्निः अद्विष्ठातीन्द्रियाश्रयः कारणत्वाद् गुरुत्वाश्रयवदिति तत्सिद्धेः। नापि शक्तिरपि शक्येन असंबद्धा न कार्यकारणभावस्य नियामिकेति वाच्यम्। शक्ताश्रयायाः शक्तेश्च प्रतिनियतशक्यानुकूलस्वभावत्वात्। अन्यथा सत्कार्यवादपक्षेपि प्रधानोपादानत्वस्वीकारात् सर्वस्य जगतः सर्वं

इस कारण कृतकरणरूप व्यापारकी अनुपपत्ति घटती है। इस प्रकार अब असत्से क्रियमाणत्व भी उपपन्न होसकता है। क्योंकि–उत्पत्तिसे पहिले घट असत् था। उत्पत्तिका दर्शन होनेसे सामग्रीके मध्यमें आकर वह सत्में परिणत होगया–सत्में बदल गया। (अत एव असत्से सत्की उत्पत्ति क्यों नहीं होसकती?) और जो यह बात कही थी, कि–"कारणसे असम्बद्ध कार्यकी उत्पत्तिका होनेपर यह इसका कार्य है, यह इसका कारण है, यह नियम ही नहीं रह सकेगा।" सो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि–कोई भी कारण किसी भी कार्य में समर्थ होता है, इस प्रकार सामर्थ्य वश (शक्ति) नियम की सिद्धि होती है। शक्तिमान्से भिन्न शक्ति नहीं होसकती, किन्तु यहाँ पर ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता। यह अग्नि, अद्विष्ठका, अद्वितीयत्वका तथा अतीन्द्रियत्वका आश्रय होनेसे गुरुत्वका आश्रय सिद्ध होता है। शक्तिमान्के साथ शक्तिकी अभिन्नता नहीं है, शक्तिको कार्यकारणभाव की नियामिका भी नहीं कहा जासकता। शक्तिमान्की आश्रयभूता शक्ति, प्रतिनियत शक्तिमान्की ही अनुकूलस्वभावविशिष्ट

सर्वस्वरूपेण सर्वत्र सर्वदा सदिति विवेकहेतोरभावात् इदमेवास्य कार्यम् इदमेवास्य कारणम् इति नियमो न स्यात् ।। ननु सर्वत्र सर्वदा कार्यस्य सत्त्वाविशेषेपि तत्तदभिव्यञ्जकसामर्थ्यनियमात् तत्तदभिव्यक्तिनियमो भविष्यतीति चेत् । एवं तर्हि अस्मत्पक्षेपि तत्तदुत्पादककारणसामर्थ्यनियमात् तत्तदसत्कार्योत्पत्तिनियमसिद्धिः ।। यत् पुनः कार्यस्य कारणाद् अभेदसाधकम् अनुमानम् तदपि तन्तुपटयोः प्रत्यक्षेण भेदोपलम्भात् प्रत्यक्षविरुद्धकालात्ययापदिष्टम् ।। अपि च कारकव्यापारात् प्रागपि कारणे कार्यं सत् स्यात् तर्हि कारणे कार्यम् उपलभ्येत । न चोपलभ्यते । तस्माद् असदेव । प्रागपि सदेव कार्यम् अभिव्यक्तेरभावाद् नोपलभ्यत इति चेत् न । किम् इयम् अभिव्यक्तिः प्रागपि

कहलाती है । अन्यथा सत्कार्यवादपक्षमें भी, प्रधान उपादानको स्वीकार करनेके कारण, सर्वजगत्‌का, सर्ववस्तुका, सर्वमयका सर्वदा सत्स्वरूपसे विद्यमान होनेके ज्ञानका अभाव होने लगेगा । तब यही इसका कार्य है, यही इसका कारण है, यह नियम नहीं होसकता । यदि कहो, कि–सर्वत्र सर्वदा कार्यके सत्ताविशेषमें भी तत्तद्भावप्रकाशक सामर्थ्यके नियमके कारण ऐसा हो सकता है, तो हमारे पक्षमें भी उस २ ही विषयके उत्पादक कारण सामर्थ्यका नियम उपस्थित होता है, अतः पूर्वोक्त असत्कार्यकी उत्पत्तिका नियम अव्याहत रह सकता है। पुनश्च–कार्यकारणका अभेदसाधक जो अनुमान है वह भी तन्तुपटके प्रत्यक्षसम्बन्धविषयमें प्रत्यक्षज्ञानके अभाववश ही घटसकता है। उसको प्रत्यक्षविरुद्ध कालसे अतीत मानना होगा । और भी एक बात है कि–कर्ताके व्यापारसे पहिले भी (कर्मके आरम्भसे पहिले भी) कारणमें कार्य (सत्) होता तो कारणमें भी कार्य मिलता, (दूसरा पक्ष कहता है, कि–कारणमें कार्य नहीं मिलता)

सती उत असती । सती चेत् प्रागपि केवलतन्तुष्वपि तया पटस्योपलब्धिः स्यात् । असती चेद् असत्या एव तस्याः पश्चादुत्पत्तिस्वीकारात् तद्वत् सर्वस्याप्यसतः कार्यस्योत्पत्तिः किं नाङ्गीक्रियते । क्रियेत । इत्यलम् अतिप्रसङ्गेन ॥ तस्मात् सत्कार्यनिषेधात् प्रामाण्याप्रामाण्ययोरुभयोरपि स्वतस्त्वे किंचिदेव प्रमाणं प्रमाणमिति व्यवस्थानुपपत्तेश्च नोभयं स्वतः ॥

अपि तु अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति अपरे मन्यन्ते । तथा हि । यदि प्रामाण्यं स्वतोऽवसीयेत तर्हि एकतरकोटिनिर्धारणात् इदं प्रमाणम् अप्रमाणं वेति न संदिह्येत । अन्यथा सर्वत्र

अतः असत् ही है । यदि कहो, कि—कार्य पहिले भी सत् था, अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के अभाववश उपलब्ध नहीं होता था । तो यह बात भी नहीं है क्योंकि—यह अभिव्यक्ति पहिले भी सती थी वा असती (थी या नहीं) यदि थी तो पहिले भी केवलतन्तुओंमें ही उस अभिव्यक्तिसे पटकी उपलब्धि होनी चाहिये । यदि उसको असती मानोगे अर्थात् वह अभिव्यक्ति नहीं थी यह मानोगे और उस असती अभिव्यक्तिसे ही उत्पत्तिको स्वीकार करोगे तो उसकी समान सकल 'असत्' से 'असत्' कार्यकी उत्पत्ति अङ्गीकार होगई या नहीं होगई ? बस इस विषयपर अधिक विचार-करना निष्प्रयोजन है । इस प्रकार सत्कार्यका निषेध होनेसे प्रामाण्य और अप्रामाण्यके स्वतःसिद्ध होनेमें साधारणसा प्रमाण प्रमाण नहीं माना जासकता अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः सिद्ध नहीं हैं ।

अन्यच्च । दूसरे वादी अप्रामाण्यको स्वतःसिद्ध और प्रामाण्य को परतः सिद्ध (अन्यसिद्ध) मानते हैं । (अब उनके मतको दिखाते हैं, कि—) यदि प्रामाण्यको स्वतःसिद्ध मान कर स्वीकार करें तो कोटिसंख्यानिर्धारणमें (अर्थात् प्रत्येक विषयमें) प्रमाण

संदेहस्योपरमो न स्यात् । अतः कारणगुणज्ञानाद् अर्थक्रियासंवादाद् वा प्रामाण्यनिश्चयः ॥ ननु आदावेव अर्थतथात्वानिश्चये उत्तरकालीना प्रवृत्तिः कथं जाघटीति तदुत्तरकालीनस्तन्निश्चयो वा कथम् तदभावे कथं प्रामाण्यनिश्चयः इति चेत् न । कृष्यादाविव अर्थसंदेहादपि प्रवृत्त्युपपत्तेः । प्रवृत्तस्य च अर्थक्रियोपलब्धौ पूर्वावगतस्य अर्थक्रियाकारित्वं सत्यं निश्चीयत इति तद्विषयस्य पूर्वज्ञानस्यापि तदर्थसंबन्धित्वेन पश्चात् प्रामाण्यं निश्चीयते । यथोक्तम् ।

तस्मिन् सदपि मानत्वं विनिश्चेतुं न शक्यते ।
उत्तरार्थक्रियाज्ञानात् केवलं तत् प्रतीयते । इति ॥

नैवम् अर्थक्रियाज्ञानस्यापि स्वविषयार्थक्रियापरिनिश्चये परापेक्षा येन अनवस्था भवेत् । तस्य फलरूपत्वात् । फलार्थं वा सर्वं

का वा अप्रमाणका किसी प्रकारका सन्देह नहीं उठता । दूसरे पक्षमें (अप्रामाण्यको स्वतःसिद्ध स्वीकार करनेसे) सर्वत्र ही सन्देह वर्तमान रह सकता है, अतः यदि कहो, कि–कारणके गुणज्ञानसे अथवा अर्थक्रियाकी उपलब्धिसे प्रामाण्यका निश्चय होजायगा, तो यह भी नहीं कहा जासकता, क्योंकि–अर्थसन्देह होने पर भी कृषि आदिमें प्रवृत्तिकी उपपत्ति घट सकती है । प्रवृत्तकर्मकी अर्थक्रिया (उद्देश्य) उपलब्ध होने पर, पूर्वपरिज्ञात अर्थक्रियाकारित्वकी सत्यता निश्चित होती है (अर्थात् पहिले जिस विषयका जो ज्ञान सञ्चित होता है उसके द्वारा तत्सम्बंधी व्यापारकी उत्पत्तिका प्रमाण प्राप्त होता है)। इस विषयमें कहा है, कि—

‘विद्यमानता सत् होने पर भी उसका निश्चय नहीं किया जा सकता, भविष्यमें होने वाली क्रियाका ज्ञान होने पर वह केवल अनुभूत होसकता है।” इस विषयमें शङ्का होसकती है । कोई कहते हैं, कि–अर्थक्रियाज्ञानकी भी स्वविषयार्थक्रियाका निश्चय

करिष्यते न फलम् अन्यार्थमिति । अतः स्फुटाविकल्परूपत्वाच्च अर्थक्रियाज्ञानं स्वत एव स्वविषयतथात्वावधारकं प्रमाणं च ॥ न चैवं प्रामाण्यावगमस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वात् प्रवृत्त्युत्तरकालम् अर्थक्रियानिर्णयो निष्फल इति वाच्यम् । ज्ञानान्तरेषु निःशङ्कप्रवृत्त्यर्थं विसंवादिज्ञानव्यावृत्तप्रमाणप्रतिबन्धरूपविशेषाकलनाय प्रवृत्त्युत्तरकालमपि निर्णयस्योपयोगात् ॥ प्रवृत्तावभ्यासवत्याम् आद्यज्ञाने फलस्याप्रतीतावपि अर्थक्रियारूपं फलमिति विषयीकुर्वतो विज्ञा-

---

होने पर दूसरेकी अपेक्षा होगी और उससे अनवस्था दोष आजावेगा। (एक कार्यके कारणका निर्णय करनेमें भ्रम होना असंभव नहीं है, अत एव परवर्ती कार्यको देख कर पूर्ववर्ती कार्यका निर्धारण करना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होगा। फल दीखनेसे ही कारण उपलब्ध होता है, फलके निमित्त ही कार्य विहित होता है कार्यको नहीं बुलाता है। स्फुट (प्रकाशमान) विषयके रूपान्तरके अभावके कारण अर्थक्रियाज्ञान स्वतः प्रमाणित होता है (द्रव्यके दर्शनमात्रसे ही उसके कार्यकारणका भाव अपने आप दीख जाता है), इस प्रकार स्वविषयमें जो यथार्थताका निश्चय है, उसको ही प्रमाण कहते हैं। प्रामाण्यके द्वारा जो जाना जाता है वह प्रवृत्तिका अङ्ग माना जाता है, अत एव प्रवृत्तिके (कर्मांतरके) परवर्ती कालका अर्थक्रियानिर्णय (कार्यके दीखने पर कारणका अनुभवत्व) निष्फल नहीं माना जासकता। ज्ञानान्तरमें निश्चित प्रवृत्तिका भाव प्राप्त होनेसे विसम्वादिज्ञानके प्रवर्तक प्रमाणका प्रतिबंधक विशेषरूपसे कल्पित नहीं होसकता, इस कारण प्रवृत्ति की प्रवर्तना होने पर—कर्मका आरंभ होने पर—परवर्ती कालके निर्णयकी उपयोगिता प्रमाणित होती है (परवर्ती कालके ज्ञानसे पूर्ववर्ती कार्यका कारण अनुमित हो सकता है)। पहिले ज्ञान होनेके समय प्रवृत्तिके कार्यके फलकी प्रतीत न होने पर भी प्र-

नान्तराद् विसंवादिभ्यो व्यावृत्तं वैलक्षण्यं प्रतीयते । यथोक्तम् ।

वृत्तावभ्यासवत्यां तु वैलक्षण्यं प्रतीयते ।
अतद्विषयविज्ञानाद् आद्येऽप्राप्तेऽपि तत्फले । इति ॥

तस्मात् झटितिनिःशङ्कप्रवृत्तिरपि तत्र विसंवादिव्यावृत्तप्रमाणप्रतिबन्धरूपविशेषलिङ्गकाद् अनुमानादेवेति न स्वतःप्रामाण्यावगमः

अत्राभिधीयते । वृत्तेः प्रामाण्यम् अर्थयाथार्थ्यनिश्चयाद् भवतु । तन्निश्चयस्तु गुणज्ञानात् संवादाद् वा इति यद् उक्तं तन्न मृष्यामहे ॥ प्रमितिसाधकतमत्वं हि प्रामाण्यम् । प्रमितिश्च अनधिगततथाभूतार्थावधारणम् । नन्वेवम् इन्द्रियादेरेव प्रामाण्यम् न ज्ञानस्य

वर्ती दूसरे ज्ञानसे अर्थक्रियारूप फलका विषय प्रतीत होता है, इसमें विसम्वाद उठाने पर वह वैलक्षण्य (अयुक्तरूप) में प्रतीत होता है । इस विषयमें कहा है, कि–"पहिले प्राप्त न होने वाले कर्मफलका विषय जाना नहीं जाता, अत एव प्रवृत्तिके कार्यमें वैलक्षण्य प्रतीत होता है ।" अत एव शीघ्र ही निःशङ्क प्रवृत्ति भी (सहसा निश्चितरूपसे प्रवृत्तिका कार्य), विसम्वादियोंके दिये हुए प्रमाणके प्रतिबंधकरूप विशेष निर्देश अनुमानसे ही होती है, स्वतः प्रमाणित नहीं होती है ।

इस विषयमें कहते हैं, कि–अर्थके याथार्थ्यका निश्चय होनेसे आदि-उत्पत्ति भी प्रमाणरूपसे ग्रहण कर ली जाय । किंतु गुणज्ञानसे अथवा (परंपराक्रमसे प्राप्त) सम्वादसे वह निश्चयता (अर्थकी यथार्थरूपसे निश्चयता) स्थिर की जाती है । इस सिद्धान्तको मिथ्या नहीं कहा जासकता । सत्यज्ञानप्रदानका श्रेष्ठ कारण कहलानेसे ही प्रामाण्य ही स्वीकृत होता है । प्रमिति-शब्दका अर्थ है, कि–अनधिगत विषयके मर्मका अवधारण । यदि कहो, कि–इन्द्रियादिका ही प्रामाण्य है, ज्ञानका प्रामाण्य नहीं है, किन्तु यह बात भी नहीं कही जासकती, क्योंकि–ज्ञान

तस्यावधारणरूपत्वेन अवधारणान्तरसाधकतमत्वानुपपत्तेरिति चेत् न । द्विविधं हि अवधारणम् ज्ञानरूपं प्राकट्यरूपं चेति । तत्र अनधिगततथाभूतार्थगोचरत्वेन ज्ञानस्य प्रामाण्यम् । तथा च अनधिगततथाभूतार्थावधारणं प्रमितिः । तत्साधनं ज्ञानं प्रमाणम् । तद्भावः प्रामाण्यमिति नाशब्दार्थत्वम् । अतः प्रमितिलक्षणवाक्यगतावधारणशब्देन ज्ञानप्राकट्ययोः कार्यकारणभावेन अदूरविप्रकृष्टयोरेकरूपप्रामाण्यव्युत्पत्त्यर्थं तन्त्रेणोपादानम् । शक्ती च प्रमाणाप्रमाणगोचरे प्रामाण्याप्रामाण्ये । ते च तथाभूतोयम् अर्थः इत्येवंरूपात् तथात्वावधारणाद् अतथाभूतोयम् अर्थ इत्येवंरूपाद् अतथात्वावधारणाच्च चकास्तः । तत्र तथाभूतार्थावधारणम् अर्थक्रिया-

ही अवधारणरूप है, अत एव ज्ञानके विना अन्यके अवधारणको श्रेष्ठ साधन नहीं कहा जासकता ज्ञानरूप और प्राकट्य (प्रकाश) रूप भेदसे आवरण दो प्रकारका है । जो अनधिगत था (अप्राप्त था) उसका गोचरीभूतकरण ही ज्ञानका प्रामाण्य है, अत एव अनधिगत विषयका यथार्थरूपसे अवधारण (निश्चय होना) ही प्रमिति (सत्यज्ञान) है । प्रमितिसाधक जो ज्ञान है वही प्रमाण है । ज्ञानका भाव ही (ज्ञानोत्पन्न विषय ही) प्रामाण्य कहलाता है । वास्तविक शब्दार्थके साथ जिसका संबंध नहीं है, वह प्रामाण्य नहीं है । प्रमितिलक्षणरूप वाक्यगत जो अवधारण है, तद्बोधक शब्दके द्वारा ज्ञानका और प्राकट्यका कार्यकारणभाव उपलब्ध होता है, उससे निकटता और दूरत्वसाधक प्रामाण्यका एकरूप ज्ञान निमित्त उपादान प्राप्त होजाता है । ज्ञान और प्राकट्यकी शक्ति दो प्रकारकी है । एक प्रमाणगोचर और दूसरी अप्रमाणगोचर । (इसी लिये वह) प्रामाण्य और अप्रमा- हैं । वे दोनों शक्तियें—क्रमशः ‘तथाभूत यह अर्थ’ इस प्रकार तथात्व अवधारण तथा ‘अतथाभूत यह अर्थ’ इस प्रकार अत-

ज्ञानादिलक्षणपरानपेक्षत्वेन ज्ञानस्वरूपमात्राधीनम् । तदवसेयं प्रामाण्यं स्वतोवसीयत इत्युच्यते । अतथाभूतावधारणं तु ज्ञानस्वरूपमात्राधीनत्वेपि कारणदोषावगमादिलक्षणपरापेक्षम् इति तदवसेयम् अप्रामाण्यं परतोऽवसीयत इत्युच्यते ॥ न च अतथाभूतावधारणमपि ज्ञानस्वभावाधीनम् । भ्रमबाधयोरसंभवप्रसङ्गात् । न हि शुक्तौ रजतम् अतथाभूतमिति गोचरयतो ज्ञानस्य भ्रमत्वं बाधसंभवो वा । तस्मात् ज्ञानस्वभावाधीनमपि अतथाभूतत्वं कारणदोषावगमाद् बाधकप्रत्ययाद् वा परत एव निश्चीयत इति अप्रामाण्यं परत एवेति सिद्धम् ॥

अपरे पुनः एतदप्यसहमाना अप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि कारण-

थात्व अवधारण—दो प्रकारका भाव प्रकाशित कर सकती हैं । इन दोनोंमें तथाभूतार्थ अवधारण वाक्य, अर्थ क्रियाके ज्ञानादिलक्षणकी अपेक्षा न करनेके कारण ज्ञानस्वरूपमात्रके ही अधीन है, उसके द्वारा अवधारित प्रामाण्य स्वतःनिर्दिष्ट प्रामाण्यमें गिना जाता है । और अतथाभूतार्थ अवधारण वाक्य ज्ञानके स्वरूपमात्रके आधीन होने पर भी, कारण दोष आदिके ज्ञापक लक्षण की अपेक्षा करता रहता है, अत एव तदवसित अप्रामाण्य अन्यसे अवधारित होता है—परतः प्रमाण है । परन्तु अतथाभूत अवधारण ज्ञानस्वभावके अधीन नहीं है, अत एव उसमें भ्रम और बाधा होना असंभव नहीं है । जो ज्ञान शुक्ति (सीपी) में रजत (चाँदी) को अतथाभूतरूपसे गोचरीभूत करता है, उस ज्ञानका बाधसंभव वा भ्रमत्व नहीं होसकता । (अर्थात् सीपी और चाँदीको भिन्न २ बतानेवाला ज्ञान ही सत्य है)। अतथाभूतत्व ज्ञानस्वभावके अधीन होने पर भी कारणदोषके जाननेसे अथवा बाधकके प्रत्ययसे परतः रूपमें निश्चित होता है, इस कारण अप्रामाण्य स्वतःसिद्ध न होकर परतःसिद्ध ही सिद्ध होता हैं ।

गतगुणज्ञानात् संवादाद्वा परत एव ज्ञायत इति वर्णयन्ति साधयन्ति च ॥ तथा हि । प्रामाण्यं परतो ज्ञायते । अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यवदिति । नैतत् साधनम् । अस्मन्मतेपि तथाभूतोयम् अर्थ इत्येवंरूपावधारणात् परत एव प्रामाण्यं निश्चीयत इति सिद्धसाधनत्वात् ॥ ननु ज्ञप्तावनपेक्षत्वेपि उत्पत्तौ परापेक्षास्ति । तथा हि । यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि प्रमाणपरिज्ञानम् अप्रमाणं भवेत् प्रामाण्ये कारणाभावात् । तथा च सति ज्ञानमेव न स्यात् घटादिवत् ॥ ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यकारणत्वात् सति च दोषे तदभावाद्ध नातिप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि दोषाभावम् अधिकम् आसाद्य प्रामाण्यमपि जायत इति कथं ज्ञान-

इसको भी न सहते हुए दूसरे पण्डित अप्रामाण्यकी समान प्रामाण्यको भी, कारणगत गुणोंके ज्ञानसे वा सम्वादसे यह भी परतः सिद्ध ही है–ऐसा वर्णन करते हैं और सिद्ध भी करते हैं। वे कहते हैं, कि–कर्मका अभ्यास न होनेकी दशामें संशय (भ्रम) होनेके कारण अप्रामाण्यकी समान प्रामाण्य भी परतः सिद्ध ही जाना जाता है। किन्तु यह साधन युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि–हमारे मतमें भी 'यह अर्थ तथाभूत है' इस प्रकारके अवधारणाके कारण, प्रामाण्य परतः ही माना जासकता है, इस प्रकार सिद्ध साधन ही होता है। यदि कहो, कि–ज्ञानविषयमें उत्पत्ति अपेक्षित न होने पर भी अन्य अपेक्षित होता है, क्योंकि-प्रामाण्य यदि ज्ञानहेतुमात्रके ही अधीन हो तो प्रमाणका ज्ञान अप्रमाण हो सकता है, क्योंकि–"प्रामाण्यविषयमें कारणका अभाव है" यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि–ऐसा होने पर घट आदिकी समान ज्ञान ही नहीं होसकता। यदि यह कहो, कि–जहाँ पर दोष का अभाव है, उस स्थलमें प्रामाण्य कारण है, और जिस स्थलमें दोषकी विद्यमानता है, उस स्थलमें प्रामाण्य कारण

ज्ञानादिलक्षणपरानपेक्षत्वेन ज्ञानस्वरूपमात्राधीनम् । तदवसेयं प्रामाण्यं स्वतोवसीयत इत्युच्यते । अतथाभूतावधारणं तु ज्ञानस्वरूपमात्राधीनत्वेपि कारणदोषावगमादिलक्षणपरापेक्षम् इति तदवसेयम् अप्रामाण्यं परतोऽवसीयत इत्युच्यते ॥ न च अतथाभूतावधारणमपि ज्ञानस्वभावाधीनम् । भ्रमबाधयोरसंभवप्रसङ्गात् । न हि शुक्तौ रजतम् अतथाभूतमिति गोचरयतो ज्ञानस्य भ्रमत्वं बाधसंभवो वा । तस्मात् ज्ञानस्वभावाधीनमपि अतथाभूतत्वं कारणदोषावगमाद्वा बाधकप्रत्ययाद् वा परत एव निश्चीयत इति अप्रामाण्यं परत एवेति सिद्धम् ॥

अपरे पुनः एतदप्यसहमाना अप्रामाण्यवत् प्रामाण्यमपि कारण-

थात्व अवधारण—दो प्रकारका भाव प्रकाशित कर सकती हैं । इन दोनोंमें तथाभूतार्थ अवधारण वाक्य, अर्थक्रियाके ज्ञानादिलक्षणकी अपेक्षा न करनेके कारण ज्ञानस्वरूपमात्रके ही अधीन है, उसके द्वारा अवधारित प्रामाण्य स्वतःनिर्दिष्ट प्रामाण्यमें गिना जाता है । और अतथाभूतार्थ अवधारण वाक्य ज्ञानके स्वरूपमात्रके आधीन होने पर भी, कारण दोष आदिके ज्ञापक लक्षण की अपेक्षा करता रहता है, अत एव तदवसित अप्रामाण्य अन्यसे अवधारित होता है—परतः प्रमाण है । परन्तु अतथाभूत अवधारण ज्ञानस्वभावके अधीन नहीं है, अत एव उसमें भ्रम और बाधा होना असंभव नहीं है । जो ज्ञान शुक्ति (सीपी) में रजत (चाँदी) को अतथाभूतरूपसे गोचरीभूत करता है, उस ज्ञानका बाधसंभव वा भ्रमत्व नहीं होसकता । (अर्थात् सीपी और चाँदीको भिन्न २ बतानेवाला ज्ञान ही सत्य है) । अतथाभूतत्व ज्ञानस्वभावके अधीन होने पर भी कारणदोषके जाननेसे अथवा बाधकके प्रत्ययसे परतः रूपमें निश्चित होता है, इस कारण अप्रामाण्य स्वतःसिद्ध न होकर परतःसिद्ध ही सिद्ध होता है ।

गतगुणज्ञानात् संवादाद्ध वा परत एव ज्ञायत इति वर्णयन्ति साधयन्ति च ॥ तथा हि ।प्रामाण्यं परतो ज्ञायते । अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात् अप्रामाण्यवदिति । नैतत् साधनम् । अस्मन्मतेपि तथाभूतोयम् अर्थ इत्येवंरूपावधारणात् परत एव प्रामाण्यं निश्चीयत इति सिद्धसाधनत्वात् ॥ ननु ज्ञप्तावनपेक्षत्वेपि उत्पत्तौ परापेक्षास्ति । तथा हि । यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि प्रमाणपरिज्ञानम् अप्रमाणं भवेत् प्रामाण्ये कारणाभावात् । तथा च सति ज्ञानमेव न स्यात् घटादिवत् ॥ ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यकारणत्वात् सति च दोषे तदभावाद्ध नातिप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि दोषाभावस्य अधिकम् आसाद्य प्रामाण्यमपि जायत इति कथं ज्ञान-

---

इसको भी न सहते हुए दूसरे पण्डित अप्रामाण्यकी समान प्रामाण्यको भी, कारणगत गुणोंके ज्ञानसे वा सम्वादसे यह भी परतः सिद्ध ही है—ऐसा वर्णन करते हैं और सिद्ध भी करते हैं। वे कहते हैं, कि—कर्मका अभ्यास न होनेकी दशामें संशय (भ्रम) होनेके कारण अप्रामाण्यकी समान प्रामाण्य भी परतः सिद्ध ही जाना जाता है। किन्तु यह साधन युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि—हमारे मतमें भी 'यह अर्थ तथाभूत है' इस प्रकारके अवधारणके कारण, प्रामाण्य परतः ही माना जासकता है, इस प्रकार सिद्ध साधन ही होता है। यदि कहो, कि—ज्ञानविषयमें उत्पत्ति अपेक्षित न होने पर भी अन्य अपेक्षित होता है, क्योंकि-प्रामाण्य यदि ज्ञानहेतुमात्रके ही अधीन हो तो प्रमाणका ज्ञान अप्रमाण हो सकता है, क्योंकि—"प्रामाण्यविषयमें कारणका अभाव है" यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि—ऐसा होने पर घट आदिकी समान ज्ञान ही नहीं होसकता। यदि यह कहो, कि—जहाँ पर दोष का अभाव है, उस स्थलमें प्रामाण्य कारण है, और जिस स्थलमें दोषकी विद्यमानता है, उस स्थलमें प्रामाण्य कारण

हेतुमात्रजन्यत्वं तस्य ॥ ननु दोषाभावस्य प्रामाण्यहेतुत्वेपि गुणस्य प्रामाण्यं प्रति अहेतुत्वात् तदभावेन वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सिध्यतीति चेत् तर्हि गुणस्य प्रामाण्यहेतुत्वेन दोषाभावस्य तदहेतुत्वात् तद्भावेपि गुणाभावाद् अप्रामाण्यमपि वेदानां प्रसज्येत । न हि गुणदोषयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये प्रति अन्वयव्यतिरेकयोर्विशेषम् उपलभामहे । तस्माद् उभयमपि परत इति सिद्धम् ॥

अत्राभिधीयते । कार्यशक्तेः असति बाधके कार्यकारणादेव कार्येण सह उत्पत्तिरङ्गीकर्तव्या अन्यथा वह्निगताया दाहकत्वशक्तेरपि कारणान्तरादेव उत्पत्तिः स्यात् । तथा च उत्पत्तिक्षणे तस्य

नहीं होसकता, अत एव अति—प्रसंग नहीं है यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि—ऐसा होने पर, प्रामाण्य भी अधिकतासे दोषके अभावको ग्रहण करके ज्ञात होता है, अत एव किस प्रकार यह प्रामाण्य ज्ञान हेतुमात्रका ही जन्य होगा। यदि कहो, कि—दोषका अभाव प्रामाण्यका कारण होने पर भी, गुण प्रामाण्यका हेतु नहीं होता है, अत एव वेदसमूहका प्रामाण्य—स्वतः सिद्ध है, यह सिद्ध होता है, किन्तु ऐसा होने पर गुणके प्रामाण्यका कारण होनेसे, दोषका अभाव प्रामाण्यका कारण नहीं होगा, क्योंकि—उसका भाव होनेसे गुणका अभाव होता है, अत एव वेदोक्त अप्रामाण्य भी वेदसे ही स्थिर हो जायगा। किंतु हम गुण तथा दोषके प्रामाण्य और अप्रामाण्य (इन दोनों) के प्रति अन्वय और व्यतिरेककी उपलब्धि करते हैं। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः हैं यह सिद्ध होगया।

इस स्थल पर कहते हैं, कि—बाधक न होने पर कार्यके कारण से ही कार्यके साथ कार्यशक्तिकी उत्पत्ति अङ्गीकार करना कर्तव्य है। अन्यथा अर्थात् उक्तरूपसे अङ्गीकार न करने पर, अग्निमें जो दाहकत्व (जलानेकी) शक्ति है, उसकी भी दूसरे कारणसे

दाहकत्वं न स्यात् । वह्निश्च स्वाश्रयं दहन्नेव जायते । तत् सिद्धम् एतत् स्वत एव च प्रामाण्यमिति ॥ न च अप्रामाण्यमपि स्वत एवास्त्विति मन्तव्यम् । तस्य दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन ज्ञानहेतुमात्रजन्यत्वाभावात् ॥ स्याद् एतत् । यदि ज्ञानहेतुमात्राधीनं प्रामाण्यं भवेत् तर्हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यात् । तद् न । प्रामाण्यशब्देन तथाभूतार्थावधारकशक्तेरेव विवक्षितत्वात् तस्या एव च ज्ञानहेतुमात्रशब्दाधीनत्वसमर्थनात् । अन्यथा नैयायिकमतेपि अप्रामाण्यस्य दोषाधीनत्वात् तदभावे स्मृतावपि प्रामाण्यसंभवप्रसङ्गात् ॥ यत् पुनः प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात् अप्रमावत् इत्यनुमानम् तद् असाधकम् । प्रमा

उत्पत्ति होनी चाहिये, और वह अग्नि जिस समय उत्पन्न होती है, उस समय उसमें दाहिका शक्ति नहीं हो. किंतु अग्नि अपने आश्रय काष्ठ आदिको दहन (भस्म) करता हुआ ही उत्पन्न होता है । अतः प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, यह निश्चित होगया । अप्रामाण्यको भी स्वतः सिद्ध नहीं माना जासकता, क्योंकि—दोषसम्बन्धमें अन्वय और व्यतिरेक अप्रामाण्यके पीछे विहित होनेसे, ज्ञानविषयमें हेतुमात्रका कारण नहीं होसकता । यदि कहो, कि—चाहे इस बातको मान लिया जाय, किन्तु प्रामाण्य यदि ज्ञानविषयमें हेतुमात्रके अधीन होगा तो स्मृतिका भी प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा तो यह बात नहीं है । प्रामाण्य शब्दसे तथाभूत जो अर्थ है, उस अर्थका अवधारण (निश्चय) करनेवाली शक्ति ही जानी जाती है और यह स्मृति तो ज्ञानके हेतुमात्र शब्दके ही अधीन है, अत एव स्मृतिप्रामाण्य नहीं होसकता । अन्यथा अर्थात् उसको प्रामाण्य कहकर स्वीकार करें तो नैयायिकके मतमें भी अप्रामाण्य दोषके अधीन होजावेगा, अत एव उसका अभाव होने पर स्मृतिमें भी प्रामाण्य संभव होसकेगा । प्रमा ज्ञानके हेतुसे अतिरिक्त

गुणदोषयोरन्यतराधीना न भवति ज्ञानत्वात् अप्रमावत् इत्यनेन अनुमानेन निर्विशेषणहेतुजत्वेन शीघ्रप्रवृत्तेन विशेषविषयत्वेन च प्रबलेन बाधितविषयत्वात् । तस्य च सविशेषणहेतुजत्वेन विलम्बितप्रवृत्तत्वाद् दौर्बल्यम् । तस्माद् उत्पत्तावपि ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वेन प्रामाण्यं स्वतः एव । अप्रामाण्यं तु दोषाधीनत्वात् परत इति सिद्धम् ॥

ततश्च वेदानामपि अपौरुषेयत्वेन शब्दगतगुणदोषाणां शङ्कितुमपि अशक्यत्वेन सुतरां स्वत एव प्रामाण्यमिति निरवद्यम् ॥

स्याद् एवं यदि वेदानाम् अपौरुषेयत्वं भवेत् । तदेव असिद्धम् । तथा हि । वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि । वाक्यत्वात् । यद् उक्तसाधनं

हेतुके अधीन है, किंतु इसका कार्य संबंध होने पर विशेषत्व होजाता है, अत एव 'अप्रमाकी समान' ऐसा अनुमान असाधक हो पड़ता है। जो प्रमा है, वह ज्ञान होनेसे गुण और दोष किसीके अधीन नहीं है, अत एव 'अप्रमावत्' इस अनुमानके द्वारा विशेषण हेतुके अतिरिक्त, अन्यहेतुसे जन्य शीघ्र प्रवृत्त हुए, प्रबल विशेषणविषयके द्वारा यह विषय बाधित होजाता है। वह सविशेषण हेतुसे उत्पन्न होनेके कारण विलम्बसे प्रवृत्त होता है अत एव दुर्बल है। इस कारण उत्पत्तिस्थलमें भी प्रामाण्य ज्ञानहेतुमात्रके अधीन होनेके कारण स्वतः सिद्ध है और अप्रामाण्य दोषमात्रके अधीन होनेके कारण परतः सिद्ध है। यह सिद्ध होगया।

अत एव वेदोंके अपौरुषेय (पुरुषके न बनाये हुए) होनेके कारण शब्दगत जो सकल गुणदोष हैं, उनसे वेदके पौरुषेयत्व की शंका भी नहीं की जासकती, अत एव प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, यह बात निर्विवाद है।

यहाँ पर पूर्वपक्षवाला फिर कहता है, कि—यदि वेद अपौरुषेय होते तो यह बात ठीक थी, परन्तु वेदकी अपौरुषेयता ही असिद्ध

तद् उक्तसाध्यम् यथा भारतादिवाक्यम्। उक्तसाधनानि च वेदवाक्यानि। तस्मात् पौरुषेयाणि वेदवाक्यानि । पौरुषेयत्वं नाम स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वम् अभिमतम् । अतः क्रमवन्तो वर्णाः पदम् । क्रमवन्ति च पदानि वाक्यम् । क्रमश्च नित्यवर्णेषु स्वत एवासंभवात् उच्चारणक्रमनिबन्धन एव उच्चारणक्रमश्च पुरुषप्रयत्नसाध्य एवेति वेदवाक्यान्यपि क्रमवत्त्वेन पुरुषप्रयत्ननिष्पाद्यान्येवेति सिद्धसाध्यत्वं वदताम् अनवकाश एव ॥ ननु किमत्र साक्षात्स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं विवक्षितम् आहो स्वित् परंपरया । नाद्यः । इदानीम् उच्चार्यमाणेषु बाधितविषयत्वात् अनुवक्तृप्रणीतास्मदादिवाक्येषु अनैकान्तिकत्वाच्च । नापि द्वितीयः । साक्षात्स्वतन्त्रपुरुषप्रणीतेषु अस्मदादि-

---

है, क्योंकि—वाक्य होनेके कारण वेदवाक्य पौरुषेय हैं—पुरुषके बनाये हुए हैं । जो उक्तसाध्य है, वह उक्तसाधन है (अर्थात् जहाँ पर साध्य है तहाँ पर साधन भी है) जैसे महाभारत आदिके वाक्य । अत एव वेदवाक्य उक्तसाधन होनेसे पौरुषेय हैं अन्य पुरुषका पहिले जो अभिमत था, वही पौरुषेय है । क्रम वाले वर्ण पद कहलाते हैं, और क्रम वाले पद वाक्य कहलाते हैं । नित्य वर्णोंमें स्वतःसिद्ध ही क्रम होना असंभव है, अत एव उच्चारणक्रमनिबंधन ही क्रम है । उच्चारणका क्रम भी पुरुषके प्रयत्नसे ही सिद्ध होसकता है, इस कारण वेदके वाक्य भी क्रम वाले होनेके कारण, पुरुषके किये हुए यत्नसे ही बने हुए हैं, अत एव जो वेदको अपौरुषेय कहकर प्रामाण्यको स्वतःसिद्ध कहते हैं, उनका मत युक्तियुक्त नहीं होसकता । यदि कहो, कि—पूर्वपक्षवादीने जो पुरुषसाध्य कहा है, वह किस प्रकार है ? वह क्या साक्षात्स्वरूपमें स्वतन्त्र (एक) पुरुषसे निष्पाद्य मानते हैं अथवा परम्पराक्रमसे पुरुषान्तरनिष्पाद्य मानते हैं । यदि साक्षात् एक पुरुषसे निष्पाद्य मानते हैं, तो इस समय उच्चारण किये हुए

वाक्येषु अनैकान्तिकत्वादिति चेत् मैवम् । साक्षात्परंपरात्वयोः परस्परव्यभिचारेपि साक्षात्परंपरात्वयोरन्यतरस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । अन्यथा भारतादिवाक्यान्यपि यानि कृष्णद्वैपायनादिना साक्षात् प्रणीतानि न तानि परंपरया यानि परंपरया न तानि साक्षात् इति उभयानुगतपौरुषेयत्वाभावेन अन्यतरस्य अपौरुषेयत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् यद् वाक्यं तत् साक्षात् परंपरया वा स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकम् इति साधयतां न क्वचिद् बाधो न व्यभिचारश्चेति सिद्धं वेदाः पौरुषेया इति ॥

तद् इदम् असमञ्जसम् । तथा हि । सर्वत्र वाक्येषु वृद्धव्यवहारावगतपदपदार्थसंबन्धस्य चक्षुरादिजन्यतत्तत्पदार्थविशेषविषय-

वाक्यमें उसका बाध आता है तथा द्वितीय अर्थात् परम्पराक्रममें पुरुष निष्पाद्य नहीं होसकता, यदि कहो, कि—साक्षात् स्वतन्त्रपुरुषकर्तृक प्रणीत अस्मद् वाक्योंमें ऐकान्तिकत्व नहीं होता है, अर्थात् उभयनिष्पाद्य हैं अत एव अपौरुषेय हैं, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि—साक्षात् और परम्पराका परस्पर व्यभिचार होने पर भी साक्षात् और परम्पराके मध्यमें यहाँ पर एककी ही विवक्षा होती है । अन्यथा भारत आदि पुराणोंके वाक्य, महर्षि कृष्णद्वैपायनके द्वारा साक्षात् रूपसे प्रणीत हुए हैं, वे परम्परासे नहीं हैं और जो परम्पराप्रणीत हैं, वे साक्षात्रूपसे नहीं हैं । इस प्रकार साक्षात् और परम्परा इन उभयानुगत पौरुषेयत्वके अभाव के कारण अन्यतर अपौरुषेय कहला सकता है, अत एव जो वाक्य है, वह साक्षात् क्रमसे वा परम्पराक्रमसे ही स्वतन्त्रपुरुषसाध्य है, इस प्रकार कहनेवालोंके मतमें न कहीं बाध पड़ेगा और न कहीं व्यभिचार आवेगा, अत एव सिद्ध होगया, कि—वेद पौरुषेय हैं ।

अब यहांसे उत्तरपक्ष कहते हैं, कि—उक्त मत ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वत्र वाक्योंमें वृद्धव्यवहारके द्वारा अवगत पदका और

परस्परविलक्षणक्षणिकज्ञानवतः शरीरिण एव स्वतन्त्रकर्तृत्वं दृष्टमिति वाक्यत्वं तादृशकर्तृत्वेन व्याप्तं सत् स्वव्यापकं पक्षे साधयत् स्वाभिमतम् अशरीरकर्तृकत्वं विरुणद्धीति विशेषविरुद्धत्वाद्धेतोः। न चास्योत्तरस्य उत्कर्षसमायाम् अन्तर्भावः। सर्वत्र वाक्यत्वस्य हेतोः शरीरकर्तृकत्वेन व्याप्ततया दृष्टत्वात् ॥

स्याद् एतत् । अस्तु तर्हि अत्रापि अनित्यज्ञानेच्छादिमतः शरीरिण एव कर्तृत्वम् ।' न च योग्यानुपलब्धिबाधः चिरवृत्ते कर्तरि उपलब्धियोग्यत्वस्यैव अभावात् इति ॥ एतदपि न चतुरचेतसां चेतसि चमत्कारं प्राञ्चति । अपसिद्धान्तापातात् ॥ किं च

पदके अर्थसम्बन्धका, एवं चक्षु आदि इन्द्रियजन्य तत्तत्पदके अर्थविशेषके विषयमें, परस्पर निश्चितज्ञानमें अनित्यज्ञानयुक्त जो शरीरी (जीव) है उसका स्वतन्त्रकर्तृत्व दृष्ट होता है। इस कारण जो वाक्य है वह तादृशकर्तृत्वके द्वारा व्याप्त होता है, तथा स्वकीयव्यापक जो तादृश कर्ता है, तत्पक्षमें अपना अभिमत साधन करते २ अशरीरी कर्त्ताको बाधित करता है, क्योंकि—यह विशेष का विरोधी है, परन्तु परवर्ती विधिके उत्कर्षसाधनमें उसका अन्तर्भाव नहीं होता है। सकल स्थलोंमें ही वाक्यत्वधर्मका जो हेतु (कारण) है वह शरीरविशिष्टकर्ताकर्तृक व्याप्तरूपमें दृष्ट होता है

यदि कहो, कि—ऐसा होने पर यहाँ पर भी अनित्य ज्ञान इच्छा आदिसे विशिष्ट शरीरधारीका ही कर्तृत्व होजायगा और योग्यकी उपलब्धि नहीं है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि—चिरवृत्त कर्त्तामें उपलब्धिके योग्यत्वका ही अभाव है। और यह प्रश्न भी विद्वान् पुरुषोंके मनको चमत्कृत नहीं कर सकता। क्योंकि—यहाँ अप (भ्रान्त) सिद्धान्त आपड़ता है। और एक बात है, कि—वेदवाक्योंका कर्ता यदि शरीरी होता तो, वह चिरकाल हुए होगया अतः उसकी उपलब्धिका अभाव है, तब भी उसकी स्मृति

यदि वेदवाक्यानां शरीरी कर्ता स्यात् तस्य चिरवृत्तत्वेन उपलब्ध्यभावेपि असौ स्मृतिपथम् अवतरेत् । न च स्मर्यते । तस्मान्नास्त्येव कर्तेति निश्चीयते ॥

स्याद् एतत् । केनचिद् अस्मरणं वा हेतुः आहो स्वित् सर्वैरस्मरणम् । नाद्यः । देवदत्तेन अस्मृतस्यापि घटस्य विष्णुमित्रगृहे विद्यमानत्वात् । नापि द्वितीयः । जैमिनीयैरस्मरणेपि कणादाक्षचरणपक्षिलमुनिपक्षिपतिभिः स्मर्यमाणत्वाद् इति ॥ न । तदीयैरपि वृद्धव्यवहारावगतपदपदार्थसंबन्धस्य तदर्थविषयविलक्षणक्षणिकचक्षुरादिजन्यवेदनस्य मातापितृसंबन्धप्रसूतपार्थिवशरीरस्य कर्तुरस्म-

तो अवश्य होती, परन्तु कभी और किसीने भी वेदोंका कर्ता शरीरी है, यह स्मरण नहीं किया है, अत एव वेदका कर्त्ता ही नहीं है, यह निश्चित है ।

यहाँ पर प्रश्नकर्त्ता प्रश्न कर सकता है,कि–किसी एक पुरुषने वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं किया, इसलिये वेद अपौरुषेय है, वा किसीको भी वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं है, इसलिये वेद अपौरुषेय है ? यहाँ पर पहिली बात ठीक नहीं मानी जासकती, क्योंकि देवदत्तने जिस घटका स्मरण नहीं किया है वह घट विष्णुमित्रके घरमें विद्यमान होसकता है । और दूसरी बात भी ठीक नहीं मानी जासकती, क्योंकि–जैमिनियोंको जिस शास्त्रका स्मरण नहीं है, कणाद अक्षचरण (गौतम) पक्षिल, मुनिपक्षिपति आदि मुनियोंका उसका स्मरण अवश्य होगा । अतएव अस्मरण रूप प्रश्न युक्तिसिद्ध नहीं है, क्योंकि-वृद्धव्यवहारके द्वारा जाननेमें आनेवाला, जिस पदका और पदार्थका सम्बन्ध है, उसके अर्थ विषयमें विलक्षणरूपमें क्षणिक चक्षुरादिजन्यज्ञानविशिष्ट माता पिताके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए किसी पार्थिव शरीरवाले वेदकर्ता का उनको भी स्मरण नहीं है । स्मरण करनेवाले जिसका स्मरण

णात्। तदेवं वेदवाक्येषु यादृशस्य स्वतन्त्रपुरुषस्य ते स्मरन्ति तादृशस्य वाक्यत्वम् अस्मत्परिपन्थित्वेन न विरोधकम्। जैमिनीयैस्तु सर्वैः स्मर्तुं योग्यस्यापि अस्मरणाद् योग्यस्मृत्यनुदय एव बाधक इति वाक्यत्वं हेतुः विरुद्धसमस्तसविशेषत्वेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वमपि साधयितुम् असमर्थ इति सिद्धो विशेषविरोधस्तस्य॥स्याद् एतत्।

"अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।"

"ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्"

[ऐ० ब्रा० ५. ३२]।

"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

करते हैं और वेदवाक्योंमें जैसे पुरुषान्तरका उल्लेख है, वही वाक्यनामसे अभिहित है, एवं उक्तवाक्य हमारे मतका विरोधी नहीं है। किञ्च--प्रश्नकर्ताने जैमिनियोंका जो उदाहरण दिया है, उसके विषयमें कहना यह है, कि--स्मरण करने योग्यका भी उन्होंने स्मरण नहीं किया, अत एव योग्य स्मृतिका न होना ही यहाँ पर बाधक है। इस कारणवश उक्त वाक्यत्व ही अपौरुषेयत्वका हेतु होगया। इस हेतुके विरोधी होनेसे वेदका जो स्वतन्त्रपुरुषप्रवर्तकत्व है, उसकी साधना करना ही अशक्य है, अत एव उसका विशेष विरोध सिद्ध होगया।

यदि कहो, कि--यह बात मान लें तब भी ऐतरेय ब्राह्मणके और ऋग्वेदके निम्नलिखित वेदकारणवाद भी वेदके पौरुषेयत्वके प्रमाण हैं। यथा--

"तदनन्तर उसके मुखसे वेद निकले" "ऋग्वेद अग्निसे, यजुर्वेद वायुसे और सामवेद आदित्यसे उत्पन्न हुआ है।" (ऐतरेय ब्राह्मण ५। ३२)।

"उस सर्वहुत् यज्ञसे ऋक्समूह" ऋक्से सामसमूह, सामसे

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत"
[ऋ० १०. ९०. ९] ॥

इत्यादयो वेदकारणवादा वेदस्य पौरुषेयत्वे प्रमाणमिति ॥ तद् अयुक्तम् । तेषां परस्परविरुद्धार्थतया प्रमाणान्तरप्रतिहततया च "प्रजापतिरात्मनो वपाम् उदक्खिदत्" [तै० सं० २. १. १. ४] इत्यादिवत् अर्थवादत्वेनापि उपपत्तेः स्वार्थे तात्पर्याभावात् । काठकादिसमाख्यापि प्रवचननिबन्धनैव भविष्यति । इति सिद्धं वेदानाम् अपौरुषेयत्वम् ॥

अत एव च नित्यम् । तन्नित्यत्वम् असहमानाः शुष्कतार्किका वैदिकान् प्रति विवदन्ते प्रयुञ्जते च शब्दानित्यत्वेऽनुमानम् ॥ शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् यत् कृतकं तद् अनित्यं दृष्टम् यथा घटः

छन्दसमूह और छन्दःसमूहसे यजुर्वेद प्रकट हुआ था ।(ऋ. १०।९०।९)

परन्तु यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि—उनके परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले होनेसे और दूसरे प्रमाणोंसे खण्डित होनेके कारण तैत्तिरीयसंहिता २।१।१।४। में कही 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' श्रुतिकी समान अर्थ वाद होने पर भी उपपत्तिके स्वकीय अर्थ में तात्पर्यका अभाव होता है (अर्थात् उक्त श्रुतिवाक्यमें जैसे, "प्रजापतिने अपनी वपाको उत्खिन्न किया था" यह अर्थवाद है, किन्तु प्रकृतविषयमें तात्पर्यका अभाव है, तिसी प्रकार यहाँ पर है)। वेदोंमें जो काठक-आदि समाख्या (नाम) हैं, वे भी प्रवचनके निमित्त मात्र हैं, अत एव वेद अपौरुषेय हैं यह सिद्ध होगया ।

वेद अपौरुषेय होनेके कारण नित्य हैं । किन्तु शुष्क तार्किक वेदके नित्यत्वको न सह कर विवाद करने लगते हैं और वेदान्तर्गत शब्दके अनित्य होनेमें अनुमान करने लगते हैं, कि—वे कहते हैं, कि—"कृतकत्व (बनाया हुआ होने) के कारण शब्द

तथा चायं कृतकः तस्माद् अनित्य एवेति ॥ एतद् अधीरम् । एतच्च पर्वतादौ धर्मिणि प्रत्यक्षे यथा वन्ह्याद्यनुमानं तादृशं तार्किकैरङ्गीकरणीयम् । ततश्च एतदनुमानबलादेव शब्दस्य नित्यत्वसिद्धिः । तथा हि । अणवोऽनित्याः मूर्तत्वात् घटवत् इत्यनुमाने यथा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो दोषः तथा शब्दकृतकत्वानुमानेपि । तथा हि । शब्दः कथं प्रत्यक्षो देवानां प्रियस्य यो धर्मी ॥ कृतकस्य अनित्यत्वान्नित्यत्वशून्य इति चेत् । तर्हि वक्तव्यं किं धर्मद्वयस्य अभाववान् उत तद्भाववान् । उभयथापि बाधः अन्यथा प्रत्यक्षम् अर्थम् अन्यथा साधयतः ॥ ननु वादिबुद्धिविशेषाद् धर्मद्वयम् आपतति न तु वस्तु-

अनित्य है, क्योंकि—जो कृतक होता है, वह अनित्य ही दीखता है, जैसे घट । इसी प्रकार यह (शब्द) कृतक भी अनित्य ही है । किन्तु यह मत ठीक नहीं है । यह तो जैसे, धर्मविशिष्ट पर्वत आदिका प्रत्यक्ष होने पर उसका विषय अनुमानसापेक्ष होता है तैसे ही, तार्किकोंको अङ्गीकार करना चाहिये। अत एव इस अनुमानके बलसे ही शब्द नित्य सिद्ध होगया । अपि च—अणु मूर्ति वाले होनेसे घटकी समान अनित्य हैं—इस अनुमानमें जैसे धर्मीके ग्राहकपक्षमें प्रमाणका बाधरूप दोष आजाता है, इसी प्रकार शब्दके कृतकत्वके अनुमानमें भी दोष आसकता है। उसी को दिखाते हैं, कि—जो शब्द धर्मी है, वह किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि—कृतक (कृत्रिम) अनित्य होनेके कारण वह भी नित्यत्वशून्य है। (अब उत्तरपक्ष कहते हैं, कि—) यदि ऐसा मानोगे तो कहना यह है, कि-शब्द धर्मद्वय भावविशिष्ट है अथवा दोनों धर्मोंके अभाव वाला है। अन्यत्र प्रत्यक्ष किया हुआ जो अर्थ है उसको उक्त धर्मद्वय अन्यत्र साधना करते हैं, अत एव दोनों स्थलोंमें बाध दोष आपड़ता है । यदि कहो, कि—वादीकी बुद्धिसे ही दोनों धर्म आपड़ते हैं, किसी वस्तुसे नहीं आते हैं,

विशेषात् । वस्तुनि द्वैरूप्यायोगात् । ततश्च यस्मिन् वादिविप्रतिपत्तौ सत्यां धर्मद्वयम् आपतति स शब्दः पक्ष इत्यङ्गीकारे कथं बाधः । एवम् अनङ्गीकारे सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः ॥ अस्त्वेवम् अन्यत्र । शब्दे तु वैषम्यम् अस्ति । शब्दः किं धर्मित्वेन प्रतीतः प्रत्यक्षव्याप्तिपक्षधर्मतयोराश्रयः उत्पत्तितः उत्तरक्षणेषु स एव तिष्ठति वा न वा । यदि न तिष्ठति । आश्रयासिद्ध्यादिदोषः । यदि तिष्ठति तर्हि अनेकक्षणावस्थायित्वात् क्षणिकत्वभङ्गः !' अथ च शब्दत्वजातिमान् शब्दस्तिष्ठतीति चेत् तत्रापि विचारयत्वायुष्मान् । किं जातिस्तिष्ठति उत व्यक्तिरपि । यदि जातिस्तिष्ठति व्यधि-

क्योंकि—वस्तुमें पूर्वोक्त दोनों भावोंका होना संभव नहीं है । और ऐसा होने पर जहाँ वादीका विरोध (विप्रतिपत्ति) है, उक्तस्थल में दोनों ही विरोध आपड़ते हैं । और उस शब्दको पक्ष मानकर अङ्गीकार करने पर उसको पक्ष माननेमें बाध कैसे हो सकता है ? और अङ्गीकार न करने पर सारे अनुमानके नष्ट होनेका प्रसंग आजावेगा । ऐसा मान भी लें तो । अन्य शब्दमें वैषम्य है । शब्द धर्मित्वरूपमें प्रतीत होकर प्रत्यक्ष और व्याप्तिके संम्बन्धमें पक्ष और धर्मभावका आश्रयभूत हो जाता है, यह शब्द उत्पत्ति के अनन्तर ठहरता है या नहीं ? यदि उत्पत्तिके अनन्तर शब्द की विद्यमानताको स्वीकार न करें तो आश्रयकी असिद्धि आदि दोष आपड़ते हैं । और यदि शब्दकी विद्यमानताको स्वीकार करलें तब अनेक क्षण तक रहने वाला होनेसे क्षणिकपनेके भंग होनेका दोष आजावेगा और यदि यह कहें, कि—शब्दरूप जाति वाला शब्द ही—स्थितिशील—रहता है, तो तहाँ भी आयुष्मान् व्यक्तियोंको विचार करना चाहिये, कि—तहाँ क्या जाति स्थितिशील रहती है, या व्यक्ति स्थितिशील रहता है ? यदि जातिको स्थितिशील मानें तो उससे व्यधिकरणकी असिद्धि आदि दोष

करणासिद्ध्यादिदोषः । न हि शब्दत्वजातिः पक्ष इति भवद्भिरेवोक्तम् । अनित्यव्यक्तेश्चावस्थाने पूर्वोक्तदोषावकाशः ॥ अथ च काचन व्यक्तिस्तिष्ठति । तदापि शब्दव्यक्तीनां धर्मित्वाङ्गीकाराद्भागासिद्धो हेतुः । न हि भविष्यच्छब्दः इदानीं वर्तमानस्य कृतकत्वस्य हेतोराश्रयो भवति ॥ कृतकत्वं नाम करणव्यापारविषयत्वम् । तच्च कालत्रयासंस्पृष्टं सर्वशब्देषु वर्तत इति हेतोर्न भागासिद्धिरिति चेत् । अहो पाण्डित्यं तार्किकस्य । यत्र कालत्रयसंस्पृष्टशब्दबुद्धिः स्वयं कालत्रयातीतं प्रत्यक्षीकृतवान् इति ॥ ततः प्रत्यक्षाभावे अनुमानमपि दूरापास्तम् ॥ ततः अस्मिन्ननुमाने पर्व-

---

आते हैं । आपने ही कहा है, कि—शब्दत्वरूप जाति पक्ष नहीं हो सकती, अनित्य व्यक्तिका अवस्थान स्वीकार करने पर भी यही दोष रहता है । और कहो, कि—कोई व्यक्ति रहता है तो सब शब्द व्यक्तियोंको धर्मी स्वीकार करने पर वाक्य भागासिद्ध होजाता है । क्योंकि—भविष्यत्—शब्द (जो शब्द आगे होगा) वह इस क्षण में वर्तमान जो कृतकत्वरूप हेतु है उसका आश्रय नहीं होसकता। (यहाँ पर पूर्वपक्षवादीकी शङ्काको उठाकर उसका खण्डन करते हैं, कि—) और यदि कहो, कि—कारणका जो व्यापार है, उस का ही नाम कृतकत्व है, उस कृतकत्वका भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंके साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, अत एव वह सब शब्दोंमें वर्तमान है । ऐसा होने पर तार्किकका पाण्डित्य अद्भुत ही प्रतीत होता है, कि—वह कालत्रयसे संस्पृष्ट शब्दबुद्धि हो कर (अर्थात् जिसकी ऐसी बुद्धि है, कि—शब्द कालत्रयसे सम्बन्ध रखता है, फिर भी उसने)भी कालत्रयसे अतीत पदार्थको प्रत्यक्ष कर लिया (अर्थात् उसका ऐसे पदार्थका प्रत्यक्ष करना ही अद्भुत पाण्डित्यका परिचायक है) अत एव प्रत्यक्षके अभावमें अनुमान भी नहीं होसकता । अत एव इस अनुमान-

तादिवत् स्थायी वर्तमानः शब्दः पक्षत्वेनाङ्गीकरणीयः । तस्य धर्मिणः अनित्यत्वसिद्धौ अपरेषां भविष्यदादिशब्दानामपि शब्दत्वेन हेतुना अनित्यत्वं साधनीयम् ।। एवं च महीमहीधरादिकृतकत्वानुमानवत् शब्दकृतकत्वानुमानमपि परास्तं वेदितव्यम् । शब्दग्राहि च प्रमाणं तं कृतकत्वशून्यमेव गृह्णातीति महीमहीधरवत् इति धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्त्वदुक्तो हेतु अन्यतरासिद्धश्च । तस्मान्नित्यः शब्दः ।।

सोपि स्फोट इति शाब्दिकाः शब्दायन्ते । तत्रेमां श्रुतिं प्रमाणयन्ति ।

शब्दब्रह्म यद्द एकं यच्चैतन्यं [च] सर्वभूतानाम् ।

विषयमें पर्वत आदिकी समान स्थितिशील वर्तमानशब्दको पक्षरूपमें स्वीकार करना होगा । (जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें पर्वतरूप पक्ष स्थितिशील और वर्तमान है, इसी प्रकार शब्द भी स्थितिशील और वर्तमान है) । धर्मी शब्दकी अनित्यता स्थिर होने पर (अर्थात् धर्मी शब्दके अनित्य होने पर अपर जो 'भविष्यत्' आदि शब्द हैं उनका भी शब्दहेतुक अनित्यत्व मानना पड़ेगा । इस प्रकार पर्वत पृथ्वी आदिके कृतकत्व के अनुमानकी समान, शब्दका कृतकत्व अनुमान भी खण्डित होगया–ऐसा सबको समझना चाहिये । शब्दको ग्रहण करने वाला जो प्रमाण है, वह कृतकत्वशून्य शब्दको ही ग्रहण करसकता है (अर्थात् जो प्रमाण शब्दका प्रतिपादन करता है वह कृतकत्वशून्य शब्दको ही समझा सकता है)। उक्त प्रमाण और 'महीमहीधरवत्–पृथ्वी और पर्वतकी समान' इस धर्मिग्राहक प्रमाणका बाधक जो तत्कथित हेतु है, इन दोनोंमेंसे एकको असिद्धि होती है । अत एव यह स्थिर होगया, कि–शब्द नित्य है ।

शाब्दिक पुरुष उस शब्दको 'स्फोट' कहते हैं । और इस विषयमें वह इस श्रुतिका प्रमाण देते हैं, कि–"शब्द ब्रह्म यदेकं

यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलम् इदं जयति सा वाणी । इति । अस्य अयम् अर्थः । शब्द एव ब्रह्म । तद् एकम् । एकं व स्फोटव्यतिरिक्तम् अन्यन्न संभवति । वर्णानाम् अनेकत्वात् । अत एव न ध्वनयोपि । पदवाक्ययोरेकत्वशङ्कापि नास्त्येव वर्णैर्विरचितत्वात् तेषाम् । ध्वनिवर्णपदवाक्येभ्यो वा नान्यः शब्दः प्रसिद्धोस्ति लोकवेदयोः। शब्दब्रह्मेति पठन्ति लौकिका वैदिकाश्च । पदज्ञा अपि एवम् आहुः । "एकम् अक्षरम् एकं पदम् एकं वाक्यम्" इति । उत्पन्नापवर्गिष्वनेकेषु वर्णेषु एकबुद्धेर्विषयः स्फोटः बृहत्त्वाद् ब्रह्मशब्दाभिधेयः । स्फुटयते अर्थः प्रकाश्यते [अनेन] इति स्फोटः ॥

यच्चैतन्यं (च) सर्वभूतानाम् । यत् परिणामस्त्रिभुवनमखिलमिदं जयति सा वाणी ॥" इसका अर्थ यह है कि--शब्द ब्रह्मरूप है। वह अद्वितीय अर्थात् स्फोटके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । क्योंकि—एक, स्फोटके अतिरिक्त दूसरा नहीं होसकता क्योंकि—वर्ण अनेक हैं । अत एव ध्वनिका (एकत्व) संभव नहीं होता है तथा पद और वाक्य दोनोंकी एकत्वकी आशंका भी नहीं हो सकती, क्योंकि—शब्द और वाक्य वर्णसमष्टिके द्वारा ही रचित होते हैं लोकमें वा वेदमें, ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्यसे भिन्न अन्य शब्द प्रसिद्ध नहीं हैं । लौकिक और वैदिक पण्डित भी 'शब्द ब्रह्म है' इस प्रकार पाठ करते रहते हैं । पदको जाननेवाले पण्डित भी इस प्रकार कहते हैं, कि—'अक्षर (वर्ण) एक है, पद एक है, और वाक्य एक है (अर्थात् तीनों ही एक हैं, पृथक् २ नहीं हैं), उत्पन्न होनेवाले और लयको प्राप्त होनेवाले अनेक वर्णोंमें एकमात्र बुद्धिका विषय स्फोट, महत्वके कारण ब्रह्म शब्दसे अभिधेय है । इसके द्वारा अर्थ प्रकाशित होता है इस कारण ही इसको स्फोट कहते हैं ।

ननु अर्थाभिव्यञ्जकश्चेच्छब्दस्तर्हि वर्णात्मक एव सः। ज्ञातेषु वर्णेषु अर्थो ज्ञायत इति प्रसिद्धिः। नैतत् वर्णात्मकशब्दः अर्थप्रत्यायक इति कोर्थः। एकैको वर्णः अर्थप्रत्यायकः उत अनेक इति। न तावद् एकैकः। अकारादीनां वर्णानां प्रत्येकं वर्णोच्चारणे अर्थप्रतीतेरभावात्। न च अव्ययानां तिरस्काराद्यर्थप्रत्यायकत्वं दृष्टमिति मन्तव्यम्। "अव्ययाद् आप्सुपः" [पा. २. ४. ८२] इति विभक्तौ लुप्तायां तेषाम् अर्थप्रत्यायकत्वात् न तु प्रातिपदिकावस्थायाम्। ततश्च अ इ उ इति वर्णानां तिरस्काराश्चर्यादरार्थानां

पूर्वपक्षीवादी कहते हैं, कि–यदि शब्द अर्थका प्रकाशक होगा हो तो वह शब्द वर्णात्मक ही होगा, क्योंकि–यह बात प्रसिद्ध है कि–सब वर्णोंके ज्ञात होने पर ही अर्थ ज्ञात होसकता है। उत्तरवादी इसका प्रतिवाद करता हुआ कहता हे, कि–तुम (पूर्वपक्षवादी) ने जो कुछ कहा है वह ठीक नहीं है, वर्णात्मक शब्द अर्थको जता देता है, तुम्हारी इस बातका क्या अर्थ है ? (अर्थात् ऐसा अर्थ असंभव है)। (अच्छा हम बूझते हैं, कि–) एक एक वर्ण अर्थको जताता है, वा बहुतसे मिले हुए वर्ण अर्थको बताते हैं ? एक एक वर्ण अर्थको बताते हैं, यह बात तो कह नहीं सकते क्योंकि– अकार आदि वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णका उच्चारण करने पर भी अर्थ समझमें नहीं आसकता। और ऐसा भी मनमें न समझना चाहिये, कि–"अव्ययोंका तिरस्कार आदि अर्थबोधकत्व (अर्थको जतानापन) देखा है (अर्थात् जब अव्यय अ इ उ आदि शब्द तिरस्कार आदि अर्थोंको जता देते हैं, यह दीखता है, तब प्रत्येक वर्ण अर्थबोधक होसकता है)"। क्योंकि–"अव्ययादाप्सुपः" इस पाणिनीय २।४।८२ सूत्रसे विभक्तिका लोप होने पर अर्थ समझमें आता है। किन्तु प्रातिपदिक अवस्थामें ही ऐसा नहीं होसकता अत एव तिरस्कार आश्चर्य और आदरके

तेषां पदात्मकत्वेन अनेकवर्णात्मकत्वात् [अर्थप्रत्यायकत्वम्]। न हि अदर्शनमात्रेण विभक्तिवर्णानाम् असत्त्वम् । तथात्वे संबुद्धिप्रातिपदिकार्थयोरेकत्वप्रसङ्गात् । अनिष्टं च तच्छाब्दिकानाम् । तथा च अव्ययानामेव अर्थप्रत्यायकत्वम् न वर्णानाम् एकैकशः ॥ अव्ययानि च पदविशेषा इत्युक्तम् । एतेन उपसर्गादीनि सर्वाणि व्याख्यातानि ॥ ततः अनेके वर्णा अर्थप्रत्यायका इति वक्तव्यम् । अयमपि पक्षो न कक्षीकरणीयः । अपदात्मकस्य कचटतेत्यादिरूपस्य अर्थप्रत्यायकत्वादर्शनात् । पदात्मकोऽनेको वर्णः अर्थप्रत्यायक इति सारं स्थितम् । पदं च सुबन्तं तिङन्तं वा । तच्च प्रातिपदिककृत्तद्धितधातुसमासप्रकृतिकम् । तत् सर्वं वर्णस्वरूपमेव ।

अर्थको जताने वाले वे अ इ उ पदात्मक होनेसे अनेक वर्णात्मक होगए, इसी कारण वे अर्थको जताते हैं । अदर्शन (लोप) मात्र से विभक्ति वा वर्णका अविद्यामानत्व नहीं माना जासकता, क्योंकि–ऐसा होजायगा तो सम्बुद्धि और प्रातिपदिकार्थके एक होनेका प्रसङ्ग आजायगा, किन्तु शब्दशास्त्रको जानने वाले इसके विरुद्ध हैं । अतः अव्यय ही अर्थको जता सकते हैं, अलग २ वर्ण नहीं। कहा भी है, कि-'अव्यय भी पदविशेष ही हैं ।' इस वाक्यसे उपसर्ग आदि सबकी व्याख्या होगई । अत एव यह कहना चाहिये, कि–अनेक वर्ण ही अर्थको जताने वाले हैं । यही मत कक्षीकरणीय नहीं है अर्थात् इसी मतको घरकी समान नहीं मानना चाहिये–इसी मतका आदर नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो पदात्मक नहीं हैं वे क च ट त आदि जो वर्ण हैं, वे अर्थबोधक नहीं हैं, अत एव यह सिद्धान्त होगया, कि--पदात्मक अनेक वर्ण ही अर्थको जताने वाले हैं । पद सुबन्त वा तिङन्त ही होते हैं, और वह पद प्रातिपदिक अर्थात् शब्द, नाम, कृत, तद्धित, धातु और समाससे ही सम्पादित होते हैं । वे सब वर्णस्वरूप हैं

न तु ततोतिरिक्तं पदमस्ति। वर्णेभ्योतिरिक्तस्य पदस्य अदर्शनात् ॥

ननु वर्णगतो धर्मः कश्चनपदमिति। यथान्यक्तिगतो जातिविशेपो गोत्वमिति। एवं चेत् एकगोव्यक्तिदर्शने गोत्वप्रतीतिवत् एकैकवर्णदर्शने पदप्रतीतिः स्यात् ॥ ततो वर्णानां समुदायविशेषः पदमिति वक्तव्यम्। तच्च अर्थप्रत्यायकमिति वर्णनीयम्। तेन पदसमुदायविशेषो वाक्यम् इत्युपपादितं भवति। वर्णन्यायस्य पदे संचरणात् ॥ ननु अस्त्वेवम्। तावता वर्णा एव शब्द इति भवताप्युक्तम् पदवाक्यात्मकानां वर्णानाम् अर्थप्रत्यायकत्वकथनेन भावानवबोधात् ॥ भावश्चायम्। यदि वर्णा नित्या यदि वा अनित्या उभयथापि तेषां समुदायो नोपपन्नः। नित्यानां तु

क्योंकि–वर्णोंसे अतिरिक्त पद नहीं होसकता उसका हेतु यह है, कि–वर्णोंसे अतिरिक्त पद दीखता ही नहीं।

अच्छा! यदि इस प्रकार कहा जाय, कि–जैसे गोत्व व्यक्तिगत जातिविशेष है, इसी प्रकार पद, वर्णगत कोई एक धर्मविशेष है। यदि ऐसा हो तो यह दोष आता है, कि–एक गौका दर्शन होने पर गोत्वकी प्रतीतिकी समान, एक वर्णका दर्शन होने पर पदकी प्रतीति भी होजानी चाहिये, (यह संभव नहीं है अत एव दोष है।) इस दोषके कारण सब वर्णोंकी समष्टिविशेषका नाम पद है यह कहना पड़ेगा उसी पदको अर्थ बोधक कहना चाहिये, इस नियमके अनुसार पदोंका समुदाय ही वाक्य है यह प्रतिपादित होगया, क्योंकि–वर्णविचारकी समान पदविचारमें भी यही युक्ति संचारित होती है।

अच्छा! ऐसा भी मानलें! आपने भी तो 'वर्ण ही शब्द हैं' यह बात कही है, क्योंकि–पद अथवा वाक्यस्वरूप वर्णों के अर्थ-बोधक कहनेसे भाव प्रकाशित नहीं होता है। अभिप्राय यह है, कि–चाहे वर्ण नित्य हों वा अनित्य हों दोनों प्रकारसे उनका

गुणत्वे सर्वगतद्रव्यत्वे वा पञ्चाशत्संख्याकानां तेषां मेलनं केन कर्तुं शक्यम् । न चैवं वर्णानां स्थानप्रयत्नवैयर्थ्यप्रसङ्गः । नित्यानामेव तेषां स्थानप्रयत्नाभ्यामेव अभिव्यज्यमानत्वात् । न च अभिव्यक्तेरपि समुदायः कर्तुं शक्यः । वर्णाभिव्यक्तेर्ज्ञानरूपत्वात् । ज्ञानानां च क्रमेण जायमानत्वात् । "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [गौ० सू० १. १. १६] इति न्यायात् । क्रमेण जायमानानां क्षणिकानां तेषाम् एकस्मिन् देशे काले वा मेलनस्य कर्तुम् अशक्यत्वात् । न च मेलनाद् अन्यः समुदायोस्ति । तस्माद्

समुदाय सिद्ध नहीं होता है । नित्य वर्णोंको गुण अथवा सर्वगतद्रव्यरूपमें मानने पर पचास संख्या वाले उन वर्णोंको मिलाने में कौन समर्थ होसकता है ? (कोई नहीं) । और वर्णोंके कण्ठ आदि स्थान वा प्रयत्न (उच्चारणकी चेष्टा) आदिके व्यर्थ होने का भी प्रसङ्ग नहीं आता है, क्योंकि–स्थान वा प्रयत्नके द्वारा नित्य वर्ण ही अभिव्यक्ति (प्रकाश) पाते हैं । अभिव्यक्तिका भी समुदाय मिलन नहीं किया जासकता, क्योंकि–वर्णकी अभिव्यक्तिका नाम ज्ञान है, और यह ज्ञान भी क्रमसे ही उत्पन्न हो सकता है, (एक साथ नहीं होसकता क्योंकि–) गौतमसूत्र १ । १ । १६ में कहा है, कि–"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" इस सूत्रका अर्थ यह है, कि-एक समयमें दो ज्ञानोंकी उत्पत्ति न होना ही मनकी शक्ति है । (अर्थात् मनमें ऐसी शक्ति नहीं है, कि— एक समय में ही उसमें दो वा दोसे अधिक ज्ञानोंकी एक साथ उत्पत्ति होसके), एवं क्रम २ से उत्पन्न होते हुए अत एव क्षणस्थायी ज्ञानोंका एक देशमें (एक स्थानमें) वा एक समयमें मेलन नहीं किया जासकता । और मेलन (मिलाने) से भिन्न अन्य समुदाय भी नहीं है, इसकारण वर्णोंके नित्य होने पर भी समुदायका अभाव स्पष्ट है । (जब समुदायका अभाव होगया

वर्णनित्यत्वेपि स्पष्टः समुदायाभावः । कथं वर्णसमुदायः पदं पदसमुदायो वाक्यम् अर्थप्रत्यायकं स्यात् । अस्ति तु अर्थप्रत्ययः शब्दात् । ततः शब्दतत्त्वम् अन्यदेव ॥

ननु एतादृशं शब्दतत्त्वं कुतः प्रतीयते ॥ अनित्येभ्यो वर्णेभ्य इति ब्रूमः न च तत्र उक्तानुपपत्तिः । पूर्वपूर्ववर्णसचिवान्त्यवर्णबुद्धेरिति ब्रूमः । न चैवम् अर्थप्रत्ययोप्येवमस्त्विति वक्तव्यम् । तथात्वे तस्य अशाब्दत्वं स्यात् । अनिष्टं च तत् । ततश्च उक्तबुद्धेः प्रतीयमानं शब्दतत्त्वम् एकबुद्धेर्विषयोर्थप्रत्यायक इति स्थितम् । यच्चार्थप्रत्यायकं स स्फोट इत्युक्तम् ॥

तब) किस प्रकार वर्णसमुदाय पद और पदसमुदाय वाक्य अर्थबोधक होंगे ? किन्तु शब्दसे अर्थज्ञान होता है, इस लिये स्थिर हुआ, कि—शब्दत्व अन्य पदार्थ है (अर्थात् शब्दत्व जातिसे स्वतन्त्र है)।

अच्छा ! ऐसा शब्दत्व किनसे जाना जाता है ? इसके उत्तर में हम कहते हैं, कि—अनित्य वर्णों से ही जाना जाता है । अब यहाँपर पहिले दिखाईहुई अनुपपत्ति (विरोध) आजावेगी ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि—हम कहते हैं, कि—पूर्व २ वर्णके साथ परवर्ती वर्णोंका ज्ञान होता है । किन्तु यह नहीं कहते, कि अर्थज्ञान भी इसी प्रकार होता है । ऐसा होने पर (उस अर्थका) शब्दत्व नहीं होसकता (अर्थात् वह शब्दजन्य है, ऐसा बोध नहीं होसकता) । किंतु वह अनिष्ट है—किसीको भी इष्ट नहीं है । अतः यह निश्चय हुआ, कि-उक्तबुद्धिसे प्रतीयमान शब्दतत्त्व, प्रतीयमान अर्थबोधकतारूपमें एकमात्र ज्ञानका विषय होसकता है । कहा भी है, कि—जो अर्थको प्रकाशित करता है, वह स्फोट है ।

यत् शब्दब्रह्म एकम् एकप्रत्ययविषयः सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानां शरीरिणां चैतन्यम् । तद् उक्तम् "शब्दब्रह्मणो व्यतिरिक्तं न चैतन्यम् अस्ति" इति । ननु चैतन्यविवर्ता इमे नानाविधा भावाः सर्वे सशब्दाः । तत् शब्दतत्त्वं स्यात् । न च अधिष्ठानम् अध्यस्तं भवति इत्यत आह यत्परिणामस्त्रिभुवनम् अखिलम् इदमिति । परिणामोत्र विवर्तोऽभिहितः । ननु परिणामविवर्तयोः को भेदः । अयम् । पूर्वरूपापरित्यागेन असत्यनानाकारप्रतिभासो विवर्तः । यथा शुक्तिकायां रजतस्य सर्परज्ज्वां वा सर्पस्य प्रतीतिः । पूर्वरूपपरित्यागे सति नानाकारप्रतिभासः परिणामः । यथा क्षीरस्य दधिप्रतिभासः ॥ त्रिभुवनं यत्परिणाम इत्युक्ते भौतिका भावाः

जो शब्दब्रह्म है वह एक है अर्थात् एकमात्र बुद्धिका विषय है तथा स्थावर जङ्गमरूप शरीरधारियोंका चैतन्यस्वरूप है । यही बात कही भी है, कि—"शब्दब्रह्मणो व्यतिरिक्तं न चैतन्यम् ।—शब्दब्रह्मसे भिन्न चैतन्य नहीं है ।" यहाँ पर शङ्का होती है, कि—"अनेक प्रकारकी यह शब्द आदि समस्त वस्तुएँ चैतन्यकी विवर्तमात्र हैं (अर्थात् चैतन्यसे पृथक् नहीं हैं)" वही शब्दतत्त्व होजाय जो अधिष्ठान है, वह अध्यस्त नहीं होसकता ? इस लिये श्रुतिमें कहा है, कि—"यत्परिणामस्त्रिभुवनमखिलमिदम् इदं इति ।" यहाँ पर परिणाम शब्दका अर्थ विवर्त है । अब यह शङ्का होती है, कि-परिणाम और विवर्तमें क्या भेद है ? (उत्तर) पहिले रूपको न त्यागकर नाना प्रकारके मिथ्या आकारोंको प्रकाशित करना विवर्त कहलाता है । जैसे सीपीमें चाँदीकी प्रतीति होती है और सर्पकेसे आकार वाली रस्सीमें सर्पकी प्रतीति होती है ॥ और पहिले रूपको त्याग कर नाना प्रकारके आकारोंमें ज्ञान होनेका नाम परिणाम है । जैसे दूधका दही ज्ञान होना ॥ "त्रिभुवनं यत्परिणामः" कहने पर समस्त पाञ्चभौतिक भाव शब्दब्रह्मके परि-

शब्दब्रह्मणः परिणामाः स्युः । तद्व्युदासाय उक्तम् अखिलम् इदम् इति । इदम् जाड्यप्रत्ययविषयः । चैतन्याद् व्यतिरिक्तं सर्वमित्यर्थः । सा स्फोटरूपा वाणी जयति ॥

तेन एतद् उक्तं भवति । शब्दब्रह्मणि चेतने सर्वप्रपञ्चविवर्ताधारे स्फोटे शब्दे शब्दाभिधेयत्वम् न तु वर्णानाम् । तेषामपि स्फोटे अध्यस्तत्वात् । तस्मात् स्फोट एव शब्दः ॥

इति ये मन्यन्ते तेषां दुरन्तं व्यसनम् आपतितम् ॥ अप्रतीतस्यार्थस्य प्रतीतिः । प्रतीतस्यार्थस्य परित्यागः । तथा हि । वर्णात्मकशब्देभ्यो यथा स्फोटः शब्दः प्रतीयते तथैवार्थः प्रतीयताम् । को दोषः । न च ज्ञानव्यवधाने अशाब्दत्वं तस्यार्थस्य । स्फो-

---

णाम होजाते, उसको हटानेके लिये 'अखिलं इदम्-यह सब' कहा है । इदं यह जड़सम्बन्धी प्रत्ययका विषय है, अर्थात् चैतन्यके अतिरिक्त वस्तुमात्रके प्रत्ययका विषय है । वह स्फोटरूप वाणी प्रशंसनीय है ।

इस सबके द्वारा यह सिद्धान्त निकला, कि-चेतन सब विस्तृत प्रपञ्चोंका आधार है । शब्दब्रह्मस्वरूप स्फोटनामक शब्दमें ही शब्दकी अभिधेयता होसकती है, वर्णोंमें नहीं होसकती (अर्थात् उक्त स्फोट शब्द ही शब्दका अभिधेय है इसके अतिरिक्त और सब वर्ण शब्दके अभिधेय नहीं होसकते, क्योंकि—वह भी स्फोटमें अध्यस्त हैं । अत एव स्फोट ही शब्द है ।

जो ऐसा मानते हैं, उनके ऊपर भयङ्कर विपत्ति पड़ी हुई समझनी चाहिये । (क्योंकि—उनके मतमें) अप्रसिद्ध अर्थका ज्ञान और प्रसिद्ध अर्थका परित्याग होरहा है । जैसे वर्णात्मक शब्दोंसे स्फोट शब्दका ज्ञान होसकता है इसी प्रकार अर्थ भी प्रतीत होसकता है, इसमें दोष क्या है (अर्थात् कुछ दोष नहीं नहीं है)॥ यह बात नहीं कहनी चाहिये, कि—"ज्ञानका व्यव-

टोपि शब्द एव । शब्दश्च ज्ञानकरणम् । प्रत्यक्षव्यतिरिक्तानां करणानां ज्ञानकरणत्वाङ्गीकारात् । सर्ववादिभिः । ततश्च यः स्फोटपक्षे परिहारः स एव वर्णपक्षे भविष्यति । तथा हि । पूर्वपूर्ववर्णसंस्कारसचिवोन्त्यो वर्णो ज्ञातः सन् अर्थं प्रत्याययिष्यति । किम् अन्तर्गडुना स्फोटेन ॥

तस्माद् अपौरुषेयत्वाद् नित्यत्वाद् विवक्षितार्थत्वाच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेस्तदन्तर्गतस्य ब्रह्मवेदस्यापि विवक्षितार्थत्वेन व्याख्येयतासिद्धिः ॥

तथापि कथमस्य अन्ते व्याख्येयता । वेदानां क्रमेण अभिव्यक्ति-

धान होने पर उस अर्थका शब्दत्व नहीं होसकता ।" क्योंकि–स्फोट शब्द ही है । शब्द भी ज्ञानका करण है । क्योंकि–सब वादियोंने प्रत्यक्षसे भिन्न समस्त करणोंका ज्ञानकरणत्व स्वीकार किया है । तदनन्तर जो स्फोटपक्षमें परिहार है, वही वर्णपक्षमें होजावेगा । इसीको स्पष्ट करते हुए कहा है, कि–पूर्वपूर्ववर्णका संस्कारयुक्त उच्चारण किया हुआ जो अगला वर्ण है वह ज्ञानका विषयीभूत होकर अर्थको समझा देगा फिर वर्ण और अर्थके बीचमें इस गडु (रोगविशेष) को स्वीकार करनेसे क्या लाभ है ? (अर्थात् स्फोटको स्वीकार करना व्यर्थ है) ।

पूर्वोक्त युक्तियोंसे वेदोंका अपौरुषेयत्व, नित्यत्व और विवक्षितार्थत्व सिद्ध होगया और ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) भी सब वेदों के अन्तर्गत है, अत एव विवक्षितार्थत्व होनेसे इसकी व्याख्या करना उचित है, यह सिद्ध होगया ।

(अब फिर शङ्का करते हैं, कि–) ब्रह्मवेदकी व्याख्या (भाष्य) करना उचित है, यह स्थिर होगया, यह सत्य है, किंतु सब वेदोंके अन्तमें ही इसकी व्याख्या क्यों कीजाती है ? इसके उत्तरमें हम कहते हैं, कि वेदोंके प्रकाशका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियोंमें

प्रतिपादकश्रुतिवशात् इति ब्रूमः ॥ सा च अथर्ववेदस्य पूर्वब्राह्मणे प्रणवप्रशंसावसरे श्रूयते। “ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे ससृजे। स खलु ब्रह्मा सृष्टश्चिन्ताम् आपेदे । केनाहम् एकेनाक्षरेण सर्वांश्च कामान् सर्वांश्च लोकान् सर्वांश्च देवान् सर्वांश्च वेदान् सर्वांश्च यज्ञान् सर्वांश्च शब्दान् सर्वाश्च वृष्टीः सर्वाणि च भूतानि स्थावरजङ्गमान्यनुभवेयम् इति। स ब्रह्मचर्यम् अचरत् । स ओम् इत्येतद् अक्षरम् अपश्यत् त्रिवर्णं चतुर्मात्रं सर्वव्यापि” इत्यादि [गो० ब्रा० १. १६] ॥ “तस्य प्रथमया स्वरमात्रया पृथिवीम् अग्निम् ओषधिवनस्पतीन् ऋग्वेदं भूरिति व्याहृतिं गायत्रं छन्दः त्रिवृतं स्तोमं प्राचीं दिशं वसन्तम् ऋतुम्” [गो० ब्रा० १. १७] इत्यादिना आद्याभिस्तिसृभिः प्रणवमात्राभिराप्तव्यान् ऋगादीन् प्रतिपाद्य अन्ते समाम्नातम् ।

जैसा क्रम है, उसीके अनुसार हम ऐसा करते हैं। इस अभिव्यक्ति (प्रकाश) के क्रमका वर्णन अथर्ववेदके पूर्व ब्राह्मणमें ओंकारकी प्रशंसा करते समय कहा है, कि–“ब्रह्मने ब्रह्माजीको पुष्करक्षेत्र में रचा, उत्पन्न होने पर उन ब्रह्माजीने चिन्ता की, कि–मैं कौन से एक अक्षरसे सब कामोंका सब लोकोंका सब देवताओंका सब वेदोंका सब यज्ञोंका सब शब्दोंका सब वृष्टियोंका और स्थावर जङ्गमरूप सब भूतोंका अनुभव करूँ, तदनन्तर उसने ब्रह्मचर्य करा तब उन्होंने तीन वर्ण चार मात्रा वाले सर्वव्यापक ॐ इस अक्षरको देखा। इत्यादि” (गोपथब्राह्मण १।१६) “उसकी पहिली स्वरमात्रासे पृथ्वी अग्नि ओषधि वनस्पति ऋग्वेद भू व्याहृति गायत्र छन्द त्रिवृत् स्तोम प्राचीदिशा वसन्त ऋतुको० (गोपथब्राह्मण १।१७)।” इत्यादिके द्वारा प्रणव (ओंकार) की पहिली तीन मात्राओंसे प्राप्त करने योग्य ऋग् यजु साम इन तीन वेदोंका प्रतिपादन करके अन्तमें कहा है, कि–“ब्रह्माजीने उस प्रणवकी चौथी मकारमात्रासे जल चन्द्रमा अथर्ववेद और नक्षत्रों

“तस्य मकारमात्रयापश्चन्द्रमसम् अथर्ववेदं नक्षत्राण्यो३मिति स्वम् आत्मानम् आनुष्टुभं छन्दः एकविंशं स्तोमम्” इत्यादि [गो. ब्रा० १. २०] । तथा तैत्तिरीयकेपि ब्रह्मयज्ञप्रकरणे श्रूयते । “यद् ऋचोधीते पयसः कूल्या अस्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति । यद् यजूंषि घृतस्य कूल्या । यत् सामानि सोम एभ्यः पवते । यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्याः” इति [तै० आ० २. १०] । तद् एवम् उदीरितरीत्या सर्वत्राथर्ववेदस्य चरमभावित्वात् तद्व्याख्यानस्य त्रयीव्याख्यानान्तर्यम् उपपन्नम् ॥

तस्य ऐहिकामुष्मिकसकलपुरुषार्थपरिज्ञानोपायभूतस्य अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । तद् यथा । पैप्पलादास्तौदा मौदाः शौनकीया जाजला जलदा ब्रह्मवदा देवदर्शाश्चारणवैद्याश्चेति ॥

को तथा अपने स्वरूपको अनुष्टुप् छन्दको और एकविंश स्तोम को (देखा) इत्यादि० । (गोपथब्राह्मण १ । २०)”

इसी प्रकार तैत्तिरीयकके ब्रह्मयज्ञप्रकरणमें कहा है, कि–‘जो ऋग्वेदके मन्त्रोंको पढ़ता है स्वधा इसके पितरोंको घृतके प्रवाह पहुँचाती हैं । जो यजुर्वेदके मन्त्रोंको पढ़ते हैं घृतकी नदियें उसके पितरोंके पास पहुँचती हैं, जो सामवेदके मन्त्रोंको पढ़ता है सोम इसके पितरोंको पवित्र करता है और जो अथर्ववेदके मंत्रोंका पाठ करता है उसके पितरोंको मधुके प्रवाह मिलते हैं । तै. आ. २ । १० ।” इस प्रकार अथर्ववेदका श्रुतियोंने सर्वत्र अन्तमें ही वर्णन किया है,अत एव उसकी व्याख्या भी तीनों वेदोंकी व्याख्याके वाद होनी उचित ही है ॥

इस लोकके और परलोकके (धर्म अर्थ काम मोक्षरूप) सब पुरुषार्थोंको जाननेके उपायरूप इस अथर्ववेदके पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य नामवाले नो भेद हैं । इनमें शौनकीय आदि चार शाखाओं

तत्र शौनकीयादिषु चतसृषु शाखासु अनुवाकसूक्तऋगादीनां गोपथब्राह्मणानुसारेण पञ्चभिः सूत्रैर्विनियोगोऽभिहितः ॥ तानि च सूत्राणि । कौशिकम् वैतानम् नक्षत्रकल्पः आङ्गिरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति । तद् उक्तम् उपवर्षाचार्यैः कल्पसूत्राधिकरणे ।

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः ।
तुर्य आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः । इति ॥

तत्र साकल्येन संहितामन्त्राणां शान्तिकपौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोगविधानात् संहिताविधिर्नाम कौशिकं सूत्रम् ॥ तदेव इतरैः सूत्रैरुपजीव्यत्वात् प्रधानं च । एतेषु बहुषु सूत्रेषु अथर्ववेदप्रतिपाद्यानि कर्माणि विप्रकीर्णत्वाद् दुर्बोधानीति सुखावबोधाय तानीह संगृह्यन्ते ॥

तत्र तावत् कौशिकसूत्रे क्रमेण प्रतिपाद्यान्येतानि कर्माणि ॥

में गोपथब्राह्मणके अनुसार अनुवाक सूत्र ऋचा आदिका पाँच सूत्रोंसे विनियोग किया जाता है। उन सूत्रोंके नाम इस प्रकार हैं, कि कौशिक, वैतान, नक्षत्रकल्प, आङ्गिरसकल्प और शांतिकल्प। इसी बातको उपवर्षाचार्यों ने कल्पसूत्राधिकरणमें कहा है, कि “पाँच सूत्रोंके मध्यमें पहिला नक्षत्रकल्प, दूसरा वैतान, तीसरी संहिताविधि, चौथा अङ्गिरस कल्प और पाँचवाँ शांतिकल्प है॥”

उक्त कारिकामें शान्तिक और पौष्टिक आदि कर्मोंके लिये संहितामंत्रोंका अधिकतर विनियोग दिखानेके कारण कौशिकसूत्रका ही नाम संहिताविधि रक्खा है। यह कौशिकसूत्र विनियोगके समय दूसरे सूत्रोंका उपजीव्य होता है अर्थात् दूसरे सूत्रोंको इसका आश्रय लेना पड़ता है, अत एव यह कौशिकसूत्र प्रधान है। इन बहुतसे सूत्रोंमें अथर्ववेदसे किये जानेवाले कामोंकी विधिका यत्र तत्र वर्णन है अत एव उन सबका समझना कठिन है, अतः सुखपूर्वक सब जाननेमें आजाँय, इसलिये यहाँ उनका संग्रह दिखाते हैं।

आदौ स्थालीपाकविधानेन दर्शपूर्णमासविधिः । ततो मेधाजननानि । ब्रह्मचारिसांपदानि । ग्रामनगरदुर्गराष्ट्रादिलाभार्थानि । पुत्रपशुधनधान्यप्रजास्त्रीकरितुरगरथान्दोलिकादिसर्वसंपत्साधकानि । जनानाम् ऐकमत्यसंपादकानि सांमनस्यानि ।। ततो राजकर्माणि । तानि च शत्रुहस्तित्रासनानि संग्रामजयसाधनानि इषुनिवारणार्थानि खड्गादिसर्वशस्त्रनिवारणानि परसेनामोहनोद्वेजनस्तम्भनोच्चाटनादीनि स्वसेनोत्साहपरिरक्षणाभयार्थानि संग्रामे जयपराजयपरीक्षार्थानि सेनापत्यादिप्रधानपुरुषजयकर्माणि परसेनासंचरणप्रदेशेषु अभिमन्त्रितपाशासिकशाप्रक्षेपणादीनि जयकामस्य राज्ञो

उनमेंसे कौशिकसूत्रमें इन कर्मोंका क्रमसे प्रतिपादन किया गया है । प्रथम स्थालीपाकविधानके द्वारा दर्शपौर्णमास यागकी विधि कही है । तदनन्तर बुद्धिजनक कर्मोंकी विधि कही है । फिर ब्रह्मचारीकी संपत्ति (ब्रह्मचर्यकी) विधि कही है । (फिर क्रमशः निम्नलिखित प्रयोगोंकी विधि कही है) ग्राम नगर दुर्ग और राज्य पानेके कर्म । पुत्र पशु धान्य धन प्रजा स्त्री हाथी घोड़ा रथ पालकी आदि सर्व सम्पत्तिसाधक कर्म । फिर मनुष्योंका एकमत करने वाले सांमनस्य नामके कर्म ।। तदनन्तर राजाओंके कामके कामोंका वर्णन है । यथा-शत्रुके हाथियोंमें त्रास उत्पन्न करना । संग्रामकी विजयके साधन, बाणोंको हटाना, खड्ग आदि सकल शस्त्रोंका हटाना । शत्रुकी सेनाको मोहमें डालना, उद्वेजन करना (घबड़ा देना), स्तम्भित कर देना और शत्रुकी सेनाका उच्चाटन करना । अपनी सेनाको उत्साह देने वाले, अभय देने वाले और उसकी रक्षा करनेवाले कर्म । संग्राममें होनेवाली जय पराजयकी परीक्षा करने वाले कर्म । सेनापति आदि प्रधानपुरुषोंकी विजय कराने वाले कर्म । शत्रुकी सेनाके विचरण करनेके स्थान में अभिमन्त्रित किये हुए पाश तलवार और कोड़े आदिको

रथस्यारोहणम् अभिमन्त्रितभेरीपटहादिसर्ववादित्रताडनम् सपत्नक्षयकर्माणि शत्रूत्सादितस्य राज्ञः पुनःस्वराष्ट्रप्रवेशकानि राजाभिषेकः ॥ पापक्षयार्थानि । निर्ऋतिकर्माणि । चित्रकर्मादीनि । पौष्टिकानि । गोसमृद्धिकर्माणि । लक्ष्मीकराणि । पुष्ट्यर्थमणिबन्धनानि । कृषिपुष्टिकराणि । अनडुत्समृद्धिकराणि । गृहसंपत्कराणि । नवशालाकर्मादीनि । वृषोत्सर्जनम् । आग्रहायणीकर्म ॥ जन्मान्तरकृतपापनिमित्ताचिकित्स्यविविधरोगभैषज्यानि । तत्र प्रथमं सर्वव्याधिभैषज्यम् ज्वरातिसारबहुमूत्रादिभैषज्यानि शस्त्राद्यभिघातजरुधिरप्रवाहनिरोधकानि भूतप्रेतपिशाचापस्मारब्रह्मराक्षसबालग्रहादिनिवारणानि । वातपित्त-

फेंकना । विजयाभिलाषी राजाका रथपर चढ़ना । मंत्रोंसे पवित्र कियेहुए भेरी पटह आदि बाजोंका बजवाना । शत्रुओंका विनाश करनेवाले कर्म । शत्रुके द्वारा पराजित हुए राजाको पुनर्वार अपने राज्यमें प्रवेश कराने वाले कर्म । तथा राजाका राज्यमें अभिषेक ॥ तदनन्तर पापोंका क्षय करने वाले कर्मोंका वर्णन है । यथा—निर्ऋति कर्म, चित्रकर्म आदि, पौष्टिक कर्म, गौकी प्राप्ति कराने वाले कर्म, सम्पत्ति प्राप्त कराने वाले कर्म, पुष्टिप्रद मणिबन्धन आदि कर्म, कृषिको पुष्ट करने वाले कर्म, बैलोंकी वृद्धि करने वाले कर्म, घररूपी सम्पत्तिको देने वाले नवशाला आदि कर्म, वृषोत्सर्ग, आग्रहायनी कर्म (अर्थात् आग्रहायन नामक यागकार्य) हैं । फिर पहिले जन्मोंमें कियेहुए पापोंके कारण उत्पन्न हुए अत एव चिकित्सासे वशमें न आने वाले अनेक रोगोंकी औषधियोंका वर्णन है । तहाँ पहिले सब प्रकारकी व्याधियोंकी औषधियोंका निरूपण है । ज्वर, अतिसार और बहुमूत्रकी औषधि है । शस्त्र आदिके प्रहारसे हुए घावमेंसे बहते हुए रुधिरके प्रवाहको रोकनेके कर्म, भूत प्रेत पिशाच अपस्मार (मिरगी) ब्रह्म-

श्लेष्मभैषज्यानि । हृद्रोगकामिलाश्वित्रनिवारणानि । संततज्वरैकाहिकादिविषमज्वरराजयक्ष्मजलोदरनिवारणानि गवाश्वादीनां कृमिहराणि कन्दमूलसर्पवृश्चिकस्थावरजङ्गमविषनिवारणानि शिरोक्षिनासिकाकर्णजिह्वाग्रीवादिरोगभैषज्यानि ब्राह्मणाद्याक्रोशनिवारणानि गण्डमालादिविविधरोगभैषज्यानि ॥ पुत्रादिकामस्त्रीकर्माणि । सुखप्रसवकर्माणि । गर्भाधानगर्भदृंहणपुंसवनादीनि । सौभाग्यकरणानि । राजादिमन्युनिवारणानि । अभीष्टसिद्ध्यसिद्धिविज्ञानानि । दुर्दिनाशन्यतिवृष्टिनिवारणानि । सभाजयविवादजयकलहशमनानि । स्वेच्छातो नदीप्रवाहकरणानि । वृष्टि-

राक्षस और बालग्रह आदि (के उत्पातों) को दूर करने वाले कर्म, वात पित्त और कफकी औषधियें, हृद्रोग, कामिला (कमलवाय) और कोढ़को दूर करना । सब समय रहने वाले ज्वर, एक दिनका वा तीसरे दिनका (तिजारी) आदि ज्वर विषमज्वर, राजयक्ष्मा, और जलोदरको हटानेकी विधि । गौ और घोड़ोंके कीड़ोंको दूर करनेकी विधि । कन्द मूल सर्प बीछू आदिके स्थावर और जङ्गम विषोंको हटानेका वर्णन है । फिर शिर आँख नाक कान जीभ और गरदन पर होनेवाले रोगोंकी औषधियोंका वर्णन है । फिर ब्राह्मणोंके आक्रोशको हटानेका और गण्डमला आदि अनेक रोगोंकी औषधियोंका वर्णन है । फिर पुत्र आदिकी कामनासे स्त्रीकर्मका, सुखपूर्वक प्रसव होनेके कर्मका वर्णन है, फिर गर्भाधान और गर्भस्थ बालककी पुष्टि करने वाले पुंसवन आदि कर्मोंका वर्णन है । सौभाग्यप्रद कर्मोंका, राजकोपको दूर करने वाले मन्त्रोंका और अभीष्ट कामकी सिद्धि तथा असिद्धिको जताने वाले कर्मोंका वर्णन है । तदनंतर दुर्दिन (जो दिन सर्वदा मेघसे ढका हुआ रहता है) वज्रपात और अतिवृष्टिको निवारण करने वाले कर्मोंका वर्णन है ।

कर्माणि । अर्थोत्थापनकर्म । द्यूतजयकर्म । गोवत्सविरोधनिवारणम् । अश्वशान्तिः । वाणिज्यलाभकर्म । स्त्रियाः पापलक्षणनिवारणम् । वास्तुसंस्कारकर्म । गृहप्रवेशकर्म । कपोतवायसाद्युपहतगृहशान्तिविधिः । दुष्प्रतिग्रहायाज्ययाजनादिदोषनिवारणम् । दुःस्वप्ननिवारणम् । कुमारस्य पापनक्षत्रजननशान्तिः । ऋणापनोदनम् । दुःशकुनशान्तिः ॥ आभिचारिकाणि । परकृताभिचारनिवारणानि ॥ स्वस्त्ययनानि । आयुष्याणि । जातकर्मनामकरण चूडाकरणोपनयनादीनि । एकाग्निसाध्याः काम्या यागाः ब्रह्मौदनस्वर्गौदनाद्या द्वाविंशतिः सवयज्ञाः ॥ क्रव्याच्छमनम् । आवसथ्याधानम् । विवाहः ॥ पैतृमेधिकानि । पिण्डपितृयज्ञः ॥ मधु-

---

फिर सभामें विवादमें विजय दिलाने वाले कर्मोंका और कलहको शान्त करने वाली विधिका वर्णन है । फिर अपनी इच्छासे नदीको प्रवाहित करनेके विनियोगका वर्णन है फिर वृष्टिके निमित्त किये जाने वाले कर्म, अर्थ—धन रत्न आदिके उठानेका कर्म, जुएमें जीतनेका कर्म, गौ और बछड़ेके विरोधको निवारणका कर्म और अश्वशान्ति है । फिर वणिज्यमें लाभ होनेका कर्म, स्त्रियोंके दुर्लक्षणोंकी शान्ति, वास्तुसंस्कारविधि, गृहप्रवेशके समय करने योग्य कर्म, घरमें कबूतर और काक आदि दुष्ट पक्षियोंके पतनकी शान्ति, दूषित पुरुषोंसे प्रतिग्रह लेनेसे और यज्ञ न कराने योग्यको यज्ञ करानेसे उत्पन्न हुए दोषका निवारण, दुःस्वप्ननिवारण, बालकके पापी नक्षत्रमें उत्पन्न होनेकी शान्ति, ऋणका निवटाना, दुश्चिह्नोंकी शान्ति, आभिचारिककर्म, दूसरेके किये आभिचारिक कर्मोंका निवारण, स्वस्त्ययन कार्य, जातकर्म नामकरण चूडाकर्म और उपनयन आदि आयुष्य कर्म, एकाग्निसाध्य काम्ययाग, ब्रह्मौदन स्वर्गौदन आदि बाईस सोमयाग, राक्षसोंका दूर करना, आवसथ्याध्यान (अर्थात

पर्कः ॥ पांसुरुधिरादिवर्षणयक्षराक्षसादिदर्शनभूकम्पधूमकेतुचन्द्रार्कोपप्लवादिबहुविधोत्पातशान्तयः । आज्यतन्त्रविधिः । अष्टकाकर्म । इन्द्रमहः । ततोऽध्ययनविधिरिति ॥

तथा वैतानसूत्रे दर्शपूर्णमासादिषु अयनान्तेषु त्रयीविहितकर्मसु ब्रह्मा ब्राह्मणाच्छंसी आग्नीध्रः पोतेति चतुर्णाम् ऋत्विजां कर्तव्यं प्रतिपाद्यते । तत्र अनुज्ञानुमन्त्रणादीनि ब्रह्मणः । शस्त्रादीनि ब्राह्मणाच्छंसिनः । आग्नीध्रस्य अन्वाहार्यश्रपणप्रस्थितयाज्यादीनि । पोतुः प्रस्थितयाज्यादीनि । इति विभागः ॥ तत्र अयं कर्मक्रमः । प्रथमं दर्शपूर्णमासौ । ततोऽग्न्याधानम् । अग्निहोत्रम् । आग्रयणेष्टिः । चातुर्मास्यानि । वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधशुनासीरीयाणि । पशुयागः । अग्निष्टोमोक्थ्यषोडश्यतिरात्रात्मकः प्रकृतिभू-

---

गृहसम्बन्धी लौकिक अग्निका विधान), विवाह, पैतृमेधिक कार्य-पिण्डपितृयज्ञ, मधुपर्क, धूलि और रुधिर आदि वर्षाकी तथा यक्ष और राक्षसके दर्शनकी तथा भूमिकम्प धूमकेतु चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण आदि अनेक प्रकारके उत्पातोंकी शान्ति, आज्यतन्त्र विधि, अष्टकाकर्म और इन्द्रोत्सव है ॥ (इन सबका शौनकसूत्रमें वर्णन है) ।

इसी प्रकार वैतानसूत्रमें त्रयीमें कहे हुए अयनोंके अन्तमें होने वाले दर्श पूर्णमास आदि यज्ञोंमें जो ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी आग्नीध्र और पोतारूप चार ऋत्विज होते हैं, उनके कर्मका प्रतिपादन किया है । उनमेंसे अनुज्ञा अनुमन्त्रण ब्रह्माके कर्मका, शस्त्र आदि ब्राह्मणाच्छंसीके कर्मका, अन्वाहार्य श्रपण और प्रस्थितयाज्य आदि आग्नीध्रके कर्मका और प्रस्थितयाज्य आदि पोताके कर्मका विभाग किया है । उसमें यह क्रम है, कि—पहिले दर्श पूर्णमास, तदनन्तर अग्न्याधान, अग्निहोत्र, आग्रयणेष्टि हैं, तदनन्तर वैश्वदेव, वरुण, प्रघास, साकमेध और शुनासीर नामक चातुर्मास्य

तश्चतुःसंस्थः सोमयागः। वाजपेयः। अप्तोर्यामः। अग्निचयनम्। सौत्रामणी। मैत्रावरुण्यामिक्षेष्टिः। गवाम् अयनम्। राजसूयः। अश्वमेधः। पुरुषमेधः। सर्वमेधः। बृहस्पतिसवगोसवादय एकाहाः सोमयागाः। व्युष्टिद्विरात्रप्रकृतयोऽहीनाः। रात्रिसत्राणि। सांवत्सरिकाण्ययनानि। दर्शपूर्णमासायनानीति ॥

नक्षत्रकल्पेपि प्रथमं कृत्तिकादिनक्षत्रपूजाहोमादि। ततोऽद्भुतमहाशान्तिः। नैर्ऋतकर्म। अमृताद्या अभयान्तास्त्रिंशन्महाशान्तयो निमित्तभेदेन प्रतिपादिताः। तत्र दिव्यान्तरिक्षभौमेषु उत्पातेषु अमृताख्या महाशान्तिः। गतायुषां पुनर्जीवनाय वैश्वदेवी। अग्निभयनिवृत्तये सर्वकामावाप्तये चाग्नेयी। नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्त-

याग हैं। अग्निष्टोम, उक्थि, षोडशी और अतिरात्र भेदसे चार प्रकारका सोमयाग, वाजपेय, अप्तोर्याम, अग्निचयन, सौत्रामणि, मैत्रावरुणी नामक आमिक्षा याग, गोप्रचारण, राजसूय यज्ञ, नरमेध यज्ञ, सर्वमेध यज्ञ। बृहस्पतिसव गोसव आदि एक दिनमें पूर्ण होने वाले सोमयाग, व्युष्टि और द्विरात्र यज्ञकी प्रकृतिभूत अहीनयाग, रात्रिमें किये जानेवाले यज्ञ, वर्षभरमें पूर्ण होनेवाले अयनयाग। तथा अमावस्या और पौर्णिमामें पूर्ण होनेवाले अयनयाग हैं।

अब नक्षत्रकल्पके सूत्रोंका विषय कहते हैं, कि—पहिले कृत्तिका आदि नक्षत्रोंकी पूजा और होम आदि हैं। तदनन्तर अद्भुत महाशान्ति नैर्ऋतकर्म है। फिर निमित्तकी विभिन्नताके अनुसार अमृतासे लेकर अभया पर्यंत तीस महाशांतियोंका प्रतिपादन किया गया है। इनमें दिव्य और आकाशसम्बन्धी तथा भूमिसम्बन्धी इन तीन प्रकारके उत्पातोंकी महाशांतिका नाम अमृता है—उसका वर्णन किया है। फिर गतायु पुरुषोंको पुनर्जीवित करने वाली वैश्वदेवी शांति है, फिर अग्निका भय दूर करनेके लिये और

रोगगृहीतानां तच्छान्तये भार्गवी । ब्रह्मवर्चसकामस्य वस्त्रशयनाग्निज्वलने च ब्राह्मी । राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य बार्हस्पत्या । प्रजापश्वन्नलाभाय प्रजाक्षयनिवृत्तये च प्राजापत्या । शुद्धिकामस्य सावित्री । छन्दोब्रह्मवर्चसकामस्य गायत्री । संपत्कामस्य अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च आङ्गिरसी । विजयबलपुष्टिकामस्य परचक्रोद्वेजनकामस्य च ऐन्द्री । अद्भुतविकारनिवृत्ति [कामस्य] राज्यकामस्य च माहेन्द्री । धनकामस्य धनक्षयनिवृत्तिकामस्य च कौबेरी । विद्यातेजोधनायुष्कामस्य आदित्या । अन्नकामस्य वैष्णवी । भूतिकामवास्तुसंस्कारकर्मणोर्वास्तोष्पत्या ।

सब कामनाओंको पानेके लिये आग्नेयी महाशांतिका वर्णन है, फिर नक्षत्र, ग्रह अथवा उपग्रहोंसे उत्पन्नहुए भयार्त अथवा रोगग्रस्त पुरुषोंके भय और रोगोंकी शांतिके लिये भार्गवी महाशांतिका विधान है । ब्रह्मतेजको चाहने वालेके वस्त्र खट्वा आदिके अग्निसे जलने पर ब्राह्मी महाशांतिका विधान है । राज्य, लक्ष्मी और ब्रह्मतेज पाने वालेकी बार्हस्पत्या महाशान्तिका वर्णन है । फिर प्रजा, पशु और अन्नकी प्राप्तिके लिये और सन्तानक्षयकी निवृत्तिके लिये प्राजापत्याका, शुद्धि चाहनेवालेके लिये सावित्रीका, छन्दःशास्त्र और ब्रह्मतेजको चाहने वालेके लिये गायत्रीका, सम्पत्तिको चाहने वाले अभिचार करते हुए अथवा दूसरेके लिये अभिचार करते हुएके लिये आङ्गिरसी महाशान्तिका विधान है । फिर विजय बल और पुष्टि चाहने वालेके लिये और शत्रुओंको उद्विग्न करना चाहनेवालेके लिये ऐन्द्री महाशान्तिका, अद्भुत विकारोंकी निवृत्ति चाहने वालेके लिये और राज्य चाहने वालेके लिये माहेन्द्रीका, धन चाहने वाले और धनक्षयको दूर करना चाहने वालेके लिये कौबेरी महाशान्तिका, विद्या, तेज, धन और आयु चाहने वालेके लिये आदित्याका, अन्न चाहने वालेके लिये

रोगार्तस्य आपद्ग्रस्तस्य च रौद्री । विजयकामस्य अपराजिता । यमभये याम्या । जलभये वारुणी । वात्याभये वायव्या । कुलक्षयनिवृत्तये संतत्याख्या । वस्त्रक्षयनिवृत्तये त्वाष्ट्री । बालस्य व्याधिनिवृत्तये कौमारी । निर्ऋतिगृहीतस्य नैर्ऋती । बलकामस्य मारुद्गणी । अश्वक्षयनिवृत्तये गान्धर्वी । गजक्षयशान्तये पारावती । भूमिकामस्य पार्थिवी । भयार्तस्य अभयाख्या महाशान्तिः । आसां तन्त्रभूता महाशान्तिश्चेति ॥

तथा आङ्गिरसकल्पे आभिचारकर्मादौ कर्तृकारयितृसदस्यानां

वैष्णवीका, ऐश्वर्य चाहने वालेके लिये और वास्तुसंस्कारकर्ममें वास्तोष्पत्याका रोगार्त और आपद्ग्रस्तके लिये रौद्री महाशांतिका वर्णन है । फिर विजयाभिलाषीकी अपराजिता महाशांतिका वर्णन है, फिर यमभय अर्थात् महामारी आदिके समय की जाने वाली याम्या महाशांतिका, जलभय अर्थात् जलप्लावनके समयकी जाने वाली वारुणी महाशांतिका और आँधीके भयसे कीजाने वाली वायव्या महाशांतिका वर्णन है । फिर कुलक्षयकी निवृत्ति के लिये सन्तति नामक महाशांति है, वस्त्रक्षयकी निवृत्तिके लिये त्वाष्ट्री महाशान्ति है, बालककी व्याधियोंको दूर करनेके लिये कौमारी महाशान्ति है, पापग्रस्तके पापको शान्त करनेके लिये नैर्ऋति महाशान्ति है, फिर बल चाहने वालेकी मारुद्गणी महाशान्ति है । तदनन्तर अश्वक्षयको दूर करनेके लिये गान्धर्वी महाशान्तिका और हस्तिक्षयकी शान्तिके लिये पारावती महाशान्तिका वर्णन आता है । फिर भूमिको चाहने वालेकी उपयोगिनी पार्थिवी महाशान्ति है, फिर भयातुरके काममें आने वाली अभया नाम वाली महाशान्ति है ।

इसी प्रकार आङ्गिरसकल्प नामक सूत्रका विषय लिखा जाता है । उसमें पहले अभिचार कर्मकी आदिमें अभिचार कर्म करनेवाले

स्वात्मरक्षाकरणम् । अभिचारोपयुक्तदेशकालमण्डपकर्तृकारयितृदीक्षादिधर्मसमिदाज्यादिसंभारनिरूपणादिकम् । ततः आभिचारिककर्माणि । परकृताभिचारनिवारणादीन्यन्यान्यपि कर्माणि ॥

शान्तिकल्पेपि प्रथमं वैनायकग्रहगृहीतलक्षणानि । तच्छान्तये संभाराहरणम् । अभिषेकवैनायकहोमाः । तत्पूजाविधानम् । आदित्यादिनवग्रहयज्ञादिकमिति ॥

एतेषु कल्पेष्वनुक्तानि यानि राजाभिषेकोपयुक्तद्रव्यप्रकृतिद्रव्यपरिग्रहपुरोहितवरणादीनि परिशिष्टोक्तानि तान्यपि अनुक्रम्यन्ते । प्रथमं राजाभिषेकः । प्रातःप्रातर्वस्त्रगन्धालंकारसिंहासनाश्वगजान्दोलिकाखड्गध्वजच्छत्रचामरादीनां तत्तन्मन्त्राभिमन्त्रितानां राज्ञे

तथा कराने वाले और उसका मार्ग दिखाने वालोंकी आत्मरक्षा करनेका वर्णन है, फिर अभिचारके योग्य देश काल मंडप, करने वाले कराने वाले दीक्षा आदि धर्म, होमके काष्ठ और होमके काममें आने वाले घृत आदि द्रव्योंका निरूपण है । तदनन्तर आभिचारिक कर्मोंका वर्णन है । फिर दूसरेके किये हुए अभिचारोंको दूर करने वाले और भी बहुतसे कर्मोंका वर्णन है ॥

शांतिकल्पमें भी पहले वैनायक ग्रहसे ग्रस्तहुए पुरुषके लक्षण हैं, उसकी शांतिके लिये सामग्रियोंको एकत्रित करनेका वर्णन है, फिर अभिषेक अर्थात् मन्त्रपूर्वक स्नान करनेका और वैनायक होमका वर्णन है, फिर विनायककी पूजाका विधान है फिर आदित्य आदि नवग्रहोंके यज्ञ आदिक हैं ।

इन सब कल्पोंमें राज्याभिषेकके उपयोगी द्रव्य, प्रजाओंके दिये हुए द्रव्यका ग्रहण और पुरोहितका वरण आदि नहीं कहा है, परिशिष्टमें इन सबका वर्णन है उन समस्त विषयोंको हम यहाँ पर क्रमशः लिखते हैं । पहिले राजाका अभिषेक है । प्रति दिन प्रातःकालमें वस्त्र गन्ध, अलङ्कार, सिंहासन, घोड़ा, हाथी, आंदो-

प्रदानादीनि पुरोहितकर्माणि । सुवर्णधेनुतिलभूमिदानादीनि राज्ञः प्रतिदिवसकर्तव्यानि । पूजितपिष्टमय्या सदीपया रात्रिप्रतिमया राज्ञो नीराजनम् । रक्षाकरणं च इत्येवमादीनि पुरोहितस्य रात्रिकर्माणि । राज्ञः पुष्पाभिषेकः । राज्ञो रात्रौ आरात्रिकविधानम् । प्रातःप्रातर्घृतावेक्षणम् । कपिलादानम् । तिलधेनुदानम् । रसादिधेनवः । कृष्णाजिनदानम् । भूमिदानम् । तुलापुरुषविधिः । आदित्यमण्डलाकारापूपदानम् । हिरण्यगर्भविधिः । हस्तिरथदानम् । कनकाश्वादिदशमहादानानि । अश्वरथदानम् । गोसहस्रविधिः । वृषोत्सर्गः । कोटिहोमः । लक्षहोमः । अयुतहोमः । घृतकम्बलविधिः । तटाकप्रतिष्ठा । पाशुपतव्रतम् । इत्येवमादीनि ॥ अन्यान्यपि दानव्रतादीनि ॥

लिका (पालकी) खड्ग, छत्र और चमर आदिको मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित कर राजाको प्रदान करनेके पुरोहितके कर्मोंका वर्णन है, फिर राजाके यहाँ प्रति दिन होने योग्य सुवर्ण, धेनु, तिल और भूमिके दानोंका वर्णन है, फिर पवित्र पिट्ठीसे बनाई हुई दीपक युक्त रात्रिकी प्रतिमाके द्वारा राजाकी आरती करनेका वर्णन है, फिर रक्षा करना आदि पुरोहितके रात्रिके कर्मोंका वर्णन है, फिर राजाका पुष्पाभिषेक रात्रिके समय राजाकी आरती प्रति दिन प्रातःकालमें घृतका दर्शन, कपिलादान, तिल, धेनु, दान, रस आदिकी धेनुओंका निरूपण, कृष्णमृगचर्मका दान, भूमिदान और तुलापुरुषकी विधि है । फिर आदित्यमण्डलके समान आकार वाले गुलगुलोंका दान, हिरण्यगर्भविधि, हाथीसहित रथका दान, कणकाश्व आदि दश प्रकारके महादान, घोड़े वाले रथका दान, गोसहस्रविधि, वृषोत्सर्ग, कोटिहोम, लक्षहोम, अयुतहोम, घृतकंबलकी विधि, बावड़ीकी प्रतिष्ठा और पाशुपत व्रत आदि बहुतसे दान तथा व्रतोंका परिशिष्टमें वर्णन है ।

इति सपरिशिष्टपञ्चकल्पप्रतिपाद्यानां कर्मणां दिङ्मात्रेण अयम् अनुक्रमः। विशेषस्तु तत्तत्सूक्तविनियोगावसरे वक्ष्यते। एतानि च त्रिविधानि नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन। तत्र जातकर्मादीनि नित्यानि। दुर्दिननाशनिनिवारणाश्वशान्त्यद्भुतकर्माणि च नैमित्तिकानि। मेधाजननग्रामसंपदादीनि काम्यानि ॥ अत्र नित्यानां नैमित्तिकानां च अवश्यानुष्ठेयता। अकरणे प्रत्यवायस्मरणात्। तथा हि ॥

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिघांसया। इति
काम्यानां तु इच्छातः प्रवृत्तिः ॥

एतेषां ग्रामाद् बहिः प्रागुदग्देशे महानदीतटाकाद्युत्तरकूलेनुष्ठा-

---

परिशिष्टसहित पाँच सूत्रोंसे प्रतिपाद्य कर्मोंकी यह सामान्यरूपसे अनुक्रमणिका दिखाई गई है। इनमें जो विशेष बातें हैं वे उन सूक्तोंके विनियोगके समय कही जायँगी। जिन कर्मोंका ऊपर वर्णन किया गया है ये सब कर्म नित्य नैमित्तिक और काम्य भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमेंसे जातकर्म आदि नित्यकर्म हैं, दुर्दिन वज्रनिवारण अश्वशांति और अद्भुत कर्म नैमित्तिक हैं तथा मेधाजनन ग्रामसम्पदादि कर्म काम्य हैं। इनमें नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये क्योंकि–इनको न करने पर प्रत्यवाय (दोष) लगता है ऐसी स्मृति है, यथा–"प्रत्यवायको नष्ट करनेकी इच्छासे नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करे।" (अत एव यह सिद्ध हुआ, कि–इन दोनों प्रकारके कर्मोंको न करनेसे दोष लगता है और करने पर दोष नहीं लगता है अत एव इन दोनों प्रकारके कर्मोंको अवश्य करना चाहिये)। किन्तु काम्य कर्मोंके संबन्धमें इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है (अर्थात् इच्छा हो तो उनको करो और इच्छा न हो तो उनको मत करो, इससे किसी प्रकारका दोष नहीं लगता है)। ग्रामके बाहर पूर्व वा उत्तर की ओर अथवा महानदी वा तालाव आदिके उत्तरी किनारे पर इन

नम्। "पुरस्तादुत्तरतोऽरण्ये कर्मणां प्रयोग उत्तरत उदकान्ते" इति कौशिकसूत्रात् [कौ० १. ७] ॥ पुंसवनादीनां तु नित्यानां गृह एवेति रुद्रभाष्यकारमतम् ॥ कालस्तु पर्वद्वयं पुण्यनक्षत्रयुक्तं तिथ्यन्तरं वा। अद्भुतकर्मणां तु तत्तन्निमित्तानन्तरमेव। तथा चोक्तम्।

अमावास्या पौर्णमासी पुण्यनक्षत्रयुक् तिथिः।
एत एव त्रयः कालाः सर्वेषां कर्मणां स्मृताः।
अद्भुतानां सदाकालम् आरम्भः सर्वकर्मणाम्। इति ॥

आभिचारिकाणां तु ग्रामाद् दक्षिणदिशि कृष्णपक्षे कृत्तिकानक्षत्रे प्रयोग इति विशेषः। तथा च कौशिकं सूत्रम्। "आभिचारिकेषु दक्षिणतः संभारम् आहृत्य आङ्गिरसम्" इत्यादि [कौ० ६. १]। अत्र आङ्गिरसमिति आङ्गिरसकल्पोक्तमित्यर्थः।

काम्यकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि—कौशिकसूत्र १।७ में कहा है, कि—"पूर्व वा उत्तरकी ओर वनमें और जलाशयोंके उत्तरतट पर काम्यकर्मोंका प्रयोग (अनुष्ठान) करना चाहिये।" और रुद्रभाष्यकारका मत है, कि—पुंसवन आदि नित्यकर्मोंका अनुष्ठान घरमें ही करना चाहिये। अमावास्या और पौर्णिमा अथवा और कोई पुण्य नक्षत्र वाली तिथि इन कर्मोंको करनेका समय है। अद्भुत कर्मोंका तो तैसा २ निमित्त होनेके अनन्तर ही काल है। यही बात कही है, कि—

"अमावास्या पौर्णमासी तथा पवित्र नक्षत्र वाली और कोई तिथि यह तीन समय ही सब कर्मोंको आरम्भ करनेके लिये कहे हैं, और अद्भुत कर्मोंका आरम्भ सब समय होसकता है।"

आभिचारिक कर्मोंके सम्बन्धमें यह विशेष बात है कि—उनको कृष्णपक्षमें कृत्तिका नक्षत्र आने पर ग्रामसे बाहर दक्षिण दिशामें करना चाहिये। इसी बातको कौशिक सूत्रमें कहा है, कि—"आभिचारिक कर्मोंको दक्षिण दिशामें आङ्गिरस कल्पमें

एतेषां कर्मणां प्राच्योदीच्याङ्गानि दर्शपूर्णमासवत् कार्याणि। "इमौ दर्शपूर्णमासौ व्याख्यातौ दर्शपूर्णमासाभ्यां पाकयज्ञाः" इति सूत्रकारवचनात् [कौ० १. ६]। अत्र पाकयज्ञशब्देन सर्वम् आथर्वणं कर्मोच्यते। तच्च द्विविधम्। आज्यतन्त्रं पाकतन्त्रं चेति। यत्र प्रधानं हविः आज्यं तद् आज्यतन्त्रम्। यत्र चरुपुरोडाशादिकम् तत् पाकतन्त्रम्॥ आज्यतन्त्रे अयम् अनुष्ठानक्रमः। प्रथमम् "अव्यसश्च" [१९. ६५] इति कर्तुर्जपः बर्हिर्लवनम् वेदिः उत्तरवेदिः अग्निप्रणयनम् अग्निप्रतिष्ठापनम् व्रतग्रहणम् पवित्र-

---

कही हुई सब सामग्रियोंको लाकर करे।" (कौशिकसूत्र ६। १)॥ यहाँ पर मूलश्रुतिमें जो आङ्गिरस शब्द आया है उसका अर्थ आङ्गिरसकल्पमें कहे हुए हैं। इन आभिचारिक कर्मोंके प्राच्य और उदीच्य अङ्ग दर्श और पूर्णमासकी समान करने चाहियें, क्योंकि—सूत्रकारने कहा है, कि—"इन दर्श और पूर्णमासकी व्याख्या करदी और इन दर्श और पूर्णमासोंसे पाकयज्ञोंका भी व्याख्यान होगया" (कौशिकसूत्र १। ६)। यहाँ पर पाकयज्ञ शब्दसे अथर्ववेदके सब कर्म ग्रहण किये जाते हैं। वे कर्म दो प्रकारके हैं एक आज्यतन्त्र और दूसरे पाकतन्त्र। जिन कर्मोंमें आज्य अर्थात् घी प्रधान होता है वह आज्यतन्त्र कहलाते हैं और जिन कर्मोंमें चरुपुरोडाश आदि द्रव्य ही प्रधान होते हैं वे पाकतन्त्र कहलाते हैं। आज्यतन्त्रमें अनुष्ठानका क्रम यह है, कि—पहिले कर्ता "अव्यसश्च" (१९। ६५) इस मन्त्रका जप करे, कुशाओंको काटे, वेदी, उत्तरवेदी अग्निप्रणयन, अग्निप्रतिष्ठापन,

करणम् पवित्रेणेध्मप्रोक्षणम् इध्मोपसमाधानम् बर्हिःप्रोक्षणम् ब्रह्मासनम् ब्रह्मस्थापनम् स्तरणम् स्तीर्णप्रोक्षणम् आत्मासनम् उदपात्रस्थापनम् आज्यसंस्कारः स्रुवग्रहणम् ग्रहग्रहणम् पुरस्ताद्धोमाः आज्यभागौ। "सविता प्रसवानाम् [५. २४] इति कर्मणि अभितोभ्यातानैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. १] सूत्रकारवचनात् अभ्यातानानि। एतदन्तं पूर्वतन्त्रम्॥ ततो यथोपदेशं प्रधानहोमः। तत उत्तरतन्त्रम्। अभ्यातानानि पार्वणहोमः समृद्धिहोमाः संनतिहोमाः स्विष्टकृद्धोमः सर्वप्रायश्चित्तीयहोमः स्कन्नहोमः "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" [७. ६६] इति होमः स्कन्नास्मृतिहोमौ

व्रतग्रहण, कुशकी पवित्री बनाना, पवित्रीके द्वारा यज्ञके काष्ठका प्रोक्षण और काष्ठोंको समीपमें रखना, कुशप्रोक्षण, ब्रह्माका स्थापन, कुशाओंका फैलाना और फैलाये हुए कुशोंका प्रोक्षण करना। अपना (अर्थात् कर्मकर्ताका) आसन, जलपात्रका स्थापन, आज्यसंस्कार, स्रुवग्रहण, ग्रहग्रहण (ग्रह नामक पात्रका ग्रहण), पहिले करने योग्य होम, घृतके दो भाग "सविता प्रसवानाम् (५। २४। प्रसव कर्मका देवता सविता है, इस कर्ममें अभ्यातानके द्वारा आज्यहोम करे।" (कौशिकसूत्र १४। १) इस प्रकारके सूत्रकारके वचनानुसार अभ्यातान कर्म। यहाँ तक पूर्वतंत्र अर्थात् आज्यतंत्रका प्रथमतंत्र है। तदनन्तर उपदेशानुयायी प्रधान होम होता है। फिर उत्तरतंत्रका आरंभ होता है। सकल अभ्यातान, पार्वण होम, समृद्धिहोम, सन्नतिहोम, स्विष्टकृत् होम, सर्वप्रायश्चित्तीय होम, स्कन्नहोम, "पुनर्मैत्विन्द्रियम्" (७। ६६)

संस्थितिहोमाः चतुर्गृहीतहोमः बर्हिर्होमः संस्रावहोमः विष्णुक्रमाः व्रतविसर्जनम् दक्षिणादानम् ब्रह्मोत्थापनम् इति ॥ पाकतन्त्रे तु अभ्यातानाभाव एव विशेषः । अन्यत् सर्वं समानम् । तथा च गोपथब्राह्मणम् ।

आज्यभागान्तं प्राक्तन्त्रम् ऊर्ध्वं स्विष्टकृता सह ।
हवींषि यज्ञ आवापो यथा तन्त्रस्य तन्तवः । इति ॥

अद्भुतकर्मणाम् आज्यतन्त्रत्वेपि पाकतन्त्रवद् अभ्यातानाभावः। यद् आह केशवः । "पाकतन्त्रेष्वभ्यातानानि न भवन्ति अद्भुतेषु न भवन्ति अन्यत्र सर्वत्र भवन्ति" इति [के० १४. १] ॥

इस मंत्रके द्वारा होम, स्कन्नास्मृति नामक दो होम, संस्थितिहोम, चतुर्गृहीतहोम, बर्हिर्होम, संस्नावहोम, विष्णुक्रम, व्रतविसर्जन, दक्षिणादान, ब्रह्मोत्थापन ॥ पाकतंत्रमें अभ्यातान नहीं होता और सब काम आज्यतंत्रकी समान होते हैं। इसी बातको गोपथब्राह्मणमें कहा है, कि—"आज्यभागान्तं प्राक् तंत्रं ऊर्ध्वं स्विष्टकृता सह। हवींषि यज्ञ आवापो यथा तंत्रस्य तन्तवः ॥" अद्भुत कर्म आज्यतंत्र हों (घृतहविःप्रधान हों) तो भी पाकतंत्र की समान उनमें अभ्यातानका अभाव होता है। इसमें केशवका प्रमाण है। यथा-"पाकतंत्रोंमें और अद्भुत कर्मोंमें अभ्यातान नहीं होते हैं अन्यत्र सर्वत्र होते हैं।" (केशवी गृह्यपद्धति १४। १)

॥ इति भाष्य-भूमिका ॥

❀ श्रीहरिः ❀

अथर्ववेद-संहिता

सायणभाष्य और अनुवाद-सहित

शाखायाः शौनकीयायाः पूर्वोक्तेष्वेव कर्मसु ।
विनियोगाभिधानेन संहितार्थः प्रकाश्यते ॥

तत्र प्रथमकाण्डे षड् अनुवाकाः । प्रथमेनुवाके षट् सूक्तानि । तत्र ये त्रिषप्ता इत्येतत् प्रथमं सूक्तम् । अस्य मेधाजननकर्मसु विनियोगः । यद् आह कौशिकः । "पूर्वस्य मेधाजननानि" इति [कौ० २. १] । अत्र पूर्वशब्देन ये त्रिषप्ता इति सूक्तम् उच्यते । "पूर्वं त्रिषप्तीयम्" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् ॥ तानि च मेधाजननकर्माणि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिदाधानम् व्रीहियवतिलानाम् आवपनम् क्षीरौदनपुरोडाशरसानां भक्षणम् उपाध्यायाय भैक्षदानम् सुप्तस्योपाध्यायस्य कर्णानुमन्त्रणम् उपाध्यायोपसदनकाले जपः आज्यमिश्रधानाहोमः तिलमिश्रधाना हुत्वा तच्छेषभक्षणम् उपाध्यायाय दण्डाजिनधानाः प्रदातुं धानानुमन्त्रणम् तद्वदेव धानाहोमः शुकसारिभारद्वाजानां पक्षिणाम् जिह्वाबन्धनम् तत्प्राशनं च । एतानि कर्माणि अनेन सूक्तेन मेधाकामस्य कार्याणि ॥ तथा च कौशिकं सूत्रम् । "शुकशारिकृशानां जिह्वा बध्नात्याश्वत्यौदुम्बरपलाशकर्कन्धूनाम् आदधात्यावपति भक्षयत्युपाध्यायाय भैक्षं प्रयच्छति सुप्तस्य कर्णम् अनुमन्त्रयत उपसीदन् जपति धानाः सर्पिर्मिश्राः सर्वहुतास्तिलमिश्रा हुत्वा प्राश्नाति पुरस्तादग्नेः कल्माषं दण्डं निहत्य पश्चादग्नेः कृष्णाजिने धाना

अनुमन्त्रयते सूक्तस्य पारं गत्वा प्रयच्छति सक्तूञ्जुहोति दण्डधानाजिनं ददाति” इति [कौ० २. । १.] ॥ अस्य अयम् अर्थः । “आश्यबन्ध्यासवनयानभक्ष्याणि संपातवन्ति” इति [कौ० .७.] परिभाषणात् शुकादिजिह्वानां संपाताभिहुतानामेव बन्धनं प्राशनं च । “संपातेन होमम् आक्षिपते” इत्यभ्यातानान्ते अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा संपातानयनम् “सर्वाण्यभिमन्त्र्याणि” इति [कौ० १. ७.] परिभाषणाद्द् अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्रणं च ॥ कर्कन्धूर्बृहद्बदरी । “समिधम् आदधाति” इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् उदुम्बरादीनां समिध इति योजनीयम् । हस्तहोमत्वात् तन्त्रविकल्पः । “न दर्विहोमे न हस्तहोमे न पूर्णहोमे तन्त्रं क्रियेतेत्येके” [कौ० १४. २.] इति सूत्रात् ।“आवपति व्रीहियवतिलान्” इति [कौ० १. ७.]परिभाषणात् आवपतिचोदनायां व्रीहियवतिलाः प्रत्येतव्याः । “सर्वाण्यभिमन्त्र्याणि” इति वचनात् अत्र सर्वे पदार्था अभिमन्त्र्य कर्तव्याः। “भक्षयति क्षीरौदनपुरोडाशरसान् इति [कौ० १।७] वचनाद्द भक्षयतिचोदनायां द्रव्याजादेशे क्षीरौदनपुरोडाशरसा बोद्धव्याः।अत्र रसशब्देन दधिघृतमधूदकानि उच्यन्ते । यद्द असूत्रयत् । “दधि घृतं मधूदकमिति रसाः” इति [कौ० १. ८.] । क्षीरौदनादीनां भक्ष्यत्वात् होमसंपाताभिमन्त्रणानि पूर्ववत् कर्तव्यानि । “आश्यबन्ध्यासवनयानभक्ष्याणि संपातवन्ति सर्वाण्यभिमन्त्र्याणि” इति वचनस्य दर्शितत्वात् । भैक्षं पक्वम् अपक्वं वा अभिमन्त्र्य दद्यात् । अनुमन्त्रणं नाम शेषिणो मन्त्रार्थत्वेन अनुसंधानपुरःसरं मन्त्रजपः। अभिमन्त्रणस्य तु ईक्षणं विशेषः । उक्तं हि ।

मन्त्रम् उच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।
शेषिणं तन्मना भूत्वा स्याद्द् एतद्द् अनुमन्त्रणम् ।
एतदेवाभिमन्त्रस्य लक्षणं चेक्षणाधिकम् ॥ इति ।

धानानां सर्वहोमस्य हुतशेषप्राशनस्य च कर्मैक्ये विरोधात्

प्रयोगभेदः । अन्यत् निगदसिद्धम् ॥

एतानि कर्माणि अन्योन्यनैरपेक्ष्येण मेधाजननफलसाधनत्वेन चोदितत्वाद् विकल्पेन अनुष्ठेयानि । कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वम् इति न्यायात् समुच्चयेन वा अनुष्ठेयानि । एवं उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

उपनयनदिवसेपि मेधाकामस्य ब्रह्मचारिणः अनेन सूक्तेन आज्यहोमः कार्यः । तथा च उपनयनप्रकरणे सूत्रितम् । "मेधाजनन आयुष्यैर्जुहुयाद्" इति [कौ० ७. ८.] । अत्र द्रव्यस्य अनादेशेपि आज्यं होमद्रव्यम् । "आज्यं जुहोति" इति [कौ० १. ७.] जुहोतिचोदनायाम् आज्यस्य द्रव्यत्वपरिभाषणात् । तथैव ब्रह्मचारिसंपत्कर्मसु अस्य सूक्तस्य विनियोगः । सूत्रितं हि । "पूर्वस्य ब्रह्मचारिसांपदानि" इति [कौ० २. २.] । तानि च कर्माणि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिधां ब्रह्मचारिगृहोपस्तरणतृणानां च आधानम् । अरण्यपिपीलिकाछिद्रे मेदोमधुश्यामाकेषीकतूलाज्यानि पञ्च द्रव्याणि पृथक् हुत्वा आज्यस्थाल्यां पिपीलिकोद्वापान् ओप्य गृहम् आगत्य अभ्यातानान्ते अनेन सूक्तेन स्थाल्या सकृत् जुहुयात् । अनेन सूक्तेन अन्नम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणो भोजयित्वा धानास्तिलमिश्राः प्रयच्छति । एतैः कर्मभिरनुष्ठितैराचार्यस्य शिष्यसंपत्तिर्भवति । तथा च कौशिकः । "औदुम्बर्यादयो ब्रह्मचार्यावसथादुपस्तरणान्यादधाति" इत्यादि [कौ० २. २.] ॥

तथा ग्रामसंपत्कामस्य तत्साधनेष्वेतेषु उदुम्बरपलाशकर्कन्धूतत्तृणाधानसभोपस्तरणतृणाधानाभिमंत्रितान्नासवप्रदानेषु कर्मसु अस्य सूक्तस्य विनियोगः । तथा च सूत्रम् । "ग्रामसांपदानि विकारस्थूणामूलावतत्तृणानि सभानाम् उपस्तरणानि ग्रामीणेभ्योन्नं सुरां सुरापेभ्यः" इति [कौ० २. २.] ॥ अत्र यद्यपि सूक्तविशेषो न श्रूयते तथापि "ग्रहणम् आ ग्रहणात्" इति [कौ० १. ८.] परिभाषणात् "पूर्वस्य" इत्येतदेव त्रिषप्तीयं संबध्यते ॥

तथा सर्वसंपत्कर्मस्वपि अस्य सूक्तस्य विनियोगः । तथा हि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिदाधानम् व्रीहियवतिलानाम् आवपनम् क्षीरौदनपुरोडाशरसानां भक्षणं च इत्येतानि मेधाजननोक्तानि अहनि कालत्रये अग्निप्रज्वालनं तदुपस्थानं च सव्यात् पाणिमध्याद् रुधिरस्य दधिघृतमधूदकमिश्रितस्य संपाताभिमन्त्रितस्य प्राशनम् पृश्निमन्थप्राशनं च इत्येतानि कर्माणि अनेनैव सूक्तेन सर्वसंपत्कामः कुर्यात् । आह च कौशिकः । "औदुम्बर्यादीनि भक्षणान्तानि सर्वसांपदानि त्रिर्ज्योतिष्कुरुत उपतिष्ठते सव्यात् पाणिहृदयाल्लोहितं रसमिश्रमश्नाति पृश्निमन्थो जिह्वाया उत्साद्यमक्ष्योः परिस्तरणमस्तृहणं हृदयं दूर्शे उपनह्य तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति चूर्णानि करोति मैश्रधान्ये मन्थ ओप्य दधिमधुमिश्रमश्नाति" [इति कौ० २. २] ॥

[तथा वर्चस्यकर्मणि अनेन सूक्तेन वर्चस्कामः औदुम्बर्यादीनि त्रीणि कुर्यात् । तथा च] वर्चस्कामायाः कुमार्या दक्षिणोरोरभिमन्त्रणम् क्रीतवपाहोमः अग्न्युपस्थानम् इत्येतानि कर्माणि अनेन सूक्तेन तेजस्कामोनुतिष्ठेत् । "पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि" इत्यादि [कौ० २. ३] सूत्रम् ॥

तथा शत्रुहस्तित्रासनकर्माण्यपि अनेनैव संग्रामजयकामो राजा कारयेत् । तानि च । संपातोपेतरथचक्रस्य शत्रुहस्त्यभिमुखं प्रवर्तनम् "यानभक्ष्याणि संपातवन्ति" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् संपाताभिहुतानां स्वकीयहस्त्यश्वादियानानां शत्रुगजाभिमुखप्रेरणम् पटहभेर्यादिवादित्राणाम् अभिमन्त्र्य ताडनम् दृतौ शर्कराः प्रक्षिप्य अभिमन्त्र्य तद्युक्तपुरुषप्रस्थापनम् तथैव चर्मपुटयन्त्रेण शर्कराप्रक्षेपः अभिमन्त्रितबालुकाप्रक्षेपणं च इत्येतानि । अत्र सूक्तम् । "पूर्वस्य हस्तित्रासनानि रथचक्रेण संपातवता प्रतिप्रवर्तयति" इत्यादि [कौ० २. ५] ॥

प्रयोगभेदः। अन्यत् निगदसिद्धम् ॥

एतानि कर्माणि अन्योन्यनैरपेक्ष्येण मेधाजननफलसाधनत्वेन चोदितत्वाद् विकल्पेन अनुष्ठेयानि। कर्मभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वम् इति न्यायात् समुच्चयेन वा अनुष्ठेयानि। एवं उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

उपनयनदिवसेपि मेधाकामस्य ब्रह्मचारिणः अनेन सूक्तेन आज्यहोमः कार्यः। तथा च उपनयनप्रकरणे सूत्रितम्। "मेधाजनन आयुष्यैर्जुहुयाद्" इति [कौ० ७. ८.]। अत्र द्रव्यस्य अनादेशेपि आज्यं होमद्रव्यम्। "आज्यं जुहोति" इति [कौ० १. ७.] जुहोतिचोदनायाम् आज्यस्य द्रव्यत्वपरिभाषणात्। तथैव ब्रह्मचारिसंपत्कर्मसु अस्य सूक्तस्य विनियोगः। सूत्रितं हि। "पूर्वस्य ब्रह्मचारिसांपदानि" इति [कौ० २. २.]। तानि च कर्माणि। उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिधां ब्रह्मचारिगृहोपस्तरणतृणानां च आधानम्। अरण्यपिपीलिकाछिद्रे मेदोमधुश्यामाकेषीकतूलाज्यानि पञ्च द्रव्याणि पृथक् हुत्वा आज्यस्थाल्यां पिपीलिकोद्वापान् ओप्य गृहम् आगत्य अभ्यातानान्ते अनेन सूक्तेन स्थाल्या सकृत् जुहुयात्। अनेन सूक्तेन अन्नम् अभिमन्त्र्य ब्रह्मचारिणो भोजयित्वा धानास्तिलमिश्राः प्रयच्छति। एतैः कर्मभिरनुष्ठितैराचार्यस्य शिष्यसंपत्तिर्भवति। तथा च कौशिकः। "औदुम्बर्यादयो ब्रह्मचार्यावसथादुपस्तरणान्यादधाति" इत्यादि [कौ० २. २.]॥

तथा ग्रामसंपत्कामस्य तत्साधनेष्वेतेषु उदुम्बरपलाशकर्कन्धूतृणाधानसभोपस्तरणतृणाधानाभिमंत्रितान्नासवप्रदानेषु कर्मसु अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तथा च सूत्रम्। "ग्रामसांपदानि विकारस्थूणामूलावतक्षणानि सभानाम् उपस्तरणानि ग्रामीणेभ्योन्नं सुरां सुरापेभ्यः" इति [कौ० २. २.]॥ अत्र यद्यपि सूक्तविशेषो न श्रूयते तथापि "ग्रहणम् आ ग्रहणात्" इति [कौ० १. ८.] परिभाषणात् "पूर्वस्य" इत्येतदेव त्रिषप्तीयं संबध्यते ॥

तथा सर्वसंपत्कर्मस्वपि अस्य सूक्तस्य विनियोगः । तथा हि । उदुम्बरपलाशकर्कन्धूसमिदाधानम् व्रीहियवतिलानाम् आवपनम् क्षीरौदनपुरोडाशरसानां भक्षणं च इत्येतानि मेधाजननोक्तानि अहनि कालत्रये अग्निप्रज्वालनं तदुपस्थानं च सव्यात् पाणिमध्याद्ध रुधिरस्य दधिघृतमधूदकमिश्रितस्य संपाताभिमन्त्रितस्य प्राशनम् पृश्निमन्थप्राशनं च इत्येतानि कर्माणि अनेनैव सूक्तेन सर्वसंपत्कामः कुर्यात् । आह च कौशिकः । "औदुम्बर्यादीनि भक्षणान्तानि सर्वसांपदानि त्रिर्ज्योतिष्कुरुत उपतिष्ठते सव्यात् पाणिहृदयाल्लोहितं रसमिश्रमश्नाति पृश्निमन्थो जिह्वाया उत्साद्य-मक्ष्योः परिस्तरणमस्तृहणं हृदयं दूर्शे उपनह्य तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति चूर्णानि करोति मैश्रधान्ये मन्थ ओप्य दधिमधुमिश्रमश्नाति" [इति कौ० २. २] ॥

[तथा वर्चस्यकर्मणि अनेन सूक्तेन वर्चस्कामः औदुम्बर्यादीनि त्रीणि कुर्यात् । तथा च] वर्चस्कामायाः कुमार्या दक्षिणोरोरभिमन्त्रणम् क्रीतवपाहोमः अग्न्युपस्थानम् इत्येतानि कर्माणि अनेन सूक्तेन तेजस्कामोनुतिष्ठेत् । "पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि" इत्यादि [कौ० २. ३] सूत्रम् ॥

तथा शत्रुहस्तित्रासनकर्माण्यपि अनेनैव संग्रामजयकामो राजा कारयेत् । तानि च । संपातोपेतरथचक्रस्य शत्रुहस्त्यभिमुखं प्रवर्तनम् "यानभक्ष्याणि संपातवन्ति" इति [कौ० १. ७.] परिभाषणात् संपाताभिहुतानां स्वकीयहस्त्यश्वादियानानां शत्रुगजाभिमुखप्रेरणम् पटहभेर्यादिवादित्राणाम् अभिमन्त्र्य ताडनम् दृतौ शर्कराः प्रक्षिप्य अभिमन्त्र्य तद्युक्तपुरुषप्रस्थापनम् तथैव चर्मपुटयन्त्रेण शर्कराप्रक्षेपः अभिमन्त्रितबालुकाप्रक्षेपणं च इत्येतानि । अत्र सूक्तम् । "पूर्वस्य हस्तित्रासनानि रथचक्रेण संपातवता प्रतिप्रवर्तयति" इन्यादि [कौ० २. ५] ॥

तथा पञ्च निर्ऋतिकर्माणि शान्तिकपौष्टिकेषु सर्वत्र अङ्गत्वेन वा पापक्षयार्थं स्वातन्त्र्येण वा कर्तव्यत्वेन सूत्रकारेणोक्तानि । तत्र आद्ययोः कर्मणोः संपातिताभिमन्त्रितभक्तप्राशने आज्यहोमे च एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । तथा च सूत्रम् । "पूर्वस्य पूर्वस्यां पौर्णमास्याम् अस्तमित उदकान्ते कृष्णचेलपरिहितो निर्ऋतिकर्माणि प्रयुङ्क्ते" इत्यादि [कौ० ३. १] ॥

तथा पौष्टिकविशेषे चित्राकर्मणि संपातितसारूपवत्सौदनप्राशनपलाशादिसमिदाधानरूपे अस्य सूक्तस्य विनियोगः । सूत्रितं हि । "पूर्वस्य चित्राकर्मकुलायशृतं हरितबर्हिषम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. १.] । तत्र "अश्नात्यनादेशे स्थालीपाकः पुष्टिकर्मसु सारूपवत्सः" इति [कौ० १. ७.] परिभाषितत्वात् सरूपवत्साया गोर्दुग्धे शृतः स्थालीपाकः । ओदन इति गम्यते ॥

तेजोव्रते च एतत् सूक्तम् विनियुक्तम् । "नाव्ययोः सांवैद्ये" इत्यादि [कौ० ३. १.] सूत्रम् ॥

तथा "पुष्टिकर्मणाम् उपधानोपस्थानम्" इति [कौ० ३. ७] सूत्रात् पौष्टिकमन्त्राणाम् उपधानोपस्थानयोर्विनियोगविधानेन तन्मध्यपातिनोस्य सूक्तस्य तत्रापि विनियोगः । उपधानं नाम आज्यादित्रयोदशद्रव्यहोमः । "उपदधात्यनादेशे आज्यं समित् पुरोडाशः पयः ओदनं पायसं पशुः व्रीहियवतिलधानाः करम्भः शष्कुल्यः एतानि त्रयोदश हवींषि जानीयाद्" इति पैठीनसिपरिभाषणात् ॥

द्विविधा व्याधयः । आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्चेति । तत्र आहारनिमित्तानां वैद्यशास्त्रोक्तचिकित्सया उपशमनम् । पापनिमित्तानां तु आथर्वणैर्होमबन्धनपायनादिभिर्भैषज्यकर्मभिरुपशमनम् । "औषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इति [कौ० ४. ८] सूत्रकारेण "स नो

मुञ्चत्वंहसः” [४. २३. १] इति पापनिवृत्तिप्रतिपादनपराणां मन्त्राणां सर्वत्र भैषज्यकर्मणि विनियुक्तत्वात् । तत्र सर्वव्याधिषु अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा उदपात्रं संपात्य अनेनैव व्याधितशरीरं संमार्जयेत् । तथाह कौशिकः । “अथ भैषज्यानि” इति प्रक्रम्य “पूर्वस्योदपात्रेण संपातवतान्ते बलीर्विमार्ष्टि” इति [कौ० ४. १] । भैषज्योक्तसूक्तैस्तत्रतत्र व्याधौ उपधानोपस्थानान्यपि कुर्याद् इति रुद्रभाष्यकारः । उपधानस्वरूपम् उक्तम् ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन पुत्रकामायाः स्त्रिया मृतापत्यायाश्च संपातितोदकावसेकम् पुरोडाशभक्षणम् कन्दुकक्रीडनम् अलंकारधारणं वा कारयेत् । “पूर्वस्य पुत्रकामावतोकयोः” इत्यादि [कौ० ४. ८] सूत्रम् ॥

तथा उपाकर्मणि माणवकवाचने विनियुक्तम् । “त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेत्” इति [कौ० १४. ३] हि सूत्रितम् ॥

तथा राज्ञः पुष्पाभिषेके ये त्रिषप्ता इत्यृचा शाखादिभूतया पयोहोमः कार्यः । तथा च परिशिष्टे पुष्पाभिषेकं प्रक्रम्य उच्यते ।

सप्तरात्रं घृताशी वा ततो होमं प्रयोजयेत् ।
गव्येन पयसा कुर्यात् सौवर्णेन स्रुवेण तु ॥

वेदानाम् आदिमैर्मन्त्रैर्महाव्याहृतिपूर्वकैः इति [प० ५. ३] ॥

तद् एवम् आथर्वणमन्त्राणां सिद्धमन्त्रत्वेन अपरिमितवीर्यत्वप्रदर्शनार्थम् आदिमसूक्तस्य विस्तरतः सर्वेषु कर्मसु उपलक्षणत्वेन सूत्रकृता विनियोगोभ्यधायि । ततः सर्वेषां मन्त्राणाम् अभिलषितसर्वफलसाधनत्वं प्रत्येतव्यम् ॥ ननु मन्त्राणाम् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वस्य “तदर्थशास्त्रात्” [जै० १. २. ३१] इत्यधिकरणेन स्थापितत्वात् तत्तल्लिङ्गानुसारेण विनियोगो वक्तव्यः । इतरथा अग्निना सिञ्चेदितिवत् असमर्थविधानं प्रसज्येत । नायं दोषः । ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठते इतिवद् बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं

वाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसंभवात् । तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिम् आश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः । एवम् अत्रापि गोपथब्राह्मणश्रुत्या उदीरितनिखिलकर्मसु विनियोगः कृतः इति तत्तत्कर्मानुसारेण मंत्रलिङ्गानां गौण्यादिवृत्त्याश्रयेण विनियोज्यार्थपरता बोद्धव्या ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ भूमिकामें जिन कर्मोंका वर्णन हो चुका है, उन कर्मोंके विनियोगोंके अनुसार इस अथर्ववेदसंहिताकी शौनकीया शाखाका अर्थ प्रकाशित किया जाता है ॥ अथर्ववेदसंहिताकी शौनकीया शाखाके प्रथमकाण्डमें छः अनुवाक हैं, पहिले अनुवाकमें छः सूक्त हैं । उनमें "ये त्रिषप्ताः०" यह पहिला सूक्त है । इसका बुद्धिको उत्पन्न करने वाले कर्मोंमें विनियोग किया जाता है । इस विषयमें कौशिक कहते हैं, कि—"पूर्वका मेधाजनन–बुद्धिको उत्पन्न करने वाले कामों–में विनियोग है।" (कौशिकसूत्र २ । १)। यहाँ पर पूर्व शब्दसे 'ये त्रिषप्ताः' सूक्त लिया है । "पूर्वं त्रिषप्तीयम्-पूर्व शब्द त्रिषप्तीयको कहता है ।" (कौशिकसूत्र १ । ७)। वह मेधाजनन कर्म निम्नलिखित हैं । गूलड़, पलाश, वेरकी समिधाका लाना, धान, जौ और तिलोंका वोना, दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण, उपाध्यायको भिक्षा देना, सोते हुए उपाध्यायका कर्णानुमंत्रण (कानमें कहना), उपाध्यायके पास बैठते समय जप करना, घृत मिले धानाओं (भुने हुए जौ) का होम, तिल मिले धानाओंका होम होम करके बचे हुएको खाना, उपाध्यायको दण्ड अजिन (मृगचर्म) और धाना देनेके लिये धानाओंका अनुमंत्रण, इसीप्रकार धानाहोम, तोता, सारि (चिड़िया) और भरद्वाजोंका जिह्वाबंधन प्राशन । ये कर्म इस सूक्तसे मेधाको चाहने वालेके लिये करे । यही बात कौशिकसूत्रमें कही है। यथा–"शुक सारि और कृशकी

जिह्वाको बाँधता है प्राशन कराता है, गूलड़ पलाश और बेरीकी समिधाओंको लाता है, बोता है, भक्षण करता है, उपाध्यायको भिक्षा देता है, सोते हुए उपाध्यायके कानमें कहता है, पासमें बैठ कर जप करता है, घृत तिल मिले हुए धानाओंका होम करके प्राशन करता है। पहिले अग्निसे कल्माषदण्डको निहनन करके पीछे अग्निसे कृष्ण चर्ममें धानाओंका अनुमंत्रण करता है, फिर सूक्तके पार जाकर उनको देता है, एक वार होम करता फिर दण्ड धाना और अजिन (कृष्णमृगचर्म) को देदेता है।" (कौशिक सूत्र २। १) इसका यह अर्थ है, कि—"आश्यबन्ध्यास्रवनयानभक्ष्याणि सम्पातवंति—आश्य (खाने योग्य) बंध्यास्रवन यान और भक्ष्य संपातवाले होते हैं।—१।७" इस परिभाषणके अनुसार सम्पातके लिये अभिहुत शुक आदि की जिह्वाका वन्धन औन प्राशन होता है। "सम्पातेन होमं आक्षिपते—सम्पात शब्दसे होम ग्रहण किया जाता है। अतः अभ्यातानके अन्तमें इस सूत्रसे घृतकी आहुति देकर सम्पातमें आनयन होता है "सर्वाणि अभिमंत्र्याणि—सबको अभिमन्त्रित करके करे।" (कौशिकसूत्र १।७)। इस परिभाषणके अनुसार इस सूत्रसे ही अभिमंत्रण भी करे। कर्कन्धू बड़ी बेरीको कहते हैं। "समिधम् आदधाति—समिधाओंको लाता है।" (कौशिकसूत्र १।७)। इस कथनके अनुसार उदुम्बर (गूलड़) आदिकी समिधायें लेनी चाहियें। यह हस्तहोम है अत एव यहाँ विकल्प है, क्योंकि—कौशिकसूत्र १४।२ में कहा है, कि—"दर्विहोममें हस्तहोममें और पूर्णहोममें तंत्र नहीं किया जाता—ऐसा किन्हींका मत है।" "आवपति व्रीहियवतिलान्—धान जौ और तिलोंको बोता है।" (कौशिकसूत्र १।७) आवपतिका प्रयोग आने पर इस परिभाषणके अनुसार धान जौ और तिलोंको

समझना चाहिये। "सर्वाण्यभिमंत्र्याणि—सबका अभिमंत्रण करे" इस वचनके अनुसार सब पदार्थोंको अभिमन्त्रण करके काममें लावे। "भक्षयति क्षीरौदनपुरोडाशरसान्—दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण करता है।" इस १।७ कौशिकसूत्रके वचनानुसार भक्षयतिका प्रयोग आने पर जहाँ द्रव्यका वर्णन न हो तहाँ दूध भात पुरोडाश और रसोंको समझना चाहिये। और रस शब्दसे दही घी शहद और जल लिये जाते हैं। क्योंकि—कौशिकसूत्र १।८ में कहा है, कि—"दही घी शहद और जल ये रस हैं।" दूध भात आदि भक्ष्य हैं अत एव होम संपात और अभिमन्त्रण पहिलेकी समान करने चाहियें।" क्योंकि—आश्य बंध्यासवन यान और भक्ष्य सम्पात वाले हैं और सब अभिमंत्रण के पात्र हैं" इस वचनने इस (अभिमन्त्रणादिकी बातको दिखा दिया है)। भैक्ष (भिक्षामें दिया जानेवाला पदार्थ) पक्व हो वा अपक्व हो अभिमंत्रण करके ही दे। शेषीके मन्त्रके अर्थको समझतेहुए मंत्रका जप करना अनुमंत्रण कहलाता है और अभिमंत्रणमें ईक्षण (देखना) अधिक होता है। कहा भी है, कि—"मंत्रं उच्चारयन्नेव मंत्रार्थस्तेन संस्मरेत्। शेषिणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमंत्रणम् ॥ एतदेवाभिमंत्रस्य लक्षणं चेक्षणाधिकम् ॥" धान सर्वहोम और हुतशेषप्राशनका एककर्म होनेसे विरोध पड़ता है, अत एव प्रयोगभेद है। बाकी और बातें शास्त्रसिद्ध होंगी।

ये कर्म मेधाजननरूपी फलकी साधना करने वाले हैं और परस्परकी अपेक्षा नहीं रखते हैं, अत एव विकल्पसे इनका अनुष्ठान करना चाहिये। अथवा 'अधिक कर्म होनेसे अधिक फल होता है' इस न्यायसे समुच्चयरूपसे (एक साथ) सबका अनुष्ठान करना चाहिये। अन्यत्र भी सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये।

उपनयनके दिन भी बुद्धिकी अभिलाषा वाले ब्रह्मचारीसे

इस सूक्तके द्वारा आज्य (घृत) होम कराना चाहिये। इसी बातको उपनयनके प्रकरणमें कहा है, कि—"मेधाजनन आयुष्यैर्जुहुयात्—बुद्धिके उत्पादक आयुप्रद कर्मोंसे आहुति देय।" (कौशिकसूत्र ७।८)। यद्यपि यहाँ पर होमद्रव्यका वर्णन नहीं है तथापि घृतको होमद्रव्य समझना चाहिये। क्योंकि—कौशिकसूत्र १।७ में "आज्यं जुहोति—घृतका हवन करता है" यहाँ जुहोति (होम करे) के योगमें घृतको द्रव्य माना है। इसी प्रकार ब्रह्मचारिसम्पत्कर्मोंमें इसका विनियोग है। इसी बातको सूत्रकारने कहा है। तथा—'पूर्वस्य ब्रह्मचारिसाम्पदानि—पूर्वका ब्रह्मचारीके सम्पत्कर्मोंमें विनियोग है" (कौशिकसूत्र २।२)। वे कर्म ये हैं। गूलड़ पलाश और बेरीकी समिधाओंका और ब्रह्मचारीके गृहके उपस्तरण तृणोंका आधान, अरण्यपिपीलिका छिद्र में मेद मधु श्यामाक इषीका (सींक) तूल (रुई) और घृत इन पाँच द्रव्योंका पृथक् २ होम करके आज्यस्थालीमें पिपीलिकोद्वापोंको रख घरमें आकर अभ्यातानके अन्तमें इस सूक्तके द्वारा स्थालीसे एक वार आहुति देय। और इस सूक्तसे अन्नका अभिमन्त्रण करके ब्रह्मचारीको जिमाकर तिल मिले धाना दिये जाते हैं। इन कर्मोंका अनुष्ठान करने पर आचार्यकी शिष्यसम्पत्ति होती है। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—"औदुम्बर्यादयो ब्रह्मचार्यावसथादुपस्तरणान्यादधाति" इत्यादि।

इसी प्रकार जो ग्रामसम्पत्को चाहता है, उसके साधन इन गूलड़ पलाश और बेरीका काटना, आधान, सभाका उपस्तरण, तृणका आधान, अभिमन्त्रित अन्न और आसवके दान आदिकर्मोंमें भी इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—"ग्रामसाम्पदानि त्रिकारस्थूणामूलावतक्षणानि सभानां उपस्तरणानि ग्रामीणेभ्योऽन्नं सुरां

सुरापेभ्यः—विकारस्थूणामूलावतक्षण, सभाओंके उपस्तरण (बिछौने), ग्रामीणोंको अन्न और सुरा सुरा पीने वालोंके लिये (संग्रह करना) यह ग्रामसम्पत् प्राप्त करानेके कर्म हैं।” यद्यपि यहाँ पर किसी सूक्तका नाम नहीं लिया है, तथापि “ग्रहणं आ ग्रहणात्” इस कौशिकसूत्र २।२ के अनुसार “पूर्व” त्रिषप्तीय का संबन्ध होता है।

इसी प्रकार सर्वसम्पत्कर्ममें भी इस सूक्तका विनियोग है। यथा—गूलड़ पलाश और बेरीकी समिधाओंका लाना, जौ धान और तिलोंका बोना, दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण ये मेधाजननके लिये कहे हुए काम करना और दिनमें तीन बार अग्निको प्रज्वलित करना, उसका उपस्थान, सम्पाताभिमंत्रित दही घी शहद और जल मिले रुधिरका बाईं हथेली—सव्य पाणिमध्य—से प्राशन करना, और पृश्निमन्थप्राशन—इन कामोंको सब सम्पत्तियोंको चाहने वाला करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—औदुम्बर्यादीनि भक्षणान्तानि [सर्वसाम्पदानि त्रिर्ज्योतिष्कुरुत उपतिष्ठते सव्यात् पाणिहृदयाल्लोहितं रसमिश्रमश्नाति पृश्निमंथो जिह्वाया उत्साद्यमक्ष्योः परिस्तरणमस्तृहणं हृदयं दूर्श उपनह्य तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति चूर्णानि करोति मैश्रधान्ये मंथ ओप्य दधि मधुमिश्रमश्नाति।”

[इसी प्रकार तेजको चाहने वाला वर्चस्य कर्ममें इस सूक्तसे औदुम्बर्य आदि तीनको करे। इसीप्रकार] तेजको चाहनेवाला पुरुष, तेजको चाहने वाली कुमारीकी दक्षिण ऊरुका अभिमंत्रण, क्रीतवपाहोम, और अग्निका उपस्थान, इन कर्मोंको इस सूक्तसे करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।३ में कहा है, कि—“पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि।”

इसी प्रकार संग्राममें विजय चाहनेवाला राजा शत्रुके हाथियों

को भयभीत करनेके काम भी इसी सूक्तसे करावे। वे काम ये हैं। संपातोपेतरथचक्रको (जिस रथके उद्देश्यसे अग्निमें आहुति दी जाचुकी हैं उसको) शत्रुओंके हाथियोंकी ओर भेजना चाहिये। यहाँ 'यानभक्ष्याणि संपातवंति" (कौ० १। ७) इस परिभाषाके अनुसार संपाताभिहुत (होममें जिनके लिये आहुति दोगई है उन) अपने हाथी घोड़े आदि यानों (सवारियोंका शत्रुके हाथियोंकी ओर भेजना, पटह भेरी आदि बाजोंको अभिमंत्रित करके बजाना दृति (चमड़ेके पात्र) में (शर्करा) रेता भर अभिमन्त्रित करके उसको किसी पुरुषके द्वारा भेजना, इसी प्रकार चर्मपुटयंत्रसे शर्कराका फेंकना और अभिमन्त्रित बालुकाका फेंकना। इसी बातको कौशिकसूत्र २। ५ में कहा हैं, कि–
"पूर्वस्य हस्तित्रासनानि रथचक्रेण संपातवता प्रतिप्रवर्तयंति।"

इसी प्रकार सूत्रकारने कहा है, कि–शान्तिक और पौष्टिक कर्मोंके पाँच निर्ऋति कर्म अङ्ग होते हैं इस कारण, तथा पापक्षय के लिये स्वतन्त्ररूपसे भी उनका अनुष्ठान करना चाहिये। तहाँ पहिले दोनों (शान्तिक और पौष्टिक) कर्मोंके होममें अभिमंत्रित भातके खानेमें और घृतके होममें यह सूक्त पढ़ाजाता है। कौशिक सूत्र ३। १ में भी कहा है, कि–"पूर्वस्य पूर्वस्यां पौर्णमास्यां अस्तमित उदकान्ते कृष्णचेलपरिहितो निर्ऋतिकर्माणि प्रयुंक्ते–पूर्वदिशामें पूर्णिमाके दिन (सूर्यका) अस्त होने पर जलाशयके समीप कृष्णवस्त्र पहिर कर निर्ऋति कर्मोंमें पूर्व (त्रिषप्तीय)का प्रयोग किया जाता है।"

इसी प्रकार पौष्टिकविशेष–अपने और बछड़ेके, एकसे रूपवाली गौके (दूधके) भातके प्राशन और पलाश आदिके समिधा के आधानरूप–चित्राकर्ममें इस सूक्तका विनियोग है। कौशिकसूत्र ३।१ में भी कहा है, कि–"पूर्वस्य चित्राकर्म कुलायमृतं हरितवर्हिषं

सुरापेभ्यः—विकारस्थूणामूलावतक्षण, सभाओंके उपस्तरण (बिछौने), ग्रामीणोंको अन्न और सुरा सुरा पीने वालोंके लिये (संग्रह करना) यह ग्रामसम्पन् प्राप्त करानेके कर्म हैं।" यद्यपि यहाँ पर किसी सूक्तका नाम नहीं लिया है, तथापि "ग्रहणं आ ग्रहणात्" इस कौशिकसूत्र २।२ के अनुसार "पूर्व" त्रिषप्तीय का संबन्ध होता है।

इसी प्रकार सर्वसम्पत्कर्ममें भी इस सूक्तका विनियोग है। यथा—गूलड़ पलाश और बेरीकी समिधाओंका लाना, जौ धान और तिलोंका बोना, दूध भात पुरोडाश और रसोंका भक्षण ये मेधाजननके लिये कहे हुए काम करना और दिनमें तीन बार अग्निको प्रज्वलित करना, उसका उपस्थान, सम्पाताभिमंत्रित दही घी शहद और जल मिले रुधिरका बाईं हथेली—सव्य पाणि-मध्य—से प्राशन करना, और पृश्निमन्थप्राशन—इन कामोंको सब सम्पत्तियोंको चाहने वाला करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।२ में कहा है, कि—औदुम्बर्यादीनि भक्षणान्तानि [सर्वसाम्पदानि त्रिर्ज्योतिष्कुरुत उपतिष्ठते सव्यात् पाणिहृदयाल्लोहितं रसमिश्रमश्नाति पृश्निमंथो जिह्वाया उत्साद्यमक्ष्योः परिस्तरणमस्तृहणं हृदयं दूर्शे उपनह्य तिस्रो रात्रीः पल्पूलने वासयति चूर्णानि करोति मैश्रधान्ये मंथ आप्य दधि मधुमिश्रमश्नाति।"

[इसी प्रकार तेजको चाहने वाला वर्चस्य कर्ममें इस सूक्तसे औदुम्बर्य आदि तीनको करे। इसीप्रकार] तेजको चाहनेवाला पुरुष, तेजको चाहने वाली कुमारीकी दक्षिण ऊरुका अभिमंत्रण, क्रीतवपाहोम, और अग्निका उपस्थान, इन कर्मोंको इस सूक्तसे करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २।३ में कहा है, कि—"पूर्वस्य ममाग्ने वर्च इति वर्चस्यानि।"

इसी प्रकार संग्राममें विजय चाहनेवाला राजा शत्रुके हाथियों

को भयभीत करनेके काम भी इसी सूक्तसे करावे। वे काम ये हैं। संपातोपेतरथचक्रको (जिस रथके उद्देश्यसे अग्निमें आहुति दी जाचुकी हैं उसको) शत्रुओंके हाथियोंकी ओर भेजना चाहिये। यहाँ 'यानभद्याणि संपातवंति" (कौ० १।७) इस परिभाषाके अनुसार संपाताभिहुत (होममें जिनके लिये आहुति दीगई है उन) अपने हाथी घोड़े आदि यानों (सवारियोंका शत्रुके हाथियोंकी ओर भेजना, पटह भेरी आदि बाजोंको अभिमंत्रित करके बजाना दृति (चमड़ेके पात्र) में (शर्करा) रेता भर अभिमन्त्रित करके उसको किसी पुरुषके द्वारा भेजना, इसी प्रकार चर्मपुटयंत्रसे शर्कराका फेंकना और अभिमन्त्रित बालुकाका फेंकना। इसी बातको कौशिकसूत्र २।५ में कहा हैं, कि-
"पूर्वस्य हस्तित्रासनानि रथचक्रेण संपातवता प्रतिप्रवर्तयंति।"

इसी प्रकार सूत्रकारने कहा है, कि-शान्तिक और पौष्टिक कर्मोंके पाँच निर्ऋति कर्म अङ्ग होते हैं इस कारण, तथा पापक्षय के लिये स्वतन्त्ररूपसे भी उनका अनुष्ठान करना चाहिये। तहाँ पहिले दोनों (शान्तिक और पौष्टिक) कर्मोंके होममें अभिमंत्रित भातके खानेमें और घृतके होममें यह सूक्त पढ़ाजाता है। कौशिकसूत्र ३।१ में भी कहा है, कि-"पूर्वस्य पूर्वस्यां पौर्णमास्यां अस्तमित उदकान्ते कृष्णचेलपरिहितो निर्ऋतिकर्माणि प्रयुंक्ते-पूर्वदिशामें पूर्णिमाके दिन (सूर्यका) अस्त होने पर जलाशयके समीप कृष्णवस्त्र पहिर कर निर्ऋति कर्मोंमें पूर्व (त्रिषप्तीय) का प्रयोग किया जाता है।"

इसी प्रकार पौष्टिकविशेष-अपने और बछड़ेके, एकसे रूपवाली गौके (दूधके) भातके प्राशन और पलाश आदिके समिधा के आधानरूप-चित्राकर्ममें इस सूक्तका विनियोग है। कौशिकसूत्र ३।१ में भी कहा है, कि-"पूर्वस्य चित्राकर्म कुलायमृतं हरितबर्हिषं

अश्नाति।" तहाँ 'अश्नातिका अनादेश होने पर पुष्टिकर्मोंमें सारूपवत्स स्थालीपाक होता है।' (कौ० १।७) इस परिभाषाके अनुसार अपने और बछड़ेके एकसे रूपवाली गौके दुग्धमें बना हुआ स्थालीपाक भात, ओदन समझा जावेगा।

तेजोव्रतमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। कौशिकसूत्रमें भी कहा है, कि—"नाव्ययोः सांवैद्ये" इत्यादि।(कौ० सू० ३।१)।

इसी प्रकार "पुष्टिकर्मणां उपधानोपस्थानम्—पुष्टिकर्मोंका उपधान और उपस्थान होता है।" (कौशिकसूत्र ३।७) इस सूत्रके अनुसार पौष्टिकमंत्रोंमें उपधान और उपस्थानके विनियोगका विधान होनेसे उनके बीचमें आये हुए इस सूक्तका तहाँ भी विनियोग होता है। घृत आदि तेरह द्रव्योंके होमका नाम उपधान है। क्योंकि—पैठीनसिने कहा है, कि—"उपदधातिका अनादेश होने पर घी समिधा पुरोडाश पय भात पायस पशु धान जौ तिल धाना (भुने हुए जौ), करंभ (दहीके सत्तू) और शष्कुलि—इन तेरहको हवि समझना चाहिये।"

व्याधियें दो प्रकारकी होती हैं। पहिली आहारके कारण उत्पन्न होती हैं, दूसरी पहिले जन्मोंके पापोंके कारण उत्पन्न होती हैं। इनमेंसे जो आहारके कारण उत्पन्न होती हैं उनकी वैद्यकशास्त्रमें कही हुई चिकित्सासे शान्ति होजाती है। दूसरी पापोंके कारण उत्पन्न हुई व्याधियें अथर्ववेदके होम बंधन पायन आदि भैषज्यकर्मोंसे दूर होती हैं। क्योंकि—"ओषधिवनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिङ्गाभिः" (कौ० ४।८) तथा "स नो मुञ्चत्वंहसः" (४।२३।१) इस प्रकार पापकी निवृत्तिका प्रतिपादन करने वाले मंत्रोंका सर्वत्र भैषज्यकर्मोंमें विनियोग होता है। यहाँ सब व्याधियोंमें इस सूक्तसे घृतका होम कर उदपात्रका सम्पात करके इसीसे रुग्णके शरीर पर

मार्जन करे। इस बातमें कौशिकका प्रमाण है, कि—"अथ भैषज्यानि" इति प्रक्रम्य "पूर्वस्योदपात्रेण सम्पातवतान्ते बलीर्विमार्ष्टि। कौ० ४।१ -अब औषधियोंको (कहते हैं) इस बातका आरंभ करके कहा है, कि—सम्पात वाले पूर्वके उदपात्रसे बलियों का शोधन करता है।" यहाँ रुद्रभाष्यकारने कहा है, कि—भैषज्यके लिये कहे हुए सूक्तोंसे व्याधिमें उपधान और उपस्थान भी करे।" उपधानका स्वरूप पहिले कहा जाचुका है।

इसी प्रकार पुत्र चाहने वाली स्त्रीको अथवा जिसकी सन्तान मर जाती हो उस स्त्रीको इसी सूक्तसे पुरोडाश खिलावे, गेंदकी क्रीड़ा करावे, अलङ्कार धारण करावे और सम्पातित जलको छिड़के। कौशिकसूत्र ४।८ में कहा भी है, कि—"पूर्वस्य पुत्रकामावतोकयोः" इत्यादि।

इसी प्रकार उपाकर्मसंस्कारमें माणवकवाचनमें भी इस सूक्त का विनियोग आता है। कौशिकसूत्र १४।३ में कहा है, कि—"त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेत्।"

इसी प्रकार राजाके पुष्पाभिषेकमें शौनकीयाशाखामें पहिले आने वाली 'ये त्रिषप्ता०' इस ऋचासे पयोहोम करना चाहिये। इसी बातको परिशिष्टमें पुष्पाभिषेकका आरंभ करके कहा है, कि

"सात रात्रि तक घृतभक्षण करके गौके दुग्ध और सुवर्णके स्रवेसे महाव्याहृतिसहित वेदोंके पहिले मन्त्रोंसे होम करे।" [प० ५।३]

इस प्रकार अथर्ववेदके मन्त्र सिद्धमन्त्र हैं अत एव सूत्रकारने इनका अपरिमित प्रभाव दिखानेके लिये पहिले सूक्तका विस्तारपूर्वक उपलक्षणरूपसे सब कर्मोंमें विनियोग किया है। इस प्रकार सब मंत्रोंको सम्पूर्ण अभिलषित फलका साधन समझना चाहिये। (शङ्का) मन्त्रोंका अनुष्ठेय अर्थोंका प्रकाशकत्व "तदर्थशास्त्रात्

[जै० १।२।३१] इस सूत्रके द्वारा अधिकरणके अनुसार स्थापित होता है, अतः तत्तल्लिङ्गानुसार विनियोग कहना चाहिये (सब कर्मोंमें सब मन्त्रोंका विनियोग नहीं करना चाहिये)। अन्यथा अग्निसे सींचे—की समान असमर्थविधानका प्रसङ्ग आजावेगा। (उत्तर) यह दोष नहीं है। "ऐन्द्र्या गार्हपत्यं उपतिष्ठते ऐन्द्री ऋचासे गार्हपत्यका उपस्थान करता है।" इस ऋचाकी समान बलवती श्रुतिके लिङ्गको बाधकर गुणकल्पनासे भी विनियोग होसकता है। तहाँ ऐन्द्रमंत्रमें इन्द्र शब्दकी गौणी वृत्तिका आश्रय लेकर गार्हपत्यके उपस्थानमें विनियोग किया है। इसी प्रकार यहाँ भी गोपथब्राह्मणकी श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण उदीरित (कथित) कर्मोंमें किया है। इस प्रकार तत्तत्कर्मके अनुसार मंत्रलिङ्गोंकी गौणी वृत्तिके आश्रयसे विनियोज्यार्थ—परता समझनी चाहिये ॥

तत्र प्रथमा

ये त्रि॑ष॒प्ताः प॑रि॒यन्ति॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ बिभ्र॑तः ।
वा॒चस्पति॒र्बला॒ तेषां॑ त॒न्वो॑/ अ॒द्य द॑धातु मे ॥ १ ॥

ये । त्रि॒ऽस॒प्ताः । प॒रि॒यन्ति॑ । विश्वा॑ । रू॒पाणि॑ । बिभ्र॑तः ।
वा॒चः । पतिः॑ । बला॑ । तेषा॑म् । त॒न्वः॑ । अ॒द्य द॒धा॒तु॒ मे॒ ॥१॥

यच्छब्दोत्र प्रसिद्धार्थवाची। "सर्वनामप्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविघातकृत्" इति न्यायात्। ये लोकवेदप्रसिद्धाः त्रिसप्ताः। त्रयो वा सप्त वा भावाः। ❀ संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये इति अन्यपदार्थे बहुव्रीहिः। अन्यपदार्थश्च अत्र वार्थः। स च विकल्पः संशयो वा संभवति। अत्र तु विकल्प एव विवक्षितः। बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् इति डच् समासान्तः।

तस्य सति शिष्टत्वात् सति शिष्टस्वरो बलीयान् इति न्यायेन बहुव्रीहि स्वरं बाधित्वा चितः इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तद्ध अयम् अर्थः । पृथिव्यादयस्त्रयो लोकाः । तेषाम् अधिष्ठातारः अग्निवाय्वादित्याः सत्त्वरजस्तमोगुणाः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः इत्येवमाद्यास्त्रिसंख्याक्रान्ता ये सन्ति ते सर्वे अत्र त्रिशब्देन विवक्षिताः । तथा सप्त ऋषयः । सप्त ग्रहाः । सप्त मरुद्गणाः । सप्त लोकाः । सप्त च्छंदांसि इत्याद्या ये सप्तसंख्याक्रान्ताः सन्ति ते सर्वे अत्र सप्तशब्देन अभिमताः । त्रिसंख्याक्रान्ता सप्त संख्याक्रान्ता वा इति यावत् ॥ यद्वा । त्रिःसप्त त्रिसप्ताः । ❀ पूर्ववद्ध बहुव्रीहिः । अत्र सुजर्थः अन्यपदार्थः । स च क्रियाभ्यावृत्त्यात्मकः ❀ । त्रिरावृत्तसप्तसंख्यायुक्ता इत्यर्थः । ❀ अत्र समासेनैव सुजर्थस्य अभिहितत्वात् संख्यावाचिनस्त्रिशब्दस्यैव समासः न तु सुजन्तस्य इति सुचः श्रवणाभावः । तद् उक्तं वार्तिककृता सुजभावोभिहितार्थत्वात् समासे इति ❀ । ते चैवं द्रष्टव्याः प्रसिद्धसूर्याधिष्ठितप्राचीदिग्व्यतिरिक्ता आरोगादिभिः सप्तभिः सूर्यैरधिष्ठिताः सप्त दिशः । ते च आरोगादयस्तैत्तिरीयैराम्नायंते । “आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः । स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः” [तै० आ० १.७.१] । इति होतृप्रभृतयो वषट्कर्तारः सप्त ऋत्विजः । “मित्रश्च वरुणश्च । धाता चार्यमा च । अंशश्च भगश्च । इन्द्रश्च विवस्वांश्चेत्येते” [तै० आ० १. १३. ३] इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धा विवस्वद्व्यतिरिक्ताः सप्त आदित्या इति । तथा च मन्त्रवर्णः । “सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः । देवा आदित्या ये सप्त” [ऋ० ६. १. १४. ३] इति । यद्वा । सप्त सिन्धवः सप्त लोकाः सप्त दिशः इत्येवं त्रिसप्ताः । श्रूयते हि । “यः सप्त सिंधून् अदधात् पृथिव्याम् । यः सप्त लोकान् अकृणोद्ध दिशश्च” [तै० ब्रा० २.८.३, ८.] इति । सप्त ग्रहाः सप्त ऋषयः सप्त मरुद्गणा

इति वा त्रिसप्ताः ॥ अथ वा त्रिगुणिता सप्तसंख्या येष्विति बहुव्रीहिः । एकविंशतिसंख्याका इत्यर्थः । ते च "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" [तै० सं० ७. ३. १०.५] इति प्रसिद्धाः परिगृह्यन्ते । यद्वा शरीरारम्भकाणि पञ्च महाभूतानि पञ्च प्राणाः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि अन्तःकरणं चेति । एवम् एकविंशतिसंख्याकाः प्रत्येतव्या । एवं उक्तलक्षणास्त्रिसप्तसंख्या ये देवाः परियन्ति । प्रतिदिनं प्रतिवत्सरं प्रतिकल्पं प्रतिशरीरं यथोचितं पर्यावर्तन्ते । ❀ परिपूर्वात् इण् गतौ इत्यस्माल्लटि अदादित्वात् शपो लुक् । इणो यण् इति यणादेशः । यद्वृत्तान्नित्यम् इति निघातप्रतिषेधः । उदात्तवता तिङा गतेः समासवचनम् इति परिशब्दस्य तिङन्तेन समासः । तिङि चोदात्तवति इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀ । किं कुर्वाणाः । विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि प्रतिनियताकारान् जगदनुग्रहार्थं बिभ्रतः धारयन्तः । यद्वा रूप्यन्त इति रूपाणि चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि बिभ्रतः अभिमतफलप्रदानेन पोषयन्तः । ❀ विश्वेति । शेश्छन्दसि बहुलम् इति शेर्लोपे प्रत्ययलक्षणेन नुमि उपधादीर्घत्वे नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य इति नलोपः । विश्वशब्दः अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् [उ० १.१४६] इति क्वन्प्रत्ययान्तत्वात् ञ्नित्यादिर्नित्यम् इत्याद्युदात्तः । बिभ्रतः इति । डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्माल्लटः शत्रादेशः । शपः श्लुः । भृञामित् इत्यभ्यासस्य इत्त्वम् । उगिदिचां सर्वनामस्थानेऽधातोः इति प्राप्तस्य नुमो नाभ्यस्ताच्छतुः इति प्रतिषेधः । प्रत्ययस्वरेण शतुरुदात्तत्वे प्राप्ते अभ्यस्तानामादिः इति अभ्यस्तस्य आद्युदात्तत्वम् ❀ । वाचस्पतिः वाचः वेदात्मिकायाः पतिः पालकः स्वामी । निसर्गसिद्धत्वेन नित्यानामपि वेदानां प्रथमतस्तन्मुखाद् अभिव्यक्तेस्तस्य स्वामित्वव्यपदेशः । पदद्वयमपि परस्परसापेक्षतया एकार्थत्वाद्वृत्तित्वान्निरु

त्वाच्च ब्रह्मणः संज्ञा । ❀ सावेकाच इति वाच उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् । षष्ठ्याः पतिपुत्रेति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ । तेषां प्रागुदीरितानां त्रिसप्तानां देवानां बला बलानि । ❀ पूर्ववत् शेश्छन्दसि बहुलम् इति शेर्लोपः ❀ । तत्तदसाधारणसामर्थ्यानि श्रुतधारणादीनि मे मम मेधादिफलार्थिनः । ❀ तेमयावेकवचनस्य इति अस्मच्छब्दस्य षष्ठ्येकवचनान्तस्य मेआदेशः । अनुदात्तं सर्वमपादादौ इत्यधिकारात् सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । तन्वः तन्वाः शरीरस्य । ❀ अनित्यम् आगमशासनम् इति आडभावः ❀ । अद्य इदानीं मेधाजननादिकर्मकाले दधातु विदधातु करोतु । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः । अस्माल्लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । श्लौ इति द्विर्वचनम् । तिपः पित्त्वेन सार्वधातुकमपित् इति ङित्त्वस्याभावात् श्नाभ्यस्तयोरातः इति आल्लोपस्याभावः । तिङ्ङतिङः इति निघातः ❀ । अत्र बलाधानरूपाभिमतफलप्रदातृत्वं वाचस्पतिकर्तृकम् अवगम्यते । तद् अयुक्तम् देवताया विग्रहाद्यभावेन फलदातृत्वायोगात् लोके हि विग्रहादिमत एव सेवितराजादेः फलप्रदातृत्वं दृश्यते । नायं दोषः । देवताया विग्रहाद्यभावेन फलदातृत्वासम्भवेपि तदुद्देशेन क्रियमाणयागहोमादिजनितापूर्वस्यैव फलप्रदातृत्वाङ्गीकारात् । तथा च नवमे देवताधिकरणे निर्णीतम् । "देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्" [जै० ९. १. ६.] इत्यत्र । तथा हि । "यदाग्नेयोष्टाकपालः" [तै० सं० २. ६. ३. ३.] इत्यत्र देवता प्रतीयते । अपूर्वमपि । तत्र प्राकरणिकानाम् अवघातप्रोक्षणादीनां संनिपत्योपकारकाणां प्रयाजादीनां आरादुपकारकाणां च अङ्गानां किम् अग्न्यादिदेवता प्रयोजिका उत अपूर्वम् इति विशये देवतैव प्रयोजिकेति तावत् प्राप्तम् । कुतः । यागेन तोषिताया देवतायाः फलप्रदत्वात् । संभवति हि तस्याः फलप्रदत्वम् । मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहादिपञ्चकावगमात् । विग्रहः

हविःस्वीकारः तद्भोजनम् तृप्तिः प्रसादश्च इत्येतत् चेतनस्योचितं पञ्चकम् । "सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुः" [तै० सं० २. ३. १४. ४.] इति विग्रहः । "अग्निरिदं हविरजुषत" [तै० ब्रा० ३. ५. १०. २.] इति हविःस्वीकारः । "अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि" [ऋ० १०. ११६. ८.] इति हविर्भोजनम् । "तृप्त एवैनमिंद्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" [तै० सं० २. ५. ४. ३.] इति तृप्तिप्रसादौ । ततः सेविततराजादिवत् पूजितदेवतायाः फलप्रदत्वेन प्राधान्यात् सैव धर्माणां प्रयोजिका । तथा सति विकृतिषु सौर्यादिषु प्राकृतानाम् अग्न्यादीनाम् अभावात् तत्संबद्धा धर्मा एव तावत् नातिदिश्यन्ते कुतस्तत्र ऊहस्य प्राप्तिरिति प्राप्ते अभिधीयते । किं देवतायाः फलप्रदातृत्वेन प्राधान्यं शब्दाद् आपाद्यते वस्तुसामर्थ्याद् वा । नाद्यः । "स्वर्गकामो यजेत" इत्यत्र यजेतेति शब्देन विधेयस्य यागस्य फलप्रदत्वावगमात् । द्रव्यदेवते तु सिद्धत्वेन विध्यनर्हे । तत्र यथा द्रव्यस्य विधेयं प्रति गुणत्वम् तथा देवताया अपि । यदा यागस्य कालान्तरभावि फलं प्रति व्यवहितत्वम् तदा तत्साधनभूता देवता ततोपि व्यवहिता । का तर्हि फलस्य गतिः । अपूर्वम् इति वदामः । तच्च श्रुत्या श्रुतार्थापत्त्या वा प्रतीयमानत्वात् शाब्दम् इति तस्य फलप्रदत्वम् उचितम् ॥ नापि वस्तुसामर्थ्याद् देवस्य फलप्रदत्वम् । विग्रहादिपञ्चकप्रतिपादकयोर्मन्त्रार्थवादयोः स्वार्थे तात्पर्याभावात् । अन्यथा "वनस्पतिभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा" [तै० सं० ७. ३. २०.] इत्यादिमन्त्रेष्वपि देवत्वं विग्रहादियुक्त्वं [च] कल्प्येत । तच्च प्रत्यक्षविरुद्धम् । अतो न राजादिवत् फलप्रदत्वम् । किं च । विग्रहादिमद्देवतावाद्यपि न विना कर्मणा फलम् अभ्युपगच्छति । ततः प्राप्ताप्राप्तविवेकेन उभयवादिसिद्धस्य यागस्यैव फलप्रदत्वम् अस्तु । किं च मातापितृगुर्वादिशुश्रूषायाः विनापि देवतां फलप्रदत्वम् उभयवादिसिद्धम् । तस्मात् फलप्रदम्

अपूर्वमेव धर्माणां प्रयोजकम् ॥ तथा सति सौर्यादिषु अग्न्यादिदेवताभावेपि अपूर्वप्रयुक्तधर्माणाम् अतिदेशाद् अस्ति तत्र ऊहस्यावकाशः । तद् उक्तम् ।...... एवं प्रकृतेपि एतत्सूक्तानुष्ठेयाज्यसमिद्धोमादिजनितापूर्वस्यैव अभिमतफलसाधनत्वम् । एवं सति ये त्रिषप्ता इत्यस्य करणमन्त्रत्वात् मन्त्राणां च अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् फलप्रार्थनाव्यपदेशेन कर्मापेक्षितदेवता प्रकाश्यते इति अविरोधः ॥ अयं च जैमिनिपक्षोनुक्रान्तः । बादरायणस्तु

विरोधे गुणवादः स्याद् अनुवादोवधारिते ।
भूतार्थवादस्तद्धानाद् अर्थवादस्त्रिधा मतः ॥

इति प्रमाणान्तराविरुद्धानां मन्त्रार्थवादादीनां स्वार्थेपि तात्पर्याङ्गीकारेण देवानां विग्रहादिपञ्चकम् अभ्युपगम्य यागहोमादिक्रियातोषितानां तेषां देवानामेव अभिमतफलप्रदानकर्तृत्वम् अङ्गीचकार। तथा च वैयासिकं सूत्रम् । "फलमत उपपत्तेः" [ब्रा० ३. २. ३८.] इति । श्रुतिरपि आराधितस्य देवस्यैव फलप्रदातृत्वं दर्शयति। "स्त्रीपुंसोर्वा य इह स्थातुम् अपेक्ष्यते [तस्मै] सर्वैश्वर्यं ददाति यत्र कुत्रापि म्रियेत देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" इति [नृ० पू० १. ७] । "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते" [कौ० उ० ३. ८.] इत्यादि ॥

अस्य सूक्तस्य मेधाजनने विनियोगाभिधानात् तस्य च अधीतवेदशास्त्रादिधारणसामर्थ्याधानरूपत्वात् वेदानाम् अधिपतिर्ब्रह्मैव तत् कर्तुं शक्नोतीति ब्रह्मप्रार्थनम् अत्र कृतम् । अनेनैवाभिप्रायेण श्रुतिरपि तद्वाचकशब्दान्तरं परिहृत्य वाचस्पतिशब्देन ब्रह्माणं निरदिक्षत् ॥

अत्र विहितानि मेधाजननादीनि कर्माणि फलार्थी स्वयमेव यदि अनुतिष्ठेत् तदा मे इति अस्मच्छब्दस्य मुख्य एवार्थः संभवति ।

[यदा तु] फलभाजो यजमानस्य अशक्त्या अनधिकाराद्वा उक्तानि कर्माणि अन्येन कार्यन्ते तदा किम् अयं मन्त्रः प्रत्यगाशीस्त्वलिङ्गात् "आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि" [तै० सं० १. ५. ५. ४.] इतिवत् फलभाजा यजमानेन पठितव्यः उत "ममाग्ने वर्चः" [ऋ० १०. १२८. १.] इतिवत् क्रियाकर्त्रा आचार्येण। द्वितीये पक्षे मन्त्रोच्चारणकर्तुरेव अस्मब्दाभिधेयत्वात् तस्यैव फलसम्बन्धप्रतीतेः कथं यजमानस्य फलभाक्त्वम् इति चिन्तायाम् उच्यते। "आयुर्दा अग्ने" इत्यादेः करणतया विधानाभावात् लिङ्गाद् यजमानपठ्यता निर्णीता "मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्" [जै० ३. ८. १५.] इत्यस्मिन्नधिकरणे। अस्य तु गोपथब्राह्मणे मेधाजननादिकर्मसु विनियोगाभिधानात् श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा "ममाग्ने वर्चः" इतिवत् अस्यापि मन्त्रस्य क्रियाकर्त्रा आचार्येणैव प्रयोक्तव्यता। तथा च क्रियाकर्तुराचार्यस्य दक्षिणया क्रीतत्वात् तदतिरिक्तफलसंबन्धानुपपत्तेः फलभाक्त्व यजमानस्यैव। "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि०" [जै० ३. ७. १८.] इत्युक्तत्वात्। तथा च मे इति संबन्धसामान्ये षष्ठी। मम यो यजमानस्तस्येत्यर्थः। तथा च जैमिनीयं सूत्रम्। "०करणेष्वर्थवत्त्वात्" [जै० ३. ८. २५] इति। अत्रायं संग्रहश्लोकः।

ममाग्न इति कस्यात्र फलं लिङ्गेन कर्तृगम्।
श्रुत्या स्वामिनि न क्रीते लिंगं तत्रोपचर्यताम्। इति॥

लोक और वेदमें प्रसिद्ध जो सात वा तीन भाव हैं अर्थात् तीन संख्या वाले जो पृथिवी आदि तीन लोक, उनके अधिष्ठाता अग्नि वायु आदित्य, सत्त्व रज और तमोगुण और ब्रह्मा विष्णु महेश हैं और सात संख्या वाले जो सात ऋषि, सात ग्रह, सात मरुद्गण, सात लोक और सात छन्द हैं॥ अथवा जिनमें तीन वार सात आता है, वे प्रसिद्ध सूर्यसे अधिष्ठित पूर्व आदि दिशाओंसे अति-

रिक्त आरोग आदि सात सूर्योंसे अधिष्ठित सात दिशायें, और तैत्तिरीय आरण्यक १।७।१ में कहे हुए "आरोग भ्राज पटर पतंग स्वर्णर ज्योतिषीमान् और विभास" ये सात आदित्य वा दूसरी श्रुति तैत्तिरीय आरण्यक १।१३।३ में कहे हुए "मित्र वरुण धाता अर्यमा अंश भग इन्द्र विवस्वान्" इनमें विवस्वान्से अतिरिक्त सात आदित्य † वा सात ग्रह, सात ऋषि, और सात मरुद्गण हैं ॥ अथवा सात तियाँ इक्कीस इस प्रकार इक्कीस संख्या वाले जो तैत्तिरीयसंहिता ७।३।१०।५ में कहे हुए "बारह महीने, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक और आदित्य" हैं वा शरीरका आरंभ करने वाले पञ्चमहाभूत, पञ्च प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियें, पाँच कर्मेंद्रियें, और अन्तःकरण हैं ॥ इसप्रकार जो त्रिषप्त (इक्कीस वा सात) देवता जगत् पर अनुग्रह करनेके लिये सकल रूपोंको धारण करते हुए वा चेतन अचेतन सब वस्तुओंको अभिमत फल देकर पुष्ट करते हुए, प्रत्येक दिन और प्रत्येक कल्पमें प्रत्येक शरीरमें यथोचितरूपसे भ्रमण करते हैं, वेदात्मिका वाणीके पति ब्रह्माजी ‡ इन पूर्वोक्त त्रिषप्त देवताओंकी श्रुतधारण (सुने हुए

---

† ऋग्वेद ६।११।४३ मन्त्रमें भी कहा है, कि—"सात दिशाएँ, नाना सूर्य और सप्तहोता ऋत्विज और सात आदित्य हैं।" तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।३८ में भी कहा है, कि-जिन्होंने सात समुद्रोंको पृथ्वी पर स्थापित किया है तथा जिन्होंने सात लोकोंको और दिशाओंको रचा है।"

‡ वेद निसर्गसिद्ध होनेसे नित्य हैं, तथापि ब्रह्माजीके मुखसे पहिले वेदोंका प्रकाश (अभिव्यक्ति) हुआ है अत एव उनको वेदात्मिका वाणीका पति—स्वामी—कहा है। "वाचः" और "पतिः" ये दोनों शब्द परस्परकी अपेक्षा रखते हैं एकार्थतावृत्ति (एक अर्थमें वृत्ति वाले) हैं और रूढ़ी हैं, अतः वाचः पति इन दोनों शब्दोंका अर्थ ब्रह्माजी है।

वेदको धारण करना) आदि असाधारण शक्तियोंको मेधा आदि फलको चाहने वाले मेरे शरीरमें आज मेधाजननके समय स्थापित करें ॥

अब शंका होती है, कि-इस मन्त्रसे प्रतीत होता है, कि—शक्तिप्रदानरूप अभिलषित फल वाचस्पति देते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि—देवताका विग्रह (शरीर) आदि नहीं होता अत एव वह फल नहीं दे सकते। और संसारमें देखा जाता है, कि—शरीर आदिको धारण करनेवाले राजा आदि ही सेवा करने पर फल देते हैं (उत्तर) यह दोष नहीं है। देवताका विग्रह आदि न मानने पर फलदातापन असंभव होने पर भी उनके उद्देश्य से किये हुए याग होम आदिसे उत्पन्न हुए अपूर्वको ही (हम) फलदाता मानते हैं। इसी बातका देवताधिकरणमें निर्णय किया है। "देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद भोजनस्य तदर्थत्वात्" (जै० ६।१।६) यहाँ पर और "यदाग्नेयोष्टाकपालः"(तै० २।६।३।३) यहाँ पर भी देवता प्रतीत होता है और अपूर्व भी प्रतीत होता है। यहाँ प्रकरणवश आये हुए अवघात (कूटना) प्रोक्षण (छिड़कना) आदि गिर कर उपकार करने वाले और समीपसे उपकार करने वाले प्रयाज आदि अङ्गोंका प्रयोजक देवता है वा अपूर्व ? तो देवता ही प्रयोजक है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि—यागसे सन्तुष्ट किये हुए देवता ही फल देते हैं। और देवताओंका फल देना ठीक भी है। क्योंकि—मंत्रार्थवादोंसे विग्रह आदि पाँच वस्तुएँ देवताओंमें सिद्ध होती हैं। वे पाँच बातें ये हैं। शरीर, हविको स्वीकार करना, उसका भोजन करना, तृप्ति और प्रसाद, यह चेतनमें होने वाली पाँच वस्तुएँ देवताओंमें हैं। तैत्तिरीयसंहिता २।३।१४।४ के "सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुः—सहस्र नेत्रवाला, गोत्रभित् और

वज्र सरीखी भुजा वाला (इन्द्र) है।" मंत्रसे देवताओंका शरीर सिद्ध है। और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।५।१०।२ की श्रुति "अग्निरिदं हविरजुषत—अग्निने इस हविका सेवन किया।" से हविका स्वीकार करना सिद्ध है। और ऋग्वेद १०।११६।८ की "अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि" श्रुतिसे हविका भोजन करना सिद्ध होता है। और "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति—तृप्त हुआ इन्द्र इस (यजमान) को सन्तान और पशुओंसे तृप्त करता है। [तैत्तिरीयसंहिता २।५।४।३]" इस श्रुतिसे देवताका तृप्त होना और प्रसाद सिद्ध है। अतः सेवा करने पर राजा जैसे फल देता है, यह भी फल देता है। अतः अपूर्व और देवतामें फलप्रदत्वके कारण प्रधान होनेसे देवता ही धर्मोंका प्रयोजक है। किंतु ऐसा होने पर सौर्य आदि विकृतियोंमें वास्तविक अग्नि आदिका अभाव होनेसे उनसे संबंध रखने वाले धर्म ही नहीं दीखते ऊहकी प्राप्ति तो कहाँसे होगी? ऐसी आपत्ति उठने पर कहते हैं, कि—क्या फलप्रदाता होनेसे देवताका प्राधान्य शब्द द्वारा सिद्ध होता है, अथवा वस्तुसामर्थ्यसे प्राधान्य सिद्ध होता है। पहिली बात ठीक नहीं है। क्योंकि—'स्वर्गकामो यजेत—स्वर्गकी कामना वाला यज्ञ करे।' यहाँ पर यजेत शब्दसे विधेय (किये जाने वाले) यागका फलदातापन मालूम होता है। द्रव्य और देवता तो सिद्धत्वके कारण विधिके योग्य नहीं है। क्योंकि—द्रव्यका जैसे विधेयके प्रति गुणत्व है, इसी प्रकार देवताके प्रति भी गुणत्व है। जब यागका कालांतरमें होनेवाले फलके प्रति व्यवहितत्व है तब उसका साधनभूत देवता भी व्यवहित है, तो फिर फलकी क्या गति होगी तो हम कहते हैं, कि—अपूर्व (प्रारब्ध) ही प्रधान है। श्रुति वा श्रुतार्थापत्तिसे प्रतीयमान होनेके कारण वह शाब्द है, इस कारण उसका फलप्रद होना उचित ही है॥

और वस्तुसामर्थ्यसे भी देवताका फलप्रदत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि–विग्रह आदि पाँच बातोंका प्रतिपादन करने वाले मन्त्र और अर्थवादका स्वार्थमें तात्पर्याभाव है। अन्यथा "वनस्पतिभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा" (तैत्तिरीयसंहिता ७।३।२०) इत्यादि मन्त्रोंमें भी देवत्व और विग्रह आदि युक्त होनेकी कल्पना करनी चाहिये। किंतु यह बात प्रत्यक्षके विरुद्ध है। अतः राजा आदिकी समान फलप्रदत्व नहीं है। (और एक बात है, कि–) देवताको विग्रह आदि वाला माननेवाला भी कर्मके विना फल नहीं पासकता, अतः प्राप्ताप्राप्तविवेकसे उभयवादिसिद्ध यागका ही फलप्रदत्व होने लगेगा। और माता पिता गुरु आदिकी शुश्रूषाके विना भी देवताका फलप्रद होना उभयवादिसिद्ध है। अत एव फलप्रद अपूर्व (फलको देने वाला प्रारब्ध) ही धर्मोंका प्रयोजक है। अत एव सौर्य आदि विकृतियोंमें अग्नि आदि देवताओंका अभाव होने पर भी अपूर्वप्रयुक्त धर्मोंके अतिदेशसे ऊहका अवकाश है। इसी बातको कहा है, कि–……इस प्रकार यहाँ पर भी इस सूक्तसे अनुष्ठेय घृत समिधा और होमसे उत्पन्न हुए अपूर्वका ही अभिलषितफलसाधनत्व है। ऐसा होने पर ये त्रिषप्ता इसका करणमन्त्र होनेके कारण, और मन्त्र अनुष्ठेय अर्थके प्रकाशक होते हैं अतएव फलप्रार्थनाके व्यपदेशसे कर्मापेक्षित देवता प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार अविरोध है। यह जैमिनिका पक्ष कह दिया। और बादरायणने तो "विरोधमें गुणवाद होता है, अवधारितमें अनुवाद होता है और तद्धानसे भूतार्थवाद होता है" इस प्रकार अन्य प्रमाणोंसे अविरुद्ध मन्त्रार्थवाद आदिका स्वार्थमें भी तात्पर्य अङ्गीकार कर देवताओंके विग्रह आदि पांचों को मान कर याग होम आदि क्रियाओंसे सन्तुष्ट किये हुए देवताओंका अभिमतफलप्रदानमें कर्तृत्व स्वीकार किया है। व्यास-

सूत्रमें भी यही बात कही है, कि–"फलमत उपपत्तेः" (ब्रा० ३।२।३८)। श्रुति भी आराधना किये हुए देवताओंके फलप्रदातापनको सिद्ध करती है। यथा–"स्त्रीपुंसोर्वा य इह स्थातुमपेक्ष्यत [तस्मै] सर्वैश्वर्यं ददाति यत्र कुत्रापि म्रियेत देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" [नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषत् १।७] इसका अर्थ यह है, कि–जो स्त्री वा पुरुष यहाँ पर रहना चाहता है देवता उसको सर्वैश्वर्य देते हैं और वह जहाँ कहीं भी मरता है देवता उसको तारकमंत्रका उपदेश देते हैं॥ और कौषीतकि उपनिषत्की ३।८ श्रुति भी कहती है, कि–"जिसको ऊपरके लोकोंमें लेजाना चाहता है, उससे (यह देवता) श्रेष्ठ कर्म कराता है और जिसको नीचेके लोकोंमें भेजना चाहता है, उससे निकृष्ट कर्म कराता है।" इत्यादि॥

इस सूक्तका मेधाजननमें विनियोग किया है और पढ़े हुए वेद शास्त्र आदिको धारण करनेकी शक्तिका अपनेमें स्थापित होना मेधाजनन कहलाता है, अतः वेदोंके अधिपति ब्रह्माजी ही इसको कर सकते हैं, इस कारण यहाँ ब्रह्माजीकी प्रार्थना की है। इसी अभिप्रायसे श्रुतिने भी ब्रह्माजीके वाचक और बहुतसे शब्दोंको छोड़ कर वाचस्पति शब्दसे ब्रह्माजीको कहा है॥

इस मंत्रसे विहित मेधाजनन आदि कर्मोंका फल चाहनेवाला यदि अपने आप अनुष्ठान करे तो 'मे' इसका मुख्य अर्थ (मेरे) ही लिया जावेगा। (और जब) फलके भागी यजमानकी अशक्तिवश अथवा उसको अधिकार न होनेसे उक्त कर्म दूसरेसे कराया जावे तब क्या यह मन्त्र प्रत्यगाशीस्त्वलिङ्गसे "आयुर्दा अग्नेस्यायुर्मे देहि" (तैत्तिरीयसंहिता १।५।५।४) की समान फलके भागी यजमानको ही पढ़ना चाहिये, अथवा "ममाग्ने वर्चः" (ऋग्वेद १०।१२८।१) की समान क्रियाकर्ता आचार्यको पढ़ना

चाहिये ? यदि द्वितीय पक्षको मानेंगे तो मंत्रके उच्चारणकर्ता आचार्य का ही "मे" शब्दसे सम्बंध प्रतीत होता है अतः यजमानको उसका फल कैसे मिलेगा ? इस चिंताका उत्तर यह है, कि-"मंत्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् जैमिनीयसूत्र ३ । ८ । १५ इस अधिकरणमें निर्णय किया है, कि-'आयुर्दा अग्ने' इत्यादिमें करणतारूपसे विधान नहीं है अत एव लिङ्गसे यजमानको पढ़ना चाहिये । और इस मंत्रका गोपथ-ब्राह्मणमें मेधाजनन आदि कर्मोंमें विनियोग कहा है अतः श्रुतिसे लिङ्गको बाध कर "ममाग्ने वर्चः" इत्यादिकी समान इस मंत्रका कर्मको करने वाले आचार्यको ही प्रयोग करना चाहिये । और क्रियाको करनेवाला आचार्य दक्षिणाके द्वारा खरीदा हुआ होता है अतः यजमानसे अतिरिक्त और किसीसे फलका संबंध नहीं घट सकता, अत एव फल यजमानको ही मिलता है । जैमिनीय सूत्र ३ । ७ । १८ में भी कहा है, कि-"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि०-शास्त्रका फल प्रयोक्ताको मिलता है ।" तब मे इसको संबंध सामान्य में षष्ठी मानना पड़ेगा और मे का अर्थ मेरा जो यजमान है उस के-यह अर्थ होगा । इसी बातको "०करणेष्वर्थवत्त्वात्" इस ३ । ८ । २५ जैमिनीयसूत्रमें कहा है । यहाँ पर यह संग्रहश्लोक है

'ममाग्न इति कस्याग्न फलं लिंगेन कर्तृगम् ।
श्रुत्या स्वामिनि न क्रीते लिंगं तत्रोपचर्यताम् ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

पुन॒रेहि॑ वाचस्पते दे॒वेन॒ मन॑सा स॒ह ।
वसो॑ष्पते॒ नि र॑मय॒ मय्ये॒वास्तु॒ मयि॑ श्रु॒तम् २

पुन॑ः । आ । इ॒हि॒ । वा॒च॒ः । प॒ते॒ । दे॒वेन॑ । मन॑सा । स॒ह ।
वसो॑ः । प॒ते॒ । नि । र॒म॒य॒ । मयि॑ । ए॒व । अ॒स्तु॒ । मयि॑ । श्रु॒तम् २

हे वाचस्पते वाचः वेदरूपायाः पालयितर्देव । ❀ सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आमन्त्रितस्य च इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । ईदृश हे ब्रह्मन् देवेन द्योतनात्मकेन मनसा अन्तःकरणेन । अनुग्रहबुद्ध्येत्यर्थः । सकलेंद्रियानुग्राहकत्वात् सत्त्वगुणपरिणामरूपत्वेन स्वच्छत्वाच्च मनसो द्योतनात्मकत्वम् । तादृशेन मनसा सह संगतः सन्न पुनरेहि । क्रियाभ्यावृत्त्युपलक्षणार्थोयं पुनःशब्दः । अभिमतफलप्रदानार्थं पुनः पुनर्मत्समीपम् आगच्छेत्यर्थः । ❀ स्वरादिगणे पुनराद्युदात्तः इति पाठात् पुनःशब्द आद्युदात्तः ❀ ॥ अत्र वाचस्पतेरागमनं फलप्रदानार्थम् । तच्च फलप्रदानं किं वाचस्पतेरेव उत मनसोपीति विचिकित्सायाम् सहभावश्रवणात् मनसोपीति प्राप्तम् । तच्च अयुक्तम् । "सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी" इतिवत् सहशब्दश्रवणेपि अप्राधान्याद् मनसः क्रियानन्वयित्वात् । अप्राधान्यं च "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति तृतीयाविधानात् । तथा शेषलक्षणे "त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात्" [जै० ३. २. ३४.] इत्यधिकरणेपि एवमेव निर्णीतम् । तथा हि "अग्ना ३ इ पत्नीवा ३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा" [तै० सं० १. ४. २७.] इति पात्नीवतग्रहहोममन्त्रे त्वष्टुः पत्नीवदग्निसहभावश्रवणेन पानक्रियान्वयाद् देवतात्वात् तद्ग्रहशेषभक्षणमन्त्रेपि उपलक्षणीयत्वम् आशङ्क्य राद्धान्तितम् त्वष्टुः अप्रधानविभक्त्यभिहितत्वेन सहभावमात्रप्रतीतेः पानक्रियान्वयित्वाभावाद् अदेवतात्वाद् भक्षणमन्त्रे नोपलक्षणीयत्वमिति ॥ अपि च हे वसोष्पते वासकस्य ग्रामपश्वादिरूपस्य धनस्य स्वामिन् । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थाद् वस निवासे इत्यस्मात् शृस्तृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ० पा० १. १०.] इति उप्रत्ययः । अनित्यम् आगमशासनम् इति नुमभावे घेर्ङिति इति गुणे ङसिङसोश्च इति पूर्व-

रूपता। षष्ठ्याः पतिपुत्रेति विसर्जनीयस्य सत्वम्। पूर्ववत् पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। यद्वा वसोः वासकस्य प्राणस्य पते स्वामिन् प्रजापते निरमय अभिमतग्रामादिलक्षणफलप्रदानेन नितराम् अस्मान् क्रीडय। यतस्त्वं वसुपतिः अतस्तव ग्रामादिविविधफलप्रदानशक्तिरस्ति। तस्माद् अस्मदपेक्षितानां विविधफलानां साकल्येन प्रदानात् निरन्तरं सुखयेत्यर्थः॥ अस्मादेव लिङ्गात् ग्रामसंपदादिषु कर्मसु विनियोग उपपन्नः। ❀ रमु क्रीडायाम्। अस्मात् हेतुमति णिचि उपधावृद्धौ जनीजॄष्क्नसुरञ्जोमन्ताश्चेति मित्त्वात् मितां ह्रस्वः इत्युपधाह्रस्वत्वम् ❀। इदानीं ग्रामादिविविधसंपत्त्या सर्वोत्कृष्टताम् आत्मनः प्रार्थयते। मय्येवास्तु त्वया दत्तं ग्रामादिकम् अनन्यसाधारण्येन मय्येव वर्तताम्। अन्ययोगव्यवच्छेदार्थोयम् एवकारः। यत एवकारस्ततोन्यत्रावधारणम् इति न्यायेन अस्मच्छब्दात् परतो वर्तमानेन एवकारेण ग्रामादीनां नियम्यमानत्वात्॥ मेधाजननस्य प्राधान्यं दर्शयितुं विप्रपरिव्राजकन्यायेन पार्थक्येन निर्दिशति मयि श्रुतमिति। श्रुतम् उपाध्यायाद् विधितोधीतं वेदशास्त्रादिकमपि मय्येव। अस्तु इत्यनुषङ्गः। सम्यगधीतस्यापि वेदादेः प्रायेण विस्मरणसंभवाद् अधीतस्य धारणार्थं मह्यं मेधां प्रयच्छेत्यर्थः॥

हे वेदरूपा वाणीका पालन करनेवाले वाचस्पति देव ब्रह्मन्! अपने द्योतनात्मक (प्रकाशमय) मनके † साथ अर्थात अनुग्रह बुद्धिको साथमें लेकर अभिलषित फल देनेके लिये वारम्वार मेरे पास आइये ×। और हे ग्रामादिरूप धनके स्वामिन् वा वासक

---

† मन सब इन्द्रियोंके ऊपर अनुग्रह करता है और सत्त्वगुणका परिणामरूप होनेसे स्वच्छ है अतः मनको प्रकाशमय कहा है।

× यहाँ शङ्का होती है, कि—वाचस्पति (ब्रह्माजी) का आगमन फल देनेके लिये होता है। यह फलप्रदान वाचस्पति ही

(प्राण) के स्वामिन् प्रजापते ! अभिलषित ग्रामरूप फल प्रदान करके हमें परमानंदित करिये, क्योंकि—आप वसुपति हैं, अतः आपमें ग्राम आदि अनेक फलोंको प्रदान करनेकी शक्ति है अत एव विविध फलोंको पूर्णरूपसे प्रदान करके हमें सर्वदा सुख दीजिये ÷ । (अब ग्राम आदि अनेक वस्तुओंकी प्राप्तिके द्वारा अपनी सर्वश्रेष्ठताकी प्रार्थना करते हैं, कि—आपके दिये हुए ग्राम आदि अनन्यरूपसे) मुझमें ही रहें (अब मेधाजननकी प्रधानता

करते हैं वा मन भी करता है ? सहभावश्रवणसे अर्थात् साथका श्रवण होनेसे मनका भी फलप्रदानत्व प्राप्त होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि—"सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी। दशपुत्रोंके साथ भी गधी भारको ढोती रहती है।" यहाँकी समान सहशब्दका श्रवण होने पर भी अप्राधान्यवश मनका क्रियान्वयित्व (क्रियाके साथ योग) नहीं है। क्योंकि—"सहयुक्तेऽप्रधाने" इससे तृतीया होनेके कारण अप्राधान्य होगया। "त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात् (जैमिनिसूत्र ३ । २ । ३४) त्वष्टाको पानसे उपलक्षित करे।" इस अधिकरणमें भी यही निर्णय किया है। यथा—"अग्ना ३ इ घा पत्नीवा ३ः सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा" [तैत्तिरीयसंहिता १ । ४ । २७] इस पात्नीवतग्रहहोममंत्रमें त्वष्टाका पात्नीवत् अग्निके सहभावश्रवणसे पानक्रियामें अन्वय होसकता है और देवता होनेसे तद्ग्रहशेषभक्षणमंत्रमें भी उपलक्षण होसकता है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये कहा है, कि—त्वष्टाको अप्रधानविभक्ति (तृतीया) से कहा है अतः सहभावमात्रकी प्रतीति होनेसे पानक्रियासे अन्वय नहीं होता और अदेवतात्ववश भक्षणमंत्रमें भी उपलक्षण नहीं होसकता ॥

÷ इसी लिङ्गसे ग्रामसाम्पदादि (ग्रामकी प्राप्ति करानेवाले अनेक) कर्मोंमें इसका विनियोग करना सिद्ध होता है।

दिखानेके लिये विप्रपरिव्राजकन्यायसे पृथक्‌रूपसे कहते हैं, कि) उपाध्यायसे विधिपूर्वक पढ़ा हुआ वेदशास्त्र भी मुझमें ही रहे॥ भली प्रकार पढ़ा हुआ वेदशास्त्र भी प्रायः विस्मृत होजाता है अतः कहा है, कि—पढ़े हुएको धारण करनेके लिये मुझे बुद्धि दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभे इति । आर्त्नी इवेत्यार्त्नीऽइव ज्यया । वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ ३ ॥

हे वाचस्पते इहैव अस्मिन्नेव साधके जने । ❀ इदमो हः इति सप्तम्यर्थे हप्रत्यये इदम इश् इति इशादेशः ❀ । उभे श्रुतधारणलक्षणां मेधां विविधभोगहेतुभूतां ग्रामादिसंपदं च । अनयोः ऐहिकामुष्मिकफलसाधनेन व्यवस्थितत्वात् कोटिद्वयेन निर्देशः । ते उभे अपि फले अभि वि तनु अभितो विस्तीर्णे कुरु । सर्वजनेभ्योपि मय्येव प्रभूते कुर्वित्यर्थः । ❀ तनु विस्तारे । तनादिकृञ्भ्य उः इति उप्रत्ययः । उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् इति हेर्लुक् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । ज्यया मौर्व्या धनुषि आरोपितया आर्त्नी इव अटन्याविव । ते यथा अभिवितन्येते तथेत्यर्थः । अनेन स्वरसतः अप्राप्तयोरपि बलात् प्रापणम् उक्तम् इति द्रष्टव्यम् । यद्वा इहैव अभि वि तनु । अभिमतं फलम् इति शेषः । उभे आर्त्नी इवेति उभशब्दस्य उत्तरत्र संबंधः । ❀ ईदूदे-

द्विवचनमिति प्रगृह्यसंज्ञा। प्लुतप्रगृह्या अचि इति प्रकृतिभावः। आर्त्नी इवेति। इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम् इति समासः ❀। इदानीं प्राप्तस्य फलस्य स्थैर्यं प्रार्थ्यते। वाचस्पतिः विधाता नि यच्छतु स्वात्मने दत्तं निखिलं फलं नियमयतु। यथा मां न जहाति तथा स्थिरीकरोतु इत्यर्थः। ❀ निपूर्वाद् यमेः शपि इषुगमियमां छः इति छत्वम्। तिङ्ङतिङः इति सर्वानुदात्तत्वम् ❀। अभिमतस्य फलस्य अयोगव्यवच्छेदम् उक्त्वा अन्ययोगव्यवच्छेदम् आह। मय्येवास्तु मयि श्रुतमिति। व्याख्यातमेतत् ॥

हे वाचस्पति ! जैसे धनुष पर चढ़ाई हुई प्रत्यञ्चासे आर्त्नियें विस्तृत होती हैं तैसे ही वेदको धारण करने वाली बुद्धि और अनेक प्रकारके भोगोंकी कारण ग्रामादि सम्पत्ति ‡—इन दोनों को इस साधक मुझमें ही सबसे अधिक बढ़ाइये। (अब प्राप्त हुए फलको स्थिर रखनेके लिये प्रार्थना करते हैं, कि—) ब्रह्माजी मुझे दिये हुए फलको (अर्थात् वह जिस प्रकार मुझको छोड़ कर न जाय तिस प्रकार) पूर्णरूपसे मुझमें स्थिर करें (इस प्रकार अयोगव्यवच्छेदको कह कर अब अन्ययोगव्यवच्छेदको कहते हैं, कि—) “मय्येवास्तु मयि श्रुतम्—आपकी दी हुई ग्राम आदि सम्पत्तियें अनन्यरूपसे मुझमें ही रहें और उपाध्यायसे पढ़ा हुआ वेदशास्त्र भी मुझमें रहे ॥ ३ ॥

---

‡ वेदको धारण करनेकी शक्ति परलोकके फलकी साधन है और ग्रामादि संपत्ति इस लोकके फलकी साधन है अत एव दो कोटियों (आर्त्नियों) की उपमा दी है। प्रत्यञ्चाको खेंचनेसे यह सूचित किया है, कि—स्वरस (सीधी तरह) से ये प्राप्त न हों तो बलपूर्वक भी इनको प्राप्त कर लेय।

चतुर्थी ॥

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥४॥

उप॑ऽहूतः । वा॒चः । पतिः॑ । उप॑ । अ॒स्मान् । वा॒चः । पतिः॑ । ह्व॒य॒ता॒म् ।
सम् । श्रु॒तेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ । मा । श्रु॒तेन॑ । वि । रा॒धि॒षि॒ ॥ ४ ॥

वाचस्पतिः वाचः पालयिता देवः उपहूतः समीपम् आहूतः । सत्स्वपि अन्येषु देवेषु असावेव मम अभिलषितफलप्रदातेति अस्माभिः प्रार्थित इत्यर्थः । ❁ उपपूर्वात् ह्वयतेः कर्मणि निष्ठा । वचिस्वपीत्यादिना संप्रसारणम् । गतिरनन्तरः इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । उपसर्गाश्चाभिवर्जम् [फि० ४. १३.] इत्युपशब्द आद्युदात्तः ❁ । यतो मयोपहूतः ततो हेतोर्वाचस्पतिः स देवः अस्मान् मेधाजननादिफलकामान् उप ह्वयतां तत्तत् फलं प्रदातुं स्वसमीपम् आह्वयतु । यद्वा । तत्तत्फलप्राप्तिम् अभ्यनुजानातु । ❁ उपपूर्वो ह्वयतिः अभ्यनुज्ञानेपि वर्तते । यथा "उपहूत उपह्वयस्व" इति सोमभक्षणानुज्ञानानुज्ञापनमन्त्रे ❁ । तेन उपहूताः सन्तो वयं श्रुतेन विधितोधीतेन वेदशास्त्रादिना सं गमेमहि संगच्छेमहि । वाचस्पतिप्रसादप्राप्तया मेधया कृत्स्नं वेदशास्त्रं प्राप्नवामेति भावः । ❁ व्यवहिताश्च इति समः क्रियापदेन संबन्धः । समो गम्यृच्छीति गमेरात्मनेपदम् । अस्माद् आशीर्लिङि लिङ्याशिष्यङ् इति अङ् प्रत्ययः शपोपवादः । लिङः सीयुट् इति सीयुट् । छन्दस्युभयथा इति सार्वधातुकसंज्ञायां लिङः सलोपोनन्त्यस्य इति सलोपे गुणे वलि लोपः ❁ । अधीतस्य वेदशास्त्रस्य स्वस्मिन् सर्वदावस्थानं प्रार्थयते मा श्रुतेनेति श्रुतेन उक्तलक्षणेन मा वि राधिषि विराद्धो वियुक्तो मा भूवम् । सर्वदा

वेदशास्त्रादिसहितो भूयासम् इत्यर्थः। ❀ राध साध संसिद्धौ। अस्मात् माङि लुङि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् इडागमश्च ❀॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

वाचस्पति अर्थात् वेदरूपा वाणीके स्वामी ब्रह्माजीको हम (अन्य देवताओंके होने पर भी अभीष्ट फलदाता होनेके कारण) समीप बुलाते हैं (हमने ब्रह्माजीका आह्वान किया है, इसकारण ब्रह्माजी) हम मेधाजनन आदि फलकी इच्छा रखने वालोंको फल देनेके लिये अपने समीप बुलावें अथवा उस फलको पानेकी अनुमति दें। उनके उपाह्वान करने पर हम विधिपूर्वक शास्त्रको पढ़ कर शास्त्रसम्पन्न रहें अर्थात् वाचस्पतिके प्रसादसे प्राप्त हुई बुद्धिके द्वारा हम सम्पूर्ण वेदशास्त्रको समझ लें। (अब पढ़ा हुआ वेदशास्त्र हममें सर्वदा स्थित रहे इसकी प्रार्थना करते हैं, कि—) पूर्वोक्त वेदशास्त्रसे हम वियुक्त न होवें ॥ ४ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त

❀

विद्मा शरस्येत्याद्यनुवाकशेषस्य उपाकर्मणि जपे विनियोगः। तथा च सूत्रम्। "अभिजिति शिष्यानुपनीय" इत्युपाकर्म प्रक्रम्य "त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेच्छेषमनुवाकस्य जपन्ति" इति [कौ० १४. ३.]। तत्र विद्मा शरस्येति प्रथमेन सूक्तेन तस्मिन्नेव उपाकर्मणि आज्यहोमः कर्तव्यः। अपराजितगणे अस्य पठितत्वात् "अभयैरपराजितैराज्यं जुहुयात्" [कौ० १४. ३.] इत्यादिषु विनियोगः॥

एतेनैव संग्रामजयकर्माणि कुर्यात्। तानि च। आज्यहोमः सक्तुहोमः धनुरिध्मेऽग्नौ धनुःसमिदाधानम् शरेध्मे शरसमिदाधानम् संपातिताभिमन्त्रितधनुःप्रदानं च प्रत्येतव्यानि। एतेषु कर्मस्वनुष्ठितेषु संग्रामे दृष्टमात्रेण शत्रवः पलायन्ते। तदुक्तं संहिताविधौ।

"विद्या शरस्य [१. २.] मा नो विदन् [१. १९.] अदारसृत् [१. २०.] स्वस्तिदा [१. २१.] अत्र मन्युः [६. ६५.] निर्हस्तः [६. ६६.] परि वर्त्मानि [६. ६७.] अभिभूः [६. ९७.] इन्द्रो जयाति [६. ९८.] अभि त्वेन्द्र [६. ९९.] इति सांग्रामिकाणि । आज्यसक्तून् जुहोति" इत्यादि [कौ० २.५]। अयमेव अपराजितगण इत्युच्यते। तथा अनेनैव सूक्तेन संपातयुक्ताभिमन्त्रितद्धन्वार्त्नीज्यापाशबन्धनं तद्वद् वादितृणबन्धनं च इषुनिवारणकामः कुर्यात् । सूत्रितं हि । "प्रथमस्येषुपर्ययणानि" इत्यादि [कौ० २. ५.] ॥

तथा ज्वरातिसारातिमूत्रनाडीव्रणेषु तदुपशमनकामस्य अनेनैव सूक्तेन मुञ्जशिरोनिर्मितरज्जुबन्धनम् क्षेत्रमृत्तिकाया वल्मीकमृत्तिकाया वा पायनम् सर्पिर्लेपनम् चर्मखल्वामुखेन अपानशिश्ननाडीव्रणमुखानां धमनं च कार्यम् । आह च सूत्रकारः । "विद्या शरस्य [१. २.] अदो यद् [२. ३.] इति मुञ्जशिरोरज्ज्वा बध्नाति" इत्यादि "धमति" इत्यन्तम् [कौ० ४. १.] ॥ "अपराजितां विजयकामस्य" इति [न० क० १७.] विहितायाम् अपराजिताख्यायां महाशान्तावपि अस्य विनियोगः । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "अपराजितगणोपराजितायाम्" इति [न० क० १८.] ॥

पुष्पाभिषेकेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं परिशिष्टे ।

शर्मवर्मगणश्चैव तथा स्याद् अपराजितः ।
आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः ॥
एतान् पञ्च गणान् हुत्वा । इति [प० ५. ४.] ॥

विद्या शरस्येत्यादि अनुवाकशेषका उपाकर्मसंस्कारमें जपके समय विनियोग किया जाता है । इसी बातको कौशिकसूत्र १४ । ३ में कहा है, कि-"अभिजिति शिष्यानुपनीय" इस प्रकार उपा-

कर्मका आरंभ करनेके बाद कहा है, कि—"त्रिषप्तीयं पच्छो वाचयेच्छेषमनुवाकस्य जपन्ति" और विद्मा शरस्येति इस सूक्तसे उपाकर्ममें घृतका होम भी करे, क्योंकि—अपराजितगणमें इसका पाठ है। कौशिकसूत्र १४ । ३ में कहा है, कि—"अभयैरपराजितैर्जुहुयात्—अभय नाम वाले और अपराजित नाम वाले मंत्रों से घृतकी आहुतियें देय।"

इसी सूक्तसे संग्राममें विजय पानेके कर्म भी किये जाते हैं। वे कर्म ये हैं। आज्यहोम (घृतका होम), सक्तुहोम (सत्तुओं का होम), धनुषरूप इंधन वाली अग्निमें धनुषरूपी समिधाका आधान, बाणरूपी इंधनमें बाणरूपी समिधाओंका आधान और सम्पातित तथा अभिमंत्रित धनुषका प्रदान करना। इन कर्मोंका अनुष्ठान करने पर शत्रु देखते ही भाग जाते हैं। इसी बातको संहिताविधि (कौशिकसूत्र) में कहा है, कि—"विद्मा शरस्य [१ । २] मा नो विदन् [१ । १९] अदारसृत् [१ । २०] स्वस्तिदाः [१ । २१] अत्र मन्युः [६ । ६५] निर्हस्तः [६ । ६६] परि वर्त्मानि [६ । ६७] अभिभूः [६ । ९७] इन्द्रो जयाति [६ । ९८] अभि त्वेन्द्र [६ । ९९] ये मंत्र सांग्रामिक हैं। आज्यसक्तून् जुहोति—घृत और सत्तुओंकी आहुति देय" इत्यादि [कौशिकसूत्र २ । ५]। यही अपराजित गण कहलाता है। इसी प्रकार इस सूक्तसे सम्पातयुक्त (जिसके लिये होम किया गया है) और अभिमंत्रित द्रुघ्न्या, धनुष्कोटि, प्रत्यञ्चाके पाशका बंधन तथा दूर्वादितृणबंधन भी बाणको हटाना चाहने वाला करे। कौशिकसूत्र २ । ५ में भी कहा है, कि—"प्रथमस्येषुपर्ययणानि" इत्यादि ॥

इसी प्रकार ज्वर अतिसार (पेचिश) अतिमूत्र और नाडीव्रणमें इनकी शांति चाहने वाले पुरुषके इस सूक्तसे मूँजके सिरे

से बनी हुई रस्सी बाँधे, खेतकी मिट्टी वा बमई मट्टी पिलावे; घृतका लेपन करे, चर्मखल्वाके मुखसे अपान, लिंग, और नाड़ी व्रणके मुख पर धमन भी करे (फूँके)। इसी बातको सूत्रकारने कहा है, कि—"विद्मा शरस्य [१ । २] अदो यद्द [२ । ३] इन मंत्रोंसे मूँजके सिरेकी रस्सीसे बाँधता है इत्यादि । "धमति" तक ।" [कौशिकसूत्र ४ । १] ॥ और "अपराजितां विजयकामस्य" इस नक्षत्रकल्प १७में विहित अपराजिता महाशान्तिमें भी इसका विनियोग है । इसी बातको नक्षत्रकल्प १८में कहा है, कि—"अपराजितगणोपराजितायाम्—अपराजितगणका अपराजिता महाशान्तिमें प्रयोग होता है ॥"

पुष्पाभिषेकमें भी इस सूक्तका विनियोग है । इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"शर्मवर्मगण, अपराजितगण, आयुष्य तथा अभयगण और स्वस्त्ययनगण इन पाँच गणोंसे होम करके ० । [५ । ४] (पुष्पाभिषेक करे) ॥

तत्र प्रथमा ॥

वि॒द्मा श॒रस्यं॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॒ भूरि॑-धायसम् ।
वि॒द्मो ष्व॑स्य मा॒तरं॑ पृथि॒वीं भूरि॑-वर्पसम् ॥ १ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । प॒र्जन्य॑म् । भूरि॑ऽधायसम् ।

वि॒द्मो इति॑ । सु । अ॒स्य॒ । मा॒तर॑म् । पृ॒थि॒वीम् । भूरि॑ऽवर्पसम् ॥१॥

संग्रामजये शरस्यैव मुख्यसाधनत्वेन प्रसिद्धत्वात् तज्जयसामर्थ्यं विशिष्टकारणजन्यत्वेन उपपादयति । शरस्य हिंसकस्य बाणस्य शत्रुजयार्थं धनुषि संधीयमानस्य पितरम् उत्पादकं विद्म जानीमः । ❀ विद ज्ञाने । अस्मात् लटि विदो लटो वा इति मसो मादेशः ।

अदादित्वात् शपो लुक्। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्। तिङ्ङतिङः इत्यत्र अनुदात्तं सर्वमपादादौ इत्यधिकारात् अस्य च पादादित्वात् निघाताभावः। द्व्यचोतस्तिङः इति सांहितिको दीर्घः ❀। किंसंज्ञकोयं पिता इत्याह पर्जन्यमिति। तर्पयिता चासौ जन्यश्चेति पर्जन्यः। ❀ तृपेर्विचि आद्यन्तोर्वर्णयोर्विपर्ययः ❀। जनेभ्यो हितो जन्यः। कालेकाले प्रवर्षणेन तर्पयिता सन् जनानां हितकारी भवतीत्यर्थः। यद्वा काले प्रवर्षणार्थं रसान् प्रार्जयतीति पर्जन्यः। ❀ तथा च यास्कः पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः प्रार्जयिता वा रसानाम् इति [नि० १०.१०.]❀। तस्य सर्वस्माद् अतिशयम् आह। भूरिधायसं भूरि बहुलं दधाति प्रवर्षणेन कृत्स्नं जगत् पोषयतीति भूरिधायाः। यद्वा। भूरीणि स्थावरजङ्गमात्मकानि वस्तूनि यथोचितकाले वृष्टिप्रदानेन दधाति धारयतीति भूरिधायाः। कारणस्य अतिशयितवीर्यत्वप्रतिपादनेन तज्जन्यस्यापि शरस्य अमोघवीर्यत्वम् उक्तं वेदितव्यम्। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः। वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि [उ० ४.२२०] इति कर्तरि असुन्। तत्र णिदित्यनुवृत्तेः आतो युक्चिण्कृतोः इति इति युक्। असुनो नित्त्वात् तदन्तस्य आद्युदात्तत्वम्। समासेपि गतिकारकोपपदात्कृत् इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते असुनि गतिकारकयोरपि पूर्व [पद] प्रकृतिस्वरत्वं च [उ० ४.२२६] इति स्मरणात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तच्च अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् [उ० ४.६५.] इति भूरिशब्दस्य क्रिन्प्रत्ययान्तत्वात् ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम् ❀। तथा अस्य शरस्य मातरं जननीम् सु सुष्ठु विद्मो। उशब्दः एवकारार्थे। विद्मैव तदसाधारणरूपं जानीम एव। ताम् आह। पृथिवीं प्रथितां विस्तीर्णां भूमिम्। श्रूयते हि। तत् पुष्करपर्णोऽप्रथयत्। यद्द अप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्" [तै० ब्रा० १.१.३.७.] इति। ❀ प्रथ

विस्तारे । अस्मात् प्रथेः षिवन् संप्रसारणं च [उ० १. १४८] इति षिवन् प्रत्ययः । तत्संनियोगेन रेफस्य संप्रसारणम् । षिद्गौरादिभ्यश्च इति ङीष् । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ तां विशिनष्टि । भूरिवर्पसं भूरीणि बहुविधानि वर्पांसि । रूपनामैतत् । रूपाणि चराचरात्मकानि यस्यां सा तथोक्ता । जनन्याः सर्वरूपोपादानत्वात् कारणगुणानां कार्ये अनुगमदर्शनात् तज्जन्यः शरोपि नानाकारः सन् साधकाभिमतं फलं साधयितुं शक्नोतीतीत्यर्थः । ❀ वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुक् च [उ० ४.२००] इति वृङोऽसुन् प्रत्ययः तत्संनियोगेन पुगागमश्च । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् इति प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

ननु अत्र शरादिशब्दानाम् अनित्यबाणाद्यर्थविशेषवाचकता प्रतीयते । ततश्च अस्य अर्थविशेषस्य अयं वाचकः शब्द इति पदार्थोत्पत्तिसमनन्तरं तद्वाचकं शब्दं निश्चित्य अनन्तरं पदस्य प्रयोक्तव्यत्वाद् वेदस्य पौरुषेयत्वेन अप्रामाण्यम् अनित्यत्वं च प्राप्नोति ॥ नायं दोषः । शब्दानाम् अनित्यार्थवाचकत्वानभ्युपगमात् । तर्हि कोसौ वाच्योर्थः । आकृतिरिति वदामः । यद् असूत्रयत् जैमिनिः । "आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" [जै० १. ३. ३३] इति । तथा हि व्रीहीन् अवहन्ति पशुम् आलभेत गाम् आनय ब्राह्मणो न हन्तव्यः इत्यादिप्रयोगेषु किं व्यक्तिः शब्दार्थः उत आकृतिरिति । व्यक्तिरिति तावत् प्राप्तम् । कुतः । अवहननादिक्रियाभिः व्यक्तेरन्वेतुं योग्यत्वात् । न हि आकृतिः अवहन्तुम् आलब्धुम् आनेतुम् हन्तुं वा योग्या । ननु आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां न व्यक्तौ व्युत्पत्तिः संभवति । अनन्ता हि गोव्यक्तयः । अतीतानागतानाम् अनेकदेशवर्तिनां गवाम् इयत्ताया अभावात् । किं च शुक्लव्यक्तौ व्युत्पन्नो गोशब्दः कृष्णव्यक्तौ प्रयुज्यमानः स्वार्थं व्यभिचरेत् तत्र कथं व्युत्पत्तिरिति चेत् । एवं तर्हि व्युत्पत्तिकाले सा व्यक्तिः आकृत्या उपलक्ष्यताम् इति प्राप्ते

ब्रूमः। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् आकृतेः शक्तिग्रहणनिमित्तत्वात् शब्दार्थत्वं तस्या एवोचितम्। किं च गोशब्दे उच्चरिते व्यक्तिवादिनः संशयो भवेत्। तस्माद् आकृतेरेव अभिधेयत्वम्। यदि आकृतौ अवहननादिक्रिया न पर्यवस्येत् तर्हि व्यक्तिस्तत्रोपलक्षणीया। किं च "श्येनचितं चिन्वीत" [तै० सं ५.४.११.१] इत्यादौ आकृतेरेव सादृश्यप्रतियोगितया कार्यान्वयो दृश्यते। तस्माद् आकृतिः शब्दार्थः॥ एवं प्रकृतेपि शरादिशब्दानां नित्य एव आकृतिलक्षणोर्थो वाच्यः। ततः शब्दार्थतत्संबन्धानां नित्यत्वेन अपौरुषेयत्वात् पुरुषबुद्धिप्रभवदोषानुप्रवेशाभावेन वेदानां स्वतःसिद्धं प्रामाण्यं पुरुषप्रयत्नानिर्वर्त्यत्वेन नित्यत्वं चेति॥

(संग्राममें विजय पानेके लिये शर ही मुख्यसाधनरूपसे प्रसिद्ध है, उस बाणके विजय करनेकी सामर्थ्यका, उसके कारणकी विशिष्टता कह कर समर्थन करते हैं, कि—) शत्रुका विजय करनेके लिये धनुष पर चढ़ाये हुए हिंसक बाणके पिता (उत्पादक) को हम जानते हैं, वह पिता पर्जन्य है अर्थात् समय २ पर वर्षाके द्वारा मनुष्योंको तृप्त करके मनुष्योंका हित करने वाला मेघ है। वह पर्जन्य वर्षाके द्वारा जगत्का पोषण करता है और स्थावर जंगम वस्तुओंको उचित समय पर वृष्टि करके धारण करता है (इस प्रकार जब कारणमें बड़ा भारी वीर्य है तो उससे उत्पन्न हुए कार्यशरमें भी अमोघ वीर्य है, यह सूचित किया है।) तथा इस शरकी माता अनेक प्रकारके चराचर रूपोंको धारण करने वाली विस्तृत × भूमिको भी हम

+ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३।७ में कहा है कि—"तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्। यद् अप्रथयत् तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्—उसको पुष्करपर्णमें प्रथन क्रिया (विस्तृत क्रिया) प्रथन करनेके कारण ही पृथ्वीका नाम पृथिवी है।

जानते हैं । तात्पर्य यह है, जब जननी सब रूपोंकी उपादान कारण है तो 'कारणके गुण कार्यमें भी दीखते हैं' अतः उससे उत्पन्न होने वाला शर भी अनेक आकारका होता हुआ साधक का अभिलषित फल साधन कर सकता है ॥

अब यहाँ शङ्का होती है, कि-शर आदि शब्दोंका अनित्य बाण आदि अर्थविशेषको कहना प्रतीत होता है। अतः इस अर्थविशेषका वाचक शब्द है, इस प्रकार पदार्थकी उत्पत्तिके अनंतर तद्वाचक शब्दका निश्चय करके पदका प्रयोग किया जाता है। इस कारण वेद पौरुषेय (पुरुष बनाया हुआ) होनेसे अप्रमाण होसकता है और अनित्य भी होसकता है। (अब इस शङ्काका उत्तर देते हैं, कि-) यह दोष नहीं है। क्योंकि-शब्द अनित्य अर्थके वाचक हों, यह बात नहीं है। तो वाच्य अर्थ कौनसा है? हम कहते हैं, कि-आकृति । सूत्रकार जैमिनि भी इसी बातको कहते हैं, कि-"आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्" [जै १ । ३ । ३३] आकृति क्रियार्थ होती है। तथा हि-धानोंको कूटता है, पशुका आलभन करे, गौको ला, और ब्राह्मणको न मारना चाहिये, इत्यादि प्रयोगोंमें शब्दार्थ व्यक्ति है वा आकृति? पहिले व्यक्ति की प्राप्ति होती है, क्योंकि-अवहनन (कूटना) आदि क्रियाओं से व्यक्तिका ही अन्वय होना उचित प्रतीत होता है। आकृति तो अवहनन आलभन आनयन वा हनन करनेके योग्य नहीं होती है। "आनन्त्य और व्यभिचारसे व्यक्तिमें व्युत्पत्ति नहीं होती" यह शङ्का होसकती है, यथा-गोव्यक्तियें अनन्त हैं, बीती हुई और आगेको होने वाली और अनेक देशोंमें वर्तमान गौओंकी इयत्ता (ये इतनी हैं) यह संख्या नहीं होसकती और शुक्लव्यक्तिमें व्युत्पन्न हुआ गोशब्द कृष्णव्यक्तिमें प्रयुक्त होता हुआ स्वार्थका व्यभिचार कर देगा अतः व्यक्तिमें व्युत्पत्ति कैसे हो

सकती है (तो इसके उत्तरमें व्यक्तिवादी कहता है, कि–) तब व्युत्पत्तिके समय उस व्यक्तिका आकृतिसे उपलक्षण कर लेना चाहिये। ऐसी प्राप्ति होने पर हम कहते हैं, कि–

अन्वय और व्यतिरेकसे आकृति ही शब्दग्रहणका निमित्त होती है अतः आकृतिका ही शब्दार्थत्व होना उचित है। (और) गोशब्दका उच्चारण करने पर व्यक्तिवादीको संशय होसकता है, अतः आकृतिका ही अभिधेयत्व है। यदि आकृतिमें अवहनन आदि क्रिया न हो सकती हो तो व्यक्तिका वहाँ उपलक्षण करना चाहिये। (और एक बात है, कि–) "श्येनचितं चिन्वीत–श्येनचित् चयन करे" [तैत्तिरीय संहिता ५।४।११।१] आकृतिका ही सादृश्यप्रतियोगिताके कारण कार्यान्वय दीखता है। अत एव आकृति ही शब्दार्थ है॥ अत एव यहाँ भी शर आदि शब्दोंका नित्य आकृतिलक्षणार्थ वाच्य है। अब शब्दार्थ और उसके सम्बन्धकी नित्यताके कारण अपौरुषेय होनेसे, पुरुषकी बुद्धिसे उत्पन्न हुए दोषोंका प्रवेश नहीं होसकता, अतः वेदोंका स्वतःसिद्ध प्रामाण्य है। और पुरुषके प्रयत्नोंसे उसको हटाया नहीं जासकता अतः नित्यत्व भी है॥ १॥

द्वितीया॥

ज्या॒के॒ परि॑ णो॒ नमाश्मा॑नं त॒न्वं॑ कृधि ।
वी॒डुर्व॑री॒यो॒रा॑ती॒रप॒ द्वेषां॑स्या कृ॑धि ॥

ज्या॒के॒ । परि॑ । नः॒ । न॒म॒ । अश्मा॑नम् । त॒न्व॑म् । कृ॒धि॒ ।
वी॒डुः । वरी॑यः । अरा॑तीः । अप॑ । द्वेषां॑सि । आ । कृ॒धि॒ ॥२॥

हे ज्याके। कुत्सिता ज्या ज्याका। ❀कुत्सिते इति कुत्सायां कप्रत्ययः❀। स्वस्य उपद्रवहेतुत्वात् ज्यां कुत्सि-

तत्वेन निर्दिशति । यद्वा अज्ञाता ज्या ज्याका । ❀ अज्ञातार्थे कप्रत्ययः ❀ । शत्रुहस्तगतत्वेन तस्या अज्ञातत्वम् । ❀ आमन्त्रितस्य च इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे ईदृशि मौर्वि नः अस्मान् परि णम परिहृत्य प्रह्वीभव । आज्यसक्तुहोमादिभिः इन्द्रप्रसादविशिष्टे मयि त्वदीयस्य शरसंधानार्थं नमनस्य निष्फलत्वात् मां विहाय अन्यत्र शरं प्रेरय इत्यर्थः ॥ अस्य सूक्तस्य इन्द्रदेवताकत्वात् जयकर्मणः इन्द्रायत्तत्वाच्च अत्र अश्रुतोपि इन्द्र एव संबोध्यः । हे इन्द्र तन्वं तनुम् । ❀ तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् इति यण् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य इति विभक्तेः स्वरितत्वम् ❀ । अस्माकं शरीरम् अश्मानम् अश्मवद् दृढावयवं शस्त्राभेद्यं कृधि कुरु ॥

यद्यपि अत्र सामानाधिकरण्येन शरीरस्य अश्मकरणप्रार्थना प्रतीयते तथापि षाट्कौशिकस्य शरीरस्य अत्यन्तविरुद्धपाषाणात्मकत्वानुपपत्त्या "यजमानः प्रस्तरः" [ऐ० ब्रा० २. ३] इतिवत् तत्संबद्धगुणलक्षणा आश्रीयते । तथा हि "यजमानः प्रस्तरः" इत्यस्मिन् वाक्ये उद्भिदा यागेन इतिवत् सामानाधिकरण्याद् अन्यतरस्य अन्यत् नाम इत्येकः पूर्वः पक्षः । गुणविधिरेष इत्यपरः । तत्रापि यजमानकार्ये जपादौ प्रस्तरस्य अचेतनस्य सामर्थ्याभावात् प्रस्तरकार्ये तु स्रुग्धारणादौ यजमानस्य शक्तत्वात् यजमानरूपो गुणो विधीयते । एवं सति पश्चाच्छ्रुतस्य प्रस्तरशब्दस्य कार्यलक्षकत्वेपि प्रथमश्रुतो यजमानशब्दो मुख्यवृत्तिर्भविष्यति । न चात्र "पूर्ववन्तो विधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये" [जै० १. ४. १७] इति द्वादशकपालन्यायेन स्तुतिः संभवति । अष्टाकपालद्वादशकपालयोरिव प्रस्तरयजमानयोः अंशांशित्वानुपपत्तेः । तस्मात् नामगुणयोरन्यतरत्वम् इति प्राप्ते अभिधीयते । उद्भिदादिशब्दानां हि अप्रसिद्धार्थत्वाद् यजिसामानाधिकरण्येन

नामत्वं निर्णीतम् । अत्र तु गोमहिषयोरिव यजमानप्रस्तरशब्दयो अर्थभेदस्य अत्यन्तप्रसिद्धत्वात् नामत्वं न युक्तम् । गुणविधिपक्षे तु सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति इत्यग्नौ प्रहरणस्यापि प्रस्तरकार्यत्वाद् यजमाने प्रहृते सति कर्मलोपः स्यात् । तस्माद् विधेयः प्रस्तरो यजमानशब्देन स्तूयते । यथा सिंहो देवदत्त इत्यत्र सिंहगुणेन शौर्यादिना उपेतो देवदत्तः सिंहशब्देन स्तूयते तथा यजमानः प्रस्तर इत्यत्रापि यजमानगुणेन यागसाधकत्वेन युक्तः प्रस्तरो यजमानशब्देन लक्षणया प्रतिपाद्यते । एवं प्रकृते अश्मशब्दोपि स्वार्थसहचरितान् दृढावयवत्वशस्त्राभेद्यत्वादिगुणान् लक्षयित्वा प्रार्थ्यमानतद्गुणयोगिनि शरीरे वर्तत इति बोद्धव्यम् ॥

मयि त्वदीयं निरवधिकम् अनुग्रहम् अजानानः शत्रुर्माम् उद्दिश्य यद्यपि शरं प्रहिणुयात् तथापि स शरः अस्मच्छरीरं यथा न विदारयति तथा कुर्वित्यर्थः । ❀ डुकृञ् करणे । अस्माल्लोटि बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक् । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि इति हेर्धिरादेशः । तस्य अपित्त्वेन गुणाभावः ❀ । किंच हे इन्द्र वीलुः सेनायाः संस्तम्भकस्त्वम् । ❀ वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ इति हि यास्कः [नि० ५. १६] ❀ । अरातीः अरातीन् अस्मच्छत्रून् द्वेषांसि । ❀ द्विष अप्रीतौ । भावे असुन् ❀ । तत्कृतान्यप्रियाणि च वरीयः । क्रियाविशेषणम् एतत् । उरुतरम् अपा कृधि अपाकुरु अपगमय । यथा पुनःपुनरागत्य अस्मान् नापकुर्वन्ति तथा प्रक्षीणबलान् कुर्वित्यर्थः । ❀ वरीय इति । उरुशब्दाद् ईयसुनि प्रियस्थिरेत्यादिना उरुशब्दस्य वरादेशः । क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वं चेति नपुंसकलिङ्गता । अरातीरिति । रा दाने । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् इति क्तिच्प्रत्ययः । न रातयः अरातयः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । तस्माच्छसो नः पुंसि इति नत्वाभावश्छान्दसः ❀ ।

हे (शत्रुके हाथमें होनेसे अज्ञात प्रत्यञ्चे ! वा अपने लिये उपद्रव करने वाले होनेसे) कुत्सित प्रत्यञ्चे ! तू हमैं छोड़कर (और पर) झुक (क्योंकि—घृत और सत्तुओंका होम कर मैंने इन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त करली है अतः मुझ पर बाण चलानेके लिये तेरा नमना निष्फल होगा अतः मुझे छोड़ कर तू दूसरों पर बाण चला) हे इन्द्र ! † हमारे शरीरको आप पत्थरकी समान दृढ़ शस्त्रसे न भिदनेवाला करिये ‡ (अर्थात् आपकी मेरे ऊपर परम-

---

† इस सूक्तका देवता इन्द्र है और जय—कर्म इन्द्रके अधीन है अतः अपठित इन्द्रका भी यहाँ संबोधन दिया है ।

‡ यद्यपि मंत्रमें तन्वम् अश्मानम् इस समानाधिकरणसे शरीर को पत्थर कर देनेकी प्रार्थना प्रतीत होती है । तथापि छः कोश वाले शरीरका परमविरुद्ध पाषाणात्मक होना समझमें नहीं आता अतः "यजमानः प्रस्तरः" (पत्थर यजमान है) [ऐतरेय ब्राह्मण २ । ३] की समान तत्सम्बन्धगुणलक्षणा लीजाती है (इसी बातको स्पष्ट करते हैं, कि-) "यजमानः प्रस्तरः" इस वाक्यमें 'उद्भिदा यागेन' की समान सामानाधिकरण्यसे अन्यतरका अन्य नाम है, यह एक पक्ष है । और यह गुणविधि है यह दूसरा पक्ष है । तहाँ पर भी अर्थात् "यजमानः प्रस्तरः" यहाँ पर भी यजमानके कार्य जप आदिमें अचेतन प्रस्तरकी सामर्थ्य नहीं होसकती और प्रस्तरके कार्य स्रुवेको धारण करने आदिमें यजमानकी सामर्थ्य है अतः यजमानरूप गुणका विधान है । ऐसा होने पर पीछे सुने हुए प्रस्तरशब्दके कार्यलक्षकत्व होने पर भी पहिले सुना हुआ यजमान शब्द मुख्यवृत्ति होजावेगा । "पूर्ववंतो विधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये" (जैमिनीयसूत्र १ । ४ । १७) इस सूत्रके अनुसार यहाँ द्वादशकपाल न्यायसे स्तुति होना संभव नहीं है । क्योंकि—अष्टाकपाल और द्वादशकपालकी समान प्रस्तर

कृपा है इस बातको न जानने वाला शत्रु यदि मुझको लक्ष्य करके बाण फैंके, तो ऐसा करिये, कि–वह बाण मेरे शरीरको विदीर्ण न कर सके।) और सेनाको स्तम्भित कर देने वाले हे इन्द्र ! आप हमारेशत्रुओंको और उनके किये हुए अप्रिय कर्मों को भी बलपूर्वक हमसे दूर करिये अर्थात् वह वारम्वार हमारा अपकार न करसकें, इस रीति पर उनका बल क्षीण कर दीजिये २

और यजमान अंश और अंशी नहीं होसकते। इस लिये नाम और गुणमेंसे अन्यतरत्व है। ऐसी प्राप्ति होने पर कहते हैं, कि–उद्भिद आदि शब्दोंका अर्थ अप्रसिद्ध होनेसे यजिके सामानाधिकरण्यसे नामका निर्णय कर दिया, परन्तु यहाँ तो गौ और भैंसकी समान यजमान और प्रस्तरशब्दका भिन्न २ अर्थ अत्यंत प्रसिद्ध है अत एव नामत्व युक्त नहीं है। गुणविधि–पक्षमें तो सूक्तवाकके द्वारा प्रस्तरका प्रहार करता है, इसप्रकार अग्निमें प्रहरणके भी प्रस्तरका कार्य होनेसे, यजमानमें प्रहृत होने पर कर्म का लोप होजावेगा। इस लिये विधेय प्रस्तरकी यजमान शब्द से स्तुति की जारही है। (उदाहरण) "देवदत्त सिंह है" इस वाक्यमें सिंहके गुण शूरता आदिसे युक्त देवदत्तकी सिंहशब्दसे स्तुति की जारही है। इसी प्रकार "प्रस्तर यजमान है" यहाँ पर भी यजमानके गुण यागसाधकत्वसे युक्त प्रस्तर (पत्थर) यजमानशब्दके द्वारा लक्षणसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहाँ पर अश्म शब्द भी, स्वार्थसहचरित दृढ़ अवयवरूप और शस्त्रसे न भिदनारूप गुणोंको लक्ष्यमें रख कर प्रार्थना किये जाने वाले तद्गुणयोगी शरीरमें है।

तृतीया ॥

वृ॒क्षं यद्गावः॑ परिषस्वजा॒ना अ॑नुस्फु॒रं श॒रमर्च॑न्त्यृ॒भुम् ।
शरु॑म॒स्मद्या॑वय दि॒द्युमि॑न्द्र ॥ ३ ॥

वृ॒क्षम् । यत् । गावः॑ । प॒रि॒ऽस॒स्व॒जा॒नाः । अ॒नु॒ऽस्फु॒रम् । श॒रम् ।
अर्च॑न्ति ऋ॒भुम् ।

शरु॑म् । अ॒स्मत् । य॒व॒य । दि॒द्युम् । इ॒न्द्र ॥ २ ॥

वृक्षम् । विकारे प्रकृतिशब्दः । वृक्षविकारं धनुर्दण्डम् । ❀ वृश्च्यत इति वृक्षः । ओव्रश्चू छेदने इत्यस्मात् व्रश्चिकृतीत्यादिना [उ०३.६६.] क्सप्रत्ययः । कित्त्वात् ग्रहिज्यादिना संप्रसारणम् । स्कोः संयोगाद्योरिति उपधासकारलोपः । व्रश्चभ्रस्जेत्यादिना षत्वे षढोः कः सि इति कत्वम् ❀ । गावः । गोविकारत्वाद् वा गमयति इषूनिति वा गावो मौर्व्यः । आद्ये तद्धितस्य लुक् । तद् उक्तं यास्केन । ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितम् अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौः । वृक्षेवृक्षे धनुषिधनुषीति [नि०२.६] ❀ । परिषस्वजानाः धनुर्दण्डम् आश्लिष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः सत्य इत्यर्थः । ❀ ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । अस्मात् छन्दसि लिट् इति लिट् । लिटः कानज्वा इति कानजादेशः । उपधानकारलोपे द्विर्वचनम् । चितः इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । अत्र परिष्वङ्गकथनेन स्त्रीपुंसयोरिव ज्याधनुर्दण्डयोरपि अन्योन्यसंसक्तयोरेव यथोचितकार्यकरत्वं सूचितम् इति मन्तव्यम् । ईदृश्यो ज्या यद् यदा अनुस्फुरं प्रतिस्फुरणम् । ❀ स्फुर संचलने । अस्माद् घञर्थे कविधानम् । स्थासागापाल्यधिहनियुध्यर्थम् इति परिगणनस्य उप-

लक्षणार्थत्वात् क्तप्रत्ययः ❀ । ऋष्टुम् उरु भासमानम् । शाणोल्लीढत्वात् निशितमित्यर्थः । ईदृशं शरुं हिंसकं शरम् अर्चन्ति । अर्चतिः अत्र गतिकर्मा । अस्मान् अभिलक्ष्य प्रेरयन्ति । ❀ शॄ हिंसायाम् । शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ०१.१०] इति उ प्रत्ययः ❀ । तदा हे इन्द्र अस्माभिर्दत्तेन हविषा प्रीतस्त्वं दिद्युं द्योतमानं शरुं शरम् अस्मिन्निकटम् उपसर्पन्तम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् यावय पृथक् कुरु । यथा स शरो मां न स्पृशति तथा अन्यत्र अपसारयेत्यर्थः ॥ यद्वा शरुं हिंसकं दिद्युम् । वज्रनामैतत् । वज्रवद्भासमानं शस्त्रजातम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥ ❀ यावयेति । यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मात् णिचि वृद्धिः । पदकारास्तु संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः इति वृद्धेरनित्यत्वाद् यवयेति पदं छिन्दन्ति । दिद्युमिति । द्युत दीप्तौ । अस्माद् द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे चेति वक्तव्यम् इति क्विप् प्रत्ययः । तत्संनियोगेन द्विर्वचनम् । द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् । अन्त्यलोपश्छान्दसः ॥ इन्द्रेति । इति परमैश्वर्ये । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रेत्यादिना [उ० २. २८] इन्द्रशब्दो रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वाद् आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् । यास्कस्तु बहुधा इन्द्रशब्दं निरवोचत् । इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां ददातीति वा इरां दधातीति वा इरां दारयतीति वा इरां धारयतीति वा इन्दवे द्रवत इति वा इन्दौ रमत इति वा इन्धे भूतानीति वा तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते इदंकरणादित्याग्रायणः इदंदर्शनादित्यौपमन्यवः इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः [नि० १०. ८] इत्यादि ❀ ॥ यद्वा वृक्षं बहुच्छायं वटादिकं गावः निदाघपीडिताः पशवः यद्वद् यथा आश्लिष्यन्ति तथा तत्तदुचितजीविकाप्रदानेन उपकारकं शत्रुं परिषस्वजानाः परितः सेवमानाः त्वदीया

भटाः अनुस्फुरं स्वामिनः हस्तनेत्रादिव्यापारमात्रम् अनुलक्ष्य । शरुम् अर्चन्तीत्यादि पूर्ववत् ॥

वृक्षके विकार धनुर्दण्डका आलिङ्गन करके (अर्थात् धनुर्दण्ड पर लगा कर धनुषकोटि पर चढ़ाई हुई) प्रत्यञ्चायें † जब प्रत्येक स्फुरण (चलन) में (सान पर चढ़े तीक्ष्ण अत एव) बहुत ही दमकते हुए हिंसक बाणको हमको लक्ष्य करके छोड़ें, उस समय हे इन्द्र ! (हमारे दिये हुए हविसे प्रसन्न हुए आप) उस (हमारे पास आते हुए) प्रकाशमान बाणको हमसे दूर करिये अर्थात् वह बाण मुझे स्पर्श न कर सके, इस प्रकार उसको अन्यत्र हटा दीजिये ॥

(दूसरा अर्थ) अधिक छाया वाले बट आदि वृक्षको जिस प्रकार गर्मीसे घबड़ाई हुए गौएँ घेर लेती हैं इसी प्रकार उचित जीविका देनेसे शत्रुके भट उसको घेर रहे हैं और उसके हाथ नेत्र आदिके इङ्गित (इशारे) से ही मुझे लक्ष्य करके प्रकाशमान बाणको मुझ पर छोड़ते हैं, हे इन्द्र ! उस प्रकाशमय बाणको आप मुझसे दूर करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

य॒था द्यां॑ च॑ पृ॒थि॒वीं चा॒न्तस्तिष्ठ॑ति॒ तेज॑नम् ।
ए॒वा रोगं॑ चास्रा॒वं चा॒न्तस्ति॑ष्ठतु॒ मुञ्ज॒ इत् ॥ ४ ॥

य॒था॑ । द्याम् । च॒ । पृ॒थि॒वीम् । च॒ । अ॒न्तः । तिष्ठ॑ति । तेज॑नम् ।
एवा । रोग॑म् । च । आ॒ऽस्रा॒वम् । च॒ । अ॒न्तः । ति॒ष्ठ॒तु॒ । मुञ्जः॑ । इत् ४

---

† बाणोंको चलानेके कारण प्रत्यञ्चा भी गौ कहलाती है [निरुक्त २ । ६] में कहा है, कि—“ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितम् अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति । वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद्ध गौः । वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषीति ॥”

यथा येन प्रकारेण द्यां दिवम् आकाशं पृथिवीं भुवम् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । उभयत्रापि व्यत्ययेन द्वितीया । दिवश्च पृथिव्याश्च अन्तः मध्ये अवस्थितं तेजनम् तेजनो वेणुः । ❀ लिङ्गव्यत्ययः । वेणुमस्करतेजना इत्यभिधानात् ❀ । तिष्ठति स्वकीयेन औन्नत्येन ते उभे अपि अधःकृत्य वर्तते एव एवम् । ❀ अन्त्यलोपश्छान्दसः । निपातस्य च इति सांहितिको दीर्घः ❀ । रोगं रुज्यते भज्यते पुरुषः अनेनेति रोगः ज्वरातीसारादिरूपः । ❀ हलश्च इति करणे घञ् । चजोः कुः घिण्यतोः इति कुत्वम् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् इत्यादिरुदात्तः ❀ । तम् आस्रावम् आ समन्तात् स्रवति अङ्गप्रत्यङ्गेभ्य इत्यास्रावो मूत्रातीसारः । ❀ स्रु गतौ इत्यस्माद्ध आङ्पूर्वात् श्याद्व्यधास्रसंस्रु इत्यादिना णप्रत्ययः । अचो ञ्णिति इति वृद्धिः । पूर्ववत् षष्ठ्यर्थे द्वितीया । अत्रापि परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । ज्वरातीसारादिरोगस्य आस्रावस्य च अन्तः मध्ये मुञ्ज इत् मुञ्ज एव । मुञ्जेषीकानिर्मिता रज्जुरित्यर्थः । तिष्ठतु । तौ उभावपि रोगौ अधःकृत्य वर्ततामित्यर्थः ॥ यद्यपि अत्र रोगशब्देन व्याधिसामान्यवाचिना आस्रावोपि गृहीतः तथापि एतन्मन्त्रसाध्या क्रिया आस्रावस्य विशेषतो निवर्तिकेति दर्शयितुम् आस्रावस्य पृथगभिधानम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जैसे आकाश और पृथ्वीके बीचमें वर्तमान बाँस (अपनी ऊँचाईसे उन दोनोंका तिरस्कार कर) खड़ा रहता है । इसी प्रकार पुरुषको तोड़ने वाले ज्वर अतीसाररूप रोग और अङ्ग प्रत्यङ्गोंसे टपकाव करनेवाले मूत्रातीसार नामक रोगके मध्यमें यह मूँजकी बनाईहुई रस्सी उन दोनों रोगोंको दबाकर स्थित ‡ रहे ४

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त

---

‡ यद्यपि रोग शब्द सब व्याधियोंका वाचक है अत एव उसमें

विद्मा शरस्येति तृतीयसूक्तेन मूत्रपुरीषनिरोधे प्रमेहणसाधनहरीतकीकर्पूरबन्धनम् । मूषिकामृत्तिकापूतीकतृणदधिमथितजरत्प्रमन्ददारुतक्षणशकलानाम् अन्यतमस्य पायनम् हस्त्यश्वादियानारोहणम् शरविसर्जनम् शरेण मूत्रनालविदारम् लोहशकलस्य मूत्रद्वारे प्रवेशनम् इत्येवमादीन्यपि सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितस्य कुर्यात् । "विषितं ते वस्तिबिलम्" इति द्व्यृचेन मूषिकामृत्तिकायुक्तद्रव्येषु निरुद्धमूत्रपुरीषं पुरुषम् आस्थापयेत् । "विद्मा शरस्येति प्रमेहणं बध्नाति" इत्यादि "फाण्टं पाययतीत्युदावर्तिने च" इत्येतदन्तं सूत्रम् द्रष्टव्यम् [कौ० ४. १] ॥

मूत्र और पुरीष रुक जाने पर विद्मा शरस्य इस तृतीय सूक्त से प्रमेहणके साधन हड़ और कपूरको बाँधे । और सूत्रोक्तरीति से मूषिकामृत्तिका (चूहेके यहाँकी मिट्टी) पूतीकतृण, दहीमें मथे हुए जीर्ण मन्द पेड़के कटे हुए टुकड़े (बुरादा) इनमेंसे एक को पिलावे । हाथी घोड़े आदि सवारी पर चढ़ावे, बाण छुड़वावे और शरके द्वारा मूत्रनालविदारण और लोहशकलका मूत्रद्वारमें प्रवेशन आदि करे । "विषितं ते वस्तिबिलम्" आदि दो ऋचाओं से मूषिकामृत्तिका आदि कथित द्रव्यों पर (जिसका मूत्र वा पुरीष रुक गया है उस) पुरुषको खड़ा करे । "विद्मा शरस्येति प्रमेहणं बध्नाति" यहाँसे "फाण्ट पाययतीत्युदावर्तिने च" इस सूत्र तक देखना चाहिये [कौशिकसूत्र ४ । १]

आस्राव—मूत्रातिसार (बहुमूत्र) रोग भी आजाता है तथापि इस मन्त्रसे साध्य क्रिया आस्रावको विशेष रूपसे हटाने वाली है इस बातको दिखानेके लिये आस्राव शब्दको अलग लिखा है ।

तत्र प्रथमा ॥

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे
अस्तु बालिति ॥ १ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । शतऽवृष्ण्यम् ।
तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ १ ॥

शरस्य हिंसकस्य बाणस्य पितरं पालकम् उत्पादकं वा विद्म यथावज्जानीमः । कीदृशम् । शतवृष्ण्यम् अपरिमितवीर्योपेतम् । विचित्रस्य तरुगुल्मादिरूपस्य स्थावरस्य पशुमृगनरादिरूपस्य जङ्गमस्य च उत्पादने पोषणे च समर्थम् इत्यर्थः । ईदृशं पर्जन्यं वृष्टिप्रदं देवम् । पितृत्वेन जानीम इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ वर्षतीति वृषा । वृष सेचने । कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना [उ० १. १५४] कनिन् प्रत्ययः । वृष्णि भवं वृष्ण्यम् । भवे छन्दसि इति यत् । अल्लोपोऽनः इत्युपधालोपः । ये चाभावकर्मणोः इति प्रकृतिभावस्तु व्यत्ययेन न प्रवर्तते । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तेन उक्तलक्षणेन शरेण । ❀ अन्येषामपि दृश्यते इति सांहितिको दीर्घः ❀ । हे मूत्रनिरोधादिव्याधिग्रस्त ते तव तन्वे । ❀ आडभावश्छान्दसः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । तनुशब्दात् ऊङ उतः इत्यूङ । उदात्तयणो हल्पूर्वात् इति विभक्त्युदात्तत्वस्य नोङ्धात्वोः इति प्रतिषेधे उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य इति विभक्तिः स्वर्यते ❀ । तन्वा शरीरस्य शं रोगाणाम् उपशमनम् । ❀ आह च यास्कः । शमनं च रोगाणां यावनं च भयानामिति [नि० ४. २१] ❀ । करं करोमि । ❀ शमिति शमु उपशमने । अस्मात्

भावे विच् । करम् । डुकृञ् करणे । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इति वर्तमाने लुङ् । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि इति च्लेरङादेशः । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि इति अडभावः । आशंसायां भूतवच्च इति प्रार्थनायां वा लुङ् ❀ । शमनप्रकारमेव दर्शयति । ते तव मूत्ररोगार्तस्य पृथिव्यां भूमौ । ❀ पृथिवीशब्दो ङीषन्तः अन्तोदात्तः । उदात्तयणो हल्पूर्वात् इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । निषेचनं नितरां सेकः प्रस्रावः । अस्त्विति संबन्धः । ❀ निपूर्वात् सिञ्चतेर्भावे ल्युट् । उपसर्गात्सुनोतीत्यादिना षत्वम् । लिति इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । समासेपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव अवशिष्यते ❀ । निषेचनप्रकारम् आह । ते तव शरीरान्तर्निरुद्धं मूत्रं बाल् । अनुकरणशब्दोयम् । इति अनेन प्रकारेण शब्दं कुर्वत् बहिरस्तु बाह्यप्रदेशे भवतु । मन्त्रसामर्थ्याद् विविधं शब्दं कुर्वत् त्वरया शरीरात् निर्गच्छतु इत्यर्थः । यद्वा बाल् । ❀ बल प्राणने । अस्मात् ण्यन्तात् क्विप् ❀ । इतिर्हेतौ । अस्य रोगार्तस्य जीवनहेतोः मूत्रं बहिरस्त्विति ॥

हिंसक बाण (शर) के पालक वा उत्पन्न करनेवाले (पिता) को हम भली भाँति जानते हैं । वह वृक्ष गुल्म आदि स्थावरके और पशुपक्षी मनुष्य आदि जङ्गमके उत्पादन और पोषण करने में समर्थ अपरिमित वीर्यवाले वृष्टि करने वाले मेघ हैं । (उनको हम शरका पिता जानते हैं) । जिसके ऐसे पिता हैं उस शरसे हे मूत्रकी रुकावट आदिसे ग्रस्त रोगिन् ! मैं तेरे शरीरके रोगोंका उपशमन करता हूँ (वह शमनकी रीति यह है, कि-तुझ मूत्ररोगसे पीड़ितका पृथ्वीमें निषेचन हो (निषेचन मूत्र निकलनेका प्रकार कहते हैं, कि-) तेरे शरीरमें रुका हुआ मूत्र बाल् शब्द करता हुआ बाहरको आवे। अर्थात् मन्त्रकी सामर्थ्यसे अनेक प्रकारका शब्द करता हुआ शीघ्रतापूर्वक शरीरसे निकले । अथवा इस रोगार्तका जीवनहेतु मूत्र बाहर आवे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ मि॒त्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑
अस्तु॒ बालिति॑ ॥ २ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । मि॒त्रम् । श॒तऽवृ॑ष्ण्यम् ।
तेन॑ । ते॒ । त॒न्वे॑ । शम् । क॒रम् । पृ॒थि॒व्याम् । ते॒ । नि॒ऽसेच॑नम् ।
ब॒हिः । ते॒ । अ॒स्तु॒ । बाल् । इति॑ ॥ २ ॥

अहरभिमानी देवो मित्रः । स च सर्वेषां प्राणिनां हि मित्रवत् हितकारित्वात् मित्र इत्युच्यते । तैत्तिरीयके मित्रस्य वाक्यम् "सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि" [तै० सं० ६. ४. ८. १.] इति । ❀ यास्कस्तु अन्यथा निरवोचत् । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति [नि० १०. २१.] ❀ । सोपि वृष्टिहेतुत्वेन शरस्य उत्पादयितृत्वात् पितृत्वेन व्यपदिश्यते । श्रूयते हि । "मैत्रं वा अहः । वारुणी रात्रिः" [तै० ब्रा० १. ७. १०. १.] । अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति "मित्रावरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति तावेवास्मा अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयतः" [तै० सं २. ४. १०. २.] इति ॥ शेषं पूर्ववद् योज्यम् ॥

हम शरके पिता अपरिमित वीर्यवाले मित्र † (सूर्य) को जानते हैं हे मूत्ररोगसे पीड़ित मनुष्य ! ऐसे शरसे मैं तेरे शरीर

---

† दिनके अभिमानी देवता सूर्य सब प्राणियोंके मित्रकी समान उपकारी होनेसे मित्र कहलाते हैं । तैत्तिरीयकमें मित्रका वाक्य भी है, कि—"सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि—मैं सबका मित्र हूँ ।"

के रोगोंका उपशमन करता हूँ। पृथ्वीमें तेरा निषेचन हो (पृथ्वी में तेरा मूत्र गिरे) तेरा मूत्र बाल् ऐसा शब्द करता हुआ बाहर को निकले ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ वरु॑णं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३॒ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑
अस्तु॒ बालिति॑ ॥ ३ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । वरु॑णम् । श॒तऽवृ॑ष्ण्यम् ।
तेन॑ । ते॒ । त॒न्वे॒ । शम् । क॒र॒म् । पृ॒थि॒व्याम् । ते॒ । नि॒ऽसेच॑नम् ।
ब॒हिः । ते॒ । अ॒स्तु॒ । बाल् । इति॑ ॥ ३ ॥

[तैत्तिरीयसंहिता ६।४।८।१]। "यास्कने इसकी दूसरे प्रकारसे व्युत्पत्ति की है, कि–मित्रः प्रमीतेस्त्रायते इति–मृत्युसे रक्षा करता है अतः सूर्यका नाम मित्र है" [निरुक्त १०।२१]। ऐसे सूर्य भी वृष्टिका कारण होनेसे शरके उत्पादकरूपसे पिता कहलाते हैं। तैत्तिरीयमें भी कहा है, कि–"मैत्रं वा अहः। वारुणी रात्रिः–दिनका अभिमानी देवता मित्र है और रात्रिका अभिमानी देवता वरुण है" [तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।१०।१]। "अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति मित्रावरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति तावेवास्मा अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयतः–दिन और रात्रिसे ही मेघ वर्षा करता है, यह अपना भाग पानेके लिये मित्र और वरुणके पास जाता है, वही दिन और रात्रिके द्वारा मेघको बरसाते हैं" [तैत्तिरीयसंहिता २।४।१०।२]

वरुणो रात्र्यभिमानी देवः । वृणोति तमसा पाशैर्वा प्राणिजातम् इति वरुणः । ❀ वरुणो वृणोतीति सत इति यास्कः [नि० १०. ३] । वृञ् वरणे इत्यस्मात् कृवृदारिभ्य उनन् [उ० ३. ५३] इति उनन् प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आदिरुदात्तः ❀ ॥ शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

हम शरके पिता रात्रिके अभिमानी देवता वा अन्धकार और पाशोंसे प्राणियोंको बाँधने वाले अपरिमित वीर्यसंपन्न वरुणको जानते हैं । हे मूत्ररोगसे पीडित ! जिसके वरुण पिता हैं उस शरसे मैं तेरे शरीरके रोगोंका उपशमन करता हूँ, तेरे शरीरमेंसे पृथ्वी पर मूत्र निकले और बाल् शब्द करताहुआ बाहरको निकले ३

चतुर्थी ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ च॒न्द्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒ ३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑
अ॒स्तु बालिति॑ ॥ ४ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । च॒न्द्रम् । श॒तऽवृ॑ष्ण्यम् ।
ते॑न । ते॒ । त॒न्वे॒ । शम् । क॒र॒म् । पृ॒थि॒व्याम् । ते॒ । नि॒ऽसेचनम्
ब॒हिः । ते॒ । अ॒स्तु॒ । बाल् । इति ॥ ४ ॥

चन्द्रः । ❀ चदि आह्लादने । स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः ❀ । आह्लादकारी देवः । ❀ आह च यास्कः । चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मण इति [नि० ११. ५] ❀ । ‘अस्य ओषधीशत्वात् शरस्य पितृत्वेन व्यपदेशः ॥

(हम औषधियोंका स्वामी होनेसे) शरके पिता अनन्त वीर्य वाले आह्लाद देने वाले चन्द्रमाको जानते हैं। उस पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त शरसे तेरे शरीरके रोगोंका मैं उपशमन करता हूँ, पृथ्वी में तेरा निषेचन हो अर्थात् तेरा मूत्र पृथ्वी पर गिरे, बाल् शब्द करता हुआ बाहर निकले ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ सूर्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३॒॑ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑
अस्तु बालिति॑ ॥ ५ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । सूर्य॑म् । श॒त॒ऽवृ॑ष्ण्यम् ।
तेन॑ । ते॒ । त॒न्वे॑ । शम् । क॒र॒म् । पृ॒थि॒व्याम् । ते॒ । नि॒ऽसेच॑नम् ।
ब॒हिः । ते॒ । अ॒स्तु॒ । बाल् । इति॑ ॥ ५ ॥

सूर्यः । सरति गच्छतीति वा सुवति प्रेरयति तत्तद्व्यापारेषु कृत्स्नं जगद् इति वा सूर्यः । यद्वा सुष्ठु ईर्यते प्रकाशप्रवर्षणादिव्यापारेषु जगद्विधात्रा परमेश्वरेण प्रेर्यत इति सूर्यः । श्रूयते हि । "भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" [ब्रह्मवि० उ० ८] इति । ❀ तद् एतत् सर्वं यास्केनोक्तम् । सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा इति [नि० १२. १४] ❀ । अथवा शोभनं वीर्यम् अस्येति सूर्यः । तथा च तैत्तिरीयकम् । "सुवीर्योमर्या यथा गोपायत इति । तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्" [तै० ब्रा० २. २. १०. ४] इति । ❀ पाणिनिना तु राजसूयसूर्येत्यादिना क्यबन्तो निपातितः । क्यपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ❀ । अयमपि वृष्टिद्वारा सर्वेषां पोषकत्वात् पिता । श्रूयते हि । "यदा खलु

वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति” [तै० सं० २. ४. १०. २] इति ॥

अनेन सूक्तेन क्रियमाणेषु कर्मसु पर्जन्यमित्रादयो देवतात्वेन मन्त्रवर्णाद् अवगन्तव्याः । यदाह

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रलिङ्गेन चेष्यते ।
देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम् इति ॥

यदि इह कर्मसु विनियुज्यमाना मन्त्रा उच्चारणमात्रेण अदृष्टजनकाः स्युः तदा अनुष्ठेयार्थपरत्वाभावाद् देवतानाम् असिद्धिर्भवेत् । न च तथा । मन्त्राणाम् अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वस्य प्रमाणलक्षणे “तदर्थशास्त्रात्” [जै० १. २. ३१] इत्यधिकरणे निर्णीतत्वात् । तथा हि । “उरु प्रथस्व” [तै० सं० १. १. ८. १] इत्यादिमन्त्रोच्चारणस्य किम् अदृष्टं प्रयोजनम् उत अनुष्ठेयार्थप्रतिपत्तिरिति । अदृष्टमेवेति तावत् प्राप्तम् न तु प्रथिनादिलक्षणस्यार्थस्य अवगतिः । तस्य ब्राह्मणवाक्येनापि भासमानत्वात् । “उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति” इति हि ब्राह्मणवाक्यम् ॥ नैतद् युक्तम् । अर्थप्रत्यायनस्य दृष्टप्रयोजनस्य संभवे सति केवलादृष्टस्य कल्पयितुम् अशक्यत्वात् । तस्माद् दृष्टम् अर्थानुस्मरणमेव यागप्रयोगे मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनम् । ब्राह्मणवाक्येनापि अर्थानुस्मरणसंभवे मन्त्रेणैव अनुस्मरणीयम् इति यो नियमः तस्य दृष्टासंभवात् अदृष्टं प्रयोजनम् अस्तु । यदाहुः

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किम् अदृष्टैकहेतवः ।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनाद्यवभासकाः ॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।
न तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरम् अदृष्टतः । इति ॥

सम्पूर्ण जगत्को अपने २ व्यापारोंमें प्रेरित करने वाले, अथवा जगत्के विधाता परमेश्वरके द्वारा प्रकाश और वर्षण आदि

व्यापारोंमें प्रेरित, अथवा आकाशमें विचरण करनेवाले,† अथवा शोभन वीर्य वाले अपरिमित बलशाली सूर्यको हम शरका पिता जानते हैं, हे रोगिन्! ऐसे शरसे मैं तेरे शरीरके रोगोंका उपशमन करता हूँ। पृथिवीमें तेरा निषेचन हो, बाल् शब्द करता हुआ तेरा मूत्र बाहर आवे‡ ॥ ५ ॥

---

† ब्रह्मविदा उपनिषत् ८ में कहा है, कि—"भीषास्मात् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः—परमेश्वरके भयसे पवन चलता है और परमेश्वर के भयसे सूर्य उदित होता है"। और तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।१०।४ में भी कहा है, कि—'सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत इति। तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्-सुन्दर वीर्य वाला सूर्य रक्षा करता है। यही सूर्यका सूर्यत्व है" सूर्य भी वृष्टिके द्वारा सबका पोषक होनेसे पिता है। तैत्तिरीय संहिता २।४।१०।२ में कहा है, कि—"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति—जब सूर्य तिरछी किरणोंसे घूमता है, तब वर्षा करता है।"

‡ इस सूक्तके द्वारा किये जाने वाले कर्मोंमें मन्त्रवर्णसे पर्जन्य और मित्र आदि देवतारूपसे ग्रहण करने चाहियें। अर्थात् इन मन्त्रोंका अमुक २ देवता समझना चाहिये। इसी बातको कहा है, कि—

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रलिङ्गेन वेष्यते।
देवतासङ्गतिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्॥

तद्धितसे चतुर्थीसे वा मन्त्रलिङ्गसे देवताकी सङ्गति की जाती है इनमें अगला २ प्रमाण दुर्बल है।

"यदि यहाँ पर कर्मोंमें विनियुज्यमान मन्त्र उच्चारणमात्रसे ही अदृष्टजनक हों तो अनुष्ठेयार्थपरत्वके अभावके कारण देवताओं की असिद्धि होसकती है।" यह शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि—जैमिनीयसूत्र १।२।३१ "तदर्थशास्त्रात्" इस अधि-

षष्ठी ॥

यदा॒न्त्रेषु॑ ग॒वीन्योर्यद्व॒स्ताव॑धि॒ संश्रु॑तम् ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालिति॑ सर्व॒कम् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒न्त्रेषु॑ । ग॒वी॒न्योः । यत् । व॒स्तौ॑ । अधि॑ । सम्ऽश्रु॑तम् ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ६ ॥

आन्त्रेषु उदरान्तर्गतेषु पुरीतत्सु । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । यत् मूत्रं संश्रितं समवस्थितं रोगवशाद् यथाकालं बहिरनिर्गच्छत्

करणमें मन्त्रोंका प्रमाणलक्षण अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्व (अनुष्ठान किये जानेवाले अर्थके प्रकाश) को माना है । इसी बातको स्पष्ट करते हैं, कि–"उरु प्रथस्व" [तैत्तिरीय संहिता १ । १ । ८ । १] इत्यादि मंत्रके उच्चारणका क्या अदृष्ट प्रयोजन है अथवा अनुष्ठेय अर्थका ज्ञान ? तो पहिले अदृष्टकी ही प्राप्ति होती है, यथा–प्रथन आदि लक्षण वाले अर्थका ज्ञान नहीं होता । यह बात ब्राह्मणवाक्यसे भी स्पष्ट है, कि–'उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति'

किन्तु यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि–अर्थप्रत्यायन (अर्थका निश्चय करानारूप) दृष्टप्रयोजनके होते हुए केवल अदृष्टकी कल्पना करना अशक्य है । इस कारण दृष्ट अर्थका अनुस्मरण ही यागप्रयोगमें मंत्रोच्चारणका प्रयोजन है । और ब्राह्मणवाक्यों में भी "अर्थानुस्मरण सम्भव होने पर मंत्रसे ही अनुस्मरण करना चाहिये" यह जो नियम है, तहाँ दृष्ट असम्भव होने पर अदृष्ट प्रयोजन होसकता है । इसी बातको कहा भी है, कि–"मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः । यागेषूत पुरोडाशप्रथनाद्यवभासकाः ॥ ब्राह्मणेनापि तज्ज्ञानात्मंत्रा पुण्यैकहेतवः । न तज्ज्ञानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः ॥

निरुद्धम् अभूत् तथा गवीन्योः। आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते। तयोरपि यत् मूत्रं संश्रितम् तथा वस्तौ। धनुराकारो मूत्राशयो वस्तिरुच्यते। तथापि यत् मूत्रं संश्रितम् अस्ति ते तव उक्तस्थानेषु निरुद्धं तत् मूत्रम् एव एवम्। ❁ अन्त्यलोपश्छान्दसः। निपातस्य च इति सांहितिको दीर्घः। एवमादीनामन्तः [फि० ४. १४] इत्यन्तोदात्तत्वम् ❁। यथापूर्वं मुच्यतां निर्गच्छतु। निर्गमनप्रकारमेव आह। सर्वकं सर्वं तत् मूत्रम्। अव्ययसर्वनाम्नाम् अकच् प्राक् टेः इति अकच्। चितः सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम् इति सप्रकृतिकस्य प्रत्ययस्य चितः इत्यन्तोदात्तता ❁। तत् मूत्रं बाल्। अनुकरणशब्दोयम्। इति एवमात्मकं शब्दं कुर्वत् बहिः शरीराद् बाह्यप्रदेशे। मुच्यताम् इति संबन्धः॥

रोगके कारण जो मूत्र बाहरको न निकल कर पेटके भीतर की नाड़ियोंमें भरा हुआ है, गवीनी † नाड़ियोंमें जो मूत्र भरा हुआ है और जो मूत्रबस्ति ‡ में भरा हुआ है, वह तेरा सारा मूत्र बाल् शब्द करता हुआ (पहिलेकी समान) निकल जावे ॥६॥

सप्तमी ॥

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र। ते। भिनद्मि। मेहनम्। वर्त्रम्। वेशन्त्याःऽइव।
एव। ते। मूत्रम्। मुच्यताम्। बहिः। बाल्। इति। सर्वकम् ॥७॥

---

† उदरकी नाड़ियों (आँतों) से निकले हुए मूत्रको मूत्राशयमें पहुँचानेवाली पार्श्वों (करवटों) की दो नाड़ियें गवीनी कहलाती हैं।

‡ धनुषके आकार वाला मूत्राशय बस्ति कहलाता है।

हे मूत्रव्याधिपीडित ते तव मेहनम् । मिहति सिञ्चति अनेनेति मेहनं मूत्रनालः । ❀ करणे ल्युट् । लिति इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तः ❀ । तत् मेहनं प्र भिनद्मि लोहशलाकया मूत्रनिर्गमनार्थं विदारयामि । ❀ व्यवहिताश्च इति प्रोपसर्गस्य क्रियापदेन संबन्धः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । वर्तम् । वर्तते प्रवहति जलम् अत्रेति वर्तो मार्गः । ❀ वृतु वर्तने । अस्माद् अधिकरणे घञ् ❀ । तं वेशन्त्या इव । विशन्ति तिष्ठन्ति अस्मिन् आप इति वेशन्तः पल्वलम् । ❀ विश प्रवेशने । जॄविशिभ्यां झच् [उ० ३. १२६] इति झच् प्रत्ययः । झोन्तः इति झस्यान्तादेशः ❀ । तत्र भवा आपो वेशन्त्या । ❀ भवे छन्दसि इति यत् ❀ । ता यथा स्वनिर्गमनमार्गं विदारयन्ति तथेत्यर्थः । एव एवम् इत्थं मूत्रनिरुद्धनिःसरणाय मार्गस्य कृतत्वात् ते मूत्रं मुच्यताम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

हे मूत्रकी व्याधिसे पीड़ित ! मैं तेरे मूत्रनालको मूत्र निकालने के लिये लोहशलाकासे विदारता हूँ (तहाँ दृष्टान्त यह है, कि-) जैसे जल जल निकलनेके मार्गको विदारते हैं । इसीप्रकार रुके हुए मूत्रके निकलनेका मार्ग कर दिया है अत एव तेरा सारा मूत्र बाल् शब्द करता हुआ बाहरको निकल जावे ॥ ७ ॥

विषि॑तं ते॑ वस्तिबि॒लं॑ स॑मु॒द्रस्यो॑द॒धेरि॑व ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां॑ ब॒हिर्बालिति॑ सर्व॒कम् ॥ ८ ॥

विऽसि॑तम् । ते॒ । व॒स्ति॒ऽबि॒लम् । स॒मु॒द्रस्य॑ । उ॒द॒धेःऽइ॑व ।
ए॒व । ते॒ मू॑त्रम् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ स॒र्व॒कम् ॥ ८ ॥

अष्टमी ॥

हे मूत्ररोगार्त ते तव वस्तिबिलं वस्तिद्वारं व्याधिवशात् निरुद्धं मूत्रवर्त्म विषितं विमुक्तं मूत्रनिःसरणयोग्यम् अस्तु । ❀ पो अन्त-

कर्मणि । अस्माद् विपूर्वात् निष्ठा द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति इति इत्त्वम् । उपसर्गात् सुनोतीत्यादिना षत्वम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । समुद्रस्य । समुनत्ति स्वकीयेन जलेन कृत्स्नं जगत् क्लेदयतीति समुद्रः । ❀ उन्दी क्लेदने । स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिदृपिवन्द्युन्दीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः । समुद्रं यास्कस्तु बहुधा निरवोचत् । समुद्रः कस्मात् । समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समाभिद्रवन्त्येनमापः संमोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वेति [नि० २. १०] ❀ । उदधेः । उदकानि धीयन्ते धार्यन्तेस्मिन्निति उदधिः । अनेन बिलवदवस्थितेषु नदीमुखेषु समुद्रजलस्य निःसरणयोग्यता उक्ता । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः । अस्मात् कर्मण्यधिकरणे च इति किप्रत्ययः । आतो लोप इटि च इत्याकारलोपः । पेषंवासवाहनधिषु च इत्युदकशब्दस्य उदभावः । गतिकारकोपपदात् कृत् इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तता ❀ । उदकपूर्णसमुद्रस्य नदीमुखलक्षणं जलनिःसरणद्वारं यथा विवृतं भवति एवं वस्तिबिलमपि विवृतं भवत्वित्यर्थः । एव एवम् । उक्तप्रकारेण । वस्तिबिले विषिते सतीत्यर्थः ॥ शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

हे मूत्ररोगसे पीड़ित ! जलपूर्ण समुद्र † का नदीमुखलक्षण (नदीका मुहानारूप) द्वार जैसे खुला हुआ होता है, तैसे तेरे व्याधिवश रुके हुए मूत्राशयके द्वारको मैंने खोल दिया है, अत एव तेरा सारा मूत्र बालू शब्द करता हुआ बाहरको निकल जावे ८

---

† निरुक्त २ । १० में यास्कने समुद्र शब्दकी अनेक प्रकारसे व्युत्पत्तिकी है, कि—जिसमेंसे जल उफनता है, जिसमेंको जल दौड़ता है, जिसमें जलचर जीव आनन्द करते हैं, जिसमें बहुत सा जल है और जो अपने जलसे सारे जगत्को गीला कर देता है वह समुद्र कहलाता है ।

नवमी ॥

यथे॑षु॒का प॒राप॑त॒दव॑सृष्टाधि॒ धन्व॑नः ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालिति॑ स॒र्व॑कम् ॥ ९ ॥

यथा॑ । इ॒षु॒का । प॒रा॒ऽअप॑तत् । अव॑ऽसृष्टा । अधि॑ । धन्व॑नः ।
ए॒व । ते॒ । मूत्रं॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॑कम् ॥९॥

अज्ञाता इषुः इषुका । ❀ प्रागिवात् कः इति अज्ञातार्थे कप्रत्ययः ❀ । अधिधन्वनः ।❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। आनतज्याद् धनुषः सकाशात् अवसृष्टा विमुक्ता सती यथा येन प्रकारेण परापतत् परापतति अनिरुद्धवेगा शीघ्रं लक्ष्योद्देशं गच्छति। ❀ पत गतौ । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इति वर्तमाने लङ् । अवसृष्टेति । अवपूर्वात् सृज विसर्गे इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः इति षत्वे ष्टुत्वम् । गतिरनन्तरः इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एव एवम् ॥ शेषं पूर्ववत् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जैसे शर खेंची हुई धनुषकी प्रत्यञ्चा परसे छूट कर शीघ्रता से अपने लक्ष्य पर गिरता है, इसी प्रकार तेरा सारा मूत्र बाल् शब्द करता हुआ बाहर निकल जावे ॥ ९ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त

अम्बयो यन्तीत्यादिसूक्तत्रयेण प्रातरनुवाकानन्तरं होत्रानूच्यमानम् अपोनप्त्रीयं ब्रह्मा अनुजपति । तद् उक्तं वैताने । "अम्बयो यन्तीति त्रीण्यपोनप्त्रीयम्" इति [वै० ३. ६.] । तत्र अम्बयो यन्तीत्याद्यं सूक्तं बृहद्गणे पठितम् । तथा च सूत्रम् । "अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभुमयोभूः [१. ५, ६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] निःसालाम् [२. १४] ये अग्नयो [३. २१.]

ब्रह्मजज्ञानम् इत्येका [४. १. १] उत देवाः [४. १३] मृगारसूक्तानि [४. २३–२९] उत्तमं वर्जयित्वा अप नः शोशुचदघम् [४. ३३] पुनन्तु मा [६. १९] सस्रुषीः [६. २३] हिमवतः प्रस्रवन्ति [६. २४] वायोः पूतः पवित्रेण [६. ५१] शं च नो मयश्च नः [६. ५७. ३] अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् [६. ५९] मह्यमापो [६. ६१] वैश्वानरो रश्मिभिः [६. ६२] यमो मृत्युः [६. ९३] विश्वजित् [६. १०७] संज्ञानं नो [७. ५४] यद्यन्तरिक्षे [७. ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियं [७. ६९] शिवा नः [७. ७१] शं नो वातो वातु [७. ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् [११.६]" इति कौ [१.९]॥ लघुगणेपि एतत् सूक्तं पठितम्। सूत्रितं हि। "अम्बयो यन्ति [१.४] शंभुमयोभूः [१.५.६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] शंतातीयं [४. १३] यद्यन्तरिक्षे [७. ६८] पुनर्मैत्विन्द्रियं [७. ६९] शिवा नः [७. ७१] शं नो वातो वातु [७. ७२] अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् [११. ६]" इति [कौ० १. ९]। तत्र शन्तातीयमिति आ त्वागमं शंतातिभिरिति शंतातिशब्दयुक्तत्वात् उत देवा [४. १३] इति। अयमेव बृहद्गणापेक्षया लघुत्वात् लघुगण इत्युच्यते। तथा शंतातीयसूक्तप्रयोगात् शंतातीयो गण इत्युच्यते। अतः परिशिष्टे "शंतातीयेन तिलान् जुहोति" [प० ८. १] इत्यत्र अयमेव गणः प्रत्येतव्यः॥ अपां सूक्तेषु च एतत् सूक्तं पठितम्। अम्बयो यन्ति [१. ४] शंभुमयोभूः [१.५.६] हिरण्यवर्णाः [१. ३३] यददः [३. १३] पुनन्तु मा [६.१९] सस्रुषीः [६. २३] इत्यादीनि अपां सूक्तानि। अतः तेषां गणानां यत्रयत्र विनियोगः तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगो द्रष्टव्यः॥

तथा गवां रोगोपशमनपुष्टिप्रजननकर्मसु अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्रितं सलवणं केवलं वा उदकं गाः पाययेत्। तद्ध उक्तं कौशिकसूत्रे। "अम्बयो यन्ति" इति प्रक्रम्य "गा लवणं पाययत्युप-

तापिनीः प्रजननकामाः प्रपाम् अवरुणद्धि” इति [कौ० ३. २]॥

तथा सर्वरोगभैषज्यकर्मणि अनेनैव सूक्तेन आज्यहोमं पलाशोदुम्बरादिशान्तवृक्षसमिदाधानं च कुर्यात्। सूत्रितं च। “अम्बयो यन्ति [१. ४] वायोः पूतः [६. ५१] इति च शान्ताः” इति [कौ० ४. १]॥

तथा लाभालाभजयपराजयाद्यभिलषितकर्मणां सिद्ध्यसिद्धिविज्ञानार्थम् अनेनैव सूक्तेन पच्यमानक्षीरौदनेध्माधानकुशस्तम्बपाठा अनुमन्त्रयेत्। तत्रौदनादीनां क्रमेण पाके प्रसारणे समसंख्यायां विकासे स्वकार्यसिद्धिं जानीयात् इतरथा तु असिद्धिम्। तद्वदेव जयपरिज्ञाने संग्रामभूमिवेदिकापरीक्षणं च अनेनैव कुर्यात्। सूत्रितं च। “अम्बयो यन्तीति क्षीरौदनोत्कुचस्तम्बपाठाविज्ञानानि सांग्रामिकं वेदिविज्ञानम्” इति [कौ० ५. १]॥

तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकामः अनेन सूक्तेन मरुद्भ्यो मान्त्रवर्णिकीभ्यो देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः आज्यहोमः काशदिविधुवकवेतसाख्या ओषधीरेकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम् तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु प्लावनम् श्वशिरसो मेषशिरसश्च अभिमन्त्रितस्य अप्सु प्रक्षेपणम् मानुषकेशजरदुपानहां वंशाग्रे बन्धनम् तुषसहितम् आमपात्रम् अभिमन्त्रितोदकेन संप्रोक्ष्य त्रिपदे शिक्ये निधाय अप्सु प्रक्षेपणं च इत्येतानि अभिवर्षणकर्माणि संपातिताभिमन्त्रितघटोदकेन आप्लावनम् अवसेचनं च कुर्यात्। अत्र “अर्थम् उत्थास्यन्” इति प्रक्रम्य “अम्बयो यन्ति शंभुमयोभूरित्यादि अभिवर्षणावसेचनानाम्” इत्येतदन्तं सूत्रं द्रष्टव्यम् [कौ० ५. ५]। अत्र अमूर्या इत्यनया परिहरणानन्तरम् आग्नीध्रीये उपसाद्यमाना वसतीवरीः अनुमन्त्रयते। तद् उक्तं वैताने। “वसतीवरीः परिह्रियमाणाः” इत्युपक्रम्य “आग्नीध्रीयेवस्थाप्यमाना उत्तरया अमूर्या इति च” इति [वै० ३. ६]॥

अम्बयो यन्तीत्यादि तीन सूक्तोंसे, प्रातरनुवाकके अनंतर होता से न कहे हुए अपोनप्त्रीयका ब्रह्मा अनुजपन करता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि–"अम्बयो यन्तीति" ये तीन अपोनप्त्रीय सूक्त हैं (वैतानसूत्र ३।६)। इनमें अम्बयोयन्ति० नामक पहिला सूक्त बृहद्गणमें कहा है। यथा-कौशिकसूत्र १।९ में कहा है, कि–"अम्बयो यन्ति १।४ शंभुमयोभूः १।५।६, हिरण्यवर्णा १।३३, निःसालाम् २।१४, ये अग्नयो ३।२१, ब्रह्मजज्ञानम् इत्येका ४।१।१, उत देवाः ४।१३, मृगारसूक्तानि ४।२३–२९, उत्तमं वर्जयित्वा अप नः शोशुचदघम् ४।३३, पुनन्तु मा ६।१९, सस्रुषी ६।२३, हिमवतः प्रस्रवन्ति ६।२४ वायोः पूतः पवित्रेण ६।५१, शं च नो मयश्च नः ६।५७।३, अनुडुद्भ्यस्त्वं प्रथमम् ६।५९, मह्यमापो ६।६१, वैश्वानरो रश्मिभिः ६।६२, यमो मृत्युः ६।९३, विश्वजित् ६।१०७, संज्ञानं नो ७।५४, यदन्तरिक्षे ७।६८, पुनर्मैत्विन्द्रियं ७।६९, शिवानः ७।७१, शं नो वातो वातु ७।७२, अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् ११।६॥" लघुगणमें भी इस सूक्तका पाठ है। कौशिक सूत्र १।९ में कहा है, कि—"अम्बयो यन्ति १।४, शंभुमयो भूः १।५।६ हिरण्यवर्णा १।३३, शन्तातीयं ४।१३, यदन्तरिक्षे ७।६८, पुनर्मैत्विन्द्रियम् ७।६९, शिवानः ७।७१, शं नो वातो वातु ७।७२, अग्निं ब्रूमो वनस्पतीन् ११।६, (इनमें आत्वागमं शन्तातिभिः–में शन्ताति शब्दका पाठ आने से यही शन्तातीय समझा जाता है) उत देवा ४।१३" यही बृहद्गणकी अपेक्षा छोटा होनेसे लघुगण कहलाता है। तथा शन्तातीय सूक्तके योगसे शंतातीयगण कहलाता है। अतः परिशिष्टमें जहाँ "शन्तातीयेन तिलान् जुहोति-शन्तातीयसे तिलोंका होम करे" (प० ८।१) कहा है, तहाँ इसी गणको समझना

चाहिये। अपांसूक्तोंमें भी इस सूक्तका पाठ है। अम्बयो यन्ति १।४, शम्भुमयो भूः १।५।६, हिरण्यवर्णाः १।३३। यददः ३।१३, पुनन्तु मा ६।१६, सस्रुषी ६।२३ इत्यादि अपां सूक्त हैं। अतः इन गणोंका जहाँ २ विनियोग हो तहाँ सर्वत्र इसका विनियोग करना चाहिये॥

इसी प्रकार गौओंके रोगोंकी शांति, पुष्टि और प्रजननरूप कर्मोंमें इसी सूक्तके द्वारा लवणयुक्त वा लवणसे रहित जलको अभिमन्त्रित करके गौओंको पिलावे। इस विषयका कौशिकसूत्र में वर्णन है। यथा-"गा लवणं पाययति प्रजननकामाः प्रपां अवरुणद्धि" [कौशिकसूत्र ४।१]॥

इसी प्रकार सब रोगोंकी चिकित्सारूप कर्ममें इसी सूक्तसे घृतहोम और पलाशोदुम्बरादिशान्तसमिधाधान भी करे। सूत्रमें भी कहा है, कि-"अम्बयो यन्ति (१।४), वायोः पूतः (६।५१) ये शांत हैं" [कौशिकसूत्र ४।१]॥

इसीप्रकार लाभ हानि तथा जय पराजय आजय आदि अभिलषित कर्मोंमें सिद्धि होगी वा असिद्धि होगी, इन बातोंको जानने के लिये बनाये जाने वाले क्षीर, ओदन, इध्माधान, कुशस्तम्ब, पाठका इसी सूक्तसे अनुमन्त्रण करे। इनमें ओदन आदिका क्रमशः पाक होजाने पर फैलावे, यदि उनकी संख्या सम निकले तो समझे कि-मेरा कार्य सिद्ध होगा और विषमसंख्या निकले तो समझे, कि-मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार विजय का निश्चय करनेके लिये संग्रामभूमिवेदिकाकी परीक्षा भी इसी सूक्तसे करे। सूत्रमें भी कहा है। "अम्बयो यन्तीति क्षीरौदनोत्कुचस्तम्बपाठाः विज्ञानानि सांग्रामिकं वेदिविज्ञानम्" इति (कौशिकसूत्र ५।१)॥

इसी प्रकार अर्थोत्थापनमें विघ्नकी शांतिको चाहने वाला

इस सूक्तके द्वारा मांत्रवर्णिक (मन्त्रके द्वारा जाननेमें आनेवाले) मरुत् देवताओंके लिये क्षीरौदनहोम, घृतहोम करे, और काशदिविधुकवेतसा नामवाली औषधियोंको एक पात्रमें रखकर संपात और अभिमन्त्रण करे फिर उनका नीचे मुख करके जलके बीच में लेजाय उन सम्पातित और अभिमन्त्रित काश आदिको जल में डुबावे, अभिमन्त्रित कुक्कुरके शिर और मेढ़के शिरको जल में रक्खे, मनुष्यके केश और पुराने जूतोंको बाँसके अग्रभागमें बाँधे, तुषसहित कच्चे पात्रको अभिमन्त्रित जलसे संप्रोक्षित करके त्रिपद (तीन डोरे वाले) छींके पर रख कर जलमें डाल दे। ये अभिवर्षणके कर्म हैं, संपातित अभिमन्त्रित घटके जलसे आप्लावन और अवसेचन भी करे। कौशिकसूत्र ५ । ५ में कहा है, कि–“अर्थम् उत्त्थास्यन्” यहाँसे “अम्बतो यन्ति शम्भुमयोभूरित्यादि अभिवर्षणावसेचनानाम्” तकका सूत्र देखना चाहिये यहाँ पर अमूर्या ऋचासे, परिहरणके अनन्तर आग्नीध्रीयमें पास में रक्खी हुई वसतीवरीका अनुमन्त्रण होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा कि–“वसतीवरीः परिह्रियमाणाः” इत्युपक्रम्य “आग्नीध्रेयेऽवस्थाप्यमाना उत्तरया अमूर्या इति च” (वैतानसूत्र ३ । ६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒म्बयो॑ य॒न्त्यध्व॑भिर्जा॒मयो॑ अध्वरीय॒ताम् ।
पृ॒ञ्च॒तीर्मधु॑ना॒ पय॑ः ॥ १ ॥

अ॒म्बयः । य॒न्ति॑ । अध्व॑ऽभिः । जा॒मयः॑ । अ॒ध्व॒रि॒ऽय॒ताम् ।
पृ॒ञ्च॒तीः । मधु॑ना । पय॑ः ॥ १ ॥

अम्बयः । अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दोपि मातृवाचित्वेन वेदे प्रसिद्धः । यथा "अम्बितमे नदीतमे" [ऋ० २. ४१. १६] इति "अम्बे अम्बाल्यम्बिके" [तै० सं० ७. ४. १९. १] इति च । कृत्स्नस्य जगतो मातृभूता आपः । "अम्बयो यन्त्यध्वभिरित्यापो वा अम्बयः" इति हि कौषीतकिब्राह्मणम् । "इन्द्राय षट् सहस्राण्यपोन्नं प्रजापतिः प्रायच्छत्ता अम्बयः" इति शाट्यायनकम् । ता आपः । अध्वरीयताम् । ध्वरो हिंसा न विद्यतेस्मिन्निति अध्वरः ज्योतिष्टोमादिर्यागः । तम् आत्मन इच्छताम्—

ननु ज्योतिष्टोमादौ अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्याः पशव आलभ्यन्ते कथं तत्र हिंसाऽभाव इति चेत् मैवम् । नात्र हिंसाया अभावं ब्रूमः । किंतु तज्जनितप्रत्यवायाभावम् । तथा हि । "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति सामान्यशास्त्रं विशेषशास्त्रक्रोडीकृतविषयपरिहारेणैव प्रवर्तत इति हि परीक्षकप्रसिद्धिः । "पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह" [तै० सं० २. ५. ८. २] इति सामान्यविहितस्य सामिधेनीपाञ्चदश्यस्य "सप्तदशानुब्रूयाद्वैश्यस्य" [तै० सं० २. ५.१०. २] इत्येवं विशेषविहितसामिधेनीसाप्तदश्यस्य विषयाननुप्रवेशेनैव प्रवृत्ते शास्त्रे निर्णीतत्वात् ।। तथा च "अग्नीषोमीयं पशुम् आलभेत" इति विशेषशास्त्रविहितविषयपरिहारेण "न हिंस्याद्" इति सामान्यशास्त्रं व्यर्थहिंसामेव अवलम्बत इति वैधहिंसाया निषिद्धत्वाभावात् नानर्थहेतुत्वम् । एतदेवाभिप्रेत्य उक्तम् अध्वर इति ।। ननु "अग्नीषोमीयं पशुम् आलभेत" इत्यादिवत् "श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यादौ अभिचारस्यापि विहितत्वात् नानर्थहेतुत्वम् इति चेत् मैवम् । श्येनादियागस्य विहितत्वेपि तत्साध्यहिंसाया अग्नीषोमीयपशुहिंसावद् विधिविषयत्वाभावेन निषेधशास्त्रानुप्रवेशाद् अनर्थत्वात् । तथा च तत्साधनभूतः श्येनयागोपि तद्द्वारा अनर्थ इति । गुरुमते तु श्येनादेरविधेयत्वम् ।

तत्र रागत एव प्रवृत्तत्वात् । तथा च श्येनवाक्यस्य अयमर्थः । अभिचारेण शत्रुं यदि जिघांससि तर्हि तव वैदिकोपायः श्येन इति रागप्राप्तायाः शत्रुहिंसायाः साधनमात्रं बोध्यते न तु यागे पुरुषः प्रवर्त्यते श्येनं कुर्विति । तथा चोक्तम् । “साध्यसाधनभावप्रतीतिमात्रपर्यवसितो हि विधिव्यापारो न प्रयोगपर्यवसितः” इति । अतः श्येनयागे विधितः प्रवृत्त्यभावेन “न हिंस्यात् सर्वभूतानि” इति निषेधशास्त्रस्य तत्रानुप्रवेशात् श्येनस्य अनर्थत्वम् ॥ एतदुदासार्थमेव “चोदनालक्षणोर्थो धर्मः” [जै० १. १. २] इत्यत्र भगवता जैमिनिना अर्थपदेन धर्मो विशेषितः ॥ नन्वेवं श्येनाङ्गभूताग्नीषोमीयपशुहिंसायाम् अपि अनर्थता प्रसज्येतेति । नैतत् । वैषम्यात् । न हि श्येनयागवत् तदितिकर्तव्यतायां रागतः प्रवर्तते पुरुषः किं तु विधित एव । तथा चोक्तम् । कामाधिकारे करणांशे रागतः प्रवृत्तिः अङ्गेषु तु वैधी इति । तद्द अलम् अतिप्रसङ्गेन । प्रकृतम् अनुसरामः ॥

अध्वरीयताम् अध्वरं सोमयागम् आत्मन इच्छतां यजमानानां जामयो भगिन्यः । क्रियमाणे व्यापारे भगिनीवत् सहायभूता इत्यर्थः । एवंभूता आपः अध्वभिर्मार्गैः चात्वालोत्करमध्यदेशरूपैः प्रसिद्धैर्वा मार्गैः यन्ति आगच्छन्ति । यागभूमिम् इत्यर्थः । ❀ यन्तीति । इण् गतौ । अदादित्वात् शपो लुक् । “इणो यण्” इति यणादेशः । “तिङ्ङतिङ” इति सर्वानुदात्तत्वम् ॥ अध्वरीयतामिति । अध्वरशब्दात् “सुप आत्मनः क्यच्” । “न च्छन्दस्यपुत्रस्य” इत्यत्र “अपुत्रादीनाम् इति वक्तव्यम्” इति स्मरणाद्द ईत्वनिषेधाभावात् “क्यचि च” इति ईत्वम् । “कव्यध्वरपृतनस्यर्चिलोपः” इति तु व्यत्ययेन न प्रवर्तते । क्यजन्तात् लटः शत्रादेशः । तत्र शपः पित्त्वाद्द अनुदात्तत्वम् । “०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०” इति शतुरनुदात्तता । क्यजकारेण सह एकादेशे

"एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति शतुरुदात्तत्वात् "शतुरनुमः०" इति आम उदात्तत्वम् ❀ ॥ किं कुर्वत्यः । मधुना स्वकीयेन माधुर्यरसेन पयः सोमरसादिकं होमद्रव्यं पयोविकारभूतम् आज्यं वा । विकारे प्रकृतिशब्दः । पृञ्चतीः पृञ्चत्यः संयोजयन्त्यः । ❀ पृची लट् । संपर्के । अस्मात् "लट् लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः । रुधादित्वात् श्नम् । "श्नसोरल्लोपः" । "उगितश्च" इति ङीप् । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । ["शतुरनुमो नद्यजादी"] इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । संपर्काद्धेतोः यन्तीत्यर्थः ॥

जिनमें ध्वर (हिंसा) ‡ नहीं होती है उन सोमयाग आदि

---

‡यहाँ शङ्का होसकती है, कि—ज्योतिष्टोम आदिमें अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य पशुओंका आलभन होता है, अतः यज्ञों (अध्वरों) में हिंसाका अभाव कैसे है ? (इसका उत्तर यह है, कि—) यहाँ हिंसाका अभाव है, यह बात हम नहीं कहते, किन्तु यह कहते हैं; कि—उससे उत्पन्न होने वाला प्रत्यवाय (दोष) नहीं लगता है । अब इस बातको प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं, कि—'न हिंस्यात् सर्वभूतानि—सब प्राणियोंको न मारे' यह सामान्यशास्त्र विशेषशास्त्रके स्वीकार किये हुए विषयको छोड़ कर ही प्रवृत्त होता है यह परीक्षकका निर्णय है । क्योंकि—"पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह—पन्द्रह सामिधेनीको कहते हैं" (तैत्तिरीय संहिता २ । ५ । ८ । २) इस सामान्यविहितपाञ्चदश्य की, 'सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य—वैश्यकी सत्रह कहे" (तैत्तिरीय संहिता २ । ५ । १० । २) इस विशेषविहितसाप्तदशके विषयमें विना प्रवेश किये हुए ही, प्रवृत्ति होती है, ऐसा शास्त्रने निर्णय किया है ॥ अत एव "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत—अग्नि और सोमदेवताके पशुका आलभन करे" इस विशेषशास्त्रसे विहित विषयको छोड़ कर "न हिंस्याद्" यह सामान्यशास्त्र व्यर्थहिंसामें ही चरि-

अध्वरों को करना चाहने वाले यजमानोंका भगिनीकी समान

तार्थ होता है। इस प्रकार वैधहिंसामें निषिद्धत्व न होनेसे उसमें अनर्थहेतुत्व नहीं है, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर अध्वर शब्दका प्रयोग किया है। (अब यहाँ एक शङ्का और उठती है, कि–) "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिकी समान "श्येनेनाभिचरत् यजेत् श्येनके द्वारा अभिचार करता हुआ यजन करे" इत्यादिमें विहित होनेसे अभिचार भी अनर्थका हेतु नहीं होगा क्या? (उत्तर) श्येन आदि याग विहित है, यह सत्य है, किन्तु तत्साध्यहिंसा अग्नीषोमीय पशुहिंसाकी समान विधिविषयक नहीं है, अत एव उसमें 'न हिंस्याद्' इस निषेधशास्त्रका प्रवेश होनेसे अनर्थत्व अवश्य है। इसी प्रकार तत्साधनभूत श्येनयाग भी तद्द्वारा अनर्थ है। गुरुमतमें तो श्येन आदिका अविधेयत्व है, क्योंकि–उसमें रागसे ही प्रवृत्ति होती है। अब श्येनवाक्यका यह अर्थ है, कि–यदि तू अभिचारसे शत्रुको मारना चाहता है तो तेरे लिये वैदिक उपाय श्येन है, इस प्रकार रागप्राप्त शत्रुहिंसाका साधनमात्र जताया है, 'तू श्येन कर' इस प्रकार पुरुषको यागमें प्रवृत्त नहीं किया है। इसी बातको कहा है, कि–"साध्यसाधनभावप्रतीतिमात्रपर्यवसितो हि विधिव्यापारो न प्रयोगपर्यवसितः।" अर्थात् साध्यसाधनभावकी प्रतीतिमात्रको दिखाने वाला विधिव्यापार प्रयोगका समर्थक नहीं होता है। अतः श्येनयागकी विधिसे प्रवृत्ति न होनेके कारण 'न हिंस्याद् सर्वभूतानि' इस निषेधका उसमें अनुप्रवेश होजाता है अत एव शयनका अनर्थत्व है। इसी लिये भगवान् जैमिनिने 'चोदनालक्षणार्थो धर्मः (जैमिनिसूत्र १।१।२) इस सूत्रमें अर्थ पदके साथ धर्मका विशेषण दिया है। (अब फिर शङ्का होता है, कि–) अग्नीषोमीय पशुहिंसा श्येनकी अङ्गभूत है अत एव उसमें भी अनर्थता आसकती है? (उत्तर)

हित करने वाले और सारे जगत्के अम्बि (माता) † रूप जल सोमरस आदि होमद्रव्यको वा पय (दूध) के विकार घृतको संयोजित करतेहुए चात्वाल उत्कर मध्यदेशरूप प्रसिद्ध मार्गोंसे वा (साधारण) मार्गोंसे यज्ञमें आते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अ॒मूर्या॑ उप॒ सूर्ये॒ याभि॑र्वा॒ सूर्यः॑ स॒ह ।
ता नो॑ हिन्व॒न्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अ॒मूः । याः । उप॑ । सूर्ये॑ । याभिः॑ । वा॒ । सूर्यः॑ । स॒ह ।
ताः । न॒ः । हि॒न्व॒न्तु॒ । अ॒ध्व॒रम् ॥ २ ॥

अमूः वृष्टिरूपेण द्युलोकाद् आगच्छन्त्यो याः जगत्कारणत्वेन प्रसिद्धा आपः सूर्ये सूर्यमण्डले उप । ❀ योग्यक्रियाध्याहारः ❀ ।

यह बात नहीं है, क्योंकि-विषमता है । श्येनयागकी समान इस कर्तव्यमें पुरुष रागसे प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु विधिसे ही प्रवृत्त होता है । इसी बातको कहा है, कि--कामाधिकारकरणांशमें रागवश प्रवृत्ति होती है और अङ्गोंमें वैधी प्रवृत्ति होती है ।

† माताके अर्थके वाचक अम्बा शब्दकी समान अम्बिशब्द भी वेदमें माताका वाचक प्रसिद्ध है । यथा--"अम्बितमे नदीतमे" (ऋग्वेद २ । ४१ । १६) । तथा "अम्बे अम्बाल्यम्बिके" (तैत्तिरीयसंहिता ७ । ४ । १६ । १) । जल सम्पूर्ण जगत्की मातारूप है । कौषीतकिब्राह्मणमें कहा है, कि--"अम्बयो यन्त्यध्वभिरित्यापो वा अम्बयः ।" और शाट्यायनमें कहा है, कि--"इन्द्राय षट्सहस्राण्यपोन्नं प्रजापतिः प्रायच्छत्ता अम्बयः ।--प्रजापतिने इन्द्रको छः सहस्र जल अन्न दिये, वे अम्बि हैं ॥

उपलक्ष्यन्ते । "आपः सूर्ये समाहिताः" [तै० आ० १. ८. १] इति हि श्रुतिः । अपां प्राधान्याभिप्रायेणोक्तम् । सूर्यस्यापि तद्व् आह । याभिः मण्डलसमीपस्थाभिरद्भिः सह । उक्तवैपरीत्यद्योतनार्थो वाशब्दः । सूर्यो वर्तते । ❀ "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति विहितया तृतीयया अपाम् अप्राधान्यं गम्यते ❀ । ता उक्तलक्षणा आपः नः अस्माकम् अध्वरं यज्ञं क्रियमाणं कर्म हिन्वन्तु प्रीणयन्तु फलदानसमर्थं कुर्वन्तु । ❀ अध्वरमिति । ध्वृ हूर्च्छने । "पुंसि संज्ञायाम् ०" इति घः । न विद्यते ध्वरो यस्मिन्निति बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । ध्वरतिर्हिंसाकर्मा । तत्प्रतिषेधः [नि०१.८] इति हि यास्कः । श्रुतिस्त्वेवं निर्ब्रूते । "अध्वर्तव्या वा इमे देवा अभूवन्निति तदध्वरस्याध्वरत्वम्" [तै०सं०३.२.२.३.] इति । हिन्वन्त्विति । हिविः प्रीणनार्थः । इदित्त्वात् नुम् ❀ ॥

वृष्टिरूपमें द्युलोकसे आते हुए, जगत्के कारणरूपसे प्रसिद्ध जो जल सूर्यमण्डलमें ‡ उपलक्षित होते हैं और सूर्य भी मण्डलके समीप स्थित जिन जलोंके साथ रहता है ऐसे जल हमारे अध्वर (यज्ञ) को फलदानमें समर्थ करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒पो दे॒वीरुप ह्वये॒ यत्र॒ गाव॒ः पिब॑न्ति नः ।
सिन्धु॑भ्य॒ः कर्त्वं॑ ह॒विः ॥ ३ ॥

अ॒पः । दे॒वीः । उप॑ । ह्व॒ये॒ । यत्र॑ । गाव॑ः । पिब॑न्ति । न॒ः ।
सिन्धु॑ऽभ्यः । कर्त्व॑म् । ह॒विः ॥ ३ ॥

---

‡ तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ । १ में कहा है, कि—"आपः सूर्ये समाहिताः—जल सूर्यमें प्रतिष्ठित हैं" ॥

देवीः द्योतमानाः देवतारूपा वा अपः उदकानि उपह्वये समीपम् आह्वयामि । क्रियमाणस्य कर्मणः परिपूर्त्यर्थम् इत्यर्थः । यत्र सजलेषु नदीतटाकादिषु नः अस्माकं गावः पिबन्ति । अप इति शेषः । तेभ्यः उपह्वयामि इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ अप इति । "ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति शस उदात्तत्वम् । पिबन्ति । पा पाने । शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना पिबादेशः । "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति प्रतिषेधात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः ❀ । आह्वानस्य प्रयोजनम् आह । सिन्धुभ्यः स्यन्दनशीलाभ्यः ताभ्यः अब्देवताभ्यः हविः आज्यादिरूपं कर्त्वं कर्तव्यम् । ❀ "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" इति करोतेस्त्वन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

जलपूर्ण नदी तालाव आदिमें जहाँ पर हमारी गौएँ जल पीती हैं उन गौओंके लिये मैं जलके अधिष्ठात्री देवताका आह्वान करता हूँ, क्रियमाण कर्मकी पूर्तिके लिये प्रकाशमय जलोंका आह्वान करता हूँ (आह्वानका प्रयोजन यह है, कि—) स्यन्दनशील जलदेवताओंसे घृत आदि हवि कर्तव्य है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अप्स्व १ न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो
भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्ऽसु । अन्तः । अमृतम् । अप्ऽसु । भेषजम् ।
अपाम् । उत । प्रशस्तिऽभिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः ।
गावः । भवथ । वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये अमृतम् अमरणसाधनं देवोपभोग्यं पीयूषम् । अस्तीति शेषः । समुद्रमथनेन अमृतस्य उत्पन्नत्वात् । यद्वा अमृतम् अमरणसाधनम् अन्नम् । श्रूयते हि । “अद्भ्यो वा अन्नं जायते” [तै०ब्रा०३.८.१७.५] इति । अथ वा मूर्छितस्य उदकावसेकेन उत्क्रान्तानामपि प्राणानां पुनः शरीरे प्रवेशदर्शनात् अप्सु अमृतम् अमरणसाधनम् अस्तीति गम्यते । अनेनैवाभिप्रायेण तैत्तिरीयके समाम्नायते । “अमृतं वा आपस्तस्मादद्भिरवतान्तमभिषिञ्चन्ति नार्तिमार्च्छति सर्वम् आयुरेति” इति [तै० सं ५.६.२.२.] । ❀ “ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः” इति अप्शब्दाद् उत्तरस्या विभक्तेरुदात्तत्वम् । अन्तःशब्दः स्वरादिषु अन्तोदात्तः पठितः । संहितायाम् “उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य” इति अन्तर्शब्दाकारस्य स्वरितत्वम् । न विद्यते मृतं मरणं येनेति बहुव्रीहौ “नञ् सुभ्याम्” इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते “नञो जरमरमित्रमृताः” इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । तथा अप्सु उदकेषु मध्ये भेषजं सर्वरोगनिवारकम् औषधम् । अस्तीति शेषः । उदकरसेन प्रवृद्धानाम् ओषधीनां रसस्यैव रोगनिवारकत्वात् । ईदृशीनाम् अपाम् उपजीवनेन हे जनाः यूयं सर्वे अमृता अरोगाश्च भवतेत्यर्थः । उत अपि च हे अश्वाः अस्मदीयास्तुरगाः यूयम् अपाम् उदीरितप्रभावोपेतानां प्रशस्तिभिः प्रभावविशेषैः वाजिनः । वाज इति बलनाम । तद्वन्तो भवथ । ❀ वाजशब्दाद् भूम्नि मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ वाजी वेजनवान् इति [नि०२.२८] यास्केनोक्तत्वात् ❀ । वेगयुक्ता भवथेत्यर्थः । तथा हे गावः यूयमपि पीतानाम् अपां प्रभावेन वाजिनीः वाजिन्यः बलयुक्ता भवथ । यद्वा वाजः अन्नं क्षीररूपम् । “अन्नं वै वाजः” [तै०सं०१.७.४.२] इति श्रुतेः । तद्युक्ता भवथ । प्रभूतक्षीरा भवथेत्यर्थः । ❀ वाजिन्-

शब्दात् "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप् । जसि वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जलोंके भीतर अमृत † है, तथा जलके भीतर सब रोगोंकी निवारक औषधिये हैं (क्योंकि–जलके द्वारा बढ़ी हुई औषधियों का रस ही रोगोंको दूर करता है) तात्पर्य यह हैं, कि–हे मनुष्यो ! ऐसे जलके उपजीवनसे तुम अमर और नीरोग बनो । और हे हमारे अश्वो ! ऐसे प्रकट प्रभाववाले जलकी प्रभाओंसे तुम बलवान् और वेगवान् बनो, और हे गौओ ! तुम भी पिये हुए जल के प्रभावसे बलवती और क्षीररूप अन्न वाली ‡ बनो अर्थात् बहुतसा दूध देने वाली बनो ॥ ४ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त

---

† समुद्रका मथन करनेसे अमृत उत्पन्न हुआ है अतः जलमें अमरणका साधन देवताओंके पीने योग्य अमृत है ॥ और अमृत अर्थात् अमरणका साधन अन्न भी जलमें है । तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ८ । १७ । ५ में कहा है, कि–"अद्भ्यो वा अन्नं जायते–जल से अन्न उत्पन्न होता है" ॥ अथवा मूर्छित पुरुष पर जल छिड़कने पर उत्क्रांत प्राणोंको शरीरमें फिर प्रवेश करते हुए देखा है अतः जलमें अमृत–अमरणसाधन–है यह प्रतीत होता है । इसी अभिप्रायसे तैत्तिरीयकमें कहा है, कि–" अमृतं वा आपस्तस्मादद्भिरवतांतमभिषिञ्चंति नार्तिमार्च्छति सर्वं आयुरेति " (तैत्तिरीयसंहिता ५ । ६ । २ । २)–जल अमृत है जो इस जलका अभिषेक करता है उसे आर्ति नहीं होती और वह पूर्ण आयुको पाता है । अतः जलसे रक्षा करे ॥

‡ तैत्तिरीयसंहिता १ । ७ । ४ । २ में कहा है, कि–"अन्नं वै वाजः–वाज अन्न (का वाचक है) ।"

"आपो हि ष्ठा" इत्यादिसूक्तद्वयस्य ऐन्द्राग्नपशौ वपाहोमानन्तरं मार्जने विनियोगः । उक्तं वैताने । "शंभुमयोभुभ्यां चात्वाले मार्जयन्ति" [वै० २.६] इति ॥

अत्र "आपो हि ष्ठा" इति सूक्तम् अग्निचयने उखार्थम् आहृतस्य मृत्पिण्डस्य पलाशकषायोदकेन संसृज्यमानस्य अनुमन्त्रणे विनियुक्तम् । उक्तं वैताने । "आपो हि ष्ठेति पलाशफाण्टेनाभिषिच्यमानम्" इति [वै० ५.१] ॥

एतदेव बृहद्गणे लघुगणे अपां सूक्तेषु च पठितम् । तेषां यत्रयत्र विनियोगः तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

सलिलगणे च एतत् सूक्तं पठितम् । सूत्रितं हि । "शंभुमयोभुभ्याम् [१.५.६] ब्रह्मजज्ञानम् [४.१] अस्य वामस्य [९.९] यो रोहितः [१३.१] उदस्य केतवः [१३.२] मूर्धाहम् [१६.३] विषासहिम्" [१७.१] इति [कौ० ३.१.] । अयं सलिलगणः । अतः "सलिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति" [कौ० ३.१] "सलिलैः सर्वकामः" [कौ० ३.७] इत्यादौ अस्य विनियोगः ॥

तथा गवां रोगोपशमनपुष्टिप्रजननकर्मसु अर्थोत्त्थापनविघ्नशमनकर्मणि च पूर्वसूक्तवद् विनियोगः ॥

वास्तुसंस्कारकर्मणि च अनेन सूक्तेन उदकुम्भेन गृहभूमिम् आसिञ्चेत् । तथा च सूत्रम् । "निवेशनानुचरणानि" इति प्रक्रम्य "शंभुमयोभुभ्यां विष्यन्दयति" इति [कौ० ५.७] ॥

तथा "आदित्यां श्रीतेजोधनायुष्कामस्य" इति [न०क० १७] विहितायाम् आदित्याख्यायां महाशान्तौ अस्य विनियोगः । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "सलिलगण आदित्यायाम्" [न०क० १८] ॥

"आपो हि ष्ठा" इत्यादि दो सूक्तोंका ऐन्द्राग्न पशु पर वपाहोम के अनन्तर मार्जन करनेके लिये विनियोग है । इस बातको वैतान-

सूत्रमें कहा है । यथा—शंभुमयोभुभ्यां चात्वाले मार्जयंति" [वैतानसूत्र २ । ६] ॥

इनमें "आपो हि ष्ठा" सूक्तका अग्निचयनमें कुण्ड बनानेके लिये लाए हुए पलाशकषायोदक (पत्तोंसे कषाय हुए जल) से बनते हुए मृत्पिण्डके अनुमन्त्रणमें विनियोग है । इसी बात को वैतानसूक्त ५ । १ में कहा है, कि—"आपो हि ष्ठेति पलाशफाण्टेनाभिषिच्यमानम् ॥"

यह सूक्त बृहद्गण लघुगण और अपांसूक्तोंमें भी आया है, अतः उनका जहाँ २ विनियोग होगा, तहाँ इसका विनियोग भी करना चाहिये ॥

सलिलगणमें भी इस सूक्तका पाठ है । सूत्रकारने भी कहा है, कि—"शंभुमयोभुभ्याम् (१ । ५ । ६) ब्रह्मजज्ञानम् (४।१) अस्य वामस्य (९ । ९) यो रोहितः (१३ । १) उदस्य केतवः (१३ । २) मूर्धाहम् (१६ । ३) विषासहिम् (१७ । १)" कौशिकसूत्र ३ । १ के अनुसार यह सलिलगण है । अत एव "सलिलैः क्षीरौदनम् अश्नाति—सलिलगणके सूक्तोंसे क्षीर तथा भातका भक्षण करता है" (कौशिकसूत्र ३ । १) तथा "सलिलैः सर्वकामः" (कौशिकसूत्र ३ । ७) इत्यादि स्थलोंमें इसका विनियोग करना चाहिये ॥

इसी प्रकार गौओंके रोगकी शान्ति, पुष्टि और प्रजननकर्ममें तथा अर्थोत्थापनविघ्नशमनकर्ममें भी पहिले सूक्तकी समान इस सूक्तका भी विनियोग होता है ॥

वास्तुसंस्कारकर्ममें भी इस सूक्तके द्वारा उदकुम्भसे जलको छिड़के । इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है । "निवेशनानुचरणानि" यहाँसे "शंभुमयोभुभ्यां विस्यन्दयति" (कौशिकसूत्र ५ । ७) ॥

इसी प्रकार "आदित्यां श्रीतेजोधनायुष्कामस्य" इस नक्षत्रकल्प १७ के अनुसार आदित्या नाम वाली महाशान्तिमें इसका विनियोग है। नक्षत्रकल्पमें इसी बातको कहा है, कि—"सलिलगण आदित्यायाम्—आदित्यामें सलिलगणका विनियोग होता है॥'

तत्र प्रथमा ॥

आ॒पो हि ष्ठा म॑यो॒भुव॒स्ता न॑ ऊ॒र्जे द॑धातन ।

म॒हे र॒णा॑य॒ चक्ष॑से ॥ १ ॥

आ॑पः । हि । स्थ । म॒य॒ःऽभुव॑ः । ताः । न॒ः । ऊ॒र्जे । द॒धा॒त॒न॒ ।

म॒हे । र॒णा॑य । चक्ष॑से ॥ १ ॥

हे आपः यूयं हि यस्मात् कारणात् मयोभुवः। मय इति सुखनाम। सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ। "आपोमयः प्राणः" [छा० ६. ५. ४.] इति श्रुतेः। अपाम् उपभोगेन प्राणस्थैर्यहेतुत्वात् सुखसाधनभूतविविधान्नाद्युपभोग्यपदार्थजनकत्वेन च सुखहेतुत्वम्। ❀ अस्तेर्लटि मध्यमपुरुषवहुवचने अदादित्वात् शपो लुक्। "सार्वधातुकमपित्" इति ङिद्भावात् "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः। "हि च" इति निघातप्रतिषेधः। मयोभुव इति। मयःशब्दोपपदात् भवतेरन्तर्भावितण्यर्थात् क्विप्। "ओः सुपि" इति प्राप्तस्य यणो "न भूसुधियोः" इति प्रतिषेधः। "गतिकारकोपपदात् कृत" इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। तस्मात् ताः तथाविधा यूयं नः अस्मान् अन्नादिजनितसुखकामान् ऊर्जे बलकराय अन्नाय। तदुपभोगजनितसुखायेत्यर्थः। ❀ ऊर्ज बलप्राणनयोः। अस्मात् "क्विप् च" इति क्विप्। तादर्थ्ये चतुर्थी। सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम्❀।

दधातन धत्त। सुखकरान्नप्रदानेन अस्मान् पोषयतेत्यर्थः। ❀डुधाञ् धारणपोषणयोः। अस्माल्लोटि "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तस्य तनबादेशः। तस्य पित्त्वेन ङित्त्वाभावात् "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आलोपाभावः। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀। अपि च महे महते। ❀ अच्छब्दलोपश्छान्दसः ❀। यद्वा। ❀ मह पूजायाम् इत्यस्मात् क्विप् ❀। महनीयाय पूजनीयाय रणाय रमणाय। विविधोपभोग्यपदार्थेषु क्रीडनायेत्यर्थः। ❀ रमतेर्भावे ल्युट्। अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀। तथा चक्षसे दर्शनाय। चिरकालजीवनाभिमतफलसाक्षात्कारायेत्यर्थः। ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा। चक्षेर्बहुलं शिच्चेति [उ० ४. २३२] भावे असुन्। शित्त्वेन सार्वधातुकत्वात् "चक्षिङः ख्याञ्" इति ख्याञादेशाभावः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। यद्वा महते रणाय रमणीयाय चक्षसे। इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः। अथ वा रणाय रणनीयाय शब्दनीयाय उपनिषदेकसमधिगम्याय चक्षसे। स्वात्मनो निरतिशयानन्दब्रह्मत्वसाक्षात्कारायेत्यर्थः। ❀ अण रण वण शब्दार्थाः। "वशिरण्योरुपसंख्यानम्" इति अप्। तस्य पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः शिष्यते। सर्वत्र तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। दधातनेति पूर्वेण संबन्धः॥

हे जलों! तुमसे † प्राण स्थिर रहते हैं इस कारण और तुम सुखके साधन अन्न आदि अनेक पदार्थोंके उत्पादक होनेसे सुख के देने वाले हो। अतः हे उक्त लक्षणों वाले जलों! अन्न आदि से प्राप्त होने वाले सुखकें अभिलाषी हमको बलप्रद अन्नके उपभोगसे जनित सुख भोगनेके लिये धारण करिये अर्थात् सुखदायक अन्न देकर हमैं पुष्ट करिये और प्रशंसनीय अनेक पदार्थों

---

† छान्दोग्य उपनिषत् ६।५।४ में कहा है, कि—"आपोमयः प्राणः—प्राण जलमय हैं।"

में क्रीड़ा करनेके लिये हमें पुष्ट रखिये और चिरकालके जीवनमें अभिलषित फलको देखनेके लिये हमें पुष्ट रखिये अथवा रमणीय वस्तुओंको देखनेके लिये हमें पुष्ट रखिये अथवा एकमात्र उपनिषत्से प्राप्त होनेवाले परमानन्दब्रह्मत्वके साक्षात्कारके लिये हमारा पोषण करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ ।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ २ ॥

यः । व॒ः । शि॒वऽत॑मः । रसः॑ । तस्य॑ । भा॒ज॒य॒त॒ । इ॒ह । न॒ः ।
उ॒श॒तीःऽइ॑व । मा॒तरः॑ ॥ २ ॥

हे आपः वः युष्माकं शिवतमः कल्याणतमः प्रसिद्धो [यो] रसः सारभूतः अंशोस्ति । सर्वप्राणिभिः अविसंवादेन उपभोग्यत्वाद् अपां रसस्य शिवतमत्वम् । श्रूयते हि । “नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभि समनसः” [तै० सं० ५. ३. १. ३] इति । तस्य । ❀ “क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्” इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । तं रसम् । यद्वा । ❀ भागव्यतिरेकजनिता षष्ठी ❀ । तस्य रसस्य भागम् इत्यर्थः । इह अस्मिन् लोके हे आपः यूयं नः अस्मान् पुत्रस्थानीयान् भाजयत सेवयत । युष्मदीयरसप्रदानेन अस्मान् पोषयतेत्यर्थः । ❀ भज सेवायाम् । “हेतुमति च” इति णिच् । प्रार्थनायां लोट् । शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । “०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०” अनुदात्तम् इति तिङोपि अनुदात्तत्वम् । तथा च णिचश्चित्त्वात् तत्स्वरेण मध्योदात्तत्वे प्राप्तेपि ‘तिङ्ङतिङ” इति सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । उशतीरिव उशत्यः कामयमानाः । ❀ वश कान्तौ ।

कान्तिरभिलाषः । अस्मात् लटः शत्रादेशः । अदादित्वात् शपो लुक् । "सार्वधातुकम् अपित्" इति शतुर्ङित्त्वात् "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् । "उगितश्च" इति ङीप् । शत्रन्तस्य प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वात् "शतुरनुमो नद्यजादी" इति ङीप उदात्तत्वम् । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀ । कामयमाना मातरः यथा स्वकीयं पुत्रं स्तन्यरसप्रदानेन पोषयन्ति । तथेत्यर्थः ॥

जिस प्रकार अभिलाषा (उत्सुकता) पूर्वक माताएँ अपने पुत्रको स्तनोंका रस (दूध) पिला कर पुष्ट करती हैं, हे जलो! तिसी प्रकार तुम्हारा जो परम कल्याणकारी [‡] प्रसिद्ध रस अर्थात् सारभूत अंश है उससे हम पुत्ररूपोंकी सेवा करो अर्थात् हमें रस देकर पुष्ट करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तस्मा॒ अरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ ।
आपो॑ ज॒नय॑था च॒ नः॒ ॥ ३ ॥

तस्मै॑ । अर॑म् । ग॒मा॒म॒ । वः॒ । यस्य॑ । क्षया॑य । जिन्व॑थ ॥
आपः॑ । ज॒नय॑थ । च॒ । नः॒ ॥ ३ ॥

[‡] सब प्राणी जलके विषयमें कुछ भी विवाद न कर जलका उपभोग करते हैं अतः जलका रस परमकल्याणकारी है । तैत्तिरीयसंहिता ५ । ३ । १ । ३ में कहा है, कि—"नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभिमनसः" अनेक प्रकार व्रत और मन वाले प्राणी जलके विषयमें एकमत हैं ।"

तस्मै । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । उपभोग्यत्वेन प्रसिद्धस्य अन्नस्य प्राप्त्यर्थं हे आपः वः युष्मान् अरम् अलं पर्याप्तं गमाम गच्छाम प्राप्नुयाम । ❀ अरम् इति । "वालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वम् आपद्यत इति वक्तव्यम्" इति लत्वविकल्पः । गमामेति । गम्लृ सृप्लृ गतौ । अस्मात् प्रार्थनायां लोट् । "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । यद्वा । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लोडर्थे लुङ् । लृदित्वात् च्लेः अङादेशः । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः । व इति । "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति द्वितीयान्तस्य युष्मदो वसादेशः । स च "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुवृत्तेः सर्वानुदात्तः ❀ । यस्य अन्नस्य क्षयाय निवासाय । अभिवृद्धय इत्यर्थः । ❀ क्षि निवासगत्योः । "एरच्" इति भावे अच् । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते "क्षयो निवासे" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे आपः यूयं जिन्वथ तर्पयथ । व्रीह्यादिसस्यविशेषान् इति शेषः । यूयं वृष्टिरूपेण आगत्य सर्वेषां प्राणिनाम् अन्नाद्युपभोग्यसमृद्धये ओषधीः प्रवर्धयथेत्यर्थः । श्रूयते हि । "ते दिवो वृष्टिम् असृजन्त । यावन्तः स्तोका अवापद्यन्त तावतीरोषधयोऽजायन्त" [तै० ब्रा० २. १. १. १] इति । तस्मै इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ हिवि विधि दिवि [जिवि] प्रीणनार्थाः । इदित्वात् नुम् । शपः पित्वाद् अनुदात्तत्वम् । तिङश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरस्य अवशेषात् पदम् आद्युदात्तम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । अपि च हे आपः यूयं नः अस्मान् जनयथ पुत्रपौत्रादिरूपेण उत्पादयथ । स्वात्मन एव पुत्रादिरूपेण उत्पत्तेः एवम् उक्तम् । तथा च ऐतरेयके समाम्नातम् । "पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यद् अस्यां जायते पुनः" [ऐ० ब्रा० ७. १३] इति ।

❀ जनी प्रादुर्भावे । अस्मात् "हेतुमति च" इति णिच् । "जनीजृष्क्नसुरञ्जोमन्ताश्च" इति मित्संज्ञकत्वात् "मितां ह्रस्वः" इति उपधाह्रस्वत्वम् । शपस्तिङश्च पूर्ववत् अनुदात्तत्वे णित्स्वरः शिष्यते तेन णिजकारस्य उदात्तत्वम् । आप इति पूर्वामन्त्रितस्य "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति अविद्यमानवद्भावेन अतिङ उत्तरत्वाभावात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः । "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे जलो ! हम उस उपभोग्यरूप अन्नकी प्राप्तिके लिये आपको पर्याप्तरूपमें पावें, कि–जिस अन्नके निवास अर्थात् वृद्धिके लिये तुम धान आदि अन्नोंको तृप्त करते हो । तात्पर्य यह है, कि–तुम वृष्टिरूपसे आकर सब प्राणियोंकी अन्न आदि उपभोगकी समृद्धिके लिये औषधियोंको बढ़ाते हो † । और हे जलो ! तुम हमें पुत्र पौत्र आदि रूपसे उत्पन्न करो ‡ ॥ ३ ॥

---

† तैत्तिरीय ब्राह्मण २ । १ । १ । १ में कहा है, कि–'ते दिवो वृष्टिं असृजन्त । यावन्तः स्तोका अवापद्यन्त–तावतीरोषधयोऽजायन्त उन्होंने आकाशमें वृष्टिको रचा उसके जितने छोटे छोटे कण हुए उतनी ही औषधियें उत्पन्न हुईं ।"

‡ अपने आत्माकी पुत्र आदिके रूपमें उत्पत्ति होती है इस लिये ऐसा कहा है । इस बातको ऐतरेयब्राह्मणमें भी कहा है, कि–"पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।" (ऐतरेयब्राह्मण ७ । १३) पति जायामें गर्भरूपसे प्रवेश करता है और उस मातामें पुनर्वार नवीन होकर दशवें महीनेमें उत्पन्न होजाता है, इसमें फिर 'जायते' उत्पन्न होता है इसलिये जाया जाया कहलाती है ॥

चतुर्थी ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

ईशानाः । वार्याणाम् । क्षयन्तीः । चर्षणीनाम् ।
अपः । याचामि । भेषजम् ॥ ४ ॥

वार्याणां वरणीयानां धनानाम् ईशानाः ईश्वराः स्वामित्वेन क्षियन्त्रीः सर्वधनमूलभूतस्य हिरण्यस्य मातृभूताभ्यः अद्भ्यः उत्पत्तेः श्रवणाद् अपाम् अधिपतित्वम् । तथा हि "आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । [ता] अग्निरभ्यध्यायत् । ताः समभवन् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यम् अभवत्" [तै० ब्रा० १. १. ३. ८] इति । ❀ ईश ऐश्वर्ये । अस्मात् "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शानच्प्रत्ययः । अदादित्वात् शपो लुक् । अस्य धातोः अनुदात्तेत्त्वात् "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाद्०" इति शानचः अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आदिरुदात्तः । वार्याणाम् इति । वृङ् संभक्तौ । क्यब्विधौ हि वृञो ग्रहणं न वृङः इत्युक्तेः अस्माद्धातोः "ऋहलोर्ण्यत्" इति कर्मणि ण्यत् । "कर्तृकर्मणोः कृतिः" इति प्राप्तायाः कर्मणि षष्ठ्या "न लोकाव्यय०" इति प्रतिषेधेपि "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति कर्मणि षष्ठी । "तित् स्वरितम्" इति स्वरितत्वे प्राप्ते "ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यत ईशाना अतो हेतोः चर्षणीनाम् । मनुष्यनामैतत् । मनुष्याणां क्षयन्तीः निवासयित्रीः । अभिमतधनप्रदानेन स्वस्थाने निवेशयन्तीरित्यर्थः । ❀ क्षि निवासगत्योः । अस्माद् अन्तर्भावितण्यर्थात् लटः शत्रादेशः । व्यत्ययेन शप् । "उगितश्च" इति ङीप् । "शप्श्यनोर्नित्यम्" इति नित्यं नुमागमः । शपश्च ङीपश्च पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् ।

“०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०” इति शतुरनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आदिरुदात्तः । चर्षणीनाम् इति । “न लोकाव्यय०” इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधाभावश्छान्दसः ❀ । यद्वा । ❀ “चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि” इति तादर्थ्ये षष्ठी ❀ । मनुष्यार्थं निवसन्तीरित्यर्थः । ❀ “नाम् अन्यतरस्याम्” इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । एवंभूता अपः भेषजं व्याध्यादिनिवर्तकम् औषधं याचामि प्रार्थये । उक्तं “अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्” [१. ४. ४] इति ❀ “अकथितं च” इति कर्मसंज्ञायाम् अप्शब्दाद् द्वितीया । “ऊडिदम्०” इत्यादिना अप्शब्दाद् उत्तरस्य शस उदात्तत्वम् । याचामि । याचृ याञ्चायाम् । “तिङ्ङतिङः” इति निघातः ❀ ॥

[इति] प्रथमकाण्डे प्रथमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

(सब धनोंका मूलभूत धन † सुवर्ण मातारूप जलोंसे उत्पन्न हुआ है अतः जल धनके अधिपति हैं अतः) वरणीय धनोंके नियन्तारूपसे स्वामी और धनोंके स्वामी होनेसे मनुष्यको अभिलषित धन देकर अपने स्थान पर बसाने वाले अथवा मनुष्योंके लिये निवास करनेवाले, व्याधि आदिके निवर्तक जलकी मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ ४ ॥

प्रथम काण्डके प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त

“शं नो देवीः” इति सूक्तस्य “शंभुमयोभुभ्याम्” इति सहैव सूत्रकृता निर्दिष्टत्वात् “आपो हि ष्ठा” इति सूक्तवत् सर्वत्र विनियोगः अनुसंधेयः । लघुगणे बृहद्गणे च आद्यन्तयोः “शं नो देवी” इति प्रथमा ऋक् प्रयोक्तव्या । “उभयतः सावित्र्युभयतः शं नो देवी” [कौ० १. ६] इति सूत्रात् ॥

---

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ३८ में कहा है, कि—“आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । [ता] अग्निरभ्यध्यायत् । ताः समभवन् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यमभवत् ॥”

इन्द्रमहाख्यकर्मणि आचमनेपि एषा विनियुक्ता । सूत्रितं हि । “शं नो देव्याः पादैरर्धर्चाभ्याम् ऋचा षट्कृत्व उदकम् आचामतः” इति [कौ० १४. ४] ॥

राज्ञः पुष्पाभिषेके कलशाभिमन्त्रणेपि एषा । तथा च परिशिष्टे ॥

हेमरत्नौषधीबिल्वपुष्पगन्धाधिवासितान् ।
आच्छादितान् सितैर्वस्त्रैरभिमन्त्र्य पुरोहितः ।
सावित्र्युभयतः कुर्याच्छं नोदेवी तथैव च । इति [प० ५. २]॥

“शं नो देवी” इस सूक्तका “शंभुमयोभुभ्याम्” इसके साथ ही सूत्रकारने निर्देश किया है, अतः “आपो हि ष्ठा” सूक्तकी समान इसका सर्वत्र विनियोग करना चाहिये । लघुगण और बृहद्गणके आदि और अन्तमें भी “शं नो देवी” इस पहिली ऋचाका प्रयोग करना चाहिये । क्योंकि—कौशिकसूत्र १ । ६ में कहा है, कि “उभयतः सावित्र्युभयतः शं नो देवी” सावित्री और शं नो देवी का दोनों ओर प्रयोग करना चाहिये ॥

इन्द्रमहाख्य कर्मके आचमनमें भी इसका विनियोग है । कौशिकसूत्र १४ । ४ में कहा है, कि—“शं नो देव्याः पादैरर्धर्चभ्यां ऋचा षट्कृत्व उदकं आचामतः ।”

राजाके पुष्पाभिषेकमें और कलशके अभिमन्त्रणमें भी इस ऋचाका विनियोग करना चाहिये । क्योंकि—अथर्वपरिशिष्ट ५।२ में भी कहा है, कि—“पुरोहित सुवर्ण, रत्न, औषधि, बिल्व, पुष्प और गन्धसे अधिवासित और श्वेत वस्त्रोंसे आच्छादित (कलशों को) अभिमन्त्रण करके आदिमें और अन्तमें सावित्री और शं नो देवीको पढ़े ॥”

तत्र प्रथमा ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं यो॒रभि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टये । आपः । भवन्तु । पीतये ।
शम् । योः । अभि । स्रवन्तु । नः ॥ १ ॥

देवीः देव्यः द्योतनादिगुणयुक्ताः । ❀ दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । इगुपधलक्षणे के प्राप्ते "देवसेनमेषादयः पचादिषु द्रष्टव्याः" इति वचनात् "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०" इत्यच् । देवट् इति टित्त्वेन पाठात् "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । "यस्य०" इति लोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति ङीप उदात्तत्वम् । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । यास्कस्तु देवशब्दं बहुधा निरवोचत् । यज्ञश्च । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा इति [नि० ७. १५] ❀ । एवमात्मिका आपः नः अस्माकम् अभिष्टये अभियजनाय । ❀ यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । अस्माद् अभिपूर्वात् भावे क्तिन् । "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् । "व्रश्च०" आदिना षत्वे ष्टुत्वम् । "शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्" इति पररूपत्वे सवर्णदीर्घाभावः । "तादौ च निति कृत्यतौ" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वे एकादेशस्य उदात्तत्वम् । तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । अभितः सर्वतो यागार्थं शं सुखं भवन्तु । सुखकारिण्यो भवन्तु इत्यर्थः । तथा पीतये पानाय च शं भवन्तु । पीयमाना आपः स्वादुतमाः सुखाय भवन्तु इत्यर्थः । ❀ पा पाने । अस्मात् भावे क्तिन् । "घुमास्था०" इत्यादिना ईत्वम् ❀ । अपि च नः अस्माकं शं प्राप्तानां रोगाणां शमनाय योः अप्राप्तानां रोगाणां पृथक्करणाय च ता आपः अभि स्रवन्तु अस्मदाभिमुख्येन गच्छन्तु । यद्वा शं योरिति रोगाणां शमनं चोरव्याघ्रादिजनितभयानां पृथक्करणं च यथा भवति तथेत्यर्थः । ❀ तदुक्तं यास्केन । शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् इति [नि० ४. २१] । शमु उपशमने । यु

मिश्रणामिश्रणयोः । "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इत्यत्र दृशिग्रहणस्य विध्यन्तरोपसंग्रहार्थत्वात् आभ्यां धातुभ्यां भावे विच् । योरित्यत्र सलोपाभावश्छान्दसः।यद्वा यौतेरसुनि अवादेशाभावश्छान्दसः❀।।

द्योतन आदि गुणसे युक्त जल याग करनेके लिये हमें चारों ओरसे सुख देने वाले हों, पानके लिये भी सुखप्रद हों अर्थात् पीते समय स्वादु लग कर सुख देने वाले हों और हमें प्राप्त हुए रोगोंको शान्त करनेके लिये और अप्राप्त रोगोंको अलग करनेके लिये वे जल हमारे अभिमुख आवें अथवा रोगोंका शमन और चोर व्याघ्र आदिसे उत्पन्न होने वाले भयको दूर करनेके लिये हमारे पास आवें ।। १ ।।

द्वितीया ।।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ।। २ ।।

अप्ऽसु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।
अग्निम् । च । विश्वऽसंभुवम् ।। २ ।।

मन्त्रद्रष्टा ब्रूते । अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये विश्वानि सर्वाणि [भेषजा] भेषजानि । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । सर्वरोगनिवर्तकानि औषधानि सन्तीति सोमः एतन्नामा देवः मे मह्यं मन्त्रदर्शिने अब्रवीत् । उपदिष्टवान् । तथा विश्वशंभुवम् विश्वस्य जगतः सुखकरम् । यद्वा विश्वे सर्वे व्यापाराः शंभुवः सुखस्य भावयितारः उत्पादका यस्य स तथोक्तः । ❀ शंशब्दोपपदाद् भवतेरन्तर्णीतण्यर्थात् "क्विप् च" इति क्विप् । "ओः सुपि" इति प्राप्तस्य यणः "न भूसुधियोः" इति प्रतिषेधे उवङ् ।

तत्पुरुषपक्षे व्यत्ययेन पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । बहुव्रीहिपक्षे तु अग्निविशेषस्य इयं संज्ञा । तथा च "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । एतन्नामानाम् अग्निम् अङ्गनादिगुणयुक्तं देवं च । अप्सु अन्तर्वर्तमानं सोमः अब्रवीदित्यर्थः । उदकमध्ये अग्नेः प्रवेशस्तैत्तिरीयके समाम्नातः । "अग्नेस्त्रयो ज्यायांसः" इति प्रक्रम्य "स निलायत सोऽपः प्राविशत्" [तै० सं० २. ६. ६; १.] इति । यद्वा । और्ववैद्युतरूपेण अग्नेः अप्सु अवस्थानं द्रष्टव्यम् । अनेन अतिशयितवीर्यवत्त्वस्य प्रख्यापितत्वाद् अपां सर्वार्थसाधनसामर्थ्यम् अस्तीत्युक्तं भवति ॥

(मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं, कि—) जलके भीतर सब औषधियें हैं अर्थात् जलके भीतर सब रोगोंका निवारण करनेवाली औषधियें हैं इस बातका सोम नामक देवताने मुझ मन्त्रद्रष्टाको उपदेश दिया है तथा इसी प्रकार जगत्को सुख देने वाले व्यापार जिसमें हैं वह अंगनादि गुणयुक्त अग्निदेव भी जलमें रहते हैं, इस बातका सोमने मुझे उपदेश दिया है ‡ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आपः पृणी॒त भे॑ष॒जं वरू॑थं त॒न्वे॒३॒॑ मम॑ ।
ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ३ ॥

---

‡ जलमें अग्निका प्रवेश तैत्तिरीयकमें कहा है, कि—"अग्निसे तीन बड़े हैं" इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि—"वह—छिप गया—जलमें प्रवेश कर गया" [तैत्तिरीयसंहिता,२ । ६ । ६ । १] अथवा और्ववैद्युतरूपसे अग्निका जलमें अवस्थान समझना चाहिये। इस परमवीर्यवत्त्वके प्रख्यापित होनेसे जलमें सब अर्थोंको साधने की सामर्थ्य है, यह बात कहदी ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् । तन्वे । मम ।

ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

हे आपः यूयं मम तन्वे मदीयस्य शरीरस्य । ❀ "षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या" इति चतुर्थी । "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति विभक्तिः स्वर्यते । "युष्मदस्मदोर्ङसि" इति ममशब्द आद्युदात्तः ❀ । वरूथं वारकं ज्वरादिसर्वरोगनिवर्तकम् भेषजम् औषधम् पृणीत पूरयत । यथा मम शरीरं व्याधयो न स्पृशन्ति तथा औषधं प्रयच्छतेत्यर्थः । ❀ पॄ पालनपूरणयोः । अस्मात् लोटि क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः । "ई हल्यघोः" इति ईत्त्वम् । "प्वादीनां ह्रस्वः" इति धातोर्ह्रस्वत्वम् । "सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्यः" इति परिभाषया सतिशिष्टस्यापि श्नाप्रत्ययस्वरस्य दुर्बलत्वात् तिङ एव उदात्तत्वम् । "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति आप इत्यस्य अविद्यमानवत्त्वात् "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावः । वरूथम् इति । वृञ् वरणे । जॄवृञ्भ्यामूथन् [उ० २. ६] इति औणादिक ऊथन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तः ❀ । किमर्थम् । ज्योक् चिरकालं सूर्यं सर्वेषां प्राणप्रदत्वेन प्रेरकम् आदित्यं दृशे द्रष्टुम् । चिरकालं जीवितुम् इत्यर्थः । अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । व्याध्यादिजनितक्लेशापनोदनार्थं च इति । ❀ दृशिर् प्रेक्षणे । "दृशे विख्ये च" इति तुमर्थे केप्रत्ययान्तो निपातितः । सूर्यम् इति । षू प्रेरणे । "राजसूयसूर्य०" इति क्यबन्तो निपातितः । क्यपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् । "कृन्मेजन्तः" इति दृशे इत्यस्य एजन्तत्वेन अव्ययत्वात् "न लोकाव्यय०" इति कर्मणिषष्ठ्याः प्रतिषेधः ❀ ॥

हे जलो ! तुम मेरे शरीरके ज्वर आदि सब रोगोंकी निवारक औषधोंको पूरित करो अर्थात् मेरे शरीरको व्याधियें छू न

सकें ऐसी औषधियें दीजिये । जिससे, कि—मैं सबोंके प्राणप्रद होनेसे प्रेरक आदित्यको चिरकाल तक देखता रहूँ और व्याधि आदिसे उत्पन्न हुए क्लेशको दूर करनेके लिये भी आप मुझे रोगनिवारक औषधियें दीजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शं न आपो धन्वन्या ३ः शमु सन्त्वनूप्याऽ३ः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्याऽ३ः । शम् । ऊं इति । सन्तु । अनूप्याऽ३ः ।
शम् । नः । खनित्रिमाः । आपः । शम् । ऊं इति । याः ।
कुम्भे । आऽभृताः । शिवाः । नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥ ४ ॥

पूर्वं सामान्येनैव अपां प्रार्थना कृता । अधुना स्थानविशेषिता आपः प्रार्थ्यन्ते । नः अस्माकं धन्वन्याः धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः शं सन्तु सुखकारिण्यो भवन्तु । ❀ रिवि रवि धावि गत्यर्थाः । इदित्त्वात् नुम् । कनिन् युवृषितक्षिधन्विराजिद्युप्रतिदिवः [उ० १. १५४] इति कनिन् प्रत्ययः । "भवे छन्दसि" इति यत् । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति टिलोपाभावः ❀ । तथा अनूप्याः अनुगता आपो यस्मिन् देशे सः अनूपो देशः । ❀ "ऋक्पूरब्धूः०" इत्याकारः समासान्तः । "ऊदनोर्देशे" इति अप्शब्दाकारस्य ऊकारः ❀ । तत्र भवा आपः अनूप्याः । ❀ पूर्ववद्य यत् ❀ । उ शब्दः चार्थे । प्रभूतजलप्रदेशस्था आपश्च शं सन्तु सुखहेतवो भवन्तु । तथा खनित्रिमाः खन-

नेन निर्वृताः कूपोद्भवा आपः नः अस्माकं शं भवन्तु । ❀ खनु अवदारणे । अस्माच्छान्दसः क्विप्रत्ययः । "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" इति इडागमः । "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति मप् ❀ । कुम्भे घटे आभृताः नदीतटाकादिभ्यः कुम्भेन आनीताः । ❀ हृञ् हरणे । अस्मात् कर्मणि निष्ठा । "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । ईदृश्यो याः प्रतिगृहं वर्तमानाः प्रसिद्धा आपः ताश्च शं भवन्तु । तथा वार्षिकीः वार्षिक्यः वर्षर्तौ भवाः । ❀ "छन्दसि ठञ्" इति वर्षाशब्दात् ठञ् प्रत्ययः । "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । वृष्टिसंभूता आपश्च नः अस्माकं शिवाः सुखकारिण्यः सन्तु भवन्तु । ❀ अस भुवि । अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक् । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः ❀ ॥

[इति] षष्ठं सूक्तम् ॥

इति अथर्वसंहितायां प्रथमकाण्डे प्रथमोनुवाकः ॥

(पहिले सामान्यरूपसे जलकी प्रार्थना की अब स्थानविशेष के जलोंकी प्रार्थना की जाती है, कि–) मरुभूमिमें उत्पन्न होने वाले जल हमैं सुख दें, और प्रभूत जल वाले देशके जल भी हमैं सुखकारी हों, खोद कर बनाये हुए कूपके जल भी हमैं सुखदायक हों, नदी तालाव आदिसे कुम्भमें भरकर लायेहुए प्रत्येक घरमें वर्तमान जल भी हमैं सुखदायक हों और वृष्टिसे प्राप्त हुए जल भी हमें सुख देवें ॥ ४ ॥

छठा सूक्त समाप्त

अथर्ववेदसंहिताके प्रथम काण्डमें प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

द्वितीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "स्तुवानम्" "इदं हविः" इति प्रथमद्वितीये सूक्ते चातनगणे पठिते । तथा च कौशिकः । "स्तुवानम् [१. ७] इदं हविः [१. ८] निःसालाम् [२.१४]

अरायक्षयणम् [२. १८. ३–५] शं नो देवी पृश्निपर्णी [२. २५] आ पश्यति [४. २०]तान् सत्यौजाः [४. ३६] त्वया पूर्वम् [४. ३७] पुरस्ताद्युक्तः [५.२६] रक्षोहणम् इत्यनुवाकः [८. ३, ४] चातनानि" इति [कौ० १. ८]। अतः अस्य "चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्" [कौ ४. १] "चातनैर्मातृनामभिजुहुयात्" [शा० क० १६] इत्यादिसूत्रेण यत्रयत्र विनियोगः क्रियते तत्रतत्र सर्वत्र अनयोः सूक्तयोरपि विनियोगो द्रष्टव्यः ॥ "अपनोदनेन व्याख्यातम्" इति । आविष्टभूतपिशाचाद्युच्चाटनार्थं फलीकरणतुषावतक्षणहोमादीनि "आरेसौ" [१. २६] इत्यपनोदनसूक्तकर्तव्यानि अपनोदनानि कर्माणि अनेन गणेन कुर्यादित्यर्थः ॥

दूसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । इनमें "स्तुवानम्" और "इदं हविः" इन दोनों सूक्तोंका पाठ चातनगणमें है । इसी बातको कौशिकसूत्र १ । ८ में कहा है, कि–"स्तुवानम् [१ । ७] इदं हविः [१ । ८] निः सालाम् [२ । १४] अरायक्षयणम् [२ । १८ । ३–५] शं नो देवी पृश्निपर्णी [२ । २५] आ पश्यति [४ । २०] तान् सत्यौजा [४ । ३६] त्वया पूर्वम् [४ । ३७] पुरस्ताद्द युक्तः [५ । २६] रक्षोहणं इत्यनुवाकः [८ । ३४] ये चातनगणके सूक्त हैं।" अत एव इसका "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यानम्" [कौशिकसूत्र ४ । १] 'चातनैर्मातृनामभजुहुयात्' [शांतिकल्प १६] इत्यादि सूत्रोंसे जहाँ जहाँ विनियोग किया जाय तहाँ तहाँ इन सूक्तोंका भी सर्वत्र विनियोग करना चाहिये । "अपनोदनेन व्याख्यातम्" इसका अर्थ यह है, कि–आवेश करने वाले भूत पिशाच आदिका ऊच्चाटनं करनेके लिये फलीकरण, तुषावतक्षण, होम आदि 'आरेसोः' (१।२६) इस अपनोदनसूक्तसे कर्तव्य अपनोदनकर्म इस गणसे करे ॥

तत्र प्रथमा

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ॥
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातुऽधानम् । किमीदिनम् ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविथ ॥१॥

अङ्गति गच्छति सर्वजाठरवैद्युतादिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति इति अग्निः । ❀ अगि रगि लगि गत्यर्थाः । अङ्गेर्नलोपश्च [उ० ४. ५०] इति निप्रत्ययः तत्संनियोगेन नलोपश्च ❀ । यद्वा । अग्रणीत्वादिगुणयोगाद् अग्निः । ❀ आह च यास्कः । अग्निः कस्मात् । अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति संनममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । क्नोपयति न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । स खलु एतेः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः पर इति [नि० ७. १४] ❀ । ईदृश हे अग्ने स्तुवानं मया दत्तं हविः प्रशंसन्तम् अस्माभिः स्तूयमानं वा देवम् आ वह आनय । मदीयं कर्म प्रापय । ❀ वह प्रापणे । अस्मात् लोटि "अतो हेः" इति हेर्लुक् । स्तुवानम् इति । ष्टुञ् स्तुतौ । कर्तरि लटः शानच् आदेशः । कर्मणि लटो वा शानचि यगभावश्छान्दसः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना उवङ् ❀ । अग्नेः आवहनकर्तृत्वम् अन्यत्रापि आम्नातम् । "अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे" [ऋ० १. १२. ३] इति । "अग्निम् अग्न आवह" [तै० ब्रा० ३. ५. ३. २] इति च । किमीदिनं किम् किम् इदानीं वर्त इति चरन्तम् । ❀ किमीदिने किम् इदानीमिति चरते इति यास्कः [नि० ६. ११] ❀ । जिघांसया प्रच्छन्नचारिणं यातुधानं राक्षसम् । अपसारय इति योग्य-

क्रियाध्याहारः ॥ यद्वा हे अग्ने स्तुवानम् । विभक्तिव्यत्ययः । स्तूयमानः त्वं किमीदिनं यातुधानं राक्षसम् आ वह प्रतीकारार्थम् अस्मिन् जने आवेशय । अथ वा निग्रहार्थं स्वसमीपम् आनयेत्यर्थः ॥ यद्वा हे अग्ने त्वत्सकाशाद् भीत्या त्वां स्तुवन्तं तं यातुधानम् इति सामानाधिकरण्येन संबन्धः ॥ अपि च हे देव दानादिगुणयुक्त त्वं वन्दितः अस्माभिर्नमस्कारादिना प्रार्थितः सन् दस्योः उपक्षयकारिणो राक्षसादेः । ❀ दसु उपक्षये । अस्माद् औणादिको युप्रत्ययः ❀ । तस्य हन्ता घातयिता हि यस्मात् कारणात् बभूविथ भवसि तस्माद् आ वहेति पूर्वेण संबन्धः । ❀ भू सत्तायाम् । “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति वर्तमानेर्थे लिट् । “हि च” इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

सबमें जठराग्निके रूपसे वर्तमान, बिजली आदिके रूपसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके रहनेवाले और अग्रणी आदि गुणों वाले अग्ने ! † हम जिस देवताकी स्तुति कररहे हैं उस देवताको हमारा कर्म प्राप्त कराओ ‡ हमारी दी हुई हविकी प्रशंसा करने

---

† यज्ञोंमें अग्निका पहिले प्रणयन होता है अत एव अग्नि अग्रणी है ॥ निरुक्त ७ । १४ में यास्कने कहा है, कि–“अग्निः कस्माद् । अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति संनममानः । अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः । न क्नोपयति । न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । स खलु एतेः अकारम् आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः पर इति ।”

‡ अग्निका हवि आदिको पहुँचाना वा देवताओंको लाना अन्यत्र भी प्रसिद्ध है । यथा–ऋग्वेदसंहिता १ । १२ । ३ में कहा है, कि–“अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।” तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ५ । ३ । ३ में भी कहा है, कि–“अग्निम् अग्न आवह।”

वाले देवताको हमारे पास ले आओ और हमको मारनेकी इच्छा से गुप्तरूपमें विचरण करते हुए राक्षसको हमसे दूर करो, क्योंकि--हे दान आदि गुणोंसे युक्त देव ! हमारे वन्दना करने पर तुम उपक्षय करनेवाले राक्षस आदिका संहार कर डालते हो । अतः इसको अपने पास बुलाओ ॥ अथवा--हे स्तूयमान अग्ने ! प्रतीकार (बदला लेने) के लिये तुम इस राक्षसका इस पुरुषमें आवेश करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आज्य॑स्य परमेष्ठि॒न् जात॑वेद॒स्तनू॑वशिन् ।
अग्ने॑ तौ॒लस्य॒ प्राशा॑न यातु॒धाना॒न् वि ला॑पय । २ ।

आज्य॑स्य । प॒र॒मे॒ऽस्थि॒न् । जात॑ऽवेदः । तनू॑ऽवशिन् ।
अग्ने॑ । तौ॒लस्य॑ । प्र । अ॒शा॒न॒ । या॒तु॒ऽधाना॑न् । वि । ला॒प॒य॒ ॥२॥

परमे उत्कृष्टस्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । स्वर्गाद्युत्कृष्टस्थाननिवासिन् । ❀ तिष्ठतेः औणादिकः किनिप्रत्ययः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । "अम्बाम्बगोभूमि०" इत्यादिना षत्वम् । "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। हे जातवेदः जातानां वेदितः । ❀ जातशब्दोपपदात् विद ज्ञाने इत्यस्मात् गतिकारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च [उ० ४. २२६] इति असुन् । अस्य पादादित्वाद् आष्टमिकनिघाताभावे "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ॥ यास्कस्तु बहुधा निरवोचत् । जातवेदाः कस्मात् । जातानि वेद जातानि वैनं विदुः जातेजाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो वा जातविद्यो वा जातप्रज्ञो वा यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति हि ब्राह्मणम् इति [नि० ७. १९] ❀ । हे तनू-

वशिन् तनूनां सकलप्राणिशरीराणां जाठराग्निरूपेण, वशयितः ईदृशमहिमोपेत हे अग्ने तौलस्य। तुलावत् हूयमानद्रव्यस्य परिच्छेदकत्वात् स्रुक्स्रुवादिकम् अत्र तुलाशब्देन उच्यते। तत्र स्रुवादौ स्थितम् आज्यं तौलम्। ❀ "तस्येदम्" इति अण् ❀। यद्वा। ❀ तुल उन्माने। अस्मात् कर्मणि घञ्। तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना अवदीयत इति तोलम्। स्वार्थिकस्तद्धितः राक्षसवायसादिवत् ❀। अवदीयमानस्य आज्यस्य। ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀। आज्यं प्राशान अद्धि। आज्यस्य भागम् इति भागपदाध्याहारेण वा संबन्धः। ❀ अश भोजने। लोण्मध्यमैकवचने "हलः श्नः शानज्झौ" इति श्नाप्रत्ययस्य शानजादेशः। "अतो हेः" इति हेर्लुक् ❀॥ अस्माभिर्दत्तं हविः स्वीकृत्य प्राप्तबलः सन् यातुधानान् उपद्रवकारिणो राक्षसान् वि लापय विनाशय। ❀ 'लीङ् श्लेषणे। अस्मात् "हेतुमति च" इति णिच्। "विभाषा लीयतेः" इति आत्वम्। "अर्तिह्री०" इत्यादिना पुगागमः। यद्वा रप लप व्यक्तायां वाचि। अस्मात् णिच्। "अत उपधायाः" इति वृद्धिः। वीत्युपसर्गवशाद् अत्र धातुः वचनविशेषं परिदेवनम् आह। तद् उक्तम्।

धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तम् अनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा। इति ❀॥

आर्तस्वरान् कुर्वित्यर्थः॥

हे स्वर्ग आदि उत्कृष्ट स्थानोंमें रहने वाले परमेष्ठिन्! और सम्पूर्ण उत्पन्न होने वालोंको जानने वाले जातवेदः†! और

---

† यास्कने जातवेदा शब्दकी व्युत्पत्ति अनेकप्रकारसे की है। यथा—"जातानि वेद जातानि वैनं विदुः जातेजाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो वा जातविद्यो वा जातप्रज्ञो वा यत्तज्जातः

सब प्राणियोंके शरीरको जाठराग्निरूपसे वशमें रखने वाले तनूवशिन् अग्ने ! स्रुवे आदिमें स्थित घृतका भक्षण करिये और हमारी दी हुई हविसे बल पाकर उपद्रव करने वाले राक्षसोंका संहार करिये वा उनसे आर्तस्वर कराइये ‡ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातुऽधानाः । अत्त्रिणः । ये । किमीदिनः ।
अथ । इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥ ३ ॥

अत्त्रिणः अदनशीलाः सर्वेषां भक्षकाः । ❀ अद भक्षणे । अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति औणादिकस्त्रिनिप्रत्ययः । प्रत्यय-

---

पशून् अविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति हि ब्राह्मणम्" [निरुक्त ७ । १९] अर्थात् उत्पन्न हुओंको जानते हैं, प्रत्येक उत्पन्न हुए प्राणी इसको जानते हैं, प्रत्येक उत्पन्न हुए प्राणीमें रहता है, और इसके पास धन विद्या और प्रज्ञा उत्पन्न होती है यही इस (अग्नि) का जातवेदस्त्व है ॥"

‡ मूलके 'विलापय' में स्पष्ट वाणीकी वाचक लप धातु है वि उपसर्गके कारण उसका आर्तस्वर (परिदेवन) अर्थ होगया है । क्योंकि—"धात्वर्थं बाधते कश्चित् कश्चित् तमनुवर्तते । तमेव विशिनष्ट्येक उपसर्गगतिस्त्रिधा ॥—अर्थात् उपसर्गकी गति तीन प्रकारकी है, कोई उपसर्ग धातुके अर्थको बाध देता है (धातुका दूसरा अर्थ कर देता है) कोई उपसर्ग उसीका अनुवर्तन करता है, और कोई उसका विशेषण होजाता है।" विलापय यह ण्यंतका रूप है ।

स्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । किमीदिनः किं [किम्] इदानीं वर्तत इति स्वप्रवृत्तये कालान्वेषणं कुर्वन्तः । अथ वा किम् इदं किम् इदम् इति स्वोचितं पदार्थम् अन्विष्य चरन्तः ये प्रसिद्धा यातुधानाः राक्षसाः सन्ति ते विलपन्तु परिदेवनं कुर्वन्तु । हे अग्ने त्वया पीडिताः सन्तः विनश्यन्तु इत्यर्थः ॥ अथ क्रियमाणयागाद्यन्तरायकारिरक्षोविनाशानन्तरम् हे अग्ने त्वम् इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवश्च नः अस्मदीयम् इदम् आज्यादिरूपं हविः प्रति लक्ष्यीकृत्य हर्यतम् आगच्छतम् कामयेथां वा । स्वीकुरुतम् इत्यर्थः ॥ ❀ हर्य गतिकान्त्योः । इन्द्र इति । इदि परमैश्वर्ये । ऋज्रेन्द्राग्रेत्यादिना [उ० २. २८] रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

सबके भक्षक और इस समय क्या हो रहा है इस प्रकार अपनी प्रवृत्तिके लिये समयका अन्वेषण करने वाले और हमारे योग्य क्या है ? इस प्रकार अपने योग्य पदार्थको खोजते हुए विचरने वाले जो प्रसिद्ध राक्षस हैं, हे अग्ने ! वे आपके पीड़ा देने पर विनष्ट होजावें ! और चलते हुए यागमें विघ्न डालने वाले राक्षसोंके विनाशके अनन्तर हे अग्ने ! आप और परमैश्वर्ययुक्त इन्द्र देव भी हमारे घृत आदि हविकी ओर लक्ष्य करके आइये, उसको स्वीकार करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।
ब्रवीतु सर्वो यातुमान् अयमस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

अग्निः । पूर्वः । आ । रभताम् । प्र । इन्द्रः । नुदतु । बाहुऽमान् ।
ब्रवीतु । सर्वः । यातुऽमान् । अयम् । अस्मि । इति । आऽइत्य ४

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः पूर्वः सर्वदेवानां पुरोगामी सन् आ रभतां यातुधानान् निग्रहीतुम् उपक्रमताम्। ❀ रभ राभस्ये ❀। राभस्यं कार्योपक्रमः। “अग्निः खलु वै रक्षोहा” [तै० सं० ६. १. ४. ६] इति हि तैत्तिरीयकम्। अग्नेः प्राथम्यमपि तत्रैव आम्नातम्। “अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्” [तै० ब्रा० २. ४. ३. ३.] इति ॥ तदनन्तरं बाहुमान् बलवत्त्वेन प्रशस्तबाहुयुक्तः। ❀ भूमनिन्दाप्रशंसासु इति प्रशंसायां बाहुशब्दात् मतुप्। “ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्” इति मतुप उदात्तत्वम् ❀। ईदृश [इन्द्रः] प्र नुदतु यातुधानान् प्रेरयतु अपसारयतु। ❀ नुद प्रेरणे। तुदादित्वात् शः। शस्य ङित्त्वात् लघूपधगुणाभावः। तिपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे विकरणस्य प्रत्ययस्वरेण उदात्तत्वे प्राप्ते “तिङ्ङतिङः” इति सर्वानुदात्तत्वम्। “व्यवहिताश्च” इति उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः ❀। इन्द्रेण प्रणुद्यमानो यातुमान्। यातूनि रक्षांसि विद्यन्ते अस्मिन्निति यातुमान् राक्षसाधिपतिः। यद्वा यातवो यातनाः। ❀ यत निकारोपस्कारयोः इत्यस्मात् औणादिक उण् ❀। ता अस्मिन् विद्यन्त इति यातुमान् तादृशः सर्वः निखिलो यातुधानः एत्य इमं देशम् आगत्य अयम् अयम् अस्मि एतन्नामकोऽहं भवामि इति ब्रवीतु कथयतु। आत्मानं प्रकाश्य निर्गच्छतु इत्यर्थः। ❀ एत्येति। आङ्पूर्वाद् इण् गतौ इत्यस्मात् “समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्” इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबादेशः। तस्य पित्त्वात् “ह्रस्वस्य पिति कृति०” इति तुक्। ब्रवीत्विति। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। अदादित्वाच्छपो लुक्। “ब्रुव ईट्” इति ईडागमः ❀ ॥

अङ्गनादि गुणयुक्त अग्निदेव सब देवताओंसे आगे बढ़ कर राक्षसोंको दण्ड देनेका काम आरम्भ करें ‡ तदनन्तर बलवान्

---

‡ तैत्तिरीयसंहिता ६। १। ४। ६ में कहा है, कि—“अग्निः

होनेसे प्रशस्त बाहुवाले इन्द्रदेव राक्षसोंको निकालदें। और इन्द्र से पीड़ित हुआ राक्षसराज वा जिनमें यातनाएँ हैं वे सब राक्षस इस देशमें आकर मैं अमुक नाम वाला हूँ, मैं अमुक नाम वाला हूँ, इस प्रकार कहें अर्थात् अपनेको प्रकाशित करके चले जावें ४

पञ्चमी ॥

पश्या॑म ते वी॒र्यं॑ जातवे॒दः प्र णो॑ ब्रूहि यातु॒धा-
ना॑न् नृचक्षः ।
त्व॒या स॒र्वे परि॑तप्ताः पुरस्ता॒त् त आ य॑न्तु प्रब्रु-
वा॒णा उपे॒दम् ॥ ५ ॥

पश्या॑म । ते॒ । वी॒र्य॑म् । जा॒त॒ऽवे॒दः । प्र । नः॒ । ब्रू॒हि॒ । या॒तु॒ऽ-
धाना॑न् । नृ॒ऽच॒क्षः॒ ।
त्वया॑ । सर्वे॑ । परि॑ऽतप्ताः । पु॒रस्ता॑त् । ते । आ । य॒न्तु॒ ।
प्र॒ऽब्रु॒वा॒णाः । उप॑ । इ॒दम् ॥ ५ ॥

हे जातवेदः जातानाम् उत्पन्नानां वेदितरग्ने ते तव वीर्यं सामर्थ्यं पश्याम द्रक्ष्यामः । ❀ दृशिर् प्रेक्षणे । अस्मात् लोटि उत्तमबहुवचने "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । "शपि पाघ्रा०" इत्यादिना धातोः पश्यादेशः । मसः पिद्वद्भावात् शपश्च पित्त्वात् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् । वीर्यम् इति। बिल्वभक्ष्य-

---

खलु वै रक्षोहा–अर्थात् अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं।" और अग्निकी प्रथमताका वर्णन भी तैत्तिरीय ब्राह्मण २।४।३।३ में किया है, कि–"अग्निरग्रे प्रथमो देवानाम्–देवताओंमें प्रथम अग्नि आगे (आते हैं)।"

वीर्याणि छन्दसि [फि० ४. ६] इति अन्तस्वरितत्वम् ❀ ॥ हे नृचक्षः नॄन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । अतिरोहितज्ञानतया सर्वं साक्षात् कर्तुं शक्तः इत्यर्थः । यद्वा नृभिर्मनुष्यैः ख्यायते दृश्यते उपास्यत्वेन साक्षात् क्रियत इति नृचक्षाः । ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मेति यास्कः [निघ० ३. ११]। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । नृशब्दोपपदाद् अस्मात् कर्तरि कर्मणि वा असुन् । "असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति ख्याञादेशाभावः ❀ । हे तथाविध अग्ने नः अस्माकं बाधकान् यातुधानान् राक्षसान् प्र ब्रूहि प्रकथय । यथा अस्मान् पुनःपुनर्न बाधन्ते तथा यातुधानान् आज्ञापयेत्यर्थः । ❀ ब्रूहि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । अदादित्वात् शपो लुक् । "सेर्ह्यपिच्च" इति हेः अपित्त्वेन ङित्त्वात् "क्ङिति च" इति गुणप्रतिषेधः ❀ ॥ अपि च त्वया एवम् आज्ञापयता पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले परितप्ताः परितः समन्ताद् दग्धाः ते सर्वे यातुधानाः प्रब्रुवाणाः स्वस्वनामादिकं कथयन्तः प्रलपन्तो वा इदं क्रियमाणं कर्म उप आ यन्तु उप समीपम् आयन्तु आगच्छन्तु । आगत्य विनश्यन्तु इत्यर्थः । ❀ पुरस्तादिति । "पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्" । "अस्ताति" च इति पूर्वशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः तत्संनियोगेन पुरादेशश्च । प्रब्रुवाणा इति । प्रपूर्वात् ब्रूञः लटः शानच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेनापि स एव शिष्यते ❀ ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने ! हम आपकी सामर्थ्य को देखते हैं । हे अतीन्द्रिय ज्ञान वाले होनेसे सबका साक्षात् करनेमें समर्थ अथवा मनुष्योंके द्वारा उपासना आदिसे साक्षात् में आनेवाले नृचक्षः अग्ने ! हमारे बाधक राक्षसोंसे कहिये अर्थात् जिस प्रकार वह हमें फिर बाधा न दें तैसी उन राक्षसों को आज्ञा दीजिये, जिससे आपके पहिले ही आज्ञा देने पर

राक्षस दग्ध होते हुए अपने २ नामका उच्चारण कर विलाप करते हुए इस वर्तमान कर्मके पासमें आवें और आकर नष्ट होजावें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

आ र॑भस्व जातवेदो॒स्माकार्था॑य जज्ञिषे ।
दू॒तो नो॑ अग्ने भू॒त्वा या॑तु॒धाना॒न् वि ला॑पय ॥६॥

आ । र॒भ॒स्व॒ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । अ॒स्माक॑ । अ॒र्था॑य । ज॒ज्ञि॒षे॒ ॥

दू॒तः । न॒ः । अ॒ग्ने॒ । भू॒त्वा । या॒तु॒ऽधाना॑न् । वि । ला॒प॒य ॥६॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने आ रभस्व राक्षसापनोदनकर्म कर्तुम् उपक्रमस्व ॥ तत्र कारणम् आह । अस्माक । ❀ अस्मदः षष्ठीबहुवचनस्य "साम आकम्" इति आकम् आदेशः । शेषे लोपे अन्त्यलोपश्छान्दसः । यदा हि शेषे लोपष्टिलोप इष्यते तदा "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति आकम आदेरुदात्तत्वम् । यदा तु अन्त्यलोपः [तदा] "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति उदात्तत्वम् ❀ । ग्रहरोगादिपीडितानाम् अस्माकम् अर्थाय प्रयोजनाय । प्रेप्सितं प्रयोजनं संपादयितुम् इत्यर्थः ॥ यद्वा अर्थशब्दो निवृत्तिवचनः । अनर्थनिवृत्तये यतस्त्वं जज्ञिषे जातवानसि । ❀ जनी प्रादुर्भावे । अस्मात् लिटि "असंयोगाल्लिट् कित्" इति लिटः कित्त्वे "गमहन०" इत्युपधालोपः । तस्य "द्विर्वचनेऽचि" इति स्थानिवद्भावात् साच्कस्य द्विर्वचनम् । "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति इडागमः ❀ ॥ ततः हे अग्ने नः अस्माकं दूतः यथोक्तकर्मकरो भूत्वा । अभूततद्भावद्योतकेन भूत्वा इत्यनेन स्वयम् अदूतः सन्नपि दूतवत् संनिहितो भूत्वा मदभिलषितं कुरु इत्युक्तं भवति । यातुधानान् राक्षसान् वि लापय विनाशय ॥

हे जातवेदा अग्ने! राक्षसोंको हटानेके लिये तयार हूजिये, क्योंकि तुम हम ग्रहपीड़ितोंके अभिलषित प्रयोजनको साधनेके लिये और अनर्थकी निवृत्तिके लिये उत्पन्न हुए हो, अतः हे अग्ने! हमारे दूत न होने पर भी तुम दूतकी समान पासमें रहकर हमारे अभिलषित कामको करो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

त्वमग्ने यातुधानान् उपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अग्ने । यातुऽधानान् । उपऽबद्धान् । इह । आ । वह ।
अथ । एषाम् । इन्द्रः । वज्रेण । अपि । शीर्षाणि । वृश्चतु ॥७॥

हे अग्ने त्वं यातुधानान् राक्षसान् उपबद्धान् रज्ज्वादिबद्धहस्तपाद्याद्यवयवान् कृत्वा इह अस्मिन् देशे आ वह आनय ॥ अथ अनन्तरमेव इन्द्रो देवानाम् अधिपतिः एषां यातुधानानां शीर्षाणि शिरांस्यपि वज्रेण कुलिशेन वृश्चतु छिनत्तु । ❀ ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । तस्य "सार्वधातुकम् अपित्" इति ङित्त्वात् "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् ❀ ॥

[इति] द्वितीयेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने! तुम रस्सी आदिसे राक्षसोंके हाथ पैर आदिको बाँध कर यहाँ ले आओ, इसके अनन्तर इन्द्र वज्रसे इनके शिरोंको काट डालें ॥ ७ ॥

दूसरे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त ॥ ७ ॥

"इदं हविः" इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः। सूत्रमपि तत्रैव उदाहृतम् ॥

"इदं हविः" इस सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया है और सूत्र भी तहाँ ही कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातुऽधानान् । नदी । फेनम्ऽइव । आ । वहत् ।
यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः । स्तुवताम् जनः ॥ १ ॥

इदं मया अग्न्यादिदेवेभ्यो दीयमानं हविः आज्यादिरूपं यातुधानान् रक्षःपिशाचादीन् आ वहत् आसमन्ताद् गमयतु । अस्मात् स्थानात् प्रच्यावयतु इत्यर्थः । ❀ वह प्रापणे । "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" इति प्रार्थनायां लङ् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । नदी तरङ्गिणी फेनमिव । सा यथा स्वकीयेन प्रवाहेण फेनं देशाद् देशान्तरं प्रापयति । तद्वद् इत्यर्थः । ❀ नद ध्वन शब्दे । नदति ध्वनतीति नदी । पचाद्यच् । तत्र नदट् इति टित्त्वेन पाठात् "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् । "यस्य०" इति लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप उदात्तत्वम् । नदनान्नद्य इति यास्कः [नि० २.२४] । मन्त्रवर्णश्च "यददः संप्रयतीरहावनदता हते । तस्मादा नद्यो नाम स्थ" [३. १३.१] इति ❀ ॥ तदनन्तरम् इदम् अभिचारकर्म यो जनः स्त्री वा पुमान् वा अकः अकार्षीत् । ❀ डुकृञ् करणे । अस्मात् लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । गुणे "हल्ङ्याब्भ्यः०" इति तिलोपः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । स जनः स्वकीयस्य अभिचारकर्मणो निष्फलत्वेन अनाप्तकामः सन् इह अस्मिन् देशे मत्समीपे स्थित्वा स्तुवतां स्तुतिं करोतु । मामेव शरणं प्राप्य सेवताम् इत्यर्थः ॥ यद्वा यः स्त्री वा पुमान् वा जनः

इदम् उक्तं हविः परकृतोपद्रवनिवृत्तये अकः अकार्षीत् हे अग्न्यादिदेव स जनः निवृत्तोपद्रवः सन् स्तुवताम् । त्वां स्तुत्यादिना परिचरतु इत्यर्थः । ❀ ष्टुञ् स्तुतौ । अस्मात् लोटि व्यत्ययेन शः । "तिङ् ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

जिस प्रकार नदी अपने प्रवाहसे फेनको एक देशसे दूसरे देशमें पहुँचा देती है, तिस प्रकार अग्नि आदि देवताओंको दी हुई घृत आदिरूप हवि, राक्षसोंको वा पिशाचोंको इस स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुँचा दे ॥ तदनन्तर जिसने अभिचार कर्म किया है वह व्यक्ति अपने अभिचारकर्मके निष्फल होने से यहाँ मेरे पास आकर स्तुति करे अर्थात् मेरी शरणमें आकर मेरी ही सेवा करे । और जिस व्यक्तिने दूसरेके उपद्रवको दूर करनेके लिये यह हवि दी है, हे अग्नि आदि देव ! वह व्यक्ति उपद्रवरहित होकर आपकी स्तुति करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अ॒यं स्तु॑वा॒न आग॑मदि॒मं स्म॒ प्रति॑ हर्यत ।
बृह॑स्पते॒ वशे॑ ल॒ब्ध्वाग्नी॑षोमा॒ वि वि॑ध्यतम् ॥२॥

अ॒यम् । स्तु॒वा॒नः । आ । अ॒ग॒म॒त् । इ॒मम् । स्म॒ । प्रति॑ । ह॒र्य॒त॒ ।
बृह॑स्पते । वशे॑ । ल॒ब्ध्वा । अ॒ग्नी॑षोमा । वि । वि॒ध्य॒त॒म् ॥ २ ॥

बृहस्पत्यादयो वक्ष्यमाणा [हे] देवाः अयं राक्षसपीडितो जनः स्तुवानः युष्मद्विषया स्तुतिं कुर्वाणः आगमत् आगतवान् । बहुविधोपद्रवनिवृत्तये संरक्षकान् युष्मानेव प्राप्त इत्यर्थः । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ । लुङि "पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु" इति च्लेः अङादेशः । स्तुवान इति । लटः शानच् । अदादित्वात् शपो लुक् । शानचो ङिद्वद्भावाद्" गुणाभावे उवङ् । "चितः" इति अन्तो-

दासत्वम् ❀ ॥ यत एवम् आगमत् अतो हेतोः इमं युष्मत्समीपं प्राप्तं जनं हे देवाः प्रति हर्यत स्म प्रतिकामयध्वम् । स्वकीयत्वेन परिगृह्णीतेत्यर्थः । ❀ हर्य गतिकान्त्योः । “स्मे लोट्” । “अधीष्टे च” इति लोट् ❀ ॥ हे बृहस्पते बृहतां महतां देवानां पालयितर्देव । ❀ “तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः०” इति सुट् तलोपौ । “आमन्त्रितस्य च” इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । त्वत्समीपं प्राप्तस्य अस्य उपद्रवकारिणः सर्वान् वशे लब्ध्वा स्वाधीनान् कृत्वा तिष्ठ । ते यथा इमं जनं नोपसर्पन्ति तथा निरुध्य वर्तस्वेत्यर्थः ॥ अपि च हे अग्निषोमा अग्नीषोमौ । ❀ अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे “ईदग्नेः सोमवरुणयोः” इति पूर्वपदस्य ईत्वम् । “अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः” इति षत्वम् । “सुपां सुलुक्०” इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पादादित्वाद् आष्टमिकनिघाताभावे षाष्ठिकम् आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम् ❀ । युवां वि विध्यतं तान् उपद्रवकारिणो विविधं ताडयतम् । मारयतम् इत्यर्थः । अग्नीषोमौ हि राजत्वात् शिक्षाधिकारिणौ इति तयोरेवात्र प्रार्थनम् । राजत्वं च तयोस्तैत्तिरीयके समाम्नायते । “राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ” [तै० सं० २. ६. २. १] इति । ❀ व्यध ताडने । अस्माद् विपूर्वात् लोटि दिवादित्वात् श्यन् । तस्य ङिद्वद्भावात् “ग्रहिज्या०” आदिना संप्रसारणम् ❀ ॥ यद्वा अयं यातुधानः युष्मत्तः अत्यर्थं भीतः सन् स्तुवानः युष्मान् स्तुवन् आगमत् युष्मन्निकटं प्राप्तवान् । इमम् आगतं यूयं प्रति हर्यत स्म अस्माकं प्रतिकूलम् अवगच्छत । हे बृहस्पते इमं वशे लब्ध्वा इत्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे बृहस्पति आदि (आगे वर्णन किये जानेवाले) देवताओं ! यह राक्षससे पीड़ित व्यक्ति तुम्हारी स्तुति करता हुआ आया है अर्थात् अनेक प्रकारके उपद्रवोंके पञ्जेसे छूटनेके लिये तुम

संरक्षकोंकी शरणमें आया है, अतः तुम अपनी शरणमें आये हुए इसको अपना समझ कर ग्रहण करो। हे बड़े २ देवताओं का पालन करने वाले बृहस्पति देव! इस शरणागत पर अत्याचार करने वालोंको अपने वशमें करिये अर्थात् वे जिस प्रकार इसके पास न आ सकें तिस प्रकार उनको रोकते हुए डटे रहिये। और हे अग्नि और सोम देवताओं! तुम इन उपद्रव करने वाले राक्षसोंको अनेक प्रकारसे दण्ड दो—मार डालो †।

दूसरा अर्थ—हे अग्नि और सोम देवताओं! यह राक्षस तुम से भयभीत होकर तुम्हारी स्तुति करता हुआ तुम्हारे पास आ रहा है, तुम इसको हमारे प्रतिकूल जानो और हे बृहस्पते! तुम इसको अपने वशमें करलो॥ २॥

† अग्नि और सोम देवता राजा होनेके कारण दण्ड देनेके अधिकारी हैं, अत एव यहाँ उनकी प्रार्थना की है। तैत्तिरीयसंहिता २।६।२।१ में कहा है, कि—"राजानौ वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ—जो अग्नि और सोम हैं वे देवताओंके राजा हैं।"

तृतीया॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम्॥ ३॥

यातुऽधानस्य। सोमऽप। जहि। प्रऽजाम्। नयस्व। च।
निः। स्तुवानस्य। पातय। परम्। अक्षि। उत। अवरम्॥ ३॥

हे सोमप सोमरसस्य पातरग्ने। ❀ "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कर्मणि उपपदे पिबतेः कप्रत्ययः ❀। यातुधानस्य राक्षसस्य प्रजाम् पुत्रपौत्रादिलक्षणां संततिं जहि नाशय। ❀ हन हिंसा-

गत्योः। अस्मात् लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः। "हन्तेर्जः" इति धातोर्जादेशः। तस्य "असिद्धवदत्राभात्" इति असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति लुगभावः ❀। यद्वा। ❀ यातुधानस्य इति कर्मणि षष्ठी ❀। यातुधानम् अस्मदुपद्रवकारिणं राक्षसं जहि। प्रजाम् अस्मदीयां नयस्व च अभिमतफलं प्रापय च। अनिष्टपरिहारम् इष्टप्राप्तिं च कुरु इत्यर्थः॥ अपि च स्तुवानस्य भीत्या त्वद्विषयां स्तुतिं कुर्वतः शत्रोः परम् उत्कृष्टं दक्षिणम् अक्षि। उतशब्दः अप्यर्थे। अवरम् निकृष्टं वामाक्ष्यपि। उभे अपि चक्षुषी निष्पातय स्वस्थानात् प्रच्यावय। विनाशयेत्यर्थः। "तस्माद् दक्षिणोर्ध आत्मनो वीर्यावत्तरः" [तै० सं० १. ७. ६. ३] इति श्रुत्या पुरुषशरीरे दक्षिणभागस्य अतिशयितवीर्यवत्त्वप्रतिपादनात् तद्भागवर्तिनश्चक्षुषः परत्वम् उक्तम्। तदपेक्षया च इतरस्य अवरत्वम् उन्नेयम्॥

हे सोमरसका पान करने वाले अग्ने! आप इस राक्षसकी पुत्र पौत्र आदि प्रजाका संहार करिये इस उपद्रवकारी राक्षसको मार डालिये और हमारी सन्तानके अनिष्टको दूर करिये और इष्ट फल दीजिये और डर कर आपकी स्तुति करते हुए शत्रुकी श्रेष्ठ † दाहिनी आँखको फोड़ डालिये और निकृष्ट बाईं आँखको भी फोड़ डालिये॥ ३॥

---

† "तस्माद् दक्षिणोर्ध आत्मनो वीर्यावत्तरः [तैत्तिरीयसंहिता १। ७। ६। ३] अर्थात् इस कारण पुरुषका अपना आधा अङ्ग बलवान् है।" इस श्रुतिमें पुरुषके शरीरमें दक्षिण भागको परम वीर्यशाली बताया है। इस लिये दक्षिणभागमें वर्तमान नेत्रको श्रेष्ठ कहा है और दूसरेको निकृष्ट कहा है॥

चतुर्थी ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ
गुहा सतामत्त्रिणां जातवेदः ।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने४

यत्र । एषाम् । अग्ने । जनिमानि । वेत्थ । गुहा । सताम् । अत्त्रिणाम् । जातऽवेदः । तान् । त्वम् । ब्रह्मणा । वावृधानः । जहि । एषाम् । शतऽतर्हम् । अग्ने ॥ ४ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने गुहा सताम् गुहायां निवसताम् अत्त्रिणाम् अदनशीलानाम् एषाम् रक्षसां यत्र यस्मिन् स्थानविशेषे विद्यमानानि जनिमानि जन्मानि वेत्थ जानासि । ❀ यत्रेति । "सप्तम्यास्त्रल्" । "प्राग्दिशो विभक्तिः" इति विभक्तिसंज्ञायां "त्यदादीनामः" इति अत्वम् । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । जनिमानीति । जनी प्रादुर्भावे । अस्माद् भावे औणादिक इमनिन् प्रत्ययः । वेत्थेति । विद ज्ञाने । "विदो लटो वा" इति सिपस्थलादेशः । लित्स्वरेण आद्युदात्तत्वम् । "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति निघातप्रतिषेधः । सताम् इति । अस्तेर्लटः शत्रादेशः । अदादित्वात् शपो लुक् । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः । अत्त्रिणाम् इति । अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति त्रिनिप्रत्ययः ❀। अतो हेतोः हे अग्ने त्वम् ब्रह्मणा मन्त्रेण वावृधानः वर्धमानः सन् । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् लिटः कानच् ❀ । तान् तत्र स्वस्थाने वर्तमानान् राक्षसान् जहि नाशय । तथा एषाम् यातुधानानां शततर्हम् शतप्रकारं बहुविधं हिंसनं च निवर्तय ।

तत्कृतोपद्रवजातमपि नाशयेत्यर्थः ।। यद्वा ब्रह्मणा परिवृढेन अस्माभिर्दत्तेन हविषा वावृधानः वर्धमानः प्रवृद्धबलस्त्वम् तान् अत्रिणो राक्षसान् एषाम् रक्षसां त्वया ज्ञातानि पुत्रपौत्रादिरूपाणि जन्मानि च शततर्हम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । शतशो बहुशस्तर्हणं हिंसनं यथा भवति तथा जहि । निरवशेषं नाशयेत्यर्थः ।। ❁ तृह हिंसि हिंसायाम् । अस्माद् भावे घञ् ❁ ।।

[इति] इति प्रथमकाण्डे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ।।

हे जातवेदा अग्ने ! गुहामें निवास करने वाले इन भक्षणशील राक्षसोंके पुत्र पौत्र आदिरूप जन्म जहाँ हैं, उनको तुम जानते हों इस कारण हे अग्ने ! तुम मन्त्रके द्वारा वृद्धि पाकर इन राक्षसोंको अनेक प्रकारसे मारो—इनका पूर्णरीतिसे नाश कर डालो ।। ४ ।।

प्रथमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (८) ।।

“अस्मिन् वसु” इति सूक्तेन सर्वसंपत्कर्मसु वासितयुग्मकृष्णलमणिबन्धनम् सारूपवत्सौदने पुरुषाकृतिम् आलिख्य तत्प्राशनं च कुर्यात् । तथा च सूत्रम् । “अस्मिन् वसु ❁ ❁ इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सं पुरुषगात्रम्” इत्यादि [कौ० २. २] ।। अत्र वासितं इत्यस्य अयम् अर्थः । “त्रयोदश्यादयस्तिस्रो दधिमधुनि वासयित्वा बध्नात्याशयति” इति [कौ०१.७] परिभाषणात् त्रयोदश्यादिषु दिवसेषु दधिमधुपूर्णे पात्रे मणिं प्रक्षिप्य चतुर्थेहनि तन्मणिबन्धनं तद्दधिमधुप्राशनं [च] कुर्याद् इति ।।

तथा शत्रुणा राष्ट्रात् प्रच्यावितस्य राज्ञः पुनः स्वराष्ट्रप्रवेशार्थं छेदनप्रदेशात् पुनः प्ररूढैः काम्पीलकाष्ठैः शृतं लूनपुनरुत्थितव्रीहिजम् ओदनम् अनेनैव सूक्तेन प्राशयेत् । तथा च संहिताविधौ । “अस्मिन् वस्विति राष्ट्रावगमनम् आनुशूकानां व्रीहीणाम् आव्रस्कजैः काम्पीलैः शृतं सारूपवत्सम् आशयति” इति [कौ०२.७]।।

तथा आयुष्कामः युग्मकृष्णलमणिं स्थालीपाके प्रक्षिप्य तन्मणिबन्धनम् तदोदनप्राशनं च अनेनैव सूक्तेन कुर्यात् । तथा च कौशिकः । "अस्मिन् वसु ❀ ❀ इति युग्मकृष्णलम् आदिष्टानां स्थालीपाक आधाय बध्नात्याशयति" इति [कौ० ७. ३] ।

तथा उपनयनकर्मणि माणवकानुमन्त्रणेपि एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । "उपनयनम्" प्रक्रम्य सूत्रितम् । "प्राञ्चम् अवस्थाप्य दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु [१. ९] विश्वे देवा वसवः [१. ३०] आ यातु मित्रः [३. ८] अमुत्र भूयात् [७. ५५] अन्तकाय मृत्यवे [८. १] आ रभस्व [८. २] प्राणाय नमः [११. ४] विषासहिम् [१७. १] इत्यनुमन्त्रयते" इति [कौ० ७. ६] ॥

एतेषामेव आयुष्यगणत्वात् "आयुष्यस्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति [कौ० १४. ३] सूत्राद् उपाकर्मादिष्वपि एतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

तथा "ऐरावतीं गजक्षये" इति [न० क० १७] विहितायाम् ऐरावत्याख्यायां महाशान्तावपि अस्य विनियोगः । तथा [च] नक्षत्रकल्पे । "आयुष्यशान्तिस्वस्तिगणा ऐरावत्याम्" इति[न०क०१८] ॥

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य" [न० क० १७] इत्युक्तायाम् "अस्मिन् वस्विति युग्मकृष्णलं बार्हस्पत्यायाम्" [न० क० १९] इत्युक्तत्वाद् बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ युग्मकृष्णलमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

पुष्पाभिषेककर्मणि एतत् सूक्तम् । तथा च परिशिष्टे ।

शर्मवर्मगणश्चैव तथा स्याद् अपराजितः ।
आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः ।
एतान् पञ्च गणान् हुत्वा वाचयेत द्विजोत्तमान् ।
इति [प० ५. ३] ॥

'अस्मिन् वसु' इस सूक्तके द्वारा सर्वसम्पत्कर्मोंमें वासित युग्मकृष्णलमणिका बंधन करे और अपने तथा वछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दूधके भातमें पुरुषकी आकृतिको लिख कर उसका प्राशन करे। कौशिकसूत्र २।२ में भी कहा है, कि—"अस्मिन् वसु० इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सम् पुरुषगात्रम् इत्यादि।—अर्थात् वासित युग्मकृष्णल (नीलम) को बाँधता है और सारूपवत्स पुरुषके०।" वासित शब्दके अर्थको स्पष्ट करते हैं, कि—कौशिकसूत्र १।७ में कहा है, कि—"त्रयोदश्यादयस्तिस्त्रो दधिमधुनि वासयित्वा बध्नात्याशयति-त्रयोदशी आदि तीन दिन दही और शहदमें वसा कर बाँधता है, प्राशन करता है।" इस परिभाषणके अनुसार त्रयोदशी आदि तीन दिन तक मणिको दही और मधुसे भरे पात्रमें डाल कर चौथे दिन उस मणिको बाँधे और उस दही और मधुका प्राशन भी करे॥

और शत्रुने जिसको राज्यसे निकाल दिया हो उस राजाको फिर अपने राज्यमें प्रवेश करानेके लिये छेदनके प्रदेशसे फिर उगे हुए काम्पील (कबीलेके) काष्ठोंसे औटाये हुए और कटनेके बाद फिर उगे हुए धानोंके भातका इस सूक्तसे भक्षण करावे। इसी बातको संहिताविधिमें कहा है, कि—"अस्मिन् वस्विति राष्ट्रावगमनम् आनुशूकानां व्रीहीणां आव्रस्कजैः काम्पीलैः भृतं सारूपवत्सं आशयति।" [कौशिकसूत्र २।७]॥

और आयु चाहने वाला भी दो नीलम मणियोंको स्थालीपाकमें डाल कर उन मणियोंका बंधन और उस भातका भक्षण भी इसी सूक्तसे करे॥ इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"अस्मिन् वसु इति युग्मकृष्णलं आदिष्टानां स्थालीपाक आधाय बध्नात्याशयति।" (कौशिकसूत्र ७।३)॥

तथा उपनयन कर्ममें बालकके अनुमंत्रणमें भी इस सूक्तका

विनियोग होता है। कौशिकसूत्र ७। ६ में कहा है, यथा—"उपनयनका" आरंभ करके कहा है, कि—"प्राक्की स्थापना करके दाहिने हाथसे नाभिदेशको छू कर निम्न लिखित मंत्रोंको जपते हुए अनुमंत्रण करते हैं। अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु [१ । ६] विश्वे देवा वसवः [१ । ३०] आ यातु मित्रः [३ । ८] अमुत्र भूयात् [७ । ५५] अन्तकाय मृत्यवे [८ । १] आरभस्व [८ । २] प्राणाय नमः [११ । ४] विषासहिम् [१७ । १] ॥

ये ही आयुष्यगण कहलाता है। अत एव "आयुष्यस्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्—आयुष्य और स्वस्त्ययन मंत्रोंसे घृतकी आहुति देय।" [कौशिकसूत्र १४ । ३] इस सूत्रके अनुसार उपाकर्म आदिमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है॥

तथा "ऐरावतीं गजक्षये—गजक्षयमें ऐरावतीका प्रयोग करे" [नक्षत्रकल्प १७] इस सूत्रसे विहित ऐरावती महाशान्तिमें भी इस सूक्तका विनियोग है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि—"आयुष्यशान्तिस्वस्तिगण ऐरावत्याम्—आयुष्य शान्ति और स्वस्तिगणका ऐरावती महाशान्तिमें प्रयोग होता है॥"

तथा "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्य—राज्य श्री और ब्रह्मवर्चस्की की कामना वालेके लिये बार्हस्पत्या महाशान्ति करे।" [नक्षत्रकल्प १७] इस सूत्रसे विहित बार्हस्पत्या नाम वाली महाशान्तिके युग्मकृष्णलमणिबंधनमें भी इस सूक्तका विनियोग देखा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि—"अस्मिन् वस्विति युग्मकृष्णलं बार्हस्पत्यायाम्" ॥

पुष्पाभिषेकमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"शर्मवर्मगणश्चैव तथा स्यादपराजितः। आयुष्याश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः।

एतान् पञ्चगणान् हुत्वा वाचयेत द्विजोत्तमान् ।।—शर्मवर्मगण अपराजितगण आयुष्यगण अभयगण और स्वस्त्ययनगण इन पाँच गणोंसे आहुति देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन करावे ।।” अथर्वपरिशिष्ट ५ । ३

तत्र प्रथमा

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो
मित्रो अग्निः ।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन्
ज्योतिषि धारयन्तु ।। १ ।।

अस्मिन् । वसु । वसवः । धारयन्तु । इन्द्रः । पूषा । वरुणः । मित्रः । अग्निः । इमम् । आदित्याः । उत । विश्वे । च । देवाः । उत्ऽतरस्मिन् । ज्योतिषि । धारयन्तु ।। १ ।।

अस्मिन् जने सर्वसंपदादिफलकामे वसवः निवासहेतुभूता एतत्संज्ञा देवाः वसु अभिलषितं धनं धारयन्तु स्थापयन्तु । ❀ धृञ् धारणे । अस्मात् णिच् । वसव इति वस निवासे । शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ० १. १०] इति उप्रत्ययः । तत्र धान्ये नित् [उ० १. ९] इत्यनुवृत्तेः “ञ्नित्यादिर्नित्यम्” इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ।। न केवलं वसवः अपि तु इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानाम् अधिपतिर्देवः ।। ❀ इदि परमैश्वर्ये । ऋज्रेन्द्राग्रेत्यादिना [उ० २. २८] रन्प्रत्ययान्तो निपातितः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा इदंकारास्पदं विश्वं कारणभूतब्रह्मात्मना अद्राक्षीदिति इन्द्रः । श्रूयते हि ऐतरेयके । “स एतमेव पुरुषं

ब्रह्म ततमम् अपश्यद् इदम् अदर्शमिती ३ तस्माद् इदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तम् इदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण” [ऐ० आ० २. ४. ३] इति ❀। पूषा पोषकः एतन्नामा देवः। “पूष्णः पोषेण मह्यम्” [तै० ब्रा० १. २. १. १६] “पूषापोषयत्” [तै० ब्रा० १. ६. २. २] इत्यादिश्रुतेः। ❀ पुष पुष्टौ। श्वन्नुक्षन्नित्यादिना [उ० १. १५६] कनिन्प्रत्ययान्तो निपातितः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀। वरुणः वृणोति सर्वं जगत् निग्रहीतुं पाशजालेन व्याप्नोतीति वरुणो रात्र्यभिमानी देवः। तथा च श्रूयते। “ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितताः पुरुत्रा”। “उदुत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अबाधमं वि मध्यमं श्रथाय” [ऋ० १. २४. १५] इति च। ❀ वृञ् वरणे। कृपॄवृदारिभ्य उनन् [उ० ३. ५३] इति उनन् प्रत्ययः। नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀। मित्रः अहरभिमानी देवः। “अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ” [तै० सं० २. ४. १०. १] इत्यादिश्रुतेः। सर्वस्य मरणत्रायकत्वेन सर्वजनमित्रत्वात् मित्र इत्युच्यते। “सर्वस्य वा अहं मित्रम् अस्मि” [तै० सं ६. ४. ८. १.] इति हि तैत्तिरीयकम्। ❀ मित्रः प्रमीतेस्त्रायते [नि० १०. २१] इति यास्कः ❀। अग्निः एतेषाम् इन्द्रादीनाम् अग्रणीः मुख्यभूतो वा देवः। “अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्” [तै० ब्रा० २. ४. ३. ३] “अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्” [ऐ० ब्रा० १. ४] इति च श्रुतेः। एतेपि अस्मिन् वसु धारयन्तु इति संबन्धः॥ उत अपि च आदित्याः। अदितिः अदीना देवमाता तस्याः पुत्रा आदित्याः धात्रर्यमादयो देवाः। श्रूयते हि तैत्तिरीयके। “अदितिः पुत्रकामा” इत्यारभ्य “तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्” [तै० ब्रा० १. १. ९. १] इत्यादि। ❀ “दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः” इति अदितिशब्दात् षष्ठीसमर्थाद् अपत्येर्थे प्राग्दीव्यतीयो ण्यप्रत्ययः।

प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀। विश्वे सर्वे अन्ये देवाश्च । यद्वा विश्वे देवाः एतत्संज्ञका गणदेवाः इमम् पुरुषम् उत्तरस्मिन् उत्कृष्टतरे ज्योतिषि तेजसि धारयन्तु स्थापयन्तु । तेजसा सर्वोत्कृष्टं कुर्वन्तु इत्यर्थः ॥

सब प्रकारकी सम्पत्ति आदि चाहने वाले इस मनुष्यमें निवासके हेतु वसुनामक देवता अभिलषित धनको स्थापित करें । केवल वसु देवता ही नहीं, किन्तु परमैश्वर्यशाली देवराज इन्द्र†, पोषक पूषा देवता‡, सम्पूर्ण ज़गत्को अपने पाशोंसे बांधनेके लिये घेरनेके वाले रात्रिके अभिमानी देवता वरुण ×, दिनके अभिमानी देवता मित्र ÷ (सूर्य), और इन्द्र आदि देवताओंमें मुख्य

---

† अथवा उन्होंने "इदं—यह" के वाच्य विश्वको कारणभूत ब्रह्मात्माके द्वारा देखा, इस कारण वह इन्द्रदेव कहलाते हैं। ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । ३ में कहा है, कि—"स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमम् अपश्यद्द इदं अदर्शमितीं ३ तस्माद्द इदन्द्रो नाम इदन्द्रो ह वै नाम तं इदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण—उसने इस ब्रह्म पुरुषको ही चारों ओर फैला हुआ देखा इदम्—इसको फैला हुआ द्रं देखा इस कारण उस इदन्द्रको परोक्षमें इन्द्र कहते हैं ॥

‡ "पूष्णः पोषेण मह्यम्" तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । २ । १ । ७६ "पूषापोषयत्" तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ६ । २ । २ इत्यादि श्रुतियोंसे पूषा (सूर्य) देवताका पोषकत्व सिद्ध है ॥

× सुना भी जाता है, कि—"ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितताः।—हे वरुण ! जो तुम्हारे सैंकड़ों और सहस्रों यज्ञिय पाश फैले हुए हैं ।" और ऋग्वेद १ । २४ । १५ में भी कहा है, कि—"उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय" ॥

÷ अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ—मित्र (सूर्य) और वरुण दिन और रात्रिके देवता हैं ॥" [तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १० । १]

तथा अग्रणी अग्निदेव + भी इस सम्पत्ति चाहने वालेको अभिलषित धन दें। और अदीना देवमाता अदितिके पुत्र धाता अर्यमा आदि आदित्य† देवता, विश्वेदेवा तथा और सम्पूर्ण देवता भी इस पुरुषमें सर्वश्रेष्ठ तेजको स्थापित करें अर्थात् इसको तेजसे सर्वश्रेष्ठ बना दें॥ १॥

द्वितीया॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् २

इस श्रुतिके अनुसार सूर्य दिनके और वरुण रात्रिके देवता हैं। सूर्य मरणसे रक्षा करते हैं और सबके मित्र हैं अत एव मित्र कहलाते हैं। तैत्तिरीय संहिता ६।४।८।१ में सूर्यका वाक्य भी है, कि—"सर्वस्य वा अहं मित्रं अस्मि—मैं सबका मित्र हूँ" और यास्कने कहा है, कि—"मित्रः प्रमीतेस्त्रायते—प्रमीति (मरण) से रक्षा करनेके कारण मित्र कहलाते हैं" [निरुक्त १०।२१]॥

+ "अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्—देवताओंमें अग्नि प्रथम (मुख्य) और अग्रणी है" [तैत्तिरीय ब्राह्मण २।४।३।३]। और "अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्—देवताओंमें प्रथम गिनने योग्य अग्नि देवताओंका मुख है।" [ऐतरेय ब्राह्मण १।४]॥

† तैत्तिरीयकमें भी कहा है, कि—"अदितिः पुत्रकामा—अदिति ने पुत्रकी इच्छाकी" इसका आरंभ करके कहा है, कि—"तस्यै धाता चार्यमा चाजायेताम्—उसके धाता और अर्यमा हुए।" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।९।१)॥

अ॒स्य । दे॒वा॒ः । प्र॒ऽदिशि॑ । ज्योति॑ः । अ॒स्तु॒ । सूर्यः । अ॒ग्निः ।

उ॒त । वा॒ । हिर॑ण्यम् । स॒ऽपत्नाः । अ॒स्मत् । अध॑रे । भ॒व॒न्तु॒ ।

उ॒त्ऽत॒मम् । नाक॑म् । अधि॑ । रो॒ह॒य॒ । इ॒मम् ॥ २ ॥

हे देवाः इन्द्रादयः युष्मदाज्ञया अस्य ग्रामादिफलकामस्य पुरुषस्य । ❀ कर्तरि कर्मणि वा षष्ठी ❀ । प्रदिशि प्रदेशने प्रशासने । आज्ञायाम् इत्यर्थः । ज्योतिरस्तु भवतु । किं तज्ज्योतिरिति तद् आह । सूर्यः मार्तण्डः सर्वस्य प्रकाशको देवः । अग्निः और्वजाठरवैद्युतादिरूपः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः । एतत् चन्द्रादीनामपि उपलक्षणम् । उतशब्दः अप्यर्थे । वाशब्दः चार्थे । अपि च हिरण्यम् सुवर्णम् । अस्य सितभास्वररूपत्वात् ज्योतिष्ट्वम् । श्रुतं च "ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिषैव तमोपहते" [तै० सं० ५.७.५.२] इति । सूर्यादिकं ज्योतिः प्रकाशप्रवर्षणादिना अस्य उपकरोतु । निखिलसंपन्मूलभूतं धनमपि अस्य वशे वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ प्रदिशीति । दिश अतिसर्जने । अस्मात् प्रपूर्वात् संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ ॥ यत एवम् अतः सपत्नाः शत्रवः । सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः अव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम् । यद्वा । सपत्नीव सपत्नः । ❀ "व्यन्त्सपत्ने" इति निपातनात् सपत्नीशब्दाद् इवार्थे अकारप्रत्ययः ❀ । अस्मत् अस्मदीयात् पुरुषात् । यद्वा । अस्मत् अस्मात् । ❀ छान्दसं ह्रस्वत्वम् ❀ । अधरे निकृष्टा भवन्तु । उपक्षीणा भवन्तु इत्यर्थः ॥ अपि च न केवलम् ऐहिकमेव आमुष्मिकमपि सुखं प्रार्थयते । उत्तमम् उत्कृष्टतमम् । ❀ उपसृष्टाद् उच्छब्दक्रियावचनाद् आतिशायनिकस्तमप् । "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठाद् "उञ्छादीनां च" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तादृशं नाकम् । कं सुखम् अकं दुःखम् । न विद्यते-

स्मिन् अकम् इति नाकः स्वर्गः । श्रूयते हि । “सुवर्गो वै लोको नाको यस्यैता उपधीयन्ते नास्मा अकं भवति” [तै० सं० ५. ३. ७. १] इति । ❀ “नभ्राण्नपान्न०” इत्यादिना नञः प्रकृतिभावात् नलोपाभावः । “बहुव्रीहौ प्रकृत्या०” इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । “नञ्सुभ्याम्” इति व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । दुःखलेशेनापि असंस्पृष्टं लोकम् इमम् पुरुषम् अधि रोहय । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ । हे देवाः अधिरोहयत प्रापयत । ऐहिकम् आमुष्मिकं च सुखं प्रयच्छतेत्यर्थः ॥

हे इन्द्र आदि देवताओं ! तुम्हारी आज्ञासे इस ग्राम आदि फल चाहने वाले पुरुषके प्रशासनमें ज्योति रहे । (कौन २ सी ज्योति रहे, इसको कहते हैं, कि–) सूर्य–सबके प्रकाशक मार्तण्डदेव, और्व जाठर वैद्युत आदिरूप अङ्गनादिगुण युक्त अग्नि और चन्द्र तथा † सुवर्ण ज्योति भी इसके अधीन रहे । अर्थात् सूर्य आदि ज्योति प्रकाश और वर्षाके द्वारा इसका उपकार करें । और सब सम्पत्तियोंका मूलभूत धन भी इसके पास रहे । ऐसा होने पर शत्रु इस हमारे पुरुषसे और हमसे निकृष्ट होजावें (इस प्रकार इस लोकके सुखकी प्रार्थना कर अब परलोकके सुखकी प्रार्थना करते हैं, कि–) और हे देवताओं ! दुःखके लेशसे भी अछूते परमश्रेष्ठ नाक (स्वर्ग) ‡ लोकमें इस पुरुषको तुम चढ़ाओ ।

---

† सित भास्कररूप होनेसे सुवर्ण ज्योति कहलाता है । तैत्तिरीयसंहिता ५ । ७ । ५ । २ में कहा है, कि–“ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिषैव तमोपहते–सुवर्ण ज्योति है ज्योतिसे ही अन्धकार दूर होता है ।”

‡ सुखको ‘क’ कहते हैं, सुखका न होना ‘अक’ दुःखका वाचक है । जिसमें अक अर्थात् दुःख नहीं होता है, वह नाक (स्वर्ग) कहलाता है । तैत्तिरीयसंहिता ५ । ३ । ७ । १ में कहा

अर्थात् इसको ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका सुख दो॥२॥

तृतीया ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्

येन । इन्द्राय । सम्ऽअभरः । पयांसि । उत्ऽतमेन । ब्रह्मणा । जातऽवेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् । सऽजातानाम् । श्रैष्ठ्ये । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

हे जातवेदः जातानां वेदितरग्ने येन अतिशयितवीर्यवता उत्तमेन उत्कृष्टतमेन ब्रह्मणा मन्त्रेण करणभूतेन पयांसि क्षीराज्यादिरूपाणि हवींषि इन्द्राय देवानाम् अधिपतये समभरः समहरः प्रापितवान् असि । ❀ हृञ् हरणे अस्मात् लङि सिप् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि इति भत्वम् । "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वड् उदात्तः" इति अडागम उदात्तः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः । "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀ । हे अग्ने त्वं तेन तथाविधेन ब्रह्मणा इमम् संपदादिफलकामं पुरुषम् इह अस्मिन् लोके स्वकीये अवस्थाने वर्धय समर्धय । अस्य अभिमतफलसमृद्धिं कुर्वित्यर्थः ॥ अपि च । सजातानाम् समानजन्मनां पुरुषाणां मध्ये श्रैष्ठ्ये श्रेष्ठत्वे एनम् पुरुषम् आ धेहि निधेहि स्थापय । ज्ञातीनां मध्ये एनम् उत्कृष्टतमं कुर्वित्यर्थः । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः । अस्मात् लोट् । "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः । "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ । श्रैष्ठ्य इति । प्रशस्यशब्दाद् आतिशायनिक

है, कि—"सुवर्गो वै लोको नाको यस्यैता उपधीयन्ते नास्मा अकं भवति ॥"

इष्ठन् प्रत्ययः । “प्रशस्यस्य श्रः” इति प्रशस्यशब्दस्य श्रादेशः । अस्मादेव आदेशविधानसामर्थ्याद् “अजादी गुणवचनादेव” इति नियमस्य बाधितत्वाद् अगुणवचनादपि इष्ठन् प्रत्ययः । “प्रकृत्यैकाच् इति” प्रकृतिभावात् टिलोपयस्येतिचलोपयोरभावः । श्रेष्ठस्य भावः श्रैष्ठ्यम् ॥ ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाद् “गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च” इति ष्यञ् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले जातवेदा अग्ने ! जिस परमवीर्यवान् मन्त्रसे तुमने देवताओंके स्वामी इन्द्रको क्षीर घृत आदि रूप हवि पहुँचाई है । हे अग्ने ! तुम उस मन्त्रके द्वारा इस सम्पत्ति आदि फल चाहने वाले पुरुषको इस लोकमें बढ़ाओ और समान जन्म वाले पुरुषोंमें इसको श्रेष्ठ पदपर आरूढ़ करो अर्थात् जातिमें इसको श्रेष्ठ बनाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ४

आ । एषाम् । यज्ञम् । उत । वर्चः । ददे । अहम् । रायः ।
पोषम् । उत । चित्तानि । अग्ने ।
सऽपत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु । उत्ऽतमम् । नाकम् ।
अधि । रोहय इमम् ॥ ४ ॥

हे अग्ने त्वत्प्रसादाद् एषाम् शत्रूणां संबन्धिनं यज्ञम् स्वर्गादिसाधनं पुण्यकर्म अहम् त्वदुपासकः आ ददे स्वीकरोमि । अप-

हरामीत्यर्थः। ❀ "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम्। "व्यवहिताश्च" इति आङो व्यवहितप्रयोगः ❀। उत अपि च वर्चः राज्यादिनिमित्तं शत्रुसंबन्धि तेजः। तथा रायः धनस्य पोषम् पुष्टिम्। शत्रूणां संबन्धि समृद्धं धनम् इत्यर्थः। उत चित्तानि मनांस्यपि। आ ददे इति प्रत्येकं संबन्धः। शत्रुसंबन्धि ऐहिकामुष्मिकसुखोपायभूतं यज्ञधनादिकं तन्निर्वर्तिकां बुद्धिं स्वात्मसात्करोमीत्यर्थः। ❀ रायस्पोषम् इति। "ऊडिदंपदादि॰" इति-रैशब्दात् परस्याः षष्ठ्या उदात्तत्वम्। "षष्ठ्याः पतिपुत्र॰" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀। यत एवम् अतः सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु इत्यादि पूर्ववद् योज्यम्॥

[इति] प्रथमकाण्डे द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम्॥

हे अग्ने! आपके प्रसादसे आपका उपासक मैं इन शत्रुओंके स्वर्ग आदिके साधन पुण्यकर्मको स्वीकार करता हूँ—हरता हूँ—। और इन शत्रुओंके समृद्ध धन और चित्तोंको भी हरता हूँ। अत एव शत्रु हमारे इस यजमानके (वा हमारे, अधीन होजावें। और हे देवताओं! तुम इस यजमानको दुःखरहित श्रेष्ठ स्वर्गमें चढ़ाओ॥४॥

प्रथमकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त॥ (९)॥

"अयं देवानाम्" इति सूक्तेन जलोदररोगनिवृत्तये गृहतृणदर्भपिञ्जूलीयुक्तघटजलेन अभिषेकं कुर्यात्। सूत्रितं हि। "अयं देवानाम् इति एकविंशत्या दर्भपिञ्जूलीभिर्वलीकैः सार्धम् अधिशिरोऽवसिञ्चति" इति [कौ॰ ४. १]॥

जलोदररोगकी निवृत्तिके लिये गृहतृण और कुशाकी मुट्ठी युक्त घटजलका 'अयं देवानाम्॰' इस मन्त्रसे अभिषेक करे॥ कौशिकसूत्रमें भी कहा है, कि—"अयं देवानाम्॰ इस मन्त्रको पढ़ कर इक्कीस दर्भ (कुशा) की मुट्ठी और वलीक (वरौनीके तृणों) से शिर पर अभिषेक करे।"

तत्र प्रथमा ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः ।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि । सत्या । वरुणस्य । राज्ञः ।
ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः । उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥ १ ॥

देवानाम् इन्द्रादीनां मध्ये असुरः क्षेप्ता पापिनां निग्रहीता । ❀ असु क्षेपणे । असेरुरन् [उ० १. ४२] इति उरन् प्रत्ययः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । ईदृशः अयम् वरुणो विराजति विशेषेण दीप्यते । सर्वनियन्तृत्वात् सर्वोत्कृष्टतया वर्तत इत्यर्थः । राजृ दीप्तौ ❀ ॥ तत्र हेतुम् आह । हि यस्मात् कारणात् सत्या सत्यानि सद्रूपं प्राप्तानि पदार्थजातानि । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः । राज्ञः राजमानस्य वरुणस्य देवस्य वशा वशानि स्ववशेन स्वाधीनानि । नियम्यत्वेन स्वाधीनानि भवन्तीत्यर्थः । यद्वा राज्ञः वरुणस्य सत्यानि यथार्थभाषणानि स्ववशानि भवन्ति । सर्वदा सत्यभाषणशील इत्यर्थः । आम्नायते हि "राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणः" [१. १०. ३] इति ॥ ततः तस्मात् कारणात् परि परितः सर्वतः ब्रह्मणा मन्त्रेण वरुणविषयस्तुतिरूपेण हविषा वा शाशदानः अत्यर्थं तीक्ष्णः स्तोत्रादिना तोषितस्य वरु-

णस्य अनुग्रहेण प्राप्तबलः । ❀ शद्लृ शातने । अस्मात् यङ्लुगन्ताद्ध व्यत्ययेन लटः शानच् । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । ईदृशोहम् उग्रस्य उद्गूर्णबलस्य दुष्प्रधर्षस्य वरुणस्य मन्योः क्रोधात् अनृतभाषणादिपापजनितात् जलोदररोगहेतुभूतात् इमम् जलोदररोगार्तं पुरुषम् उन्नयामि उद्गमयामि । रोगाद्ध उन्मोचयामीत्यर्थः ॥

इन्द्र आदि देवताओंमें वरुण पापियोंको दण्ड देने वाले हैं । ऐसे वरुण सबके नियन्ता होनेके कारण विशेषरूपसे दीप्त रहते हैं (सबके नियन्तापनके कारण सर्वोत्कृष्टरूपसे रहते हैं) इसका कारण है, कि—सत्रूपको प्राप्त हुए पदार्थ वरुणदेवके वशमें हैं । अथवा यथार्थभाषण राजा वरुणके वशमें हैं अर्थात् वह सर्वदा सत्यभाषणशील हैं । इस कारण मैं सर्वतः मन्त्रसे वा वरुणविषयस्तुतिरूप हविसे वा स्तोत्र आदिसे सन्तुष्ट हुए वरुणके अनुग्रहसे बल प्राप्त कर परमतीक्ष्ण होगया हूँ अतः असत्यभाषण करनेके कारण उत्पन्न हुए वरुणके उग्रक्रोधरूप जलोदररोगसे पीड़ित इस आर्तपुरुषको जलोदर रोगसे छुटाता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नम॑स्ते राजन् वरुणास्तु म॒न्यवे॒ विश्वं॒ ह्यु॑ग्र
नि॒चिकेषि॑ द्रु॒ग्धम् ।
स॒हस्र॑म॒न्यान् प्र सु॑वामि सा॒कं श॒तं जी॑वाति
श॒रद॒स्तवा॒यम् ॥ २ ॥

नम॑ः । ते॒ । रा॒ज॒न् । व॒रु॒ण॒ । अ॒स्तु॒ । म॒न्यवे॑ । विश्व॑म् । हि ।

उग्र । निऽचिकेषि । द्रुग्धम् ।

सहस्रम् । अन्यान् । प्र । सुवामि । साकम् । शतम् । जीवाति ।

शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

हे राजन् द्योतमान वरुण ते तव मन्यवे क्रोधाय नमः नमस्कारः अस्तु भवतु । सर्वत्र हिंसनस्य मन्युपूर्वकत्वाद् अत्र मन्योर्नमस्कार्यतया निर्देशः । यथा “नमस्ते रुद्र मन्यवे” [तै० सं० ४. ५. १. १] इति । ❀ “नमःस्वस्तिस्वाहा०” इति मन्युशब्दात् चतुर्थी ❀ ॥ तत्र हेतुम् आह । [हि यस्मात् कारणात् त्वं] हे उग्र उद्गूर्णबल वरुण विश्वम् कृत्स्नं द्रुग्धम् द्रोहम् । ❀ भावे क्तः ❀ । समस्तप्राणिकृतम् अपराधं निचिकेषि जानासि । अपराधज्ञानात् हि मन्युरुत्पद्यते अतः तदुत्पत्तिर्मा भूद् इति मन्योः अत्र नमस्कारः कृत इति द्रष्टव्यम् । यद्वा । उत्तरशेषोयम् । हे वरुण द्रुग्धम् द्रोहकर्तृ अपकारकम् । ❀ द्रुह जिघांसायाम् । कर्तरि क्तः । रधादित्वेन विकल्पितेट्त्वात् “यस्य विभाषा” इति इट्प्रतिषेधः । “वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्” इति हकारस्य घत्वम् । “झषस्तथोर्धोधः” इति निष्ठातकारस्य धत्वम् । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तता ❀ । ईदृशं विश्वम् प्राणिजातं हि यस्मात् निचिकेषि जानासि । ❀ कित ज्ञाने । अस्मात् लट् । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ❀ । तस्मात् कारणात् सहस्रम् सहस्रसंख्याकान् अन्यान् सापराधान् द्वेष्यान् जनान् साकम् सह । युगपदेव इत्यर्थः । प्र सुवामि प्रेरयामि । अस्य प्रतिनिधित्वेन प्रयच्छामीत्यर्थः । वरुणस्य सकाशात् प्रतिनिधिप्रदानेन आत्मनो निष्क्रयणम् ऐतरेयके समाम्नातम् । “ऋषेहं ते शतं ददाम्यहम् एषाम् एकेनात्मानं निष्क्रीणै” [ऐ० ब्रा० ७. १५] इति । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शः ।

तस्य ङित्त्वात् गुणप्रतिषेधे उवङ् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ । तस्मात् कारणात् अयम् व्याधिपीडितो जनः तव अनुग्रहात् शतं शरदः शतसंख्याकान् संवत्सरान् जीवाति जीवतु । सापराधान् अन्यान् अपरिमितान् जनान् स्वीकृत्य एनं नीरोगं कृत्वा शतसंवत्सरं जीवयेत्यर्थः । ❀ "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया । जीव प्राणधारणे इत्यस्मात् लेटि आडागमः ❀ ॥

हे प्रकाशमय वरुण ! तुम्हारे क्रोधके लिये नमस्कार हो ‡ । क्योंकि—हे प्रचण्ड बल वाले वरुण ! सारे द्रोहको अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंके किये हुए अपराधको तुम जानते हो । (अपराधका ज्ञान होनेसे ही क्रोध उत्पन्न होता है अतः उसकी उत्पत्ति न हो, इस कारण क्रोधको यहाँ नमस्कार किया है) अथवा हे वरुण ! आप द्रोह करने वाले सकल प्राणियोंको जानते हैं, अत एव मैं दूसरे सहस्रों अपराधी द्वेष्य पुरुषोंको एक साथ भेजता हूँ । इसके प्रतिनिधि बनाकर भेजता हूँ† । अत एव यह व्याधिसे पीडित जन आपके अनुग्रहसे सौ वर्षों तक जीता रहे । अर्थात् अपराधी दूसरे असंख्य मनुष्योंको ग्रहण कर आप इसको नीरोग कर सौ वर्ष तक जीवित रखिये ॥ २ ॥

---

‡ सर्वत्र क्रोध आनेसे ही हिंसा होती है अत एव यहाँ क्रोधको नमस्कार किया है । तैत्तिरीयसंहिता ४ । ५ । १ । १ में भी कहा है, कि—"नमस्ते रुद्र मन्यवे—हे रुद्र ! तुम्हारे क्रोधको नमस्कार है" ॥

† प्रतिनिधि देनेसे वरुणके पाससे अपना निष्क्रयण ऐतरेयमें कहा है । यथा—"ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यहं एषां एकेनात्मानं निष्क्रीणै—हे ऋषे ! मैं तुम्हें सौ (मुद्रा) देकर तुम्हारे इन पुत्रोंमेंसे अपने लिये एकको खरीदता हूँ ।" [ऐतरेय ब्राह्मण ७ । १५]॥

तृतीया ॥

यदु॒वक्थानृ॑तं जि॒ह्वया॑ वृजि॒नं ब॒हु ।
राज्ञ॑स्त्वा सत्यध॑र्मणो मु॒ञ्चामि वरु॑णादहम् ॥३॥

यत् । उ॒वक्थ॑ । अनृ॑तम् । जि॒ह्वया॑ । वृ॒जि॒नम् । ब॒हु ।
राज्ञः॑ । त्वा॒ । स॒त्यऽध॑र्मणः । मु॒ञ्चामि॑ । वरु॑णात् । अ॒हम् ॥३॥

हे जलोदररोगग्रस्त पुरुष जिह्वया अभिवदनसाधनेन इन्द्रियेण यत् रोगनिदानभूतम् अनृतम् असत्यम् उवक्त उवक्थ । अयथार्थकथनं कृतवानसीत्यर्थः । ❀ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । "ब्रुवो वचिः" इति लिटि वच्यादेशः । "लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्" इति अभ्यासस्य संप्रसारणम् । छान्दसो वर्णव्यत्ययः ❀ । अनृतस्य रोगहेतुत्वम् उपपादयन् विशिनष्टि । बहु अधिकं वृजिनम् पापम् । हेतुहेतुमतोरभेदेन सामानाधिकरण्यम् । अन्यस्मात् पापकर्मणः अधिकतरपापहेतुः अनृतवदनम् इत्यर्थः । ❀ वृजी वर्जने । तस्माद् औणादिक इनच् प्रत्ययः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । अनृतस्य वृजिनरूपत्वं तैत्तिरीयकेपि आम्नातम् । "वृजिनम् अनृतं दुश्चरितम् । ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम्" [तै० ब्रा० ३. ३. ७. १०] इति । यस्माद् अनृतं पापरूपं तस्माद् रोगनिदानम् इत्यर्थः । उक्तं हि ।

जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते ।
तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः । इति ॥

यद्यपि अनृतवदनरूपं पापं कृतवान् असि तथापि सत्यधर्मणः सत्यं धर्मो यस्यासौ सत्यधर्मा । ❀ "धर्माद् अनिच् केवलात्" इति अनिच् प्रत्ययः समासान्तः ❀ । सत्यभाषणस्वभावात् । विवक्षितविशेषणम् एतत् । यतोयं वरुणः सत्यधर्मा अतः असौ अनृतभाषणं न सहत इत्यर्थः । श्रूयते हि । "अनृते खलु वै क्रिय-

माणे वरुणो गृह्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति । ईदृशात् राज्ञः राजमानात् नियामकाद्व वरुणात् हे रोगग्रस्त [अहं त्वा] त्वां मुञ्चामि मोचयामि। तस्माद्व अनृतवदनसंभूतात् जलोदररूपाद्व वरुणपाशात् मन्त्रप्रभावेन त्वां वियोजयामीत्यर्थः ।। ❀ मुच्लृ मोक्षणे। तुदादित्वात् शः । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ ।।

हे जलोदररोगसंग्रस्त पुरुष ! तूने भाषण करनेकी साधन जिह्वासे रोगके कारणभूत झूँठको बोला है। (यह झूँठ बोलना) वड़ा भारी वृजिन (पाप) है ‡। यद्यपि तूने असत्य बोलना रूप पाप किया है। तथापि जिनका सत्य भाषण करना स्वभाव है और जो इसी कारण असत्यभाषणको नहीं सहते हैं † उन राजमान नियामक वरुणदेवसे हे रोगग्रस्त पुरुष ! मैं तुझे छुड़ाता हूँ अर्थात् असत्यभाषणसे उत्पन्न हुए जलोदररूप वरुणके पाश से मन्त्रप्रभावके द्वारा मैं तुझे छुड़ाता हूँ ।। ३ ।।

---

‡ अनृत (झूँठ) को तैत्तिरीयकमें भी पाप (वृजिन) माना है। यथा—"वृजिनं अनृतं दुश्चरितम् ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम्—अनृत (झूँठ) दुश्चरित पाप है और सत्य सरलतासे किया जाने वाला पुण्य है।" [तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ३।७। १०] अतः असत्य पापरूप होनेसे रोगका कारण है। कहा भी है, कि—"जन्मान्तरकृतं पापं व्याधि रूपेण जायते। तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ।।—पूर्वजन्ममें किया हुआ पाप व्याधिरूपसे उत्पन्न होता है, औषध दान जप होम और अर्चन आदि से उसकी शान्ति होती है ।।"

† तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२।६ में कहा है, कि—"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति—झूँठ बोलने पर वरुण पकड़ लेते हैं।"

चतुर्थी ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥४॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानरात् । अर्णवात् । महतः । परि ।

सऽजातान् । उग्र । इह । आ । वद । ब्रह्म । च । अप । चिकीहि । नः

हे रोगग्रस्त त्वा त्वाम् । ❀ "त्वामौ द्वितीयायाः" इति युष्मदस्त्वादेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इति अनुवृत्तेः स च अनुदात्तः ❀ ॥ वैश्वानरात् विश्वनरहितात् महतः प्रभूताद् अर्णवात् । ❀ अर्ण इत्युदकनाम । तद् अस्मिन् बहुलम् अस्तीत्येतस्मिन् अर्थे "अर्णसो लोपश्च" इति वप्रत्ययः तत्संनियोगेन सकारलोपश्च ❀ । तथाविधात् समुद्रात् । अनेन च तदभिमानी देवो लक्ष्यते । समुद्राभिमानिनो वरुणात् मुञ्चामि । तत्कृतात् जलोदरोगाद् मुञ्चामीत्यर्थः । ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ ॥ यद्वा वैश्वानरः विश्वनरहितो जाठराग्निः तस्य आवरकत्वेन संबन्धी सोपि वैश्वानरः । ❀ "तस्येदम्" इत्यण् ❀ । तथाविधात् महतः अधिकाद् दुश्चिकित्स्याद् अर्णवात् उदकसहितात् जलमयाद् रोगात् त्वां मुञ्चामि ॥ हे उग्र उद्गूर्णबल वरुण त्वमपि सजातान् सहचारिणः शिक्षकान् भटान् इह अस्मिन् पुरुषविषये आ वद आसमन्तात् कथय । यथा पुनःपुनरागत्य एनं पुरुषं न निघ्नन्ति तथा कथयेत्यर्थः ॥ तत्र हेतुम् आह । नः अस्मदीयं ब्रह्म हवीरूपम् अन्नम् । यद्वा । ब्रह्म अस्माभिः प्रयुज्यमानां मन्त्ररूपां स्तुतिम् अप । ❀ योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अपहाय । अनृतभाषणादिनिमित्तम् अपराधं विस्मृत्येत्यर्थः । चिकीहि जानीहि । अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । मदीयया स्तुत्या परि-

तुष्टः सन् भयादि नाशयेत्यर्थः। ❀ चिकीहि। कित ज्ञाने। अस्मात् लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। छान्दसो दीर्घः ❀॥

[इति] प्रथमकाण्डे द्वितीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

हे रोगग्रस्त ! तुझको विश्वनरका हित करने वाले जल (समुद्र) से अर्थात् समुद्रके अधिष्ठात्री देवता वरुणसे छुड़ाता है। सार यह है, कि—उनके उत्पन्न किये हुए जलोदर-रोगसे छुड़ाता हूँ। अथवा—विश्वनर (सम्पूर्ण मनुष्यों) का हित करने वाली जठराग्निको रोकनेसे यह जलोदर रोग भी वैश्वानर कहलाता है, ऐसे कठिनतासे चिकित्सा करने योग्य जलमय रोगसे मैं तुझे छुड़ाता हूँ। और हे उग्रपूर्ण बल वाले वरुण ! आप भी अपने सहचारी शिक्षक भटोंसे कहिये, जिससे वे वार वार आकर इस पुरुषको पीड़ित न कर सकें, और हमारी ब्रह्मरूप हविको तथा स्तुतिको, असत्य भाषण आदि अपराधको विसार कर (जानिये) स्वीकार करिये। अर्थात् मेरी स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर भय आदिका नाश करिये॥ ४॥

प्रथम काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त॥

"वषट् ते पूषन्" इति सूक्तेन गर्भिण्याः शिरसि संपाताभिहुतोष्णजलेन आस्रावनम् शालाग्रन्थिविमोचनम् योक्त्रबन्धनम् इत्येवमादीनि सुखप्रसवकर्माणि पुत्रजननविज्ञानकर्मान्तानि कुर्यात्। तत्र "वषट् ते पूषन्निति चतुर उदपात्रे संपातान् आनयति" इत्यादि "पुंनामधेये कुमारः" इत्येतदन्तं सूत्रं [कौ० ४. ६] द्रष्टव्यम्॥

"वषट् ते पूषन्" इस सूक्तके द्वारा गर्भिणीके शिर पर संपाताभिहुत उष्ण जलका डालना, शालाग्रन्थिविमोचन, योक्त्र-बन्धन आदि सुखसे प्रसव होनेके कर्मोंको पुत्रजननविज्ञान कर्म तक करे। इस विषयमें 'वषट् ते पूषन्निति चतुर उदपात्रे संपा-

तान् आनयति' से "पुं नामधेये कुमारः" तकके सूत्र देखने चाहिये [कौशिकसूत्र ४ । ६]

तत्र प्रथमा ॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ १

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता । कृणोतु । वेधाः ।
सिस्रताम् । नारी । ऋतऽप्रजाता । वि । पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै ।
उ इति ॥ १ ॥

हे पूषन् सकलप्राणिजातस्य पोषक देव । "पूषापोषयत्" [तै० ब्रा० १. ६. २. २] इति श्रुतेः । ते तुभ्यम् । ❁ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी । "तेमयावेकवचनस्य" इति युष्मदस्ते आदेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इति अनुवृत्तेः स च अनुदात्तः ❁ । अस्मिन् सूतौ इदानीं संप्राप्ते सुखप्रसवकर्मणि । ❁ षूङ् प्राणिप्रसवे इत्यस्मात् भावे क्तिन् । अस्मिन्निति । लिङ्गव्यत्ययः ❁ । होता देवानाम् आह्वाता ऋत्विक् अर्यमा प्राणिजातस्य प्रेरको देवः आदित्यः तदात्मको भूत्वा वषट् कृणोतु । वषट्कारेण हविः प्रयच्छतु ॥ तथा वेधाः धाता सकलजगतो निर्माता देवः ध्यानविशेषेण तदात्मकश्च भूत्वा वषट् कृणोतु ॥ यद्वा । अर्यमा वेधाश्च होता भूत्वा तुभ्यं वषट् कृणोतु । देवैरेव क्रियमाणम् इदं कर्म सुखप्रसवलक्षणं फलं दातुं शक्नोतीत्यर्थः। ❁ कृवि हिंसाकरणयोश्च । इदित्त्वात् नुम् । अस्मात् लोटि शपि प्राप्ते "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन धात्वन्तस्य अकारादेशश्च । "अतो लोपः" इति तस्य लोपे "अचः परस्मिन्

पूर्वविधौ" इति स्थानिवद्भावेन ऋकारस्य उपधात्वविघातात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥ हविःस्वीकारेण तुष्टस्य पूष्णः प्रसादात् नारी गर्भिणी स्त्री । ❀ "नृनरयोर्वृद्धिश्च" इति शार्ङ्गरवादिषु पाठात् ङीन् प्रत्ययः तत्संनियोगेन वृद्धिश्च ❀ । ऋतप्रजाता सत्यप्रसवा जीवदपत्या सती सिस्रताम् प्रसवजनितक्लेशाद्विनिःसृता भवतु । अक्लेशेन प्रसूता भवतु इत्यर्थः । ❀ सृ गतौ । अस्मात् लोटि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचनम् । "अर्तिपिपर्त्योश्च" । "बहुलं छन्दसि" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् । "द्विविकरणा अपि धातवो भवन्ति" इति पुनरपि विकरणः शः । तस्य ङित्त्वाद्गुणाभावे यण् । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ उ अपि च सूतवै सुखप्रसवार्थम् । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" इति भावे तवै प्रत्ययः ❀ । यद्वा सूतवै प्रसवितुम् । ❀ "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवैप्रत्ययः । "अन्तश्च तवै युगपत्" इति आद्यन्तयोर्यौगपद्येन उदात्तत्वम् ❀ । पर्वाणि प्रसवनिरोधाः संधिबंधाः वि जिहताम् विगच्छन्तु । विश्लथा भवन्तु इत्यर्थः । ❀ ओहाङ् गतौ । लोटि जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचनम् । "भृञामित्" इति अभ्यासस्य इत्त्वम् । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आकारलोपः ❀ ॥

हे सकल प्राणियोंके पोषक † पूषा देव ! इस समय वर्तमान प्रसवकर्ममें देवताओंका आह्वान करने वाला ऋत्विक् प्राणियोंका प्रेरक सूर्यरूप बनकर वषट्कारके द्वारा हवि दे । और ध्यानविशेषके द्वारा सकल जगत्का निर्माता धातारूप बन कर वषट्कारके द्वारा हवि दे अथवा—अर्यमा और वेधा होता बन कर

---

† तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ६ । २ । २ में कहा है, कि—"पूषापोषयत्—पूषाने पोषण किया" ।

तुम्हें वषट्कारके द्वारा हवि दें। (तात्पर्य यह है, कि–देवताओं से ही किया हुआ यह कर्म सुखसे प्रसव होनारूप फल देसकता है, हवि देनेसे सन्तुष्ट हुए पूषाके प्रसादसे यह गर्भिणी) स्त्री सत्यप्रसवा–जीवित सन्तानको उत्पन्न कर प्रसवजनित क्लेशसे छूट जाय अर्थात् सुखपूर्वक प्रसव करे। और सुखसे प्रसव होनेके लिये इसके प्रसवको रोकनेवाले संधिबन्धन भी ढीले पड़जावें॥१॥

द्वितीया ॥

चत॑स्रो दि॒वः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो॒ भूम्या॑ उ॒त ।
दे॒वा गर्भं॒ समै॑रय॒न् तं व्यू॑र्णुवन्तु॒ सूत॑वे ॥ २ ॥

चत॑स्रः । दि॒वः । प्र॒ऽदिशः॑ । चत॑स्रः । भूम्याः॑ । उ॒त ।

दे॒वाः । गर्भ॑म् । सम् । ऐ॒र॒य॒न् । तम् । वि । ऊ॒र्णु॒व॒न्तु । सूत॑वे २

दिवः द्युलोकस्य संबन्धिन्यः याश्चतस्रः चतुःसंख्याकाः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्याः प्रधानदिशः सन्ति। उत अपि च भूम्याः भूलोकस्य याश्चतस्रः प्रदिशः सन्ति। ❀ चतुर्शब्दस्य जसि "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ" इति चतस्रादेशः। "अचि र ऋतः" इति रेफादेशः। त्रः संख्यायाः [फि० २. ५] इति चतुर्शब्द आद्युदात्तः। स्थानिवद्भावात् तदादेशोपि आद्युदात्त एव ❀। ता दिग्देवताः देवाः इन्द्रादयश्च गर्भम् पूर्वं समैरयन् सङ्गतम् अकुर्वन्। गर्भम् उदपादयन्नित्यर्थः। इदानीं ते देवाः सूतवे प्रसवितुं गर्भाशयाद् विनिर्गन्तुं [तम्] उदरस्थं गर्भं व्यूर्णुवन्तु विगताच्छादनं कुर्वन्तु। जरायोः संकाशाद् विमुक्तं कुर्वन्तु इत्यर्थः। ❀ ऊर्णुञ् आच्छादने। लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। छांदसो गुणः। विः उपसर्गः। उपसर्गाश्चाभिवर्जम् [फि० ४. १३] इति

उदात्तः। यणादेशे "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इति पर ऊकारः स्वर्यते ❀ ॥

स्वर्गकी पूर्व आदि जो चार श्रेष्ठ दिशायें हैं। और भूलोककी जो चार श्रेष्ठ दिशायें हैं इनके अधिष्ठात्री दिग्देवताओंने और इंद्र आदि देवताओंने गर्भको पहिले संगत किया था, इस समय वे देवता उदरसे बाहर निकलनेके लिये उस गर्भको, जरायुरूप आच्छादनसे मुक्त करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज ॥ ३ ॥

सूषा । वि । ऊर्णोतु । वि । योनिम् । हापयामसि ।
श्रथय । सूषणे । त्वम् । अव । त्वम् । बिष्कले । सृज ॥ ३ ॥

सूषा सवित्री प्रजनयित्री देवता । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । अस्माद् औणादिकः क्सप्रत्ययः ❀। यद्वा सूः सवनम् उत्पत्तिः । ❀ संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ । सुवं सनोति प्रयच्छतीति सूषा । ❀ षणु दाने । "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति विट् प्रत्ययः । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् । छांदसः सुलोपः ❀।। यद्वा शोभना उषाः सूषा । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सोर्डादेशः । भसंज्ञाऽभावेपि डित्करणसामर्थ्यात् टिलोपः ❀ । एवं भूता देवता व्यूर्णोतु गर्भं विगतावरणं करोतु । जरायुबन्धनं विश्लेषयतु इत्यर्थः । ❀ ऊर्णुञ् आच्छादने । अस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक् । "ऊर्णोतेर्विभाषा" इति वृद्धिविकल्पनाद् गुणः ❀ ॥ वयमपि सुखप्रसवाय योनिम् गर्भ-

निर्गममार्गं वि हापयामसि विहापयामः । यथा गर्भः सुखेन निपतति तथा विवृतं कारयाम इत्यर्थः । ❀ ओहाङ् गतौ । अस्मात् णिच् । "अर्तिह्री०" इत्यादिना पुगागमः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ हे सूषणे । सुखं सनोति प्रयच्छतीति सूषणिः सुखप्रसवकारिणी देवता । ❀ "छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्" इति सनोतेः इन् प्रत्ययः ❀ । तस्याः संबोधनम् । त्वमपि मदीयेन अनेन सुखप्रसवकर्मणा प्रीता सती श्रथय योनिं विश्लेषय । यद्वा । श्रथय गर्भिण्याः संधिबन्धान् विमुञ्च । ❀ सार कृप श्रथ दौर्बल्ये । चुरादित्वात् स्वार्थिको णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः ❀ ॥ तथा हे बिष्कले । बिष्क इत्यनुकरणशब्दः । तं लाति आदत्ते करोतीति बिष्कलिः सूतिमारुतः । ❀ ला आदाने । अस्माद् औणादिकः क्विप्रत्ययः । "आतो लोप इटि च" इति आकारलोपः ❀ । यद्वा । विट् व्याप्ता सती कलयति प्रेरयतीति विष्कला । ❀ विष्लृ व्याप्तौ । "क्विप् च" इति कर्तरि क्विप् । कल गतौ इत्यस्मात् पचाद्यच् ❀ । विट् चासौ कला चेति विष्कला । हे तथाविधे देवते त्वम् अव सृज गर्भम् अवाङ्मुखं प्रेरय । ❀ सृज विसर्गे तुदादित्वात् शः ❀ ॥

सूषा देवता गर्भको जरायुसे अलग करे, हम भी सुखसे प्रसव होनेके निमित्त गर्भके निकलनेके मार्गको फैलाते हैं । हे सुखसे प्रसव कराने वाले देवता ! तुम भी मेरे इस सुखप्रसवकार्यसे प्रसन्न होकर गर्भिणीके संधिबन्धनोंको छोड़ो और हे सूतिमारुत देवता ! गर्भका मुख नीचेको करके प्रेरित करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नेवं मांसे न पीवसि नेवं मज्जस्वाहतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेव जरायु पद्यताम्

नऽइव । मांसे । न । पीवसि । नऽइव । मज्जऽसु । आऽहतम् ।
अव । एतु । पृश्नि । शेवलम् । शुने । जरायु । अत्तवे । अव ।
जरायु । पद्यताम् ॥ ४ ॥

हे प्रसवित्रि त्वं मांसेन उदरगतेन नेव पीवसि । इवशब्दो भिन्नक्रमः । मांसेनेव न पीवसि । यथा मांसेन शरीरगतेन स्थवीयसी भवसि न तथा अनेन जरायुणा । किंतु तत् जरायु शल्यकल्पम् । ❀ पीव मीव णीव स्थौल्ये इति धातुः ❀ ॥ एतत्पतने शरीरबाधो नास्ति इत्याह । मज्जसु मज्जोपलक्षितेषु धातुषु एतत् जरायु आहतम् आबद्धं स्नाय्वादिकमिव न भवति । किंतु तदसंबद्धमेव वर्तत इत्यर्थः ॥ यद्वा हे जरायु त्वं मांसेन शरीरगतेन संबद्धं सत् नेव पीवसि । इवशब्दः अवधारणे । नैव प्रवृद्धं भवसि । तथा त्वं मज्जसु नेव आहतम् नैव संबद्धम् असि । तथा च निगमान्तरम् । "स्रवित्यवपद्यस्व न मांसेषु न स्नावसु न बद्धम् असि मज्जसु" इति ॥ अतः कारणात् शेवलम् जलस्योपरि स्थितशैवालवत् आन्तरावयवासंबद्धं पृश्नि शुभ्रवर्णं तत् जरायु गर्भवेष्टनम् अवैतु । अवाक् पततु ॥ तस्य मलवत्त्याज्यताम् आह । शुने अत्तवे । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । "श्वयुवमघोनाम् अतद्धिते" इति संप्रसारणम् ❀ । शुनो भक्षणाय । अव पततु इति संबन्धः । ❀ अद भक्षणे इत्यस्मात् "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवेन् प्रत्ययः ❀ ॥ आदरार्थं पुनस्तदेवाह । जरायु अव पद्यताम् अवाग् भूमौ निपततु । ❀ पद गतौ । दिवादित्वात् श्यन् । निघ्त्वाद् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते "तिङ् तिङः" इति निघातः ❀ ॥

हे प्रसव करने वाली ! तू मांससे जिस प्रकार पुष्ट रहती है; तिस प्रकार इस उदरगत मांस (जरायु) से स्थूल नहीं हो-

सकती । (किंतु यह जरायु फाँसकी समान है, अतःइसके पतन में शरीरको कुछ कष्ट नहीं होगा) यह जरायु मज्जा आदि धातुओं में स्नायु आदिकी समान बँधा हुआ नहीं है, किंतु असम्बद्ध ही है और हे जरायु ! तू शरीरगत मांससे सम्बद्ध होने पर भी बढ़ नहीं सकती और तू मज्जा आदि धातुओंमें बँधी हुई नहीं है † । इस कारण जलके ऊपर स्थित सिवारकी समान भीतरसे असंबद्ध शुभ्रवर्ण गर्भवेष्टन जरायु कुत्तेके खानेके लिये नीचेको गिर जाव (अत एव यह मलकी समान त्यागनेकी वस्तु है) ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु
पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वि । योनिम् । वि । गवीनिके इति ।
वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । वि । कुमारम् । जरायुणा ।
अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ५ ॥

हे गर्भिणी ते तव मेहनम् मूत्रावसेकद्वारं वि भिनद्मि विदारयामि । ❀ भिदिर् विदारणे । रुधादित्वात् श्नम् प्रत्ययः ❀ ॥ न केवलं मेहनम् अपि तु तदाधारभूतां योनिं वि भिनद्मि शिशु-

---

† दूसरे शास्त्रमें भी कहा है, कि—“स्ववित्यवपद्यस्व न मांसेषु न स्नावसु न बद्धं असि मज्जसु ॥—हे जरायु तू मांस मज्जा और स्नायुओंमें बँधीहुई नहीं है अतः स्वव् शब्द करती हुई नीचे को गिर ।”

निर्गमनयोग्यां करोमि ॥ तथा गवीनिके योनेः पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबन्धिके नाड्यौ वि भिनद्मि ॥ मेहनादिविभेदनस्य प्रयोजनं दर्शयति वि मातरम् इति । मातरम् जननीं पुत्रम् । पुंनाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः । पुरु बहुलं त्रायत इति [वा] पुत्रः । ❀ तद् उक्तं यास्केन । पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा [नि० २. ११] इति । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । तौ उभौ वि भिनद्मि विश्लेषयामि । गर्भाशयात् पुत्रं निर्गमयामीत्यर्थः ॥ तथा जरायुणा उल्बेन कुमारम् पुत्रं वि भिनद्मि । जरायुकुमारावपि परस्परं विश्लिष्टौ करोमीत्यर्थः । अनन्तरं जरायु अपि उदरस्थम् उल्बम् अव पद्यताम् अवपततु ॥

हे गर्भिणि ! मैं तेरे मेहनको और उसकी आधारभूत योनिको शिशुके निर्गमनके योग्य करता हूँ तथा निर्गमनकी प्रतिबंधक गवीनी नाड़ियोंको भी फैलाता हूँ । (मेहनादि विभेदनका प्रयोजन यह है, कि—) माताको और पुत्र ‡ को अलग २ करता हूँ अर्थात् गर्भाशयसे पुत्रको निकालता हूँ और जरायुसे कुमारको अलग करता हूँ, तदनन्तर उदरमें स्थित जरायु भी नीचेको गिरे ५

षष्ठी ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु
पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः ।

---

‡ पुं नामक नरकसे और बड़ीभारी रक्षा करनेसे पुत्रका पुत्र नाम है । यास्कने भी इसी बातको कहा है, कि—"पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा" [निरुक्त २ । ११] ॥

एव । त्वम् । दशऽमास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव ।

जरायु । पद्यताम् ॥ ६ ॥

गर्भस्य अविलम्बेन निर्गमनं दृष्टान्तैः समर्थयते । यथा येन प्रकारेण वातः वायुः शीघ्रं गच्छति । यथा वा मनः ज्ञानसाधनम् अन्तःकरणम् अप्रतिबन्धं सत् शीघ्रतरं गच्छति । यथा वा पक्षिणः विहगाः सशरीरा अपि अप्रतिबद्धगतयः सन्तः [पतन्ति] आकाशे उड्डीयन्ते । ❀ पत्लृ गतौ । लटि "कर्तरि शप्" इति शप् । "तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्०" इति लसार्वधातुकस्य अनुदात्तत्वम् । शपश्च पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । धातुस्वरेण आदिरुदात्तः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातस्य "यावद्यथाभ्याम्" इति प्रतिषेधः❀। एव एवम् । ❀ "निपातस्य च" इतिसांहितिको दीर्घः ❀ । हे दशमास्य दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो । ❀ दश मासान् भृत इति विगृह्य "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति तद्धितार्थे विषयभूते समासः । "संख्यापूर्वो द्विगुः" इति द्विगुसंज्ञायां "द्विगोर्यप्" इति भरणार्थे यप् । "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंभूत शिशो त्वं जरायुणा गर्भवेष्टनेन साकम् सह पत गर्भाशयात् शीघ्रं निर्गच्छ ॥ ❀ "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति सहार्थेन साकंशब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया ❀ ॥ अप्राधान्येनोक्तं जरायुपतनं प्राधान्येनापि निर्दिशति अव जरायु पद्यतामिति । व्याख्यातम् ॥

इति प्रथमकाण्डे द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति द्वितीयोनुवाकः समाप्तः ॥

(अब गर्भके शीघ्रतासे निर्गमनका दृष्टान्तोंसे समर्थन करते हैं, कि–) जिस प्रकारसे वायु शीघ्र जाता है और जिस प्रकार ज्ञानका साधन अन्तःकरण विना किसी रोक टोकके अतिशीघ्रता

से चलता है और जिस प्रकार आकाशमें विचरण करने वाले पक्षी सशरीर ही बिना किसी रुकावटके आकाशमें उड़ते हैं, इसी प्रकार हे दश मास तक मातासेपोषण किये हुए शिशो ! तू गर्भ के वेष्टन जरायुके साथ शीघ्र ही गर्भसे बाहर निकल (अप्रधान रूपसे कहेहुए जरायुके पतनको अब प्रधानरूपसे कहते हैं, कि-) जरायु गिर जावे ॥ ६ ॥

प्रथमकांडके द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (११) ॥

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "जरायुजः" इत्येतत् प्रथमं सूक्तम् । तस्य वातपित्तश्लेष्मविकारजेषु रोगेषु यथोचितमेदोमधुसर्पिस्तैलपायनादिकर्मसु विनियोगः । जरायुज इति मेदो मधु सर्पिस्तैलं पाययति" इत्यादि सूत्रम् [कौ० ४. २] ॥

तथा दुर्दिननिवारणे अतिवृष्टेर्निवारणे च "जरायुज इति दुर्दिनम् आयन् प्रत्युत्तिष्ठत्यन्वृचम्" [कौ० ५. २] इत्यादि सूत्रोक्तानि सूर्योपस्थानोदकप्रक्षेपादीनि कर्माणि अनेन सूक्तेन कुर्यात् ॥

अस्य "मुञ्च शीर्षक्त्याः" इति तृतीयया ऋचा सर्वेषु व्याधिषु संपाताभिमन्त्रणसंस्कृतेन उदकघटेन व्याधितम् अभिषिञ्चेत् । "मुञ्चेत्यासावयति" इति [कौ० ४. ३] सूत्रात् ॥

तीसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "जरायुजः" यह प्रथम सूक्त है । इसका वात पित्त और कफसे उत्पन्न हुए रोगोंमें यथोचित मेद शहद घी और तेल पिलाते समय विनियोग किया जाता है । कौशिकसूत्र ४ । २ में कहा है, कि-"जरायुज इति मेदो मधु सर्पिस्तैलं पाययति-जरायुजः० सूक्तसे मेद मधु घी और तैलको पिलाता है ।"

तथा दुर्दिनको दूर करनेमें और अतिवृष्टिको निवारण करने में "जरायुज इति दुर्दिनं आयन् प्रत्युत्तिष्ठत्यन्वृचम् [कौशिकसूत्र

५ । २] इत्यादि सूत्रोंमें कहे हुए सूर्योपस्थान और जलप्रक्षेप आदि कर्म इस सूक्तसे करे ॥

और सब व्याधियोंमें इस सूक्तकी तीसरी ऋचासे सम्पाताभिमन्त्रणके द्वारा संस्कार किये गये घटके जलको रोगी पर छिड़के । कौशिकसूत्र ४ । ३ में भी कहा है, कि—“मुञ्चेत्याप्लावयति—मुञ्च० ऋचासे आप्लावन करता है ।”

तत्र प्रथमा ॥

ज॒रा॒यु॒जः प्र॑थ॒म उ॒स्रियो॒ वृषा॒ वात॑भ्रजा
स्त॒नय॑न्नेति वृ॒ष्ट्या ।
स नो॑ मृडाति त॒न्व॑ ऋजु॒गो रु॒जन् य
ए॒कमोज॑स्त्रे॒धा वि॑चक्र॒मे ॥ १ ॥

ज॒रा॒यु॒ऽजः । प्र॒थ॒मः । उ॒स्रिय॑ः । वृषा॑ । वातऽभ्रजाः ।
स्त॒नयन् । ए॒ति॒ । वृ॒ष्ट्या ।
सः । न॒ः । मृ॒डा॒ति॒ । त॒न्वे । ऋ॒जु॒ऽगः । रु॒जन् । यः ।
ए॑कम् । ओ॑जः । त्रे॒धा । वि॒ऽच॒क्र॒मे ॥ १ ॥

जरायुजः जरायोः सकाशाद् उत्पन्नः । अदितिपुत्रत्वात् जरायुजत्वम् । श्रूयते हि । “अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत् । तस्या उच्छेषणम् अददुः । तत् प्राश्नात् । सा रेतोऽधत्त । तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त” [तै० सं० ६. ५. ६. १] इति । यद्वा । दिवि जरायुस्थानानि नक्षत्राणि अभिभूय उद्भूतत्वात् जरायुजः । आम्नायते हि । “द्यौर्वंशा स्तनयित्नुर्गर्भो नक्षत्राणि जरायु सूर्यो वत्सो वृष्टिः पीयूषः इति ।

❀ जनी प्रादुर्भावे। अस्मात् "पञ्चम्याम् अजातौ" इति डप्रत्ययः। "टेः" इति टिलोपः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀। प्रथमः सर्वस्मात् जगतः पूर्वम् उद्भूतः। उस्रियः। उस्राः किरणाः। वसन्ति निवसन्ति एभिर्जना इति व्युत्पत्तेः। ❀ वस निवासे इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २. १३] रक् प्रत्ययः। "वचिस्वपि०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀। ते अस्य सन्तीत्युस्रियः। ❀ मत्वर्थीयो घः ❀। वृषा वर्षप्रदः सूर्यः। ❀ वृष सेचने। कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना [उ० १. १५४] कनिन प्रत्ययः ❀। वातव्रजाः वातवत् शीघ्रं व्रजति गच्छतीति वातव्रजाः। ❀ व्रज गतौ। अस्माद्व असुन् प्रत्ययः ❀। यद्वा वातानां व्रजः समूहो यस्यासौ वातव्रजाः। प्रयाणसमये बहुत्तरवायुयुक्तत्वात्। ❀ "सुपां सुपो भवन्ति" इति सोर्जसादेशः ❀। ईदृशः सूर्यः स्तनयन् मेघान् गर्जयन् वृष्ट्या महत्तरेण प्रवर्षणेन सह एति आगच्छति। ❀ स्तनयन् इति। स्तन देवशब्दे। चुरादिः अदन्तोयम् ❀। श्रूयते हि। "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" [तै० सं० २. ४.१० २]इति।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यम् उपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः [म० स्मृ० ३. ७६]॥

इति स्मृतेश्च॥ स आदित्यः नः अस्माकं तन्वे तनूं शरीरम्। ❀ क्रियाग्रहणं कर्तव्यम् इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀। मृडाति मृडयतु। ❀ मृडाति। मृड सुखने। अस्मात् लेटि आडागमः ❀। किं कुर्वन्। रुजन् त्रिदोषजनितरोगादिकं भञ्जन् निवर्तयन्। ❀ रुजो भङ्गे। तुदादित्वात् शः ❀। तमेव आदित्यं विशिनष्टि। ऋजुगः ऋजु अकुटिलं गच्छतीति ऋजुगः। ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति गमेर्डप्रत्ययः ❀। यः सूर्यः एकम् अभिन्नम् ओजः आत्मीयं तेजः त्रेधा त्रिप्रकारेण अग्निवायुसूर्यात्मना

विचक्रमे विविधम् आक्रान्तवान् । पृथिव्यादिलोकत्रयम् आक्रम्य अधिपतित्वेन स्थितवान् इत्यर्थः । स सूर्यः मृडातीति पूर्वेण संबंधः । ❀ क्रमु पादविक्षेपे । "वेः पादविहरणे" इति आत्मनेपदम् ❀ । यद्वा । यः सूर्यः एकमेव स्वकीयम् ओजः तेजः त्रेधा त्रिप्रकारेण वाय्वग्निचन्द्रात्मना विचक्रमे कृत्स्नशरीराणि आक्रम्य वर्तते । वातपित्तश्लेष्मलक्षणदोषत्रयकारिदेवतात्मना सर्वत्र अयमेव वर्तत इत्यर्थः ॥ अतः सूर्यपार्थनया दोषत्रयोद्भूतस्य रोगजातस्य निवृत्तिरुपपन्ना ॥

जरायुसे उत्पन्न हुए † सब जगत्से प्रथम उद्भूत हुए और मनुष्योंको बसाने वाली किरणोंसे सम्पन्न वर्षा करनेवाले और वायुकी समान शीघ्र चलने वाले तथा जिनके पास बहुतसे वायुसमूह हैं ऐसे सूर्य मेघोंको गरजाते हुए बड़ी भारी वर्षाके साथ

---

† सूर्य अदितिके पुत्र होनेसे जरायु कहलाते हैं । तैत्तिरीयसंहितामें भी कहा है, कि—"अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनं अपचत् । तस्या उच्छेषणं अददुः । तत्प्राश्नात् । सा रेतोऽधत्त । तस्यै चत्वार आदित्या अजायन्त—पुत्रकी इच्छा वाली अदितिने साध्य देवताओंके लिये ब्रह्मौदन बनाया, तब साध्य देवताओंने उसके लिये उच्छेषण दिया, अदितिने उसको भक्षण किया, रेतः धारण किया, तब अदितिके चार आदित्य (अदितिपुत्र) उत्पन्न हुए ।" [तैत्तिरीयसंहिता ६ । ५ । ६ । १] अतः सूर्य जरायुज कहलाते हैं ॥ तथा नक्षत्रोंका भी 'जरायु' नाम है, उनका तिरस्कार कर उद्भूत होनेके कारण भी सूर्य जरायुज कहलाते हैं । कहा भी है, कि—"द्यौर्वशा स्तनयित्नुर्गर्भो नक्षत्राणि जरायु सूर्यो वत्सो वृष्टिः पीयूषः—आकाश वशा (स्त्री) है, स्तनयित्नु गर्भ है । नक्षत्र जरायु हैं, सूर्य वत्स है और वृष्टि पीयूष है ।"

आते हैं ‡ ऐसे सूर्य त्रिदोषजनित रोगोंको दूर करते हुए हमारे शरीरको सुख दें ॥ जिन अकुटिलभावसे चलनेवाले सूर्यने अपने अभिन्न तेजको अग्नि वायु और सूर्यरूपमें बाँट रक्खा है अर्थात् जो–पृथ्वी आदि तीनों लोकोंको अपने वशमें करके स्वामीरूपसे स्थित हैं, वह सूर्य हमारे शरीरको सुख दें ॥ अथवा जो सूर्य वायु अग्नि और चन्द्रमा–इन तीनोंमें विराजमान अपने एक ही तेजसे सकल शरीरोंमें रहते हैं अर्थात् वात पित्त और कफ इन तीन दोषोंको करने वाले देवताके रूपसे सर्वत्र रहते हैं वह तीनों दोषोंसे उत्पन्न हुए मेरे सम्पूर्ण रोगोंको दूर कर मेरे शरीरको सुख दें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अङ्गे॑अङ्गे शो॒चिषा॑ शिश्रिया॒णं न॑म॒स्यन्त॑स्त्वा
ह॒विषा॑ विधेम ।
अ॒ङ्का॑न्त्सम॒ङ्कान् ह॒विषा॑ विधेम॒ यो अग्र॑भी॒त्
पर्वा॑स्या॒ ग्रभी॑ता ॥ २ ॥

अङ्गे॑ऽअङ्गे । शो॒चिषा॑ । शि॒श्रि॒या॒णम् । न॒म॒स्यन्तः॑ । त्वा॒ ।

---

‡ श्रुति भी है, कि–“यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति ॥–जब यह सूर्य तिरछी किरणोंसे लौटते हैं तब बरसते हैं।” [तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १० । २]॥ और स्मृति भी कहती है, कि–“अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिः०–अग्निमें भली प्रकार होमी हुई आहुति सूर्यके पास पहुँचती है, आदित्यसे वृष्टि होती है०।” [मनुस्मृति ३ । ७६]॥

ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ । अ॒ङ्गान् । स॒म्ऽअ॒ङ्गान् । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ।

यः । अग्र॑भीत् । प॑र्व । अ॒स्य॒ । ग्रभी॑ता ॥ २ ॥

अङ्गेअङ्गे सर्वेष्वङ्गेषु । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "अङ्ग इत्यादौ च" इति प्रकृतिभावात् "एङः पदान्तादति" इति पूर्वरूपत्वाभावः । "तस्य परम् आम्रेडितम्" । "अनुदात्तं च" इति परस्य अङ्गशब्दस्य अनुदात्तत्वम् ❀ । सर्वप्राणिशरीरेषु शोचिषा दीप्त्या शिश्रियाणम् व्याप्य वर्तमानम् । प्राणात्मना व्याप्य वर्तमानम् इत्यर्थः । श्रूयते हि । "प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः" [प्र० उ० १. ८] इति । ❀ श्रिञ् सेवायाम् । अस्मात् "छन्दसि लिट्" इति वर्तमाने लिट् । "लिटः कानज्वा" इति तस्य कानजादेशः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना इयङादेशः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । न च "अभ्यस्तानामादिः" इति आद्युदात्तत्वं शङ्कनीयम् । तस्य सार्वधातुकविषयत्वात् ❀ । हे सूर्य ईदृशं त्वा त्वा नमस्यन्तः नमः कुर्वन्तः । स्तुतिनमस्कारादिभिः पूजयन्त इत्यर्थः । हविषा चर्वाज्यसमिदादिना विधेम परिचरेम । ❀ विधतिः परिचरणकर्मा । विध विधाने । तुदादित्वात् शः । शस्य ङित्त्वात् लघूपधगुणाभावः । नमस्यन्त इति । "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इत्यत्र "नमसः पूजायाम्" इति विशेषितत्वात् पूजार्थे क्यच् । "नः क्ये" इति पदसंज्ञाया नियमितत्वात् अत्र पदसंज्ञाया अभावेन रुत्वाद्यभावः । तदन्तात् लटः शत्रादेशः । शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेण । अतः चित्स्वरेण क्यजन्तस्य अन्तोदात्तत्वे शबकारेण सह एकादेशस्यापि "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति उदात्तत्वम् ❀ । तथा अङ्गान् अञ्चनशीलान् गमनशीलान् सूर्यस्य अनुचरान् समङ्गान् समञ्चनशीलान् समीपे वर्तमानान् अन्तरङ्गानपि परिवारभूतान् देवान्

हविषा विधेम परिचरेम । ❀ अञ्चु गतिपूजनयोः । अस्मात् "हलश्च" इति कर्तरि बाहुलकाद् घञ् । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀ ॥ हविःप्रदानस्य प्रयोजनम् आह यो अग्रभीदिति । ग्रभीता ग्रहीता ग्राहको यः ज्वरादिरूपो रोगः अस्य पुरुषस्य पर्व पर्वाणि शरीरावयवसंधीन् अग्रभीत् अग्रहीत् । व्याप्य बाधत इत्यर्थः । तस्य रोगजातस्य निवृत्तये हविषा विधेमेति पूर्वेण संबंधः। ❀ ग्रह उपादाने । अस्मात् लुङि "च्लेः सिच्" । "अतो हलादेः०" प्राप्ताया वृद्धौ "ह्म्यन्तक्षण०" इति प्रतिषेधः । "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ॥

प्रत्येक अङ्गोंमें दीप्तिसे व्याप्त अर्थात् प्राणात्मारूपसे व्याप्त होकर वर्तमान † हे सूर्य ! हम तुम्हें स्तुति नमस्कार आदिसे पूज कर चरु घृत समिधा आदि हविसे आपकी सेवा करते हैं और गमनशील सूर्यके अनुचरोंको और उनके समीपमें वर्तमान परिवाररूप देवताओंकी भी हम हविके द्वारा सेवा करते हैं । (हवि देनेका प्रयोजन यह है, कि–) ग्रहण करने वाले ज्वर आदि रोगने इस पुरुषके शरीरकी सब सन्धियोंको जकड़ लिया है, उस रोगकी निवृत्तिके लिये हम आपकी हविसे पूजा करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्सचतां
पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षक्त्याः । उत । कासः । एनम् । परुःऽपरुः ।

---

† प्रश्नोपनिषत् १ । ८ में कहा है, कि–"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः–यह प्रजाओंके प्राणरूप सूर्य उदय होरहे हैं ।"

आऽविवेश । यः । अस्य ।

यः । अभ्रऽजाः । वातऽजाः । यः । च । शुष्मः । वनस्पतीन् ।

सचताम् । पर्वतान् । च ॥ ३ ॥

हे सूर्य शीर्षक्त्याः शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्य बाधत इति शीर्षक्तिः शिरोरोगः । तस्मात् सकाशाद् एनं पुरुषं मुञ्च मोचय । शिरोरोगं निवर्तयेत्यर्थः । उत अपि च यः कासः हृत्कण्ठमध्यवर्ती प्रसिद्धः श्लेष्मरोगविशेषः एनं पुरुषम् आविवेश प्रविष्टवान् । प्रवेशनप्रकारमेव आह । अस्य पुरुषस्य परुःपरुः सर्वान् सन्धिबन्धान् आविवेश । ❀ विश प्रवेशने । अस्मात् लिट् ❀ । तथाविधात् कासरोगाद् एनं मोचयेति पूर्वेण सम्बन्धः । इदानीं वातपित्तश्लेष्मविकारजनितानां सर्वेषामपि व्याधीनाम् अस्मात् पुरुषाद् अन्यत्रावस्थानं प्रार्थयते यो अभ्रजा इति । यो रोगः अभ्रजाः । अपो बिभर्तीत्यभ्रं प्रवर्षको मेघसंघः तस्मात् जायते प्रवर्षणोदकसंसर्गेण उत्पद्यत इति अभ्रजाः श्लेष्मरोगः । ❀ "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति विट् प्रत्ययः । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तथा यो वातजाः वातात् कौष्ठ्यात् वायोर्जात उत्पन्नो रोगः यश्च शुष्मः शोषकः पित्तविकारजनितो ज्वरादिरोगोस्ति दोषत्रयोद्भूतः स सर्वोपि रोगः एनं पुरुषं विहाय वनस्पतीम् काननस्थान् वृक्षान् पर्वतांश्च मनुष्यसञ्चाररहितान् शिलोच्चयांश्च सचतां समवैतु । आश्रयतु इत्यर्थः । ❀ षच समवाये । शुष्म इति । शुष शोषणे । अस्मात् अविसिविसिशुषिभ्यः कित् [उ० १. १४१] इति मन् प्रत्ययः । तस्य किद्भावात् लघूपधगुणाभावः । नित्स्वरेण आद्युदात्तत्वम् । वनस्पतीन् इति । वनानां पतिः वनस्पतिः ।

"पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इति सुडागमः । "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

हे सूर्य ! शिरमें व्याप्त होकर पीड़ा देने वाले शीर्षक्ति नामक शिरोरोगसे इस पुरुषको छुटाइये । और जो हृदय और कण्ठके भीतर रहने वाला श्लेष्मरोगविशेष कास (खाँसी) इस पुरुषके सब जोड़ोंमें घुस गया है, इस रोगसे इसको छुड़ाइये । (अब वात पित्त और कफके विकारसे उत्पन्न होने वाले सब रोगोंसे दूर रखनेके लिये प्रार्थना करते हैं, कि—) जो वर्षाके जलके संयोग से उत्पन्न होता है वह अभ्रजा (श्लेष्म) रोग और वायुसे उत्पन्न होने वाला वातजरोग शुष्म और पित्तके विकारसे उत्पन्न होने वाला ज्वरादिरोग—इस प्रकार तीनों दोषोंसे उत्पन्न होने वाला रोगसमूह इस पुरुषको छोड़कर वनके वृक्षोंमें और मनुष्यों के सञ्चारसे रहित पर्वतोंमें चला जावे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शं मे॒ प॒र॑स्मै गात्रा॑य॒ शम॒स्त्वव॑राय मे ।
शं मे॑ च॒तु॒र्भ्यो॑ अङ्गे॑भ्यः॒ शम॑स्तु त॒न्वे॒ ३॒॑ मम॑ ४

शम् । मे॒ । पर॑स्मै । गात्रा॑य । शम् । अ॒स्तु॒ । अव॑राय । मे ।

शम् । मे॒ । च॒तुऽभ्यः॑ । अङ्गे॑भ्यः । शम् । अ॒स्तु॒ । त॒न्वे॑ । मम ।

अधुना रोगार्तः स्वस्य आरोग्यं स्वयमेव आशास्ते । मे मम परस्मै परस्ताद् उपरि वर्तमानाय शिरोरूपाय गात्राय शरीरावयवाय शम् तत्रत्यरोगशमनेन सुखम् अस्तु भवतु । तथा मे मम अवराय अधस्ताद् वर्तमानाय चरणलक्षणाय अङ्गाय शम् सुखम् अस्तु भवतु । तथा मे मम चतुर्भ्यः द्वौ पादौ द्वौ हस्तौ इति चत्वारि । तेभ्यः अङ्गेभ्यः अवयवेभ्यः शम् सुखम् अस्तु । ❀ "झल्युपोत्त

मम्" इति भ्यसः पूर्वस्य अचः उदात्तत्वम् ❀ । तथा मे मम तन्वे मध्यशरीराय सर्वसमष्टिरूपाय शरीराय वा शम् सुखम् अस्तु भवतु । ❀ तनुशब्दाद् "ऊङ् उतः" इति ऊङ् प्रत्ययः । ततश्चतुर्थ्येकवचने यण् । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "नोङ्धात्वोः" इति प्रतिषेधः । "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य" इति विभक्तेः स्वरितत्वम् । "युष्मदस्मदोर्ङसि" इति ममशब्द आद्युदात्तः ॥

[इति] तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(अब रोगार्त पुरुष अपने आरोग्यके लिये अपने आप ही प्रार्थना करता है, कि—) मेरे पर (ऊपर वर्तमान) शिररूप शरीरके अवयवमें तहाँका रोग शान्त होनेसे सुख पहुँचे तथा मेरे अवर—नीचे वर्तमान—चरण अङ्गमें सुख होवे । तथा मेरे दो हाथ और दो पैर इन चार अङ्गोंमें सुख हो, तथा मेरे मध्यशरीरमें वा संपूर्ण शरीरमें रोगके दूर होनेसे सुख पहुँचे ॥ ४ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (१२) ॥

"नमस्ते अस्तु विद्युते" इति सूक्तम् अशनिनिवारणकर्मणि अशन्युपस्थानादौ सोमदर्भकुष्ठलोष्टमञ्जिष्ठादिद्रव्याणां गृहक्षेत्रादिषु निखनने च विनियुक्तम् । उक्तं संहिताविधौ । "नमस्ते अस्तु [१. १३] यस्ते पृथुस्तनयित्नुः [७. ११] इत्यशनियुक्तम् उपादाय प्रथमस्य सोमदर्भ०" इत्यादि [कौ० ५. २] ॥

तथा उपाकर्मणि अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं च । "अभिजिति शिष्यान्" इत्युपक्रम्य "नमस्ते अस्तु विद्युते [१.१३] आरेसावस्मदस्तु" [१. २६] इति [कौ० १४. ३] ॥

"नमस्ते अस्तु विद्युते" इस सूक्तका अशनि (वज्र) को निवारणके कर्ममें अशनिके उपस्थानमें और सोम दर्भ कूट लोष्ठ मञ्जिष्ठ आदि द्रव्योंके गृह क्षेत्र आदिसे निखनन (खोदने) में भी विनि-

योग किया जाता है। संहिताविधि (कौशिकसूत्र) में भी कहा है, कि—"नमस्ते अस्तु [१। १३] यस्ते पृथु स्तनयित्नु [७।११] इत्यशनियुक्तं उपादाय प्रथमस्य सोमदर्भ०" [कौशिकसूत्र ५।२]

तथा उपाकर्ममें भी इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अभिजिति शिष्यान्" इत्युपक्रम्य "नमस्ते अस्तु विद्युते [१। १३] आरेसावस्मदस्तु" [१। २६] कौशिकसूत्र १४। ३—अभिजित् मुहूर्तमें शिष्योंका उपनयन करके० नमस्ते अस्तु विद्युते० इस अथर्ववेदके प्रथमकाण्ड के तेरहवें सूक्तसे और आरेसावस्मदस्तु० इस प्रथम काण्डके छब्बीसवें सूक्तसे घृतकी आहुति देय।"

तत्र प्रथमा ॥

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑ ।
नम॑स्ते अ॒स्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्या॑सि ॥१ ॥

नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । वि॒ऽद्युते॑ । नमः॑ । ते॒ । स्त॒न॒यि॒त्नवे॑ ।

नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । अश्म॑ने । येन॑ । दुः॒ऽदाशे॑ । अस्य॑सि ॥१॥

हे पर्जन्य ते तव संबन्धिन्यै विद्युते विद्योतमानायै सौदामिन्यै नमः अस्तु मया क्रियमाणो नमस्कारो भवतु। यद्वा। नम इत्यन्नाम। मया हूयमानं हविर्लक्षणम् अन्नं भवतु। ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी। द्युत दीप्तौ। अस्माद्द विपूर्वात् "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥ तथा 'ते तव संबन्धिने स्तनयित्नवे स्तनितं ध्वनिं कुर्वते अशनये नमः अस्तु। ❀ स्तन देवशब्दे। अस्मात् चुरादित्वात् णिच्। अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः। स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् [उ० ३. २९] इति ण्यन्ताद्धातोः इत्नुच् प्रत्ययः। "अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु" इति

णेरयादेशः ❀ ॥ तथा ते तव संबन्धिने अश्मने । मेघनामैतत् । व्यापनशीलाय मेघाय नमः अस्तु भवतु ॥ कुतो हेतोर्नमस्कार इत्यत आह येनेति । येन कारणेन दूडाशे दुःखेन दाश्यते दाप्यते इति दूडाशो लुब्धः । स्तुतिनमस्कारहविरादीनाम् अप्रदातेत्यर्थः । ❀ दाशृ दाने । अस्माद् अन्तर्भावितण्यर्थात् कर्मणि घञ् "दुरो दाशृनाशदभध्येष्विति वक्तव्यम्" इति दुरो रेफस्य उत्वम् उत्तरपदादेः ष्टुत्वं च ❀ । तादृशे पुरुषे अस्यसि क्षिपसि अशनिं प्रक्षिपसि । अतो हेतोः अशनिभयनिवृत्तये नमस्करोमीत्यर्थः । ❀ असु क्षेपणे । "दिवादिभ्यः श्यन्" इति श्यन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

हे पर्जन्य ! आपसे संबन्ध रखने वाली दमकती हुई विजली को मेरा प्रणाम और होमी हुई हवि पहुँचे तथा आपसे सम्बन्ध रखने वाली ध्वनि करने वाली अशनिको भी मेरा नमस्कार है और आपके व्यापनशील मेघके लिये नमस्कार है, (नमस्कार करनेका और हवि देनेका प्रयोजन यह है, कि–) कठिनतासे देने वाले लुब्ध–अर्थात् स्तुति प्रणाम हवि आदि न देने वाले–के ऊपर आप अशनि (वज्र) फैंकते हैं अत एव अशनिकी निवृत्तिके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

नमः । ते । प्रऽवतः । नपात् । यत । तपः । सम्ऽऊहसि ।
मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

न केवलं विद्युदादिभ्यो नमस्कारः अपि तु पर्जन्यस्यापि नमस्कारः क्रियते । हे प्रवतो नपात् प्रवतः प्रगतस्य स्वस्मात् प्रच्युतस्य त्वद्विषयस्तुतिनमस्काराद्यकर्तुः पुरुषस्य नपात् न पातः न पालक । असेवकस्य अशनिभयप्रदातरित्यर्थः । ❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति प्रशब्दाद् गम्यर्थे अभिधेये वतिप्रत्ययः । ननु "वत्यन्ताश्च" इति अव्ययसंज्ञायां कथं लिङ्गसंख्याभ्यां योगः । उच्यते । उपसर्गाच्छन्दसि धातौ इत्येव उच्यमानेपि धातोः अभिधेयत्वासंभवेन सामर्थ्यात् धात्वर्थः सेत्स्यति । तथापि क्रियमाणम् अर्थग्रहणम् एतत् ज्ञापयति ससाधने धात्वर्थे अभिधेये उपसर्गाद् वतिर्भवतीति । तथा च साधनस्य लिङ्गसंख्यायोगित्वात् तदभिधायिनो वत्यन्तस्यापि लिङ्गसंख्यायोगित्वेन अनव्ययत्वम् । आह च महाभाष्यकारः । कः पुनर्धातुकृतोर्थ इति । साधनम् । साधने भवन् लिङ्गसंख्याभ्यां योज्यत इति । पा रक्षणे । पातीति पात् । अस्मात् लटः शत्रादेशः । नञ्समासे "नलोपो नञः" इति नलोपे प्राप्ते "नभ्राण्नपात्०" इति नञः प्रकृतिभावः । "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" [इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । यद्वा । प्रवतः प्रगतस्य भुवः सकाशात् प्रचण्डैः सूर्यकिरणैरुद्धृतस्य उदकस्य नपात् न पातयितः । अकाले उदकं यथा अधो न पतति तथा उपरिष्टात् मेघमण्डले धारयितरित्यर्थः । ❀ पातयतेः क्विप् ❀ । हे ईदृश पर्जन्य ते तुभ्यं नमः नमस्कारः भवतु ॥ तस्य नमस्कार्यत्वम् आह । यतः यस्मात् कारणात् तपः पातकदाहकं तेजः समूहसि संहतं करोषि । अशनिरूपेण प्रक्षिपसीत्यर्थः । ❀ ऊह वितर्के । अत्र उपसर्गवशात् संघीकरणम् अर्थः ❀ ॥ हे पर्जन्य नः अस्माकं तनूभ्यः शरीरेभ्यः । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । मृडय । अशनिनिवारणेन शरीरस्य सुखं जनयेत्यर्थः ॥ तथा तोके-

भ्यः । अपत्यनामैतत् । अस्माकम् अपत्येभ्यः पुत्रपौत्रादिरूपेभ्यः मयः । सुखनामैतत् । सुखं कृधि कुरु । नमस्कारादिना प्रीतः सन् अशनिम् अस्मदीयेभ्यः सर्वेभ्यो निवारयेत्यर्थः । ❀ करोतेर्लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हिरादेशः । "बहुलं छन्दसि" इति विकरणस्य लुक् । "श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः । "कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

(पहिले विद्युत् आदिको नमस्कार करके अब पर्जन्यको भी नमस्कार करते हैं, कि—) अपनी स्तुति नमस्कार आदि न करने वाले पुरुषकी तुम रक्षा नहीं करते हो, असेवकको अशनिका भय देते हो, सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे खेंचे जाने वाले जलकी तुम रक्षा नहीं करते हो अर्थात् अकालमें जल नीचेको न गिरे इसलिये उसको मेघमण्डलमें धारण किये रहते हो, ऐसे हे पर्जन्य ! आपके लिये नमस्कार है । क्योंकि—पातकोंके भस्म करने वाले तेजको संहत करते हो अर्थात् अशनिरूपसे फैंकते हो, अतः हे पर्जन्य ! हमारे शरीरको (अशनिको निवारण करके) सुख दो और हमारे पुत्र पौत्र आदिको भी सुख दो, अर्थात् नमस्कार आदिसे प्रसन्न होकर हमारे सब सम्बन्धियोंको अशनिभयसे मुक्त रक्खो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रव॑तो न॒पान्नम॑ ए॒वास्तु॒ तुभ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॒
तपु॑षे च कृण्मः ।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ प॒रमं॑ गुहा॒ यत् स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑-
ता॒सि नाभि॑ः ॥ ३ ॥

प्ऽव॑तः । न॒पा॒त् । नमः॑ । ए॒व । अ॒स्तु॒ । तुभ्य॑म् । नम॒ः । ते ।

हे॒तये॑ । तपु॑षे । च॒ । कृ॒ण्मः॒ ।

वि॒द्म । ते॒ । धाम॑ । प॒र॒मम् । गुहा॑ । यत् । स॒मु॒द्रे । अ॒न्तः ।

निऽहि॑ता । अ॒सि॒ । नाभि॑ः ॥ ३ ॥

हे प्रवतो नपात् । व्याख्यातम् एतत् । ❀ स्वरे तु विशेषः । पादादित्वात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे पर्जन्य तुभ्यं नम एव नमस्कार एव अस्तु भवतु । तदतिरिक्तं परिचरणं न कर्तुं प्रभवाम इत्यर्थः॥ तथा ते तव हेतये हन्त्यनेनेति हेतिः आयुधम् । ❀"ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति हन्तेः क्तिनि अन्तोदात्तो निपात्यते ❀ । तामेव विशिनष्टि । तपुषे तापकारिण्यै । ❀ तप संतापे । अर्तिपृवपियजितनिधनितपित्रपिभ्यो नित् [उ० २. ११६] इति उस् प्रत्ययः । तस्य नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । संतापकारिणे अशनिरूपाय आयुधाय च नमः कृण्मः कुर्मः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । अस्मात् लटि "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः अकारश्चान्तादेशः । तस्य "अतो लोपः" इति लोपे सति "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इति स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः । "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति अङ्गान्तस्य उकारस्य लोपः ❀॥ पर्जन्यस्य निवासस्थानापरिज्ञाने नमस्कारायोगम् आशङ्क्य तदपि जानीम इत्याह । हे पर्जन्य ते तव संबन्धि गुहा गुहायाम् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀ । गुहावत् परैरगम्ये प्रदेशविशेषे परमम् उत्कृष्टं यत् प्रसिद्धं धाम निवासस्थानं तद् विद्म वयं जानीमः । ❀ विद ज्ञाने । "विदो लटो वा" इति मसो मादेशः ❀ । किं पुनस्तद् इत्याह । समुद्रे । अन्तरिक्षनामैतत् । ❀ समुद्द्रवन्ति अस्माद् उदकानि इति समुद्रः । आह च यास्कः ।

समुद्रः कस्मात् । समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः संमोदन्तेस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा [नि० २. १०] इति ❀ । ईदृशे अन्तरिक्षे अन्तः मध्ये नाभिः । यथा देहमध्ये नाभिचक्रे सर्वा नाड्यो बद्धा भवन्ति तथा पर्जन्ये कृत्स्नं मेघमण्डलं बद्धं वर्तत इति नाभित्वव्यपदेशः । हे पर्जन्य त्वं तत्र निहिता स्थापिता नाभिः असि भवसि । नाभिचक्रवत् कृत्स्नस्य मेघमण्डलस्य धारकत्वेन अन्तरिक्षमध्ये अवस्थितो भवसीत्यर्थः । ❀ निपूर्वात् धाञः कर्मणि निष्ठा । "दधातेर्हिः" इति हिरादेशः । "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । नाभ्यपेक्षया स्त्रीलिङ्गता । णह बन्धने । नहो भश्च [उ० ४. १२५] इति इञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्तो नाभिशब्दः ❀ ॥

हे प्रवतो नपात् पर्जन्य ! आपके लिये नमस्कार हो, (क्योंकि—इससे अधिक हममें सेवा करनेकी शक्ति नहीं है) और आपके सन्ताप देने वाले अशनिरूप आयुधके लिये भी हम नमस्कार करते हैं (पर्जन्यका निवासस्थान ज्ञात न होनेसे नमस्कार करना बन नहीं सकता ऐसी आशङ्का करके कहते हैं, कि—) हे पर्जन्य ! हम गुहाकी समान अगम्य तुम्हारे श्रेष्ठ निवासस्थानको जानते हैं (वह निवासस्थान क्या है ?) जिसमेंसे जल निकलते हैं उस † समुद्र नाम वाले अन्तरिक्षमें तुम नाभिकी समान स्थित रहते हो । जैसे देहके मध्यके नाभिचक्रमें सब नाड़ियें बँधी हुई होती हैं, इसी प्रकार पर्जन्यमें सारा मेघमण्डल बँध रहा है अत

---

† यास्कने जिसमेंसे जल निकलता उस अन्तरिक्षका भी समुद्र नाम रक्खा है । यथा—समुद्रः कस्मात् समुद्द्रवन्त्यस्मादापः रसमभिद्रवन्त्येनमापः संमोदंतेऽस्मिन् भूतानि समुद्रको भवति समुनचीति वा (निरुक्त २ । १०) ।

एव यहाँ नाभिकी उपमा दी है अर्थात् तुम नाभिचक्रकी समान सारे मेघमण्डलके धारकरूपसे अन्तरिक्षमें स्थित होते हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यां त्वा॑ दे॒वा असृ॑जन्त॒ विश्व॒ इषुं॑ कृण्वा॒ना
अस॑नाय धृ॒ष्णुम् ।
सा नो॑ मृड वि॒दथे॑ गृणा॒ना तस्यै॑ ते॒ नमो॑
अस्तु देवि ॥ ४ ॥

याम् । त्वा॒ । दे॒वाः । असृ॑जन्त । विश्वे॑ । इषु॑म् । कृ॒ण्वा॒नाः ।
अस॑नाय । धृ॒ष्णुम् ।
सा । न॒ः । मृ॒ड॒ । वि॒दथे॑ । गृ॒णा॒ना । तस्यै॑ । ते॒ । नम॑ः ।
अ॒स्तु॒ । दे॒वि॒ ॥ ४ ॥

पूर्वत्र पर्जन्यस्य प्राधान्येन प्रार्थना कृता । अधुना अशनिमेव प्राधान्येन प्रार्थयते । हे अशने [यां] त्वा त्वां विश्वे सर्वे देवाः दानादिगुणयुक्ता इन्द्रादयः असृजन्त सृष्टवन्तः । किमर्थम् इत्यत आह । असनाय क्षेपणाय अनभिमतेषु पुरुषेषु प्रक्षेप्तुम् । ❀ असु क्षेपणे । भावे ल्युट् ❀ । धृष्णुम् धर्षिकां शत्रूणां हिंसने प्रगल्भाम् । ❀ ञिधृषा प्रागल्भ्ये । "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नुप्रत्ययः ❀ । इषुम् शरं कृण्वानाः कुर्वाणाः । इषुकरणाद्धेतोः असृजन्तेत्यर्थः । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शानच् । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः अकारश्चान्तादेशः ❀ । सा तथाविधा त्वं विदथे । यज्ञनामैतत् । विन्दन्ति प्राप्नुवन्ति अनेन फलम् इति विदथो यज्ञः । ❀ विद्लृ

लाभे । रुदिविदिभ्यां कित् [उ० ३. ११५] इति करणे अथप्रत्ययः । कित्त्वात् लघूपधगुणाभावः । प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ❀ । अधुना मया क्रियमाणे कर्मणीत्यर्थः । गृणाना स्तूयमाना । ❀ गॄ शब्दे । कर्मणि लटः शानच् । यकि प्राप्ते व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इत्याल्लोपः । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । यद्वा । विद्यन्ते ज्ञायन्ते नक्षत्राणि अस्मिन् इति विदथम् अन्तरिक्षम् तस्मिन् गृणाना शब्दायमाना । गर्जन्तीत्यर्थः । नः अस्मान् मृल मृडय । त्वन्निमित्तभयनिवारणेन सुखयेत्यर्थः ।। तत्र हेतुम् आह । हे देवि अन्तरिक्षे विद्योतमाने अशने तस्यै तादृश्यै उक्तमहिमोपेतायै ते तुभ्यं नमः नमस्कारः अस्तु भवतु । ❀ तस्या इति । "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्साववर्ण०" इति प्रतिषेधात् प्रतिपादिकस्वरेण आदिरुदात्तः ❀ ।।

[इति] तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ।।

(पहिले पर्जन्यकी प्रधानरूपसे प्रार्थना थी अब अशनिकी प्रधानतया प्रार्थना करते हैं, कि—)हे अशने ! दान आदि गुण वाले इन्द्र आदि सब देवताओंने अनभिमत पुरुषों पर फैंकनेके लिये बाणरूपमें बना कर तुझ शत्रुओंकी हिंसा करनेमें प्रगल्भ अशनिकी रचना की है । वह तू जिससे फल प्राप्त होता है उस यज्ञमें स्तुति पाकर हमें सुख दे तथा जिसमें नक्षत्र आदि जाने जाते हैं उस आकाशमें गर्जती हुई तू अपने भयको दूर करके हमें सुख दे, हे अन्तरिक्षमें दमकती हुई देवि अशने ! तुम्हारे लिये प्रणाम है ।। ४ ।।

तीसरे अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (१२) ।।

"भगन् अस्या वर्चः" इति सूक्तेन स्त्रियाः पुरुषस्य वा दौर्भाग्यकरणे तदुपभुक्तमाल्यकन्दुकदन्तधावनकेशानां सूत्रोक्तप्रकारेण [नि] खननादिकर्माणि कुर्यात् । तथा च कौशिकः । "भगम्

अस्या वर्च इति मालानिष्प्रमन्ददन्तधावनकेशान् ईशानहतायाः" इत्यादि [कौ० ४. १२]॥

"भगं अस्या वर्चः" इस सूक्तके द्वारा, स्त्री वा पुरुषके दौर्भाग्यकरणमें उसके उपयुक्त माल्य, गेंद, दतौन और केश आदिके निखनन आदि कर्म सूत्रमें कही हुई रीतिसे करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। यथा—"भगं अस्या वर्च इति मालानिष्प्रमन्ददन्तधावनकेशान् ईशानाहतायाः" इत्यादि (कौशिकसूत्र ४। १२)॥

तत्र प्रथमा ॥

भग॑मस्या॒ वर्च॒ आदि॒ष्यधि॑ वृ॒क्षादि॑व॒ स्रज॑म् ।
म॒हाबु॑ध्न इव॒ पर्व॑तो॒ ज्योक् पि॒तृष्वा॑स्ताम् ॥ १ ॥

भग॑म् । अ॒स्याः॒ । वर्च॑ः । आ । अ॒दि॒षि॒ । अधि॑ । वृ॒क्षात्ऽइ॑व ।
स्रज॑म् । म॒हाबु॑ध्नःऽइव । पर्व॑तः । ज्योक् । पि॒तृ॑षु । आ॒स्ता॒म् ॥१॥

अस्याः अनभिमतायाः स्त्रिया भगम् भाग्यं वर्चः तद्धेतुभूतं शारीरम् असाधारणं तेजश्च आदिषि आददे। मन्त्रप्रभावात् स्वीकरोमीत्यर्थः। ❀ डुदाञ् दाने। "आङो दोऽनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदम्। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति लुङ्। "स्थाघ्वोरिच्च" इति सिचः कित्त्वम् तत्संनियोगेन धातोराकारस्य इत्त्वम्। सिचः कित्त्वाद् गुणाभावः। भगम् इति। भज सेवायाम्। "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति करणे घः। "चजोः कु घिण्यतोः" इति कुत्वम्। वृषादेः आकृतिगणत्वाद् आद्युदात्तत्वम्। वर्च इति। वर्च दीप्तौ इत्यस्माद् भावे असुन्। तस्य नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀। वर्चस आदाने दृष्टान्तः। वृक्षादिव

महीरुहादिव। ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। पुष्पिताद् वृक्षाद् यथा स्रजं पुष्पनिकरं जना आददते तथेति पूर्वेण संबन्धः। ❀ सृज विसर्गे। "ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च" इति क्विन्नन्तो निपातितः। वृक्षादिवेति। "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀॥ एवम् अपहृतवर्चस्का सा स्त्री किं करोतु इत्यत आह। महाबुध्न इव महान् दीर्घतरो बुध्नो मूलं यस्य स महाबुध्नः। भूम्याम् अधिकतरं निखात इत्यर्थः। ❀ बन्ध बन्धने। बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३.५] इति नक् प्रत्ययः तत्संनियोगेन धातोर्बुधा[illegible]। "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" इति महच्छब्दस्य आकारः ❀। तादृशः पर्वतः पर्ववान् शिलोच्चयः। ❀ पर्ववान् पर्वत इति हि निरुक्तम् [नि० १. २०] ❀। स यथा स्वस्थानात् न चलति तथा इयमपि दुर्भगा स्त्री ज्योक् चिरकालं पितृषु वक्ष्यमाणेषु पितृमात्रादिगृहेषु आस्तां निवसतु। पित्रादिगृहात् न कदाचित् पत्युर्मुखम् अवलोकयतु इत्यर्थः। ❀ आस उपवेशने। "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" इति तङ्। लोटि अदादित्वात् शपो लुक्। "तिङ्ङतिङः" इति सर्वानुदात्तत्वम् ❀॥

जैसे पुष्पित वृक्षपरसे मनुष्य फूलोंको उतार लेते हैं, तैसे ही मैं इस अनभिमत स्त्रीके भाग्यको और उसके शरीरके असाधारण तेजको भी मन्त्रके प्रभावसे (उससे उतार कर स्वयं) ग्रहण करता हूँ फिर पृथिवीमें गहरी जड़ वाला पर्वत जैसे अपने स्थानसे नहीं चलता है, इसी प्रकार यह दुर्भगा स्त्री भी चिरकाल तक पिता माता आदिके घरमें रहे, पिता आदिके घरसे आकर पतिके मुखको न देखे॥ १॥

द्वितीया ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या ॥ वधूः । नि । धूयताम् । यम ।
सा । मातुः । बध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति ।
पितुः ॥ २ ॥

हे राजन् राजमान सोम । प्रथमातिथित्वेन नियामकत्वात् यमेति तस्यैव विशेषणम् । श्रूयते हि । "सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः" [ऋ० १०.८५.४०] इति । हे ईदृश सोम एषा कन्या स्त्री ते तव वधूः जाया । प्रथमतस्त्वया परिगृहीतत्वाद् इत्यर्थः । सा वधूः नि धूयताम् । दौर्भाग्येन पतिगृहात् निःसार्यताम् इत्यर्थः । ❀ धूञ् कम्पने । कर्मणि लोट् ❀ ॥ एवं भवता पतिगृहात् निःसारिता सा वधूः मातुः जनन्या गृहे बध्यताम् । बद्धेव तत्रैव चिरं वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ बन्ध बन्धने । "अनिदिताम्०" इति उपधालोपः ❀ ॥ अथो अपि च भ्रातुः सोदरस्य गृहे बध्यताम् इति संबन्धः ॥ अथो अपि च पितुः जनकस्य गृहे बध्यताम् । एषा वधूः दुर्भगा सती यावज्जीवं मात्रादिगृहेष्वेव यथेच्छं वर्ततां न कदाचित् पतिगृहं प्रविशतु इत्यर्थः ॥

हे राजमान यम सोम ! ‡ इस कन्याको पहिले आपने ग्रहण

---

‡ सोम प्रथम अतिथि होनेसे नियामक हैं, अत एव उनको यम कहा है । श्रुतिमें भी कहा है, कि—'सोमः प्रथमो विविदे गंधर्वो विविद उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।-

किया था अतः यह कन्या आपकी वधू है, यह वधू अब दुर्भाग्यताके कारण पतिके घरसे निकाली जावे और इस प्रकार आपके पतिगृहसे निकाल देने पर यह वधू माता भाई अथवा पिताके घरमें बँधी हुई सी चिरकाल तक पड़ी रहे अर्थात् यह वधू दुर्भाग्यवती बन कर जीवन भर माता, पिता वा भाईके घरमें ही पड़ी रहे, कभी पतिके घरमें न घुसे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ए॒षा ते॑ कुल॒पा रा॑ज॒न् तामु॑ ते॒ परि॑ दद्मसि ।
ज्योक् पि॒तृष्वा॑साता॒ आ शी॒र्ष्णः स॒मोप्या॑त् ॥३॥

ए॒षा । ते॒ । कु॒ल॒ऽपाः । रा॒ज॒न् । ताम् । ऊं इति॑ । ते॒ । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ।
ज्योक् । पि॒तृषु॑ । आ॒सा॒तै॒ । आ । शी॒र्ष्णः । स॒म्ऽओप्या॑त् ॥३॥

हे राजन् सोम एषा स्त्री ते तव कुलपा पातिव्रत्येन कुलस्य पालयित्री या । विवाहकाले प्रथमतस्त्वया परिगृहीतत्वात् । ❀ पा रक्षणे । "आतोनुपसर्गे कः" इति कर्मण्युपपदे कप्रत्ययः ❀ । ताम् स्त्रियम् । उशब्दः अवधारणे स च भिन्नक्रमः । ते तुभ्यमेव परि दद्मसि परिदद्मः । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । एतावन्तं कालं पतिसमीपे स्थिताम् एनां रक्षणार्थं पुनस्त्वदायत्तामेव करोमी-

---

अर्थात् सोमने पहिले तुझै पाया, फिर गंधर्वने तुझै पाया, तीसरे अग्निने तुझै पाया और चौथा यह मनुष्य तेरा पति है।' (ऋग्वेद १० । ८५ । ४०) ॥ इस मन्त्रमें जो सोम गंधर्व और अग्नि ये कन्याके तीन पति कहे हैं, ये कन्याके शरीरमें दो दो वर्ष रहकर कन्याकी रक्षा करने वाले तीन अधिष्ठात्री देवता हैं, ये उत्तरोत्तर कन्याको मनुष्यजातिके पुरुषको वधूरूपसे दान देते हैं ॥

त्यर्थः । ❀ डुदाञ् दाने । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्नाभ्यस्तयोरातः" इति आकारलोपः । "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❀ ॥ तस्या निवासस्थानम् आह ज्योक् चिरकालं पितृषु पित्रादिगृहेषु उक्तेषु आसातै आस्तां निवसतु । ❀ आस उपवेशने । अस्मात् लेटि आडागमः । टेः एत्वे "वैतोन्यत्र" इति ऐकारः ❀ । पितृकुलवासस्य अवधिम् आह । शीर्ष्णः शिरसः समोप्यात् संवपनात् भूमौ संपतनात् । ❀ आङ् अभिविधौ ❀ । शिरसो निपातावधीति यावत् । मरणपर्यन्तं पित्रादिगृहेष्वेव वर्तताम् इत्यर्थः । ❀ समाङ्पूर्वाद् वपेर्भावे छान्दसः क्यप् । "शीर्षश्छन्दसि" इति शिरःशब्दस्य शीर्षन् आदेशः । "अल्लोपोऽनः" इति अकारलोपे "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति षष्ठ्येकवचनस्य उदात्तत्वम् । "आङ् मर्यादावचने" इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति समोप्यशब्दात् पञ्चमी ❀॥

हे राजन् सोम ! यह आपकी वधू पातिव्रत्यके द्वारा कुलकी रक्षा करने वाली है (क्योंकि—पहिले आपने इसको ग्रहण किया था) उस स्त्रीको अब हम फिर आपको देते हैं, अर्थात् इतने समय तक पतिके पास रही हुई इस स्त्रीको हम अब फिर आपके आधीन करते हैं । (उसके निवासस्थानको कहते हैं, कि—) जब तक इसका शिर पृथ्वी पर गिरे उतने समय तक यह पिताके कुलमें रहे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तःकोशमिव जामयोपि नह्यामि ते भगम् ॥ ४ ॥

असि॑तस्य । ते॒ । ब्रह्म॑णा । क॒श्यप॑स्य । गय॑स्य । च॒ ।

अ॒न्त॒ःको॒शम्ऽइ॑व । जा॒मय॑ः । अपि॑ । न॒ह्या॒मि॒ । ते॒ । भग॑म् ॥४॥

हे नारि ते तव भगम् भाग्यम् असितस्य एतन्नाम्न ऋषेः ब्रह्मणा मन्त्रेण अपि नह्यामि । अपिनद्धं पिहितं करोमि । त्वत् सकाशाद् निवर्तयामीत्यर्थः । तथा कश्यपस्य ऋषेः गयस्य च । परस्परसमुच्चयार्थश्चकारः । एतयोरपि संबन्धिना ब्रह्मणा मन्त्रेण ते तव भगम् भाग्यम् अपि नह्यामि । ❀ णह बन्धने । दिवादित्वात् श्यन् प्रत्ययः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । जामयः । जायन्ते आसु अपत्यानीति जामयः स्त्रियः भगिन्यादिरूपाः । ❀ तद् उक्तं यास्केन । न जामये भगिन्यै जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम् इति [नि० ३. ६] ❀ । ताः अन्तः गृहमध्ये अवस्थितं कोशमिव धनवस्त्रादिस्थापनार्थम् आवृतं स्थानमिव । तादृशं स्थानं यथा पिहितं कुर्वन्ति तद्वद् इत्यर्थः । ❀ "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀ ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

हे स्त्री ! मैं तेरे भाग्यको असित नाम वाले ऋषिके मन्त्रसे, गय ऋषिके मन्त्रसे और कश्यप ऋषिके मन्त्रसे इस प्रकार ढ़कता हूँ जिस प्रकार जामियें (स्त्रियें) घरके भीतर धन वस्त्र आदिको गुप्त (ढ़का हुआ) रखती हैं ॥ ४ ॥

॥ तीसरा सूक्त समाप्त (१४) ॥

"सं सं स्रवन्तु" इति सूक्तं सर्वपुष्टिकर्मणि संपाताभिमन्त्रितमैश्रधान्यचरुप्राशने दधिमधुमिश्रसक्तुमन्थप्राशने च विनियुक्तम् । सूत्रितं हि । "सं सं स्रवन्त्विति नाड्याभ्याम् उदकम् आहरतः सर्वत उपासिच्य तस्मिन् मैश्रधान्यं शृतम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २] । व्रीहियवादानि मिश्रधान्यानि । "व्रीहियवगो-

धूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि” इति [कौ० १. ८] परिभाषासूत्रात् ॥

तथा लक्ष्मीकरणे च एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । “यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्य क्षीरौदनम् अश्नाति” इत्यादि [कौ. ३. २] ॥

“सं सं स्रवन्तु” इस सूक्तका सर्वपुष्टिकर्ममें सम्पाताभिमंत्रित मिश्रधान्यसे बने चरुके प्राशनके समय तथा दही मधु मिश्र सत्तू मंथप्राशनके समय विनियोग होता है। सूत्रमें भी कहा है, कि–“सं सं स्रवन्ति नाव्याभ्यां उदकं आहरतः सर्वत उपासिच्य तस्मिन् मैश्रधान्यं श्रृतं अश्नाति–संसं स्रवन्तु इस सूक्त के द्वारा जहाँ नौका चलती हो तहाँके लाये हुए जलसे मिश्रधान्यको धोकर उसी जलमें मिश्रधान्यको औटावे । इत्यादि” (कौशिकसूत्र ३ । २) । व्रीहियव आदिका नाम मिश्रधान्य है । क्योंकि–कौशिकसूत्र १ । ८ में कहा है, कि–“व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि–धान जौ गेहूँ उपवाक तिल प्रियंगु (कँगनी) और श्यामाक ये मिश्रधान्य हैं ।”

तथा लक्ष्मीकरणमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है । कौशिकसूत्र ३ । २ में कहा है, कि–“यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्य क्षीरौदनं अश्नाति ।”

तत्र प्रथमा ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्धवः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः ।

इ॒मम् । य॒ज्ञम् । प्र॒ऽदिवः॑ । मे॒ । जु॒ष॒न्ता॒म् । स॒म्ऽस्रा॒व्ये॑ण । ह॒विषा॑ । जु॒हो॒मि॒ ॥ १ ॥

सिन्धवः स्यन्दनशीलाः नद्यः सं सं स्रवन्तु । सम्यक् । अस्मदनुकूलाः प्रवहन्तु । ❀ स्रु गतौ । लोटि शब्गुणावादेशाः । "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति समो द्विर्वचनम् । "तस्य परम् आम्रेडितम्" इति परस्य आम्रेडितसंज्ञा । "अनुदात्तं च" इति तस्य अनुदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा वाताः गमनशीला वायवः । ❀ वा गतिगन्धनयोः । हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् [उ० ३. ८६] इति तन् प्रत्ययः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । तेपि । उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । सं सं स्रवन्तु आनुकूल्येन प्रवर्तन्ताम् ॥ तथा पतत्रिणः । पतत्राणि पक्षा एषां सन्तीति पतत्रिणः । ❀ पत्लृ गतौ । पतेरत्रन् [उ० ३. १०५] इति पतत्रशब्दः अत्रन्प्रत्ययान्तः । "अत इनिठनौ" इति मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ❀ । तदुपलक्षिताः सर्वे प्राणिनः सं सं स्रवन्तु सम्यग् अनुकूलाश्चरन्तु ॥ यद्वा एते सिन्धुप्रभृतयः स स्रवन्तु अस्मदभिलषितं फलं सं प्रयच्छन्तु ॥ तथा प्रदिवः । पुराणनामैतत् । पुरातना देवाः मे मदीयम् इमं यज्ञम् यागं जुषन्ताम् सेवन्ताम् । अत्र संनिहिता भूत्वा हविः स्वीकुर्वन्तु इत्यर्थः । ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः । तुदादित्वात् शप्रत्ययः । तस्य ङित्त्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥ अत्र हविषः सद्भावम् आह संस्राव्येणेति । सम्यक् स्रवणं संस्रावः । ❀ स्रु गतौ । भावे घञ् ❀ । संस्रावम् अर्हतीति संस्राव्यम् आज्यपयःप्रभृति । ❀ "तद् अर्हति" इति यत् प्रत्ययः ❀ । यद्वा संस्रावणीयेन । ❀ सं पूर्वात् स्रवतेर्ण्यन्तात् "अचो यत्" इति यत् ❀ । तादृशेन हविषा आज्यादिना जुहोमि । आज्यादिकं हविः देवान्

उद्दिश्य अग्नौ प्रक्षिपामीत्यर्थः । ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति हविषा इति कर्मणि तृतीया ❀ ॥

स्यन्दनशील (धीरे २ चलने वालीं) नदियें हमारे अनुकूल होकर बहें, गमनशील वायु भी हमारे अनुकूल होकर चले, और पक्षवाले पक्षी भी हमारे अनुकूल रहें और ये नदियें वायु तथा पर वाले प्राणी मेरे अभिलषित फलको दें और प्राचीन देवता मेरे इस यज्ञका सेवन करें, समीपमें रह कर हविको स्वीकार करें, मैं बहने वाली घी दूध आदि हविको देवताओंके निमित्त अग्निमें होम रहा हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इ॒हैव ह॒व॒मा यात म इ॒ह संस्रावणा उ॒तेमं वर्धयता गिरः ।
इ॒हैतु॒ सर्वो॒ यः प॒शु॒रस्मिन् तिष्ठ॒तु या र॒यिः ॥ २ ॥

इ॒ह । ए॒व । हव॑म् । आ । या॒त॒ । मे॒ । इ॒ह । स॒म्ऽस्रा॒व॒णाः॒ । उ॒त ।
इ॒मम् । व॒र्ध॒य॒त । गि॒रः॒ ।

इ॒ह । आ । ए॒तु । सर्वः॑ । यः । प॒शुः । अ॒स्मिन् । ति॒ष्ठ॒तु । या । र॒यिः ॥

हे देवाः मे मम संबन्धिनं हवम् आह्वानम् उद्दिश्य इहैव अस्मिन् मत्समीपदेश एव आ यात आगच्छत । अन्यान् सर्वान् परित्यज्य मत्समीपमेव आगच्छतेत्यर्थः । ❀ या प्रापणे । लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥ तत्र हेतुरुच्यते । इह अस्मिन् कर्मणि संस्रावणाः संस्रावणीयाज्यादिसाध्या होमाः । सन्तीति शेषः । ❀ स्रवतेर्ण्यन्तात् कर्मणि ल्युट् ❀ ॥ तद्धविःस्वीकरणार्थम् आ यातेति पूर्वेण संबन्धः ॥ उत अपि च गिरः गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । ❀ कर्मणि क्विप् । "ऋत इद्धातोः"

इति इत्त्वम् ❀ । हे देवाः स्तूयमाना यूयम् इमम् हविःप्रदं यजमानं वर्धयत प्रजापश्वादिभिः समृद्धं कुरुत । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् ण्यन्तात् लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनस्य थस्य तादेशः । "ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ यद्वा हे देवाः यूयं गिरः अस्माभिः क्रियमाणाः स्तुतिरूपा वाचः । प्राप्य इत्यध्याहृत्य योज्यम् ॥ हे देवाः युष्मत्प्रसादात् यः लोके प्रसिद्धः गवाश्वमहिषादिरूपः पशुरस्ति स सर्वोपि इह अस्मदीये सदने एतु आगच्छतु ॥ तथा या प्रसिद्धा धान्यकनकादिरूपा रयिः धनम् अस्ति सा सर्वापि अस्मिन् मदीये गृहे तिष्ठतु निवसतु । मम पशुधनादिसर्वसमृद्धिर्भवतु इत्यर्थः ॥

हे देवताओं ! मेरे आह्वान (बुलाने) पर ध्यान देकर तुम और सबको छोड़ कर मेरे पास आजाओ । क्योंकि—इस कर्ममें बहने वाले घी दूध आदि पदार्थोंसे सिद्ध होने वाले होम हो रहे हैं, और स्तुतियें होरही हैं. अतः हविको स्वीकार करनेके लिये आइये । और हे देवताओं ! तुम स्तुति पाने पर इस हवि देने वाले यजमानको प्रजा और पशु आदिसे समृद्ध करो, आपके प्रसादसे संसारमें प्रसिद्ध गौ घोड़ा भैंस आदिरूप पशु तथा धान्य आदि सुवर्ण रूप जो कुछ धन है, वह हमारे घरमें आजावे ॥ २॥

तृतीया ॥

ये न॒दीनां॑ सं॒स्र॒व॒न्त्युत्सा॑सः॒ सद॒मक्षि॑ताः ।
तेभि॑र्मे॒ सर्वैः॑ सं॒स्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि ॥ ३ ॥

ये । न॒दीना॑म् । स॒म्ऽस्रव॑न्ति । उत्सा॑सः । सद॑म् । अक्षि॑ताः ।
तेभिः॑ । मे॒ । सर्वैः॑ । स॒म्ऽस्रा॒वैः । धन॑म् । सम् । स्रा॒व॒या॒म॒सि॒ ३

नदीनाम् नदनशीलानां गङ्गादीनाम् । ❀ नदनाभद्य इति या-

स्कः [नि० २. २४.] तथा च अग्रे निर्वक्ष्यते । "यददः संप्रयतीरहावनदता हते । तस्मादा नद्यो नाम स्थ" [३. १३. १] इति । नद अव्यक्ते शब्दे । अस्मात् पचाद्यच् । तत्र गणे नदट् इति पाठात् टित्त्वात् ङीप् प्रत्ययः । "अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः" इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । तासां संबन्धिनो ये प्रसिद्धाः सदम् सदा अविच्छेदेन वर्तमाना अक्षिता क्षयरहिता अक्षीयमाणा वा । यद्वा सदम् अक्षिताः सर्वदा ग्रीष्मादावपि क्षयरहिताः । ❀ क्षि क्षये । अस्माद् भावे कर्मणि वा क्तः । "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति भावकर्मणोः पर्युदस्तत्वाद् दीर्घाभावः । "अत एव क्षियो दीर्घात्" इति विहितस्य निष्ठानत्वस्यापि अभावः ❀ । तथाविधा उत्सासः उत्साः भूमेरुद्गच्छन्तो जलप्रवाहाः । ❀ "आज्जसेरसुक" ❀ । संस्रवन्ति संभूय प्रवहन्ति । महानदीनां जलप्रवाहाः सवदा क्षयरहिताः प्रवहन्तीत्यर्थः । तेभिः तैः । ❀ "बहुलं छन्दसि" इति भिसः ऐसभावे "बहुवचने झल्येत्" इति एत्वम् ❀ । सर्वैः निखिलैः संस्रावैः जलप्रवाहैः । ❀ स्रु स्रवणे । भावे घञ् । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । धनम् गोहिरण्यादिरूपं मे मम संस्रावयामसि संस्रावयामः संप्रवाहयामः अविच्छिन्नैर्नदीनां प्रवाहैः सस्याद्यभिवृद्धिद्वारा अभिलषितं धनं प्राप्नुयामेत्यर्थः । यद्वा नदीनाम् अविच्छिन्नप्रवाहवत् । ममापि धनम् अविच्छेदेन समृद्धं भवतु इत्यर्थः । ❀ स्रु स्रवणे । अस्मात् ण्यन्तात् लटि "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❀ ॥

नदन करने वाली गंगा आदि नदियों ‡ के पृथ्वीसे ऊपरको निकलने वाले और ग्रीष्म आदिमें भी कभी क्षीण न होने वाले

---

‡ "नदनान्नद्य इति यास्कः—नदन (गर्जना करनेसे जलका नाम नदी है)" (निरुक्त २ । २४) । इसी बातका अथर्ववेदके तृतीयकाण्डके तेरहवें सूक्तके प्रथममन्त्रमें प्रतिपादन किया है

जो प्रवाह एकत्रित होकर बहते हैं, उन सब जल प्रवाहोंसे हम गौ और हिरण्यरूप धनको धान्यकी वृद्धिके द्वारा प्राप्त करें अर्थात् नदियोंके अटूट जलप्रवाहकी समान हमारे यहाँ भी धन और पशु अविच्छिन्न (अटूट) रूपसे रहें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ये स॒र्पिषः॑ सं॒स्रव॑न्ति क्षी॒रस्य॑ चोद॒कस्य॑ च ।
तेभि॒र्मे सर्वैः॑ संस्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि ॥ ४ ॥

ये॒ । स॒र्पिषः॑ । स॒म्ऽस्रव॑न्ति । क्षी॒रस्य॑ । च॒ । उ॒द॒कस्य॑ । च॒ ।
तेभिः॑ । मे॒ । सर्वैः॑ । स॒म्ऽस्रा॒वैः । धन॑म् । सम् । स्रा॒व॒या॒म॒सि॒ ४

सर्पिषः सर्पणशीलस्य आज्यस्य । "यद्द असर्पत् तत् सर्पिरभवत्" [तै० सं० २. ३. १० १] इति हि तैत्तिरीयकम् । ये अवयवाः संस्रवन्ति नदीरूपेण प्रवहन्ति । यद्वा पूर्वमन्त्रात् उत्सास इति विशेष्यम् अनुषज्य योजनीयम् । सर्पिषोपि द्रवणस्वभावं द्रव्यम् उदाहरति । क्षीरस्य क्षरणशीलस्य पयसः ततोपि द्रवणशीलस्य उदकस्य । ❀ उदननात् परितो गमनाद्द उदकम् । तथा च निगमः । उदानिषुर्महीरिति तस्माद्द उदकम् उच्यते [तै० सं० ५.६.१.३]" इति । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । तयोर्ये उत्साः संस्रवन्ति तेभिरित्यादि पूर्वं व्याख्यातम् ॥

[इति] चतुर्थं सूक्तम् ॥

कि—"यददः सम्प्रयतीरहावनदता हते तस्मादानद्यो नाम स्थ०— हे जलो ! परलोकमें ताड़न करने योग्य मेघके ताड़ित होने पर एकत्रित होकर इधर उधरको जाते हुए तुमने गर्जना की थी उसी कारणसे तुम्हारा नदी नाम पड़ा है, हे जलो ! तुम्हारे सिंधु आदि अन्य नाम भी सार्थक हैं ।"

सर्पण † (गमन) शील घृतके अवयव क्षीरके तथा जलके जो प्रवाह हैं, उन प्रवाहोंसे हम गौ और हिरण्यरूप धनको प्रवाहरूपमें प्राप्त करें ॥ ४ ॥

चतुर्थ सूक्त समाप्त (१५)

"येमावास्यां रात्रिम्" इति सूक्तेन द्वेष्यमरणार्थम् अभिमन्त्रितसीसचूर्णमिश्रान्नप्रदानम् तद्गात्रस्थाभरणसंस्पर्शनम् स्वयंछिन्नवेणुयष्ट्या ताडनं च कुर्यात् । सूत्रं च । "येमावास्यां रात्रिम् इति संनह्य सीसचूर्णानि" इत्यादि [कौ० ६. १] । अत्र सीसशब्देन "सीसनदीसीसे अयोरजांसि कृकलाशशिरः सीसानि" इति [कौ० १. ८] परिभाषासूत्रोक्तानि प्रत्येतव्यानि ॥ अत्र नदीसीसम् इति नदीफेनम् उच्यते ॥

"येऽमावास्यां रात्रिम्" इस सूक्तके द्वारा शत्रुका मरण होनेके लिये अभिमन्त्रित सीस (सीसे) के चूर्णसे मिला हुआ अन्न देय, उस शरीर परके गहनोंको छुए और अपने आप टूटी हुई बाँसकी लकड़ीसे ताड़न भी करे । सूत्रमें भी कहा है, कि—"येऽमावास्यां रात्रिं इति संनह्य सीसचूर्णानि" इत्यादि (कौशिकसूत्र ६ । १) । यहाँ पर सीस शब्दसे कौशिकसूत्र १ । ८ में परिभाषित सीस लेने चाहियें, यथा—"सीसनदीसीसे अयोरजांसि कृकलासशिरः सीसानि—सीसा नदीसीस, लोहेका चूर्ण और गिरघटका सिर ये सीस कहलाते हैं ।" यहाँ पर नदीसीस शब्दका अर्थ नदीका फेन है ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । १० । १ में कहा है, कि—"यद्रु असर्पत् तत् सर्पिरभवत्—जो सरका वह सर्पिः (घी) हुआ ॥"

तत्र प्रथमा ॥

येऽमावस्यां ३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् १

ये । अमाऽवास्या३म् । रात्रिम् । उत्ऽअस्थुः । व्राजम् । अत्त्रिणः ।
अग्निः । तुरीयः । यातुऽहा । सः । अस्मभ्यम् । अधि । ब्रवत् १

ये प्रसिद्धा अत्त्रिणः अदनशीला रक्षःपिशाचादयः । ❀ अद भक्षणे इत्यस्माद् अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति औणादिकस्त्रिनिप्रत्ययः ❀ । अमावास्याम् । अमा सह वसतः अस्यां तिथौ सूर्याचन्द्रमसौ इति अमावास्या । ❀ वस निवासे । अस्मात् ण्यति "अमावस्यद् अन्यतरस्याम्" इति वृद्ध्यभावनिपातनस्य पाक्षिकत्वाद् अत्र वृद्धिः । "तस्येदम्" अर्थे विहितस्य अणः छान्दसो लुक् । "तित् स्वरितम्" इति अन्तस्वरितत्वम् ❀ । अमावास्यासंबन्धिनीम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ "सुपां सुपो भवन्ति" इति षष्ठ्या अमादेशः ❀ । अमावास्याया इत्यर्थः । रात्रिम् रजनीं भ्राजमानां तारकाभिर्दीप्यमानाम् । ❀ भ्राजृ दीप्तौ । "भ्राजभास०" इत्यादिना क्विप् रात्रिम् इति । "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया ❀ । सर्वस्यां रात्रौ उदस्थुः उत्तिष्ठन्ति । मनुष्यान् हिंसितुं रात्रौ संचरन्तीत्यर्थः । यद्वा । भ्राजं भ्राजमानं रोगाद्यभावेन पुष्टाङ्गं पुरुषं हिंसितुम् उदस्थुः । अत एव अमावास्यासंबन्धिन्यां रात्रौ रक्षसां संचरणं निमित्तीकृत्य राक्षोघ्नेष्टिर्विहिता । "अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशम् अष्टाकपालम् अमावास्यायां निशायां निर्वपेत्" इति । तथैव तेषां संचरणमेव निमित्तीकृत्य तस्यां रात्रौ आत्मरक्षा कर्तव्येति तेनैव आपस्तम्बेनोक्तम् । 'दिवादित्यः सत्त्वानि गोपायति नक्तं चन्द्रमास्तस्माद् अमावा-

स्यायां निशायां स्वाधीन आत्मनो गुप्तिम् इच्छेत्" इति [आप० ध० १. ३१]। ❀ अस्थुरिति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । "छन्दसि लुङ् लङ् लिटः" इति वर्तमाने लुङ् । अत्र च ऊर्ध्वगमनस्य विवक्षितत्वात् "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इति ऊर्ध्वकर्मणः पर्युदस्तत्वाद् आत्मनेपदाभावः । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् । "आतः" इति झेर्जुस् । "उस्यपदान्तात्" इति पररूपत्वम् ❀ । यत एवं रक्षांसि अस्याम् उत्तिष्ठन्ति अतः कारणात् तुरीयः चतुर्थः अग्निः । पूर्वं देवानां हव्यवाहकास्त्रयः अग्नयो मृताः । तदपेक्षया अस्य वर्तमानस्य अग्नेस्तुरीत्वम् । श्रूयते हि तैत्तिरीयके । "अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त" [तै० सं० २. ६. ६. १] इति । यद्वा वैतानाग्नयस्त्रयः । तदपेक्षया गार्ह्योग्निश्चतुर्थः । अथवा वैतानिकः गार्ह्यः सांग्रामिकश्चेति त्रयः अग्नयः । तदपेक्षया आङ्गिरसोऽग्निश्चतुर्थः । ❀ पूरणेर्थे "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इति छप्रत्ययः । तत्संन्नियोगेन चकारस्य लोपः ❀ । सोग्निः यातुहा यातूनां रक्षसां हन्ता । "अग्निः खलु वै रक्षोहा" [तै० सं० ६. १. ४. ६.] इति तैत्तिरीयकम् । ❀ हन हिंसागत्योः । अस्माद् यातुशब्दोपपदात् "बहुलं छन्दसि" इति क्विप् ❀ । स तथाविधोग्निः अस्मभ्यम् अस्मदर्थम् अधि ब्रवत् अधिब्रवीतु । अस्मान् स्वकीयत्वेन स्वीकृत्य तेभ्यो रक्षःपिशाचेभ्यः प्राप्तां भीतिं निवर्तयतु इत्यर्थः । ❀ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । अस्मात् लेटि अडागमः ❀ ॥

भक्षण करना ही जिनका स्वभाव है वे राक्षस पिशाच आदि मनुष्योंको मारनेके लिये अमावास्याकी ‡ तारोंसे दमकती हुई रात्रिमें घूमा करते हैं (तथा रोग आदिके अभावसे पुष्ट शरीर

---

‡ जिस रात्रिमें सूर्य और चन्द्रमा (अमा) साथ ही साथ एक राशि पर होते हैं वह रात्रि अमावस्या कहलाती है ।।

वाले मनुष्योंको मारनेके लिये घूमते हैं †) (राक्षस इस रात्रिमें घूमते हैं इस कारण राक्षसोंका संहार करने वाले + चौथे अग्नि × हमारे लिये अभयवचन दें अर्थात् हमको अपना बना कर राक्षस पिशाचोंसे प्राप्त होसकनेवाली हमारी बाधाको दूरकरें १

---

† अत एव अमावस्यासे सम्बन्ध रखने वाली रात्रिमें राक्षसों के भ्रमणके निमित्त वश राक्षोघ्नेष्टि (राक्षसोंका नाश करने वाली इष्टि) का विधान है । यथा—अग्नये रक्षोघ्ने पुरोडाशं अष्टाकपालं अमावस्यायां निशायां निर्वपेत्—राक्षसोंका संहार करने वाली अग्निके निमित्त अमावास्याकी रात्रिमें अष्टाकपाल पुरोडाशका निर्वपन करे ।" तथा आपस्तम्बने भी राक्षसोंके संचरण को—भ्रमणको—निमित्त रख कर अमावास्याकी रात्रिमें आत्मरक्षा करनेकी आज्ञा दी है । यथा—"दिवादित्यः सत्त्वानि गोपायति नक्तं चंद्रमास्तस्माद् अमावास्यायां निशायां स्वाधीन आत्मनो गुप्तिं इच्छेत्—दिनमें सूर्य प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, रात्रिमें चंद्रमा प्राणियोंकी रक्षा करते हैं, इस कारण अमावास्याकी रात्रिमें स्वाधीन पुरुष अपनी रक्षाका उपाय विचारे—इच्छा करे—। (आपस्तम्बधर्मसूत्र १ । ३१) ॥

+ तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । ४ । ६ में कहा है, कि—"अग्निः खलु वै रक्षोहा—अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं ।"

× देवताओंको हव्य पहुँचाने वाले तीन अग्नि पहिले मर चुके हैं, उनकी अपेक्षा यह वर्तमान अग्नि चौथे अग्नि कहलाते हैं । श्रुतिमें भी कहा है, कि—"अग्ने त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त—अग्निके तीन बड़े भाई थे, वे देवताओंको हवि पहुँचाते २ समाप्त होगए" (तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ६ । १) ॥

अथवा तीन वैतान अग्नि हैं, उनकी अपेक्षा गार्हपत्य अग्नि चौथे हैं ॥

द्वितीया ॥

सीसा॒याध्या॑ह॒ वरु॑णः॒ सीसा॑या॒ग्निरुपा॑वति ।
सीसं॑ म॒ इन्द्रः॒ प्राय॑च्छ॒त् तद॒ङ्ग या॑तु॒चात॑नम् ॥ २ ॥

सीसा॑य । अधि॑ । आ॒ह॒ । वरु॑णः । सीसा॑य । अ॒ग्निः । उप॑ । अ॒व॒ति॒
सीस॑म् । मे॒ । इन्द्रः॑ । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । तत् । अ॒ङ्ग । या॒तु॒ऽचात॑नम् ॥

अनया प्रयोगसाधनं द्रव्यं स्तूयते । सीसाय प्राक् सूत्रपरिभाषया प्रदर्शिताय नदीफेनादिरूपाय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀। तदर्थं वरुणः जलाधिपतिर्देवः अध्याह अधिब्रवीति । मदीयम् एतद् इत्यभिमन्यते। अस्य सीसस्य रक्षःपिशाचाद्यनभिमतनिवृत्तिसाधनत्वेन इतरपदार्थेभ्यो विशिष्टत्वात् अत्रैव असाधारण्येन पक्षपातं करोतीत्यर्थः । ❀ आहेति ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि "ब्रुवः पञ्चानाम् आदित आहो ब्रुवः" इति तिपो णलादेशः तत्संनियोगेन प्रकृतेः आहादेशश्च ❀ ॥ तथा सीसाय उक्तद्रव्यार्थम् अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः उप अवति उपरक्षति । निरन्तरम् एतत् सीसं समीपे स्थापयित्वा रक्षोनिवर्हणसामर्थ्याधानेन पालयतीत्यर्थः ॥ यद्वा । ❀ सीसायेति । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी ❀ । सीसम् उक्तप्रकारेण रक्षतीत्यर्थः ॥ उदीरितसामर्थ्योपेतं सीसं मे मह्यं द्वेष्यादिनिरसनकामाय इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानां पतिः प्रायच्छत् प्रादात् । अनेन त्वदभिमतं साधयेति प्रदत्तवान् इत्यर्थः । ❀ दाण् दाने । लङि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥ सत्सु अन्येषु उत्कृष्टेषु द्रव्येषु किम् अनेन निकृष्टेन द्रव्येणेत्याह तदङ्गेति। अङ्ग इति आभिमुख्यकरणे । हे साधक देवदत्त तत् खलु उक्तसामर्थ्योपेतं सीसं यातुचानम्

यातूनां रक्षःपिशाचादीनां नाशकम् । ❀ चातयतिर्नाशने इति हि यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ ॥

इस ऋचाके द्वारा प्रयोगके साधन द्रव्यकी स्तुति करते हैं, कि–(नदीफेन आदि रूप पहिले सूत्रमें प्रतिपादित) सीसके विषयमें वरुणदेवने कहा है, कि–यह मेरा है । अर्थात् राक्षस पिशाच आदिके आक्रमणको रोकनेमें और पदार्थोंसे श्रेष्ठ होनेके कारण सीसका वरुणदेव अधिक पक्षपात करते हैं । और सीसके लिये अग्निदेव उपरक्षण करते हैं अर्थात् इस सीसको निरन्तर अपने समीप रख कर राक्षसोंको दूर करनेकी की सामर्थ्यको अपनेमें स्थापित करके उससे राक्षसोंसे रक्षा करते हैं । और द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये परमैश्वर्ययुक्त देवराज इन्द्रने इस सीसको मुझे दिया है अर्थात् "इससे यजमानके अभिलषित कामको साधो यह कहकर दिया है ।" (और श्रेष्ठ द्रव्योंके होते हुए इस निकृष्ट द्रव्यसे क्या है ? इसका उत्तर यह है, कि-) हे साधक ! यह देवताओंका दिया हुआ सीस राक्षसोंका संहार करने वाला है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इदं विष्कंन्धं सहत इदं बांधते अत्रिणंः ।
अनेन विश्वां ससहे या जातानि पिशाच्याः ३

इदम् । विऽस्कन्धम् । सहते । इदम् । बाधते । अत्त्रिणः ।
अनेन । विश्वा । ससहे । या । जातानि । पिशाच्याः ॥ ३ ॥

अपि च इदम् सीसं विष्कन्धम् गतिप्रतिबन्धकम् । रक्षःपिशाचादिकृतं विघ्नजातम् इत्यर्थः । सहते अभिभवति निःसारयति । ❀ षह अभिभवे इति धातुः । विष्कन्धम् इति । स्कन्दिर्गतिशोष-

णयोः । भावे घञ् । प्रादिसमासे "वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्" इति षत्वम् । व्यत्ययेन धकारः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तथा इदम् सीसम् अत्त्रिणः अदनशीलान् राक्षसान् बाधते हिनस्ति । न केवलं रक्षःपिशाचादिकृतं विघ्नं निवर्तयति अपि तु विघ्नोत्पादकान् रक्षःप्रभृतीनपि विनाशयतीत्यर्थः । यत एवम् अतः अनेन उक्तप्रभावोपेतेन सीसेन विश्वा विश्वानि सर्वाणि । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । ससहे अभिभवामि । ❀ सह अभिभवे । लटि उत्तमैकवचने "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः ❀ । कानि पुनस्तानि इत्याह । पिशाच्याः पिशिताशिन्या राक्षस्याः अस्याः सकाशात् जातानि उत्पन्नानि या यानि पीडाकराणि उपद्रवजातानि । सन्तीति शेषः । तानीति पूर्वेण संबन्धः । ❀ पिशितम् अश्नातीति पिशिताशः । "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इत्यत्र गणे पिशाचशब्दस्य पाठात् पिशिताशशब्दस्य पिशाचादेशः । जातिलक्षणो ङीष् ❀ ॥

यह सीस राक्षस आदिकी गतिका प्रतिबन्धक है यह राक्षस पिशाच आदिकी टक्करको झेल उनको निकाल देता है यह सीस भक्षण करनेका स्वभाव वाले राक्षसोंका संहार कर डालता है अर्थात् यह केवल राक्षसोंके विघ्नको ही दूर नहीं करता है, किन्तु विघ्नके उत्पादक उन राक्षसोंका भी संहार कर डालता है, अत एव ऐसे प्रभाव वाले इस सीसके द्वारा मांसका भक्षण करने वाली राक्षसीसे उत्पन्न हुए पीड़ादायक सकल उपद्रवोंका मैं तिरस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नोसो॒ अवी॑रहा ४

यदि॑ । नः॒ । गाम् । हंसि॑ । यदि॑ । अश्व॑म् । यदि॑ । पुरु॑षम् ॥

तम् । त्वा॒ । सीसे॑न । वि॒ध्या॒मः॒ । यथा॑ । नः॒ । अस॑ः । अवी॑रऽहा

हे शत्रो त्वं नः अस्माकं संबन्धिनीं गाम् गोजातं यदि हंसि मारयसि । ❀ हन हिंसागत्योः । लटि शपि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तथा अश्वं यदि हंसि । पुरुषम् अस्मदीयं भृत्यादिरूपं यदि हंसि । अत्र सर्वत्र यदिशब्दप्रयोगाद् अपकर्तुरेव हिंस्यत्वम् न अनपकर्तुः इति द्योत्यते । तम् तथाविधं मदीयगवाश्वादिहननेन अपकर्तारं त्वा त्वां शत्रुभूतम् । ❀ "त्वामौ द्वितीयायाः" इति युष्मदस्त्वादेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुवृत्तेः अनुदात्तत्वम् ❀ । सीसेन उक्तमहिमोपेतेन विध्यामः ताडयामः मारयामः । ❀ व्यध ताडने । दिवादित्वात् श्यन् । "ग्रहिज्यावयिव्यधि०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ । शत्रुणा घातितानां गवादीनां पुनरुद्भवासंभवात् किमिति शत्रुहिंसा क्रियत इत्यत आह यथेति । इतः परमपि यथा येन प्रकारेण हे शत्रो त्वं नः अस्माकम् अवीरहा । वीर्याज्जायन्त इति वीराः पुत्राः तेषां हन्ता वीरहा । न वीरहा अवीरहा । असः भवसि । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । इतः परमपि अस्मदीयान् पुत्रपश्वादीन् यथा न बाधसे तथा ताडयाम इति पूर्वेण संबन्धः ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे तृतीयोऽनुवाकः ॥

हे शत्रो ! यदि तू हमारी गौओंको मारता है, यदि तू हमारे घोड़ेको मारता है, यदि तू हमारे भृत्य आदि पुरुषको मारता है, ‡ तो मेरे घोड़े गौ आदिका हनन करनेसे शत्रु हुए तुझको हम

---

‡ यहाँ पर सर्वत्र यदि शब्दका प्रयोग करके यह जताया है,

सीससे मारते हैं (शत्रुसे मारे हुए गौ घोड़े आदि फिर जीवित नहीं हो सकते अतः शत्रुकी हिंसा क्यों की जाती है इस शंकाको दूर करनेके लिये कहते हैं, कि—इसके अनन्तर भी) जिससे तू हमारे वीर्यसे उत्पन्न होने वाले पुत्र आदिको न मारे इस कारण हम तुझे सीससे ताड़ित करते हैं ॥ ४ ॥

प्रथमकाण्डके तृतीय अनुवाकमें पञ्चमसूक्त समाप्त (१६) ॥

॥ तीसरा अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "अमूर्याः" इति प्रथमं सूक्तम् । तेन शस्त्रघातादिजरुधिरप्रवाहस्य स्त्रीरजसः अतिवर्तनस्य [च] निवृत्तये पञ्चपर्वणा दण्डेन रुधिरवहनस्थानाभिमन्त्रणम् व्रणमुखे रथ्यापांसुसिकताप्रक्षेपणादिकम् अर्मकपालिकाबन्धनं च इत्येवमादिकुर्यात् । सूत्रं च । "अमूर्या इति पञ्चपर्वणा पांसुसिकताभिः परिकिरत्यर्मकपालिकां बध्नाति पाययति" इत्यादि [कौ०४.२] ॥ अर्मकपालिका नाम शुष्कपङ्कमृत्तिका केदारमृत्तिका वा ॥

चौथे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "अमूर्याः" यह पहिला सूक्त है । इस सूक्तके द्वारा शास्त्रके प्रहारसे उत्पन्न घावके रुधिरके प्रवाहको रोकनेके लिये और स्त्रीका रज अधिक वहता हो तो उसको रोकनेके लिये पाँच गाँठ वाले दण्डेके द्वारा जहाँसे रुधिर वह रहा हो उसके द्वारा स्थानको अभिमंत्रित करे घावके मुख पर गलीकी धूल रेता फैंके और अर्मकपालिका (सूखी हुई कींचड़) बाँधे ॥ सूत्रकारने भी कहा है, कि—"अमूर्या इति पच पर्वणापांसुसिकताभिः परिकिरत्यर्मकपालिकां बध्नाति पाययति—अमूर्या इस सूक्तके द्वारा पाँच पर्व (गांठ) की [लकड़ी] से धूल और रेता फैंके अर्मकपालिकाको बाँधे और पिलावे ।"

कि—अपकार करने वालेकी ही हिंसा करनेका हमारा विचार है, जो अपराधी नहीं है उसको हम मारना नहीं चाहते हैं ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒मूर्या यन्ति॑ यो॒षितो॑ हि॒रा लोहि॑तवाससः ।
अ॒भ्रात॑र इव जा॒मय॒स्तिष्ठ॑न्तु ह॒तव॑र्चसः ॥ १ ॥

अ॒मूः । याः । यन्ति॑ । यो॒षितः॑ । हि॒राः । लोहि॑तऽवाससः ।
अ॒भ्रात॑रःऽइव । जा॒मयः॑ । तिष्ठ॑न्तु । ह॒तऽव॑र्चसः ॥ १ ॥

योषितः स्त्रियाः संबन्धिन्यः अमूः एताः पुरतो दृश्यमानाः लोहितवाससः लोहितवर्णवस्त्राः । लोहितवर्णा इत्यर्थः । यद्वा लोहितस्य रुधिरस्य निवासभूताः । ❀ वस आच्छादने । वस निवासे । इत्यनयोः अन्यतरस्माद् वसेर्णित् [उ० ४. २. १७] इति औणादिकः असुन् प्रत्ययः । तस्य णिद्वद्भावाद् उपधावृद्धिः❀। ईदृश्यो या हिराः सिराः रजोवहननाड्यः यन्ति गच्छन्ति । व्याधिवशात् सर्वदा प्रवहन्तीत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । "इणो यण्" इति यणादेशः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । ताः सिराः क्रियमाणेन अनेन भैषज्यकर्मणा हतवर्चसः हततेजस्काः प्रनष्टरोगवीर्याः सत्यः तिष्ठन्तु स्थेयासुः । मा प्रवाक्षुरित्यर्थः। ❀ तिष्ठन्तु । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । लोटि "पाघ्रा०" इत्यादिना तिष्ठादेशः । स च आद्युदात्तो निपातितः । अन्यथा धातुस्वरेण अन्तोदात्तत्वे सति शपा सह एकादेशे "अतो गुणे" [इति] पररूपे "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति उदात्तत्वे कृते तिष्ठन्ति इति मध्योदात्तं पदं स्यात् । आद्युदात्तं चेष्यते । तस्माद् आद्युदात्तो निपात्यते । स निपातस्वरो धातुस्वरस्य बाधको यथा स्यात् । पादादित्वात् निघाताभावः ❀ ॥ तत्र दृष्टान्तः । अभ्रातर इव । न विद्यन्ते भ्रातरो यासां ता अभ्रातरः । ❀ "नद्यृतश्च" इति प्राप्तस्य कपः "ऋतश्छन्दसि" इति निषेधः ❀ । यथा अभ्रातृका

जामयः भगिन्यः। ❀ आह च यास्कः। न जामये भगिन्यै जामिरन्येस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम् इति [नि० ३. ६] ❀। ता यत उत्पन्नास्तत्रैव पितृकुले संतानकर्मणे पिण्डदानाय च तिष्ठन्ति तद्वद् इत्यर्थः॥

स्त्रीकी जो यह रक्त की निवासस्थान रक्तको बहाने वाली नाड़ियें व्याधिके कारण रक्तको सदा बहाती रहती हैं, उनसे इस किये हुए भैषज्यकर्मसे रोगका बीज नष्ट हो जाय, वह अधिक रक्तको न बहावें और जैसे भाईरहित जामियें † (बहिनें) रहती हैं तैसे ही रहे अर्थात् भाई रहित बहिनें पिताके कुलमें सन्तानके कर्म पिण्डदानके लिये पिताके यहाँ ही रहती हैं पतिके घर नहीं आतीं, तैसे उन नाड़ियोंका रक्त तहाँ ही रहे बाहरको अधिक न निकले॥ १॥

द्वितीया॥

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही॥ २॥

तिष्ठ। अवरे। तिष्ठ। परे। उत। त्वम्। तिष्ठ। मध्यमे।
कनिष्ठिका। च। तिष्ठति। तिष्ठात्। इत्। धमनिः। मही॥२॥

इदानी धमनीः प्रार्थयते। हे अवरे शरीरस्य अधोभागवर्तिनि सिरे त्वं तिष्ठ शस्त्राद्यभिघातजनितरुधिरस्रावाद् निवृत्ता भव॥ तथा हे परे ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि सिरे त्वमपि तिष्ठ। ❀ अवरे इत्यस्य

---

† "जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्—इसमें दूसरे जाम् (सन्तान) को उत्पन्न करते हैं, अत एव भगिनी जामि कहलाती है।" (निरुक्त ३।६)॥

आमन्त्रितस्य "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति अविद्यमानवद्भावेन अतिङ उत्तरत्वाभावात् तिष्ठेत्यस्य निघाताभावः ❀ ॥ उत अपि च हे मध्यमे । मध्ये भवा मध्यमा । ❀ "मध्यान्मः" इति मप्रत्ययः ❀ । शरीरस्य मध्यभागवर्तिनि सिरे त्वमपि तिष्ठ ॥ पूर्वार्धे प्रत्यक्षेण धमनीनां स्थानभेदभिन्नानां प्रार्थना कृता । अधुना परिमाणतो भिन्नानां तासामेव पारोक्ष्येण प्रार्थना क्रियते । कनिष्ठिका । ❀ अतिशयेन अल्पा कनिष्ठा । "युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम्" इति इष्ठनि अल्पशब्दस्य कन् आदेशः । स्वार्थिकः कप्रत्ययः । "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" इति इत्वम् ❀ । सूक्ष्मतरा च नाडी तिष्ठति । तत्र यत्नविशेषो न कर्तव्य इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे चकारः त्वर्थे । यद्वा पञ्चमलकारोयम् । कनिष्ठिका च तिष्ठतु महती चेति । ❀ परस्परसमुच्चयार्थश्चकारः । "चवायोगे प्रथमा" इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते ❀ । मही महती स्थूलतरा धमनिः सिरा तिष्ठादित् तिष्ठत्वेव । अनेन प्रयोगेण निवृत्तरुधिरस्रावा अवतिष्ठताम् । ❀ ष्ठा गतिनिवृत्तौ । "लेटोडाटौ" इत्यडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः । पादादित्वात् निघाताभावः । महीति महतीशब्दे छान्दसः अच्छब्दलोपः ❀ ॥

(अब धमनियोंकी प्रार्थना की जाती है) हे शरीरके नीचेके भागमें रहने वाली धमनि (सिरे) तू शस्त्र आदिके प्रहारसे हुए घावमेंसे रुधिरका बहाना बन्द कर और हे ऊपरके अङ्गमें रहने वाली सिरे ! तू भी रुधिरको बहाना बन्द कर और हे शरीरके मध्यभागमें रहने वाली धमनि ! तू भी रुधिरका बहाना बन्द करके स्थित हो । (मंत्रके पूर्वार्धमें स्थानभेदसे भिन्न भिन्न धमनियोंकी प्रार्थना की अब परिमाण [छोटाई बड़ाई] के भेद से भिन्न २ नाडियोंकी प्रार्थना करते हैं) परमसूक्ष्म नाड़ी भी

इस प्रयोगके कारण रुधिरका वहाना बन्द करके स्थित रहे और बड़ी भारी नाड़ी भी रुधिरका वहाव बन्द करके स्थित रहे ॥२॥

तृतीया ॥

श॒तस्य॑ ध॒मनी॑नां स॒हस्र॑स्य हि॒राणा॑म् ।

अस्थु॒रिन्म॑ध्य॒मा इ॒माः सा॒कमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

श॒तस्य॑ । ध॒मनी॑नाम् । स॒हस्र॑स्य । हि॒राणा॑म् ।

अ॑स्थुः । इत् । म॒ध्य॒माः । इ॒माः । सा॒कम् । अन्ताः॑ । अ॒रं॒स॒त ॥ ३ ॥

शतस्य शतसंख्यानां धमनीनाम् हृदयगतानां प्रधाननाडीनाम् । तथा च मुण्डकोपनिषदि अग्रे समाम्नायते । "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम् अभिनिःसृतैका" [क० उ० ६. १६] इति । तथा सहस्रस्य सहस्रसंख्याकानां हिराणाम् सिराणां शाखानाडीनाम् । सहस्रशब्दस्य अपरिमितपर्यायत्वात् श्रुतिप्रसिद्धानां सर्वासां शाखानाडीनाम् एतद् उपलक्षणम् । तथा च प्रश्नोपनिषदि वक्ष्यति । "अत्रैतद् एकशतं नाडीनां तासां द्वासप्ततिं द्वासप्ततिं प्रति शाखानाडीसहस्राण्यासु व्यानश्चरति" [प्र० उ० ३. ६] इति । आचार्यैरपि प्राधान्यविवक्षया काश्चन नाड्यः परिगणिताः ।

मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसंभवाः ।
शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरा लक्षत्रयात् परम् ।
अर्धलक्षम् इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः । इति ।

तासाम् उभयविधानां नाडीनां मध्यमाः मध्ये भवाः इमाः पूर्वं व्याधिवशात् स्रवन्त्यो नाड्यः अस्थुरित् । इच्छब्दः अवधारणे । अतिष्ठन्नेव । अधुना मन्त्रप्रभावात् निवृत्तरुधिरस्रावा भवन्त्येवेत्यर्थः । अतः परं निवृत्तरुधिरस्रावाभिर्नाडीभिः साकम् सार्धम् अन्ताः अन्तिमाः अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः अरंसत यथापूर्वं रमन्ते

स्म । ❀ रमु क्रीडायाम् । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् । लुङि "च्लेः सिच्" ❀ ॥

हृदयमेंकी सौ प्रधान ‡ नाड़ियोंमें और सहस्रों † शाखानाड़ियोंमेंसे ये बीचकी नाड़ियें पहिले व्याधिके कारण रुधिरको वहा रहीं थीं वे अब मन्त्रके प्रभावसे रुधिरको वहाना बन्द करके स्थित रहें, तदनन्तर रुधिरके स्रावसे शून्य नाड़ियोंके साथ अन्तिम अवशिष्ट नाड़ियें पहिलेकी समान आनन्द करें ॥ ३ ॥

---

‡ मुण्डकोपनिषद्में हृदयकी सौ प्रधान नाड़ियोंका वर्णन है और कठोपनिषत् ६ । १६ में भी कहा है, कि—"शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानं अभिनिःसृतैका—हृदयमें एक सौ एक नाड़ियें हैं उनमेंसे एक मूर्धामेंको गई है,

† सहस्र शब्द अपरिमित (अनगिनती) का पर्याय है, अतएव श्रुतिमें प्रसिद्ध सब नाड़ियोंका उपलक्षण है । इसी बातको प्रश्नोपनिषत्में कहा है, कि—"अत्रैतद् एकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति—इस हृदयमें एकसौ एक प्रधान नाड़ियें हैं, उनमेंसे प्रत्येक नाड़ीमें हजार २ नाड़ियें हैं और उनमें भी बहत्तर बहत्तर हजार नाड़ियें हैं, उनमें व्यान वायु घूमता है" (प्रश्नोपनिषत् ३।६)॥ आचार्योंने कुछ प्रधान नाड़ियोंकी गिनती की है । यथा—"मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्वपञ्चकसंभवाः । शाखोपशाखतां प्राप्ताः सिरा लक्षत्रयात् परम् ॥ अर्धलक्षं इति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः । मध्यमें स्थित सुषुम्ना नाड़ीके पाँच पर्वोंमें शाखा और उपशाखा के भेदसे साढ़े तीन लाख नाड़ियें हैं इस बातको शरीरके तत्त्वोंका विवेचन करने वालोंने कहा है ॥"

चतुर्थी ।

परि॑ व॒ः सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत् ।
तिष्ठ॑ते॒लय॑ता॒ सु क॑म् ॥ ४ ॥

परि॑ । व॒ः । सिकता॑ऽवती । ध॒नूः । बृ॒ह॒ती । अ॒क्र॒मी॒त् ।
तिष्ठ॑त । इ॒लय॑त । सु । क॒म् ॥ ४ ॥

हे नाड्यः वः युष्मान् । ❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति द्वितीयान्तस्य युष्मदः वसादेशः ❀ । सिकतावती सिकताः रजांसि तद्वती तदाधारभूता नाडी । यद्वा अश्मर्याख्यो व्याधिविशेषो यस्माद्ध उत्पद्यते सा नाडी सिकतावती । धनूः धनुर्वद्व वक्रो मूत्राशयो नाडीविशेषः । ❀ धन धान्ये । कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः [उ० १. ८१] इति ऊप्रत्ययः ❀ । स्मर्यते हि ।

मूत्राशयो धनुर्वक्रो वस्तिरित्यभिधीयते । इति ॥

तथा बृहती महती । ❀ "वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च" इति शतृवद्भावाद् "उगितश्च" इति ङीप् । "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति ङीप उदात्तत्वम् ❀ । उक्ता सा नाडी पर्यक्रमीत् परितो व्याप्नोत् । सर्वान् रुधिरप्रवहणमार्गान् निरुध्य वर्तत इत्यर्थः । ❀ क्रमु पादविक्षेपे । अस्मात् लुङि सिचि "ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्" इति वृद्धिप्रतिषेधः ❀ ॥ अस्माद्धेतोः हे नाड्यः यूयं तिष्ठत निवृत्तस्रावा भवत ॥ कम् सुखम् अस्य जनस्य सु सुष्ठु इलयत प्रेरयत । सर्वव्याधिविनिर्मुक्ताः सुखं प्रयच्छतेत्यर्थः । ❀ इल प्रेरणे इति धातुः ❀ ॥

[इति] प्रथमं सूक्तम् ॥

हे नाड़ियों ! तुमको रज वाली नाड़ीने वा जिससे अश्मरी (पथरी) नामक रोग उत्पन्न होता है उस नाड़ीने तथा धनुषकी

समान वक्र मूत्राशयकी नाड़ी † धनुने और बृहती नाड़ीने चारों ओरसे व्याप्त कर लिया है, अर्थात् ये नाड़ियें रुधिरप्रवाहके मार्गको रोक रही है, अतः हे नाड़ियों ! तुम स्रावको बन्द करो और इस मनुष्यके लिये सुखकी प्रेरणा करो अर्थात् स्रवकी व्याधिसे विमुक्त होकर इसको सुख दो ॥ ४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम अनुवाक समाप्त (१७) ॥

“निर्लक्ष्म्यम्” इति सूक्तेन मुखहस्तपादाद्यङ्गेषु सामुद्रिकोक्तदुर्लक्षणयुक्तायाः स्त्रियास्तद्दोषनिवृत्तये मुखप्रक्षालनम् अभिषेकः फलीकरणतुषावतक्षणानां होमो वा कार्यः । सूत्रितं हि । “निर्लक्ष्म्यमिति पापलक्षणाया मुखम् उक्षत्यन्वृचं दक्षिणात् केशस्तुकात्” इत्यादि [कौ० ५. ६] ॥

तथा शान्तिकल्पेपि महाशान्तौ एतत् सूक्तम् ॥

निर्लक्ष्म्यम् सूक्तके द्वारा मुख हाथ पैर, आदि अङ्गोंमें सामुद्रिक शास्त्रके दुर्लक्षणों वाली स्त्रीका दोष हटानेके लिये मुख धुलवावे, अभिषेक करे अथवा फलीकरणतुषावतक्षणका होम करावे । कौशिकसूत्र ५ । ६ में भी कहा है, कि—“निर्लक्ष्म्यमिति पापलक्षणाया मुखं उक्षत्यन्वृचं दक्षिणात् केशस्तुकात्”

तथा शान्तिकल्पमें भी महाशान्तिमें इस सूक्तका विनियोग किया गया है ।

तत्र प्रथमा ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं १ निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥

---

† “मूत्राशयो धनुर्वक्रो वस्तिरित्यभिधीयते—धनुषकी समान वक्र आकार वाला मूत्राशय वस्ति कहलाता है ॥

निः । ल॒क्ष्म्य॑म् । ल॒ला॒म्य॑म् । निः । अरा॑तिम् । सु॒वा॒म॒सि॒ ।

अथ । या । भ॒द्रा । तानि॑ । न॒ः । प्र॒ऽजा॑यै । अरा॑तिम् । न॒या॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

ललाम्यम् ललामे भवं तिलकस्थानगतम् । ❀ "शरीरावयवाच्च" इति भवार्थे यत् प्रत्ययः । "तित् स्वरितम्" इति स्वरितत्वम् ❀ । लक्ष्मम् लक्ष्म असौभाग्यकरं चिह्नम् । ❀ लक्ष दर्शनाङ्कनयोः । बाहुलकाद् औणादिको मक् प्रत्ययः ❀ । निःसुवामसि निःसुवामः । अस्माच्छरीराद् निरवशेषम् उत्सारयामः । ❀ षू प्रेरणे । तुदादित्वात् शप्रत्ययः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना उवङ् । "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् । "व्यवहिताश्च" इति निसो व्यवहितप्रयोगः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ । अरातिम् । राति ददाति इष्टं वस्त्विति रातिर्मित्रम् न रातिः अरातिः शत्रुः । अरातिवद् अनिष्टकरम् अवयवान्तरगतं दुर्लक्षणं निःसुवामः । ❀ रा दाने । "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इति क्तिच् । नञ्समासे "तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः" इत्यत्र "अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्" इति परिगणनाद् अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ दुर्लक्षणनिरसनरूपाम् अनिष्टनिवृत्तिम् अभिधाय सुलक्षणस्थापनरूपाम् इष्टप्राप्तिम् आह अथ येति । अथ दुर्लक्षणनिरसनानन्तरं या यानि सामुद्रिकशास्त्रप्रसिद्धानि भद्रा भद्राणि कल्याणानि सौभाग्यकराणि चिह्नानि सन्ति । ❀ भदि कल्याणे सुखे च । इदित्त्वाद् नुम् । भन्देर्नलोपश्च [उ० ३. १३०] इति रक् प्रत्ययः नलोपश्च । उभयत्रापि "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः । प्रत्ययलक्षणेन नुमि कृते "सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ" इति उपधादीर्घः । "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नलोपः ❀ । तानि उदीरितानि चिह्नानि नः अस्माकं प्रजायै पुत्रपौत्रादिरूपायै । भवन्तु इति शेषः ।

❀ प्रकर्षेण जायत इति प्रजा। जनी प्रादुर्भावे। "उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति जनेर्डप्रत्ययः। डित्करणसामर्थ्यात् "टेः" इति टिलोपः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्। ततो गतिसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव स्वरः शिष्यते। ततष्टापि कृते "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति एकादेश उदात्तः ❀॥ यानि पूर्वं निःसारितानि असौभाग्यकराणि चिह्नानि सन्ति तेषाम् आश्रयम् आह अरातिम् इति। उक्तानि दौर्भाग्यकराणि चिह्नानि अरातिम् शत्रुं नयामसि नयामः प्रापयामः। ❀ णीञ् प्रापणे। पूर्ववद् मस इदन्तत्वम् ❀॥

तिलकके स्थानमें वर्तमान असौभाग्यसूचक चिन्हको हम इस शरीरसे पूर्णरूपसे निकालते हैं। इष्ट वस्तुको देने वाला राति मित्र कहलाता है, जो राति न हो वह अराति–शत्रु–कहलाता है। अतः हम शत्रुकी समान अनिष्ट करने वाले शरीरान्तर्गत दुर्लक्षणको दूर करते हैं। (दुर्लक्षणोंको दूर करने वाली ऋचा को कह कर अब सुलक्षणस्थापनरूप इष्टप्राप्तिको कहते हैं, कि–) दुर्लक्षणोंको दूर करनेके अनन्तर जो सामुद्रिकशास्त्रमें प्रसिद्ध सौभाग्यदायक चिन्ह हैं वे चिन्ह हमारी पुत्र पौत्र आदि प्रजामें आवें और असौभाग्यको करने वाले अपने दुर्लक्षणोंको हम शत्रुओंमें भेजते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

निर॑रणिं सवि॒ता सा॑विषक् प॒दोर्निर्हस्त॑यो॒र्वरु॑णो
मि॒त्रो अ॒र्य॑मा ।
निर॒स्मभ्य॒म् अनु॑मती॒ ररा॑णा॒ प्रेमां दे॒वा अ॑साविषु॒ः
सौभ॑गाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषक् । पदोः । निः । हस्तयोः ।

वरुणः । मित्रः । अर्यमा ।

निः । अस्मभ्यम् । अनुऽमतिः । रराणा । प्र । इमाम् । देवाः ।

असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

सविता सर्वस्य प्रेरको देवः अरणीम् अरमणीम् अलक्ष्मीम् । दौर्भाग्यकरं चिह्नम् इत्यर्थः । ❀ मकारलोपश्छान्दसः ❀ । यद्वा । अरणीम् सर्वदा पर्यटनकारिणीम् आर्तिकरीं वा अलक्ष्मीम् । ❀ अर्तेः औणादिकः अनिप्रत्ययः । "कृदिकाराद् अक्तिनः" इति ङीष् प्रत्ययः ❀ । एवंभूताम् अलक्ष्मीं पदोः पादयोः । वर्तमानाम् इति शेषः । ❀ "पद्न्नोमास्०" इत्यादिना पादशब्दस्य पद् आदेशः । "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । निः साविषत् निःसुवतु निःसारयतु । ❀ षू प्रेरणे । अस्मात् पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इति अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । "स च णिद् वक्तव्यः" इति वचनात् "अचो ञ्णिति" इति वृद्धिः । "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति सिप इडागमः ❀ ॥ तथा वरुणः वारको देवः । मित्रः सर्वेषां मित्रभूतो देवः । अर्यमा अभिमतफलप्रदाता देवः । "अर्यमेति तम् आहुर्यो ददाति" [तै० ब्रा० १. १. २. ४] इति श्रुतेः । एते देवाः प्रत्येकं हस्तयोर्वर्तमानाम् अरणीम् अलक्ष्मीं निःसुवन्तु । हस्तपादयोर्वर्तमानम् असौभाग्यकरं लक्षणम् एते सर्वे देवा निर्गमयन्तु इत्यर्थः ॥ तथा अनुमतिः सर्वेषाम् अनुमन्त्री देवता अस्मभ्यम् अस्मदर्थं रराणा मा भैषीरिति शब्दायमाना अस्माभिः स्तूयमाना वा । ❀ रै शब्दे । कर्तरि कर्मणि वा लिट् । "लिटः कानज्वा" इति कानजादेशः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀ । यद्वा । ❀ रा

दाने ❀ । राति ददाति अभिमतफलम् इति रराणा । ❀ पूर्ववत् कानजादेशः ❀ । एवंभूता सती देवी सर्वेषु शरीरावयवेषु वर्तमानं दुर्लक्षणं निःसुवतु । ❀ निसः श्रवणात् तत्सहचरितसाविषत् इति क्रियापदस्य अनुषङ्गः ❀ ।। सतीष्वपि अन्यासु देवतासु अस्या एव प्रार्थनायां हेतुम् आह प्रेमाम् इति । देवाः इन्द्रादयः इमाम् उक्ताम् अनुमतिं सौभगाय सौभाग्याय अस्माकं सौभाग्यं दातुं प्रासाविषुः प्रेरितवन्तः । यत एवम् अत इति पूर्वत्र संबन्धः । ❀ षू प्रेरणे । अस्मात् लुङि "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" इति वृद्धिः । "व्यवहिताश्च" इति प्रोपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः । सौभगायेति । शोभनो भगोस्य अस्तीति सुभगः । तस्य भावः सौभगम् । उद्गात्रादिगणे "सुभग मन्त्रे" इति पाठात् "प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योञ्" इति अञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ ।।

सबके प्रेरक सविता देवता पैरोंमें वर्तमान अरणी—अलक्ष्मी अर्थात् दुर्भाग्य करने वाले चिन्हको अथवा सर्वदा दुःख देने वाली अलक्ष्मीको निकाल दें, तथा वारक देवता वरुण और सबके मित्र मित्र देवता तथा अभिलषित फलके देने वाले ‡ अर्यमा देवता हाथ पैरमें वर्तमान असौभाग्यके चिन्होंको दूर करें और सबका सलाह देने वाली अनुमति हमारे स्तुति करने पर भय मत करो कह अभिलषित फलको देती हुई हमारे शरीरके सब दुर्लक्षणोंको दूर करे । (अन्य देवताओंके होने पर भी इस देवीकी प्रार्थना करनेका यह कारण है, कि—इन्द्र आदि देवताओंने इस अनुमति देवताको हमें सौभाग्य देनेके लिये प्रेरणा की है, अत एव हम इस देवीकी प्रार्थना करते हैं ।। २ ।।

---

‡ "अर्यमेति तं आहुर्यो ददाति—अर्यमा उसको कहते हैं जो देता है ।" [तैत्तिरीयब्राह्मण १ । १ । २४] ।।

तृतीया ॥

यत्ते॑ आ॒त्मनि॑ त॒न्वां॑ घो॒रम् अस्ति॒ यद्वा॒
केशे॑षु प्रति॒चक्ष॑णे वा ।
स॒र्वं तद्वा॒चाप॑ हन्मो व॒यं दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता
सू॑दयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते॒ । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वा॑म् । घो॒रम् । अस्ति॑ । यत् ।
वा॒ । केशे॑षु । प्र॒ति॒ऽचक्ष॑णे । वा॒ ।
सर्व॑म् । तत् । वा॒चा । अप॑ । ह॒न्मः॒ । व॒यम् । दे॒वः । त्वा॒ ।
स॒वि॒ता । सू॒द॒य॒तु ॥ ३ ॥

हे दुर्लक्ष्मोपेत पुरुष ते तव आत्मनि आत्मीयायां तन्वाम् शरीरे घोरम् भयंकरं दुर्लक्षणं [यद्] अस्ति । यद्वा । आत्मनि शरीरोपहिते पुरुषे घोरम् भयंकरं पापं तन्वाम् शरीरे दुर्लक्षणं यद् अस्ति । वा अथ वा केशेषु शिरोरुहेषु अथ वा प्रतिचक्षणे दर्शनसाधने चक्षुषि यद् घोरम् अस्ति । ❀ चष्टिः पश्यतिकर्मा । करणे ल्युट् । "असनयोश्च" इति ख्याञादेशप्रतिषेधः ❀ । तद् आभ्यन्तरं बाह्यं च सर्वम् घोरजातं वयम् प्रयोगकुशलाः वाचा मन्त्ररूपया अप हन्मः हिंस्मः । ❀ हन हिंसागत्योः । अदादित्वात् शपो लुक् । "सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः" इति वाच उत्तरस्यास्तृतीयाया उदात्तत्वम् ❀ ॥ अनिष्टनिवृत्तिं विधाय इष्टप्राप्तिं प्रार्थयते । देवः द्योतनात्मकः सविता प्रेरको देवः त्वा त्वां सूदयतु श्रेयसं प्रेरयतु । दूरगतदुर्लक्षणं त्वां श्रेयसा संबद्धं करोतु इत्यर्थः । ❀ षूद क्षरणे ❀ ॥

हे दुर्लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष ! तेरे अपने शरीरमें जो भयंकर दुर्लक्षण हैं अथवा शरीरसे ढ़के हुए तुझ पुरुषमें जो पापरूप दुर्लक्षण हैं, और तेरे केशोंमें तथा नेत्रमें जो जो भयंकर दुश्चिन्ह हैं, उन बाहरी भीतरी सब भयंकर लक्षणोंको हम प्रयोगकुशल पुरुष मन्त्ररूपा वाणीसे दूर करते हैं ।। अत्र द्योतनात्मक सविता देवता तुझे कल्याणके लिये प्रेरणा करें अर्थात् तुझ दुर्लक्षण-रहित पुरुषका कल्याण करें ।। ३ ।।

चतुर्थी ॥

रि॒श्य॑प॒दीं वृष॑द॒तीं गो॒षे॒धां वि॑ध॒मामु॒त ।
वि॒ली॒ढ्यं॑ ल॒लाम्यं॑ १ ता अ॒स्मन्नाशयामसि ४

रि॒श्य॑ऽपदीम् । वृष॑ऽदतीम् । गो॒ऽसे॒धाम् । वि॒ऽध॒माम् । उ॒त ।
वि॒ऽली॒ढ्य॑म् । ल॒ला॒म्य॑म् । ताः । अ॒स्मत् । ना॒श॒या॒म॒सि॒ ।४।

ऋश्यपदीम् ऋश्यस्य सारङ्गस्येव पादौ यस्याः सा ऋश्यपदी ईदृशदुर्लक्षणोपेता स्त्री ताम् । ❀ "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिर्वाचोत्तरपदलोपश्च" इति बहुव्रीहिसमासे "पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः" इति पादशब्दस्य अन्त्यलोपः । "पादोऽन्यतरस्याम्" इति ङीप् । भसंज्ञायां "पादः पत्" इति पद्भावः ❀ । तथा वृषदतीम् । वृषस्येव दन्ता यस्याः सा वृषदती स्थूलदन्ता नारी [ताम्] । ❀ पूर्ववद् बहुव्रीहौ "अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च" इति दन्तशब्दस्य दतृ आदेशः । "उगितश्च" इति ङीप् ❀ । तथा गोसेधाम् गौरिव सेधति गच्छतीति गोसेधा स्त्री ताम् । ❀ षिधु गत्याम् । पचाद्यच् ❀ । तथा विधमाम् विकृतं धमति शब्दायते इति विधमा [ताम्] । ❀ ध्मा शब्दाग्निवक्त्रसंयोगयोः । अस्मात् "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इति शप्रत्ययः । "पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्-

हृत्यर्तिं०" इत्यदिना धमादेशः ❀ । फूत्कारादिविविधशब्दकारिणीम् इत्यर्थः । यद्वा । ❀ धमतिर्गतिकर्मा इति यास्कः [नि० ६, २] ❀ । विकृतगमनाम् । उतशब्दः अप्यर्थे । ताः सर्वा ऋश्यपद्याद्याः अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् नाशयामसि नाशयामः । अस्मत्संबन्धिनीनां स्त्रीणाम् ऋश्यपदीत्वादिरूपं यद् दुर्लक्ष्म तद् मन्त्रप्रभावात् निवर्तयाम इत्यर्थः । ❀ णश अदर्शने । "इदन्तोमसिः" ❀ ।। तथा ललाम्यम् ललामस्थाने ललाटप्रान्ते भवम् । ❀ "शरीरावयवाच्च" इति यत् । "तित् स्वरितः" इतिस्वरितत्वम् ❀ । तथाविधं विलीढ्यम् विशेषेण लीढं विलीढम् । ❀ लिह आस्वादने । भावे निष्ठा । "होढः" इति ढत्वम् "झषस्तथोर्धोऽधः" इति धत्वम् । ततः ष्टुत्वे कृते "ढो ढे लोपः" इति ढलोपे "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति दीर्घः ❀ । विलीढे भवं विलीढ्यम् । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । पूर्ववत् स्वरितत्वम् ❀ । विलीढमिव स्थितं केशानां प्रातिलोम्यरूपं ललाटप्रान्ते वर्तमानं यद् दुर्लक्ष्म तदपि नाशयाम इत्यर्थः । अत्र ऋश्यपदीत्वादीनि स्त्रीणामेव दुर्लक्षणानि न पुरुषाणाम् इत्यभिप्रायेण तत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । [यद्] विलीढ्यरूपं तद् दुर्लक्षणं स्त्रीपुरुषोभयसाधारणम् इति ततः पार्थक्येन निर्देशः ।।

[इति] चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ।।

सारंग मृगकी समान चरण वाली बैलकी समान दाँतों वाली (स्थूल दाँत वाली), गौकी समान चलने वाली तथा फूत्कार आदि विकृत शब्द करने वाली—इन सब दुर्लक्षणों वालीको हम अपने पाससे दूर करते हैं अर्थात् हमारी स्त्रियोंमें जो मृगकी समान चरण आदि दुर्लक्षण हैं उन दुर्लक्षणोंको हम मन्त्रके प्रभावसे दूर करते हैं तथा ललाटस्थानके विलीढ्यको अर्थात

ललाटमें स्थित केशोंका प्रातिलोम्य (उल्लटापन) रूप जो दुर्लक्षण है, उसको हम दूर करते हैं † ॥ ४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (१८) ॥

मा नो विदन् [१. १९] अदारसृत् [१. २०] स्वस्तिदाः [१. २१] इति सूक्तत्रयस्य अपराजितगणे पाठात् तद्गणसाध्येषु सांग्रामिकादिकर्मसु विद्मा शरस्येति प्रथम [१. २] सूक्तवद् विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

अत्र "मा नो विदन्" इति सूक्तस्य ब्राह्मणायुधधारणदेवताप्रतिमानर्तनहसनाद्यद्भुतेषु आज्यहोमे विनियोगः । "अथ यत्रैतद् ब्राह्मणा आयुधिनो भवन्ति" इति [कौ० १३. १२] प्रक्रम्य सूत्रितम् । "मा नो विदन् [१. १९] नमो देववधेभ्यः [६. १३] इत्येताभ्यां सूक्ताभ्यां जुहुयात् । सा तत्र प्रायश्चित्तिः । अथ यत्रैतद् दैवतानि नृत्यन्ति" इत्यादि [कौ० १३. १३] ॥

तथा अनड्वान् यदि धेनो स्तन्यं पिबेत् तदा एतेन आज्यं जुहुयात् । तथा च कौशिकः । "अथ यत्रैतद् अनड्वान् धेनुं धयति" इति प्रक्रम्य "मा नो विदन् नमो देववधेभ्यः इत्येताभ्यां जुहुयात्" इति [कौ० १३. २१] ॥

मानो विदन् (१ । १९), अदारसृत् (१ । २०), और स्वस्तिदाः (१ । २१), इन तीनों सूक्तोंका अपराजितगणमें पाठ है, अत एव अपराजितगणसे साध्य सांग्रामिक आदि कर्मों में विद्मा शरस्य (१ । २) इस प्रथमसूक्तकी समान इस मा नो विदन् (१ । १९) सूक्तका विनियोग करना चाहिये ।

"मा नो विदन्" इस सूक्तका ब्राह्मणका आयुधको धारण करना और देवताओंकी प्रतिमाओंका नाचना और हँसना आदि

---

† मृगकी समान चरण होना आदि स्त्रियोंके ही दुर्लक्षण हैं, पुरुषोंके नहीं हैं, अत एव यहाँ स्त्रीलिंगका प्रयोग है ॥

अद्भुत कामोंमें भी विनियोग है। "अथ यत्रैतद् ब्राह्मणा आयुधिनो भवन्ति–जहाँ यह ब्राह्मण आयुधको धारण करते हैं" (कौशिकसूत्र १३ । १२) इस बातका आरंभ करके कहा है, कि–तब "मा नो विदन् (१ । ११) नमो देववधेभ्यः (६ । १३) इन दोनों सूक्तोंसे होम करे, यह प्रायश्चित्त है। और जहाँ यह देवता नृत्य करते हैं" इत्यादि कौशिकसूत्र (१३ । १३) ॥

और बैल यदि गौका स्तन पिये तो इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र १३ । २१ में लिखा है, कि–"अथ यत्रैतदनड्वान् धेनुं धयति" इति प्रक्रम्य "मा नो विदन् नमो देववधेभ्य इत्येताभ्यां जुहुयात् ।"

तत्र प्रथमा ॥

मा नो विदन् विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः । विदन् । विऽव्याधिनः । मो इति । अभिऽव्याधिनः । विदन् ।
आरात् । शरव्याः । अस्मत् । विषूचीः । इन्द्र । पातय ॥ १ ॥

विव्याधिनः विशेषेण अस्त्रादिभिस्ताडनशीलाः शत्रवः नः अस्मान् युध्यमानान् मा विदन् मा लभन्तां मा प्राप्नुवन्तु । ❀ विद्लृ लाभे । अस्मात् माङि लुङि "पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु" इति च्लेः अङ् आदेशः । "न माङ्योगे" इति अडभावः । विव्याधिन इति । व्यध ताडने । अस्माद् विपूर्वात् "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनिः ❀ ॥ तथा अभिव्याधिनः अभिमुखम् आगत्य विध्यन्ति हिंसन्तीत्यभिव्याधिनः प्रत्यर्थिनः संनिहिता भटाः । ❀ पूर्ववद् णिनिः ❀ । तेपि मो विदन् मैव लभन्ताम् । दूरस्थाः संनिहिताश्च भटा न अस्मान् स्पृशन्तु इत्यर्थः ॥ अधुना

शत्रुसंबन्धीनि शस्त्राण्यपि न अस्मत्समीपदेशं प्राप्नुवन्तु इति प्रार्थयते । हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव शरव्याः शत्रुभिर्बहुशो विनिर्मुक्ताः शरसंहतीः विषूचीः विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः सतीः अस्मत् आरात् अस्मत्तो दूरदेशे पातय प्रक्षिप । ❀ शरव्या इति । शृस्वृस्निहित्रप्यसीत्यादिना [उ० १. १०] औणादिक उप्रत्ययः । शरुशब्दात् "उगवादिभ्यो यत्" इति यत् । "ओर्गुणः" इति गुणे "वान्तो यि प्रत्यये" इति अव् आदेशः । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् । "अन्यारादितरर्ते०" इति अस्मच्छब्दात् पञ्चमी । विषूचीरिति । अञ्चु गतिपूजनयोः । अस्माद्ध विषुशब्दोपपदात् "ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाम् च" इति क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीपि भसंज्ञायाम् "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् ❀ ॥

अस्त्र आदिसे ताड़न करने वाले शत्रु हम युद्ध करने वालोंके पास न आसकें तथा अभिमुख आकर प्रहार करने वाले भट भी हमें न पासकें । (अब शत्रुके शस्त्र भी हमारे पास न आवें, यह प्रार्थना करते हैं, कि—) हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्रदेव ! शत्रुओंकी अनेक ओरको जाने वाली बाणावलिको हमसे दूर गिराइये ॥१॥

द्वितीया ॥

विष्व॑ञ्चो अ॒स्मच्छर॑वः पतन्तु॒ ये अ॒स्ता ये चा॒स्याः॑ ।
दैवी॑र्मनुष्येषवो॒ ममा॒मित्रा॒न् वि वि॑ध्यत ॥ २ ॥

वि॑ष्वञ्चः । अ॒स्मत् । शर॑वः । प॒त॒न्तु॒ । ये । अ॒स्ताः । ये । च॒ । आ॒स्याः॑ ।
दै॑वी । म॒नु॒ष्य॒ऽइ॒षवः॒ । मम॑ । अ॒मि॑त्रान् । वि । वि॒ध्य॒त ॥ २ ॥

शरवः शराः हिंसकाः । ❀ शॄ हिंसायाम् । शॄस्वृस्निहि० [उ० १. १०] इत्यौणादिक उप्रत्ययः । तत्र धान्ये नित् [उ० १. ६] इत्यनुवृत्तेः "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । ते अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् विष्वञ्चः विविधगमनाः पतन्तु निपतन्तु । अस्मान् परित्यज्य अन्यत्र गच्छन्तु इत्यर्थः । तान् शरान् विशिनष्टि । ये शरा अस्ताः शत्रुभिर्धनुर्यन्त्रेण विनिर्मुक्ताः । ❀ असु क्षेपणे । कर्मणि निष्ठा । "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः ❀ । तथा ये च शराः आस्याः क्षेप्तव्याः तूणीरे संगृहीताः । ते सर्वे निपतन्तु इति योजना । ❀ असु क्षेपणे इत्यस्मात् "ऋहलोर्ण्यत्" इति ण्यत् प्रत्ययः ❀ ।। पूर्वं शत्रुशराणां लक्ष्यावेधलक्षणं वैयर्थ्यं प्रार्थ्य अधुना स्वीयानां शराणां शत्रुरूपस्य [लक्ष्यस्य] हिंसकत्वं प्रार्थयते । दैवीः देवसंबन्धिन्यः आग्नेयवारुणादिरूपाणि अस्त्राणि । ❀ देवशब्दात् "तस्येदम्" अर्थे "देवाद्यञञौ" इति अञ् प्रत्ययः । "टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप् । "[वा] छन्दसि" इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । तथा मनुष्येषवः मनुष्याणाम् अस्मदीयानां संबन्धिन्य इषवः शस्त्राणि उभयवधास्ता इषवः अस्मदीयैर्योद्धृभिः मनुष्यैर्विमुच्यमानाः मम मदीयान् अमित्रान् न विद्यते मित्रम् एषाम् इति अमित्राः शत्रवः । ❀ बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते "नञो जरमरमित्रमृताः" इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । तान् शत्रून् वि विध्यतु वि विध्यन्तु मारयन्तु । ❀ व्यधताडने । लोटि दिवादित्वात् श्यन् । तस्य ङित्त्वात् "ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टि०" इत्यादिना संप्रसारणम् । "तिङां तिङो भवन्तीति वक्तव्यम्" इति झेस्तिप् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ।।

शत्रु जिन अस्त्रोंको छोड़ चुका है और जो बाण छोड़नेके

लिये उसके भाथोंमें हैं, वे बाण हमें छोड़ अन्यत्र विविधप्रकारसे गिरें।(पहिले शत्रुओंके बाण लक्ष्य पर न गिरें–यह प्रार्थना कर अब अपने बाणोंके शत्रुरूप लक्ष्य पर गिरनेकी प्रार्थना करते हैं, कि–) हमारे जो आग्नेय वारुण आदि देवसंबंधी अस्त्र हैं और जो हमारे मनुष्योंके बाण हैं वे दोनों प्रकारके बाण हमारे योधाओं के छोड़ने पर शत्रुओंको अनेक प्रकारसे मार डालें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यो न॒ः स्वो यो अर॑णः सजा॒त उ॒त निष्ट्यो॒ यो अ॒स्माँ
अ॑भि॒दास॑ति ।
रु॒द्रः श॑र॒व्ययै॒तान् मम॒ामि॒त्रा॒न् वि वि॑ध्यतु ॥ ३ ॥

यः । न॒ः । स्वः । यः । अर॑णः । स॒ऽजा॒तः । उ॒त । निष्ट्य॑ः ।
यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒ऽदासति ।
रु॒द्रः । श॒र॒व्य॑या । ए॒तान् । मम॑ । अ॒मित्रा॑न् । वि । वि॒ध्य॒तु॒ ॥३॥

नः अस्माकं संबन्धी यः स्वः ज्ञातिः अधिकबलः सन् अस्मान् अनपकर्तॄन् अभिदासति उपक्षपयति । क्षेत्रधनादिकम् अपहृत्य पीडयतीत्यर्थः । ❀ दसु उपक्षये । अस्मात् ण्यन्तात् लट् शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । शप्सिपोः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरः शिष्यते । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तथा अरणः अरणनीयः संभाष्यो न भवतीत्यरणः शत्रुः । ❀ रण शब्दार्थः इत्यस्माद्धातोः "वशिरण्योरप्युपसंख्यानम्" इति कर्मणि अप् । ततो नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एवं-

भूतो यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति । तथा अन्योपि सजातः समानजन्मा समबलः ज्ञातिः अरातिर्वा । उत अपि च निष्ट्यः निर्गतवीर्यो निकृष्टबलो यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति क्षुद्रोपद्रवैः पीडयति । ❀ सजात इति । जनेः कर्तरि निष्ठा । "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्प्रतिषेधः । "जनसनखनां सन्झलोः" इति आत्वम् । ततः समानशब्देन समासे "समानस्यच्छन्दस्य मूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इति समानशब्दस्य सभावः । निष्ट्य इति । "अव्ययात् त्यप्" इत्यत्र "निसो गते" इति वचनात् निस्शब्दात् त्यप् प्रत्ययः । "ह्रस्वात् तादौ तद्धिते" इति सकारस्य मूर्धन्यादेशः ❀ । एतान् ज्ञातिप्रभृतीन् मम मदीयान् अमित्रान् शत्रून् रुद्रः । रोदयति सर्वम् अन्तकाले इति रुद्रः संहर्ता देवः । ❀ रुदिर् अश्रुविमोचने । अस्मात् ण्यन्तात् "रोदेर्णिलुक् च" [उ० २. २२] इति रक् प्रत्ययः ❀ । शरव्यया शरूणां हिंसकानाम् आयुधानां संहतिः शरव्या । ❀ "पाशादिभ्यो यः" इति समूहेर्थे यप्रत्ययः । "ओर्गुणः" इति गुणे "वान्तो यि प्रत्यये" इति अव् आदेशः ❀ । तया वि विध्यतु विनिहन्तु ❀ व्यध ताडने । श्यनि "ग्रहिज्या०" आदिना संप्रसारणम् ❀ ॥

जो हमारा अपनी जाति वाला संबंधी अधिक बल वाला होनेसे हम निरपराधियोंको भी क्षेत्र धन आदि छीन कर अनेक प्रकारसे पीड़ा देता है, तथा बात न करने योग्य जो शत्रु हमें पीड़ा देता है तथा इनके अतिरिक्त समान जन्म वाला जाति वाला वा शत्रु हमें क्षुद्र उपद्रवोंसे पीड़ा देता है, मेरे इन सब शत्रुओंको, प्राणियोंको अन्तकालमें रुलाने वाले संहारकारी रुद्रदेव हिंसक बाणोंसे वेध डालें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यः स॒पत्नो॒ योसं॑पत्नो॒ यश्च॑ द्वि॒षन्छपा॑ति नः ।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

यः । सऽपत्नः । यः । असपत्नः । यः । च । द्विषन् । शपाति । नः ।

देवाः । तम् । सर्वे । धूर्वन्तु । ब्रह्म । वर्म । मम । अन्तरम् ॥४॥

यः सपत्नः ज्ञातिरूपः शत्रुः यः असपत्नः ज्ञातिव्यतिरिक्तः शत्रुः अस्मान् बाधते । तथा यश्च शत्रुः द्विषन् द्वेषं कुर्वन् । ❁ द्विष अप्रीतौ । "द्विषोऽमित्रे" इति शतृप्रत्ययः । नः अस्मान् अनागसः शपाति शपेत् । निग्रहरूपया वाचा नाशयेत् । ❁ शप आक्रोशे । अस्मात् लेटि आडागमः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❁ । तं सर्वं पूर्वोक्तं शत्रुं सर्वे निखिला देवाः इन्द्रादयो धूर्वन्तु हिंसन्तु ❁ । धुर्वी हिंसायाम् ❁ ॥ शत्रुकृतशापस्य असंस्पर्शनोपायम् आह ब्रह्मेति । मम मन्त्रप्रयोक्तुः ब्रह्म प्रयुज्यमानं मन्त्रजालम् अन्तरम् व्यवधायकं वर्म कवचं भवतु । यथा शत्रुकृता वाक्शस्त्रादयः अस्मान् न स्पृशन्ति तथा अयं मन्त्रः अस्मान् छादयतु इत्यर्थः ॥

[इति] तृतीयं सूक्तम् ॥

जो जाति वाला शत्रु है और जो अन्य जाति वाला शत्रु है और जो व्यर्थ ही द्वेष करके हम निरपराधियोंको निग्रहरूप वाणीसे शाप देता है, इन सब शत्रुओंकी इन्द्र आदि सब देवता हिंसा करें (शत्रुके दिये हुए शापके फल न देनेका उपाय यह है, कि—) मुझ मन्त्रप्रयोक्ताका मन्त्र रोकने वाला कवचरूप हो । तात्पर्य यह है, कि—शत्रुके वाक्शस्त्र आदि जिस प्रकार हमारा स्पर्श न कर सकें उस प्रकार यह मन्त्र हमें ढके ॥ ४ ॥

तीसरा सूक्त समाप्त (१९) ॥

"अदारसृत्" इत्यस्य उक्तः पूर्वसूक्तेन विनियोगः ॥

तस्य आद्याया दर्शपूर्णमासयोः भृतहविर्निरीक्षणे विनियोगः । "अदारसृदित्यवेक्षते" इति [कौ० १. २] हि सूत्रम् ॥

अदारसृत् सूक्तका पहिले सूक्तके साथ विनियोग कह दिया ॥

इस सूक्तकी पहिली ऋचाका औटी हुई हविको देखनेमें विनियोग है । कौशिकसूत्र १ । २ में कहा है, कि–"अदारसृदित्यवेक्षते–अदारसृत् ऋचासे देखता है" ॥

तत्र प्रथमा ॥

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन् य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः ।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद्
वृजि॒ना द्वेष्या॒ या ॥ १ ॥

अदा॑रऽसृत् । भ॒व॒तु॒ । दे॒व॒ । सो॒म॒ । अ॒स्मिन् । य॒ज्ञे । म॒रु॒तः॒ । मृ॒डत॑ । न॒ः ।
मा । न॒ः । वि॒द॒त् । अ॒भि॒ऽभाः । मो इति॑ । अश॑स्तिः । मा । न॒ः ।
वि॒द॒त् । वृ॒जि॒ना । द्वेष्या॑ । या ॥ १ ॥

हे देव द्योतनात्मक सोम अस्मदीयः शत्रुः अदारसृत् भवतु । दारयन्ति पुरुषहृदयं विदारयन्तीति दाराः स्त्रियः । ❀ दॄ विदारणे । "दारजारौ कर्तरि णिलुक् च" इति ण्यन्तात् कर्तरि घञ् ❀ । दारान् सरति गच्छतीति दारसृत् । ❀ सृ गतौ । "क्विप् च" इति क्विप् । न दारसृत् अदारसृत् इति नञ्समासे "अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्" इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । मदीयः शत्रुः स्वस्थानात् प्रच्युतः सन् न कदाचिदपि स्वस्त्रीसमीपं प्राप्नोतु इत्यर्थः ॥ हे मरुतः सप्तगणात्मका एकोन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

पञ्चाशत्संख्याका देवाः । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अस्मिन् मया अनुष्ठीयमाने यज्ञे दर्शपूर्णमासात्मके संग्रामरूपे वा नः अस्मान् मृडत मृडयत । इष्टफलप्रापणेन जयप्रदानेन च सुखयतेत्यर्थः । ❀ मृड सुखने । तुदादित्वात् शप्रत्ययः । अस्मिन्निति । इदमः त्यदाद्यत्वे "हलि लोपः" । "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । यज्ञ इति । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । "यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्" इति नङ् प्रत्ययः । चुत्वेन ञकारः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ अपि च अभिभाः आभिमुख्येन प्रवर्तमानं शात्रवं तेजः । यद्वा आभिमुख्येन भाति रणरङ्गे दीप्यत इति अभिभाः शत्रुः । ❀ भा दीप्तौ । अस्मात् "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । स च नः अस्मान् मा विदत् मा लब्ध । मा प्राप्नोतु इत्यर्थः । ❀ विद्लृ लाभे । अस्मात् माङि लुङि "पुषादिद्युताद्यॢदितः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥ तथा अशस्तिः अकीर्तिः । मो मैव विदत् । ❀ शंसु स्तुतौ । भावे क्तिन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "तितुत्र०" इत्यादिना इट्प्रतिषेधः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तथा द्वेष्या द्वेष्याणि द्वेषणीयानि । ❀ द्विष अप्रीतौ । "ऋहलोर्ण्यत्" इति कर्मणि ण्यत् ❀ । या यानि वृजिना वृजिनानि पापानि पराजयनिमित्तानि अभिमतफलप्रतिबन्धकानि सन्ति । ❀ सर्वत्र "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । तानि नः अस्मान् मो विदत् । ❀ व्यत्ययेन एकवचनम् ❀ । मा विदन् मा प्राप्नुवन्तु ॥ यद्वा । वृजिना वृजिनं पापम् अस्याम् अस्तीति वृजिना । ❀ अर्शआदित्वाद् अच् ❀ । हिंसादिपापोपेता अत एव द्वेष्या अस्माभिर्द्वेषणीया [या] शात्रवी सेनास्ति सापि नः अस्मान् मा विदत् ॥

हे द्योतनात्मक चन्द्रदेव ! हमारा शत्रु अदारसृत् हो, अर्थात्

मेरा शत्रु अपने स्थानसे प्रच्युत होकर अपनी स्त्रीके पास कभी न जावे, हे उडश्वास पवन देवताओं! मैं जिस यज्ञका वा संग्रामका अनुष्ठान कर रहा हूँ उसमें तुम इष्टफल और जय देकर हमको सुखी करो। और अभिमुख होकर बढ़ता हुआ शत्रुका तेज और अभिमुख होनेके कारण दमकता हुआ शत्रु मुझे न पासके। अकीर्ति मुझे न पासके। और पापी होनेके कारण, मैं जिससे द्वेष करता हूँ वह शत्रुकी सेना भी मुझे न पासकें तथा पराजय दिलाने वाले और अभीष्ट फलको रोकने वाले पाप भी मुझे न पावें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो॒घा॒यूना॑मु॒दीर॑ते ।
यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्या॑वयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥

यः । अ॒द्य । सेन्यः॑ । व॒धः । अ॒घ॒ऽयूना॑म् । उ॒त्ऽईर॑ते ।

यु॒वम् । तम् । मि॒त्रा॒व॒रु॒णौ॒ । अ॒स्मत् । य॒व॒य॒व॒तम् । परि॑ ॥ २ ॥

अद्य इदानीं युद्धकाले सेन्यः सेनायां भवः। ❀"भवे छन्दसि" इति सेनाशब्दाद्द यत् प्रत्ययः। "यतोऽनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। तथाविधः। अघायूनाम्। अघम् हिंसालक्षणं पापं परेषाम् इच्छन्तीति अघायवः शत्रवः। ❀"छन्दसि परेच्छायामपि" इति अघशब्दात् क्यच्। "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम्। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वे "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम् उदात्तत्वम् ❀। तेषां शत्रूणां संबन्धी यो वधः हननम् तेन तत्साधनम् आयुधं लक्ष्यते। ❀ हन हिंसागत्योः। "हनश्च वधः" इति भावे अप् प्रत्ययः तत्संनियोगेन हन्तेर्वधादे-

शश्च । स च अन्तोदात्तः । अतो लोपे “अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः” इति अप उदात्तत्वम् ❀ । तथाविधम् आयुधजालम् उदीरते उद्गच्छति अस्मदभिमुखं प्राप्नोति । ❀ ईर गतौ । “बहुलं छन्दसि” इति शपो लुगभावः । “यद्वृत्तान्नित्यम्” इति निघातप्रतिषेधः । शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । “०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०” [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः शिष्यते । “तिङि चोदात्तवति” इति गतेर्निघातः ❀ । मित्रावरुणौ मित्रश्च वरुणश्च । ❀ “देवताद्वन्द्वे च” इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । “देवताद्वन्द्वे च” इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते “आमन्त्रितस्य च” इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । हे देवौ युवम् युवाम् । ❀ “प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्” इति आत्वस्य भाषाविषयत्वाद् अत्र अभावः ❀ । तम् शत्रुभिर्विनिर्मुक्तं वधम् अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् परि परितः यायवतम् वियोजयतम् । अस्मान् यथा न स्पृशति तथा कुरुतम् इत्यर्थः । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः । अस्मात् णयन्तात् लोटि रूपम् । “छन्दसि परेपि” इति परेः परप्रयोगः । “तिङ्ङतिङः” इति निघातः । “उपसर्गाश्चाभिवर्जम्” [फि० ४. १३] इति परेः आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥

इस समय युद्धकालमें सेनामें उपस्थित हुआ, हिंसारूपी पाप को चाहने वाले शत्रुओंका वध (शस्त्रसमूह) हमारी ओरको आरहा है, हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम दोनों शत्रुओंके छोड़े हुए उस अस्त्र-शस्त्र-जालको हमारे पाससे पृथक् करो, वह हमारा स्पर्श न करे तैसा प्रबन्ध करो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्॑ व॒धं व॑रुण याव॑य ।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥

इतः। च। यत्। अमुतः। च। यत्। वधम्। वरुण। यवय।
वि। महत्। शर्म। यच्छ। वरीयः। यवय। वधम्॥ ३॥

अनया वरुणम् अवयुत्य प्रार्थयते ॥ इतः अस्मात् संनिहितात् शत्रोः सकाशाद् [यद् वधम्] हननसाधनम् आयुधं माम् उद्दिश्य प्राप्नोति। ❀ इदमः "पञ्चम्यास्तसिल्" इति तसिल् प्रत्ययः। तसिलः "प्राग् दिशो विभक्तिः" इति विभक्तिसंज्ञा। "इदम् इश्" इति इश् आदेशः। "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वे प्राप्ते "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति विभक्तिसंज्ञकत्वात् तसिल उदात्तत्वम् ❀। तथा अमुतः अमुष्मात् दूरे दृश्यमानात् शत्रोः सकाशाद् यद् आयुधं प्राप्नोति। ❀ अदःशब्दात् पूर्ववत् तसिल्। तस्य विभक्तिसंज्ञकत्वात् "त्यदादीनाम् अः" इति अत्वम्। "अदसोऽसेर्दाद् उ दो मः" इति उत्वमत्वे। "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀। तत् सर्वं वधम् शत्रुभिर्विमुक्तं हननसाधनम् आयुधम्। ❀ हन्तेर्व्यत्ययेन "हनश्च वधः" इति करणे अप्। यस्तु करणाधिकरणयोः स तु त्रिलिङ्गः इति न्यायात् नपुंसकत्वम् ❀। तद् आयुधम् हे वरुण त्वं यावय अस्मत्तो वियोजय। ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः ❀ ॥ न केवलम् अनिष्टनिवृत्तिः इष्टप्राप्तिरपि मे स्याद् इत्याह। हे वरुण महत् अधिकम् अस्मद्द्वेष्यैरलभ्यं शर्म सुखं वि यच्छ विशेषेण प्रयच्छ। ❀ दाण दाने। शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः। उपसर्गस्य "व्यवहिताश्च" इति व्यवहितप्रयोगः ❀ ॥ अपि च वरीयः उरुतरं मन्त्रप्रयोगादिना प्रवृद्धं दुष्परिहरं वधम् हननसाधनं शस्त्रास्त्रजालम् हे वरुण त्वं यवय वियोजय। ❀ वरीय इति। उरुशब्दाद् ईयसुनि "प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुल०" इत्यादिना वर् आदेशः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"

इति आद्युदात्तत्वम् । यवया वधम् इति । "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

(इस ऋचाके द्वारा मित्र और वरुण देवतामेंसे मित्रको अलग कर वरुणकी ही प्रार्थना की जाती है) इस समीपमें खड़े हुए शत्रुके पाससे जो हननका साधन आयुध मुझको लक्ष्य करके आरहा है तथा इस दूर दीखते हुए शत्रुके पाससे जो आयुध मेरे ऊपर आरहा है । उस सब शत्रुओंके छोड़े हुए वधके साधन अस्त्रशस्त्रजालको हे वरुण ! आप हमसे पृथक् करिये । और हे वरुण ! शत्रुओंको जो न मिल सके ऐसा बड़ा भारी सुख हमैं दीजिये और हे वरुण ! आप मन्त्रप्रयोग आदिसे बढ़े हुए दुष्परिहर शस्त्र और अस्त्रोंके समूहको मुझसे दूर करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शा॒स इ॒त्था म॒हाँ अ॑स्यमित्रसा॒हो अ॑स्तृ॒तः ।
न यस्य॑ ह॒न्यते॒ सखा॒ न जी॒यते॑ क॒दा च॒न ॥ ४ ॥

शा॒सः । इ॒त्था । म॒हान् । अ॒सि॒ । अ॒मि॒त्र॒ऽस॒हः । अ॒स्तृ॒तः ।
न । यस्य॑ । ह॒न्यते॑ । सखा॑ । न । जी॒यते । क॒दा । च॒न ॥ ४ ॥

हे इन्द्र त्व शासः शासको नियन्ता । ❀ शासु अनुशिष्टौ । पचाद्यच् ❀ । [इत्था] इत्थम् अनेन प्रकारेण महान् महत्त्वगुणोपेतः सर्वोत्कृष्टः असि भवसि । ❀ इदम् शब्दात् "था हेतौ च च्छन्दसि" इति प्रकारेथें था प्रत्ययः । "एतेतौ रथोः" इति इदम इत् आदेशः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तता । महाँ असीत्यत्र संहितायां "दीर्घाद् अटि समानपदे" इति नकारस्य रुत्वम् । "आतोऽटि नित्यम्" इति अकारस्य अनुनासिकादेशः । "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि" इति रोर्यत्वम् । तस्य "लोपः शाक-

ल्यस्य" इति लोपः । "पूर्वत्रासिद्धम्" इति असिद्धवद्भावात् सवर्णदीर्घाभावः ❀ ॥ तमेव इन्द्रं विशिनष्टि । अमित्रसाहः अमित्राणां शत्रूणां सोढा अभिभविता । ❀ षह अभिभवे । पचाद्यच् । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । समासेपि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन तदेव शिष्यते ❀ । तथा अस्तृतः शत्रुभिरहिंसितः । ❀ स्तृञ् हिंसायाम् । कर्मणि निष्ठा । नञ् समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ अहिंसितत्वं कैमुतिकन्यायेनापि आह न यस्येति । यस्य उक्तमहिमोपेतस्य इन्द्रस्य सखा शरणागतो मित्रत्वं प्राप्तः पुरुषो न हन्यते शत्रुभिर्न हिंस्यते । हिंस्यत्वं तस्य दूरापास्तं पराजयोपि नास्तीत्याह । चनशब्दः अप्यर्थे । कदा चन कदाचिदपि न जीयते शत्रुभिर्नाभिभूयते । इन्द्रस्य सख्युरपि एवं किल किमु वक्तव्यम् इन्द्रस्य अस्तृतत्वम् इति पूर्वेण संबन्धः । एवम् अतिशयितमहिमोपेतस्य इन्द्रस्य प्रसादाद् वयमपि शत्रून् जयेम इति वाक्यशेषः । ❀ हन्यत इति । हन् हिंसागत्योः । "सार्वधातुके यक्" । "अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे यक्स्वरः शिष्यते । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः । जीयत इति । जि जये पूर्ववद् यक् । "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः यच्छब्दस्य अत्रापि संबन्धात् पूर्ववद् निघाताभावः । कदेति । किंशब्दात् "सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा" इति दा प्रत्ययः । "प्राग् दिशो विभक्तिः" इति विभक्तिसंज्ञायां "किमः कः" इति कादेशः ❀ ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! आप शासक—नियन्ता—हैं, इस प्रकार आप महत्त्वगुणसे सम्पन्न होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ हैं, शत्रुओंका तिरस्कार करने वाले हैं और शत्रुओंके द्वारा आप कभी मारे नहीं जाते हैं, ऐसी महिमा वाले इन्द्रका शरणागत होनेसे मित्रभावको प्राप्त

हुआ पुरुष भी शत्रुओंसे नहीं मारा जाता, (मारा जाना तो दूरकी बात है वह कभी) शत्रुओंसे पराजय भी नहीं पाता है। (जब इन्द्रके मित्रका ऐसा प्रभाव होजाता है तब इन्द्रके अहिंस्य होनेका क्या कहना ?) ऐसी महिमा वाले इन्द्रके प्रसादसे हम भी शत्रुओंको जीतें ॥ ४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२०) ॥

“स्वस्तिदाः” इत्यस्य अपराजितगणे पाठात् सांग्रामिकादिकर्मसु गणप्रयुक्तो विनियोग उक्तः ॥

तथा ग्रामगमनादिषु स्वस्त्ययनकामः एतेन सूक्तेन प्रथमं दक्षिणपादप्रक्रमणम् शर्करातृणप्रक्षेपणम् इन्द्रोपस्थानं च कुर्यात्। सूत्रितं हि। “स्वस्तिदाः [१. २१] ये ते पन्थानः [७. ५७. २] इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामत्यसंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते” इति [कौ० ७. १] ॥ एवं पिशाचादिनिवारणकर्मणि उद्वेगविनाशने च एतत् सूक्तम्। “स्वस्त्याद्यं कुरुते” [कौ० ४. १] इति सूत्रकृता अतिदिष्टत्वात् ॥

तथा वेदिकरणस्यादावपि एतत् सूक्तं जपेत् ॥

“वि न इन्द्रः” [१. २१ २] इत्यनया पुरीषच्छन्नां चितिं ब्रह्मा अनुमन्त्रयते। तद् उक्तं वैताने। “वि न इन्द्र [१. २१. २] मृगो न भीमः [७. ८६. ३] वैश्वानरो न ऊतये [६. ३५] इति चितिं पुरीषच्छन्नाम्” इति [वै० ५. २] ॥

“स्वस्तिदाः” इस सूक्तका अपराजितगणमें पाठ है, अत एव सांग्रामिक आदि कर्मोंमें गणके प्रयोगके साथ इसका प्रयोग होता है ॥

तथा ग्रामगमन आदिमें स्वस्त्ययन चाहने वाला इस सूक्तको पढ़ता हुआ पहिले दाहिना पैर उठावे, धूल और तृण उड़ावे और इन्द्रोपस्थान करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-

"स्वस्तिदाः" (१।२१) "ये ते पंथानः (७।५७।२) इत्यध्वानं दक्षिणेन प्रक्रामत्यसंख्याताः शर्करास्तृणानि क्षिप्त्वोपतिष्ठते ॥–अर्थात् स्वस्तिदाः (१।२१) और ये ते पन्थानः (७।५७।२) से मार्गमें दाहिना पैर धरे, असंख्य तिनके और रेतेको उड़ावे और उपस्थान करे ॥" (कौशिकसूत्र ७।१) ॥

इसी प्रकार पिशाच आदिके निवारणमें और उद्वेगका विनाश करनेमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। सूत्रकारने "स्वस्त्याद्यं कुरुते" (कौशिक ४।१) में इस बातका अतिदेश भी किया है ॥

और वेदिकरणकी आदिमें भी इस सूक्तको जपे ॥

"वि न इन्द्र" (१।२१।२) इस ऋचासे पुरीषच्छन्न चितिका ब्रह्मा अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि–"वि न इन्द्र (१।२१।२) मृगो न भीमः (७।८९।३) वैश्वानरो न ऊतये (६।३५) इति चितिं पुरीषच्छन्नाम्।"

तत्र प्रथमा ॥

स्व॒स्ति॒दा वि॒शां पति॑र्वृत्र॒हा वि॑मृ॒धो व॒शी ।
वृषेन्द्र॑ः पु॒र ए॑तु नः सोम॒पा अ॑भयंक॒रः ॥ १ ॥

स्व॒स्ति॒ऽदाः । वि॒शाम् । पति॑ः । वृ॒त्र॒ऽहा । वि॒ऽमृ॒धः । व॒शी ।
वृषा॑ । इन्द्र॑ः । पु॒रः । ए॒तु॒ । न॒ः । सो॒म॒ऽपाः । अ॒भ॒य॒म्ऽक॒रः १

स्वस्ति इति अविनाशि नाम। विनाशरहितं शोभनं फलं ददाति प्रयच्छतीति स्वस्तिदाः। ❀ स्वस्तीत्यविनाशिनाम। सु अस्तीति यास्कः [नि० ३. २१] डुदाञ् दाने। "क्विप् च" इति क्विप्। "समासस्य" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। विशाम्

सर्वासां प्रजानां पतिः पालयिता । ❀ "सावेकाच्०" इति विश्शब्दाद् उत्तरस्य आम उदात्तत्वम् ❀ । वृत्रहा । वृत्रो नाम जलाधारभूतो मेघः । तं मेघं वृष्ट्यर्थं हतवान् वृत्रहा ॥ यद्वा वृत्रो नाम त्वष्ट्रा उत्पादितः असुरः । तं हतवान् । ❀ आह च यास्कः । तत् को वृत्रः । मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः [नि० २. १६] इति । तन्नामनिर्वचनं श्रुत्यैव द्वेधा दर्शितम् । "यद् अवर्तयत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" [तै० सं० २. ५. २. १] इति "यद् इमांल्लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" [तै० सं० २. ५, २. २] इति च । हन हिंसागत्योः । वृत्रशब्दोपपदाद् अस्माद् भूते काले "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" इति क्विप् । उपपदसमासे "गतिकारकोपपदात् कृत्" इति उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । विमृधः विशेषेण मर्धयिता शत्रूणाम् । ❀ मृध हिंसायाम् । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः ❀ । वशी सर्वस्य प्राणिजातस्य वशयिता । ❀ वश कान्तौ । "वशिरण्योप्युपसंख्यानम्" इति भावे अप् ❀ । वशोस्यास्तीति वशी । ❀ "अत इनिठनौ" इति मत्वर्थीय इनिः । ❀ वृषा कामानां वर्षिता । ❀ वृषु सेचने इत्यस्मात् कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना [उ० १. १५४] औणादिकः कनिन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । सोमपाः सोमस्य पाता । ❀ पा पाने । अस्मात् सोमशब्दोपपदात् "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति विच् ❀ । एवम् उक्तमहिमोपेत इन्द्रः अभयंकरः भयराहित्यस्य कर्ता सन् नः अस्माकं संग्रामादौ पुरः पुरस्तात् पूर्वभागे एतु गच्छतु । ❀ अभयंकर इति । "उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति" इति वचनात् "मेघर्तिभयेषु कृञः" इति अभयशब्दोपपदादपि करोतेः खच् प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति पूर्वपदस्य मुम् आगमः । "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ।

उपपदसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन तदेव शिष्यते । पुर इति । "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति पूर्वशब्दात् असिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर् आदेशश्च ❀ ॥

विनाशरहित † शोभन फल—स्वस्ति—को देने वाले, सब प्रजाओंके पति, वृत्र नाम वाले जलके आधारभूत मेघको वृष्टिके लिये ताडित करने वाले और वृत्र नाम वाले असुर ‡ को मारने वाले, शत्रुओंका विशेषरूपसे मर्दन करनेवाले और सब प्राणियों को वशमें रखने वाले, सोमका पान करने वाले इन्द्र हमें अभय देते हुए संग्रामके अग्रभागमें चलें ॥ १ ॥

---

† स्वस्ति यह अविनाशीका नाम है । यास्कने कहा है, कि-"सु अस्ति" (निरुक्त ३ । २१) ॥

‡ "आह च यास्कः । तत् को वृत्रः । मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ॥—यास्कने कहा है, कि—वृत्र कौन है ? निरुक्तको पढ़ने वाले कहते हैं, कि—मेघका ही नाम वृत्र है, [उसमें जल और ज्योतिका मिलनरूप युद्ध होनेसे वर्षा होती है, अत एव वृत्र मेघका नाम वृत्र है] और ऐतिहासिक कहते हैं, कि-त्वष्टाके उत्पन्न किये हुए असुरका नाम वृत्र है । [इस इतिहासका यजुर्वेदके शतपथब्राह्मणमें और तैत्तिरीयसंहितामें वर्णन है] ॥" इस वृत्रके नामको श्रुतिने भी दो प्रकारसे दिखाया है । यथा—"यद्व अवर्तयत् तद्व वृत्रस्य वृत्रत्वम् (तैत्तिरीयसंहिता २ । ५ । २ । १) तथा "यद्व इमाँल्लोकान् अवृणोत् तद्व वृत्रस्य वृत्रत्वम्" (तैत्तिरीयसंहिता २ । ५ । २ । २) ॥—प्रहार होने पर वृष्टिके रूपसे वर्ताव करने लगा, यही वृत्र (मेघ) का वृत्रत्त्व है । और सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त कर लिया यही वृत्र (असुर) का वृत्रत्त्व है ॥

445 श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान नरिया, वाराणसी-5

द्वितीया ॥

वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
अ॒ध॒मं ग॑मया॒ तमो॑ यो॒ अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥२॥

वि । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । मृधः॑ । ज॒हि॒ । नी॒चा । य॒च्छ॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ।
अ॒ध॒मम् । ग॒म॒य॒ । त॑मः । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒ऽदास॑ति ॥ २ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव नः अस्मभ्यम् । ❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति अस्मदश्चतुर्थ्यन्तस्य नस् आदेशः । तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । अस्मदर्थं मृधः । संग्रामनामैतत् । संग्रामान् । ❀ मृधेः संपदादिलक्षणः क्विप् ❀ । वि जहि विनाशय । अस्मद्विजयार्थं संग्रामकारिणः शत्रून् मारयेत्यर्थः । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि "सेर्ह्यपिच्च" इति हि आदेशः । "हन्तेर्जः" इति जादेशः । तस्य "असिद्धवद् अत्राभात्" इति असिद्धत्वात् "अतो हेः" इति लुगभावः ❀ ॥ तथा पृतन्यतः पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः युद्धोद्योगकारिणः शत्रून् नीचा नीचैः यच्छ नियमय । युद्धार्थं संघीभावत्यागेन न्यग्भूतान् कुर्वित्यर्थः । ❀ पृतन्यतः । पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति आकारलोपः । तदन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शत्रादेशः । क्यजकारेण उदात्तेन सह शपः शतुश्चैकादेशे "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति शतुरुदात्तत्वात् "शतुरनुमो नद्यजादी" इति अजादिविभक्तेः उदात्तत्वम् । नीचैःशब्दाद् उत्तरस्य सुपः "सुपां सुलुक्०" इत्यादिना डादेशः । डित्करणसामर्थ्यात् टिलोपः ❀ ॥ अपि च यः शत्रुः अस्मान् अभिदासति क्षेत्रधनाद्यपहारेण उपक्षपयति । ❀ दसु उपक्षये ❀ । तं शत्रुम् अधमम् पुनरुत्थानशून्यं निकृष्टं तमः मरणात्मकं गमय प्रापय । ❀ गम्लृ सृप्लृ गतौ ।

११ ब

अस्मात् णिजन्तात् "जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च" इति मित्संज्ञायां "मितां ह्रस्वः" इति उपधाह्रस्वत्वम् । "अन्येषामपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे परम ऐश्वर्य वाले इन्द्रदेव ! हमारे संग्रामोंको नष्ट करिये अर्थात् हमको जीतनेके लिये संग्राम करने वाले शत्रुओंको मारिये । तथा (अपनी) सेना (एकत्रित करके युद्ध करना चाहने वाले युद्धके उद्योगी शत्रुओं) का नियमन करिये अर्थात् वे युद्धके लिये एकत्रित न होकर अलग २ ही रहें--ऐसा करिये । और जो हमारा शत्रु हमारे क्षेत्र धन आदिको छीन कर हमारा नाश कररहा है उसको अन्धकारमें डालिये अर्थात् उसको पुनरुत्थानशून्य मरणरूप निकृष्ट अन्धकारमें भेजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वि रक्षो॒ वि मृधो॑ ज॒हि वि वृ॒त्रस्य॒ हनू॑ रुज ।
वि म॒न्युमि॑न्द्र वृत्रहन्न॒मित्र॑स्याभि॒दास॑तः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः॑ । वि । मृधः॑ । ज॒हि॒ । वि । वृ॒त्रस्य॑ । हनू॒ इति॑ । रु॒ज॒ ।
वि । म॒न्युम् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र॒ऽह॒न् । अ॒मित्र॑स्य । अ॒भि॒ऽदास॑तः । ३

हे वृत्रहन् वृत्रस्य हन्तरिन्द्र त्वं रक्षः । जातावेकवचनम् । बाधकानि रक्षांसि । ❀ वीत्युपसर्गश्रवणात् जहीति क्रिया अत्रापि संबध्यते ❀ । वि जहि विनाशय । ❀ रक्षणीयः अस्मात् सर्वो जन इत्यपादानेर्थे औणादिकः असुन् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् । रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात् इति यास्कोपि [नि० ४. १८]❀ ॥ तथा मृधः संग्रामान् वि जहि ॥ तथा वृत्रस्य वृत्रवत् प्रबलस्य शत्रोः हनूः कपोलौ वि रुज विभङ्धि । विदारयेत्यर्थः । ❀ रुजो भङ्गे । तुदादित्वात् शप्रत्ययः ।

“ अतो हेः” इति हेर्लुक् ❀ । अभिदासतः अभितः अस्मान् उपक्षपयतः अमित्रस्य शत्रोर्मन्युम् क्रोधमपि । ❀ अत्रापि उपसर्गश्रवणात् जहीति संबध्यते ❀ । वि जहि । स्वस्थानस्थितोपि यथा मद्विषये मन्युं न करोति तथा कुर्वित्यर्थः । मन ज्ञाने । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् [उ० ३. २०] इति औणादिको युच् प्रत्ययः । यास्कोप्याह । मन्युर्मन्यतेः कान्तिकर्मणः [नि० १०. २६] इति ❀ ॥

हे वृत्रासुरको मारने वाले इन्द्र ! आप राक्षसोंका संहार करिये तथा संग्रामोंको दूर करिये और वृत्रासुरकी समान बलवान् शत्रुके कपोलोंको फाड़ डालिये तथा क्षेत्र धन आदि लेकर मेरा अपकार करना चाहने वाले शत्रुके क्रोधको भी शांत करिये अर्थात् वह अपने स्थान पर बैठा हुआ भी मुझ पर क्रोध न करे ऐसा करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अपे॑न्द्र द्विष॒तो मनोप॒ जिज्या॑सतो व॒धम् ।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ४ ॥

अप॑ । इ॒न्द्र॒ । द्वि॒ष॒तः । मनः॑ । अप॑ । जिज्या॑सतः । व॒धम् ।
वि । म॒हत् । शर्म॑ । य॒च्छ॒ । वरी॑यः । य॒व॒य॒ । व॒धम् ॥ ४ ॥

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव द्विषतः शत्रोर्मनः हिंसकं क्रूरं मानसम् । ❀ अपेत्युपसर्गश्रवणात् योग्या प्रकृता जहीति क्रिया संबध्यते ❀ । अप जहि अपहतं कुरु । ❀ द्विष अप्रीतौ । अस्मात् लटः शत्रादेशः । “अदिप्रभृतिभ्यः शपः” इति शपो लुक् । “शतुरनुमो नद्यजादी” इति ङस उदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा जिज्यासतः

वयोहानिं तदुपलक्षितं मरणं कर्तुम् इच्छतः शत्रोः संबन्धिनं वधम् हननसाधनम् आयुधम् । पूर्ववत् क्रियाध्याहारः । अप जहि । ❀ ज्या वयोहानौ । "धातोः कर्मणः समानकर्तृकाद् इच्छायां वा" इति सन् प्रत्ययः । "सन्यङो इति द्विर्वचने हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते "सन्यतः" इति अभ्यासाकारस्य इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शत्रादेशः । शपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे शतुर्लसार्वधातुकस्वरेण ङसश्च सुप्त्वाद् अनुदात्तत्वे "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति सन्नन्तस्य यद् आद्युदात्तत्वं तदेव शिष्यते ❀ ॥ उत्तरोर्धर्चो व्याख्यातः ॥

[इति] पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति] प्रथमकाण्डे चतुर्थोऽनुवाकः ॥

हे परमैश्वर्ययुक्त इन्द्रदेव ! द्वेष करने वाले शत्रुके हिंसक क्रूर मनको दबा दीजिये और मारना चाहने वाले शत्रुके हननसाधन आयुधको भी नष्ट कर डालिये । हमें बड़ा भारी श्रेष्ठ सुख दीजिये और मन्त्रपूत श्रेष्ठ अस्त्रोंको हमसे दूर रखिये ॥ ४ ॥

पञ्चमसूक्त समाप्त (२१) ॥

प्रथमकाण्डमें चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

पञ्चमेनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "अनु सूर्यम्" इत्येतत् प्रथमं सूक्तम् । तेन हृद्रोगकामिलादिरोगोपशान्तये रक्तवृषभरोममिश्रोदकं पाययेत् । तथा तेनैव रक्तगोचर्मच्छिद्रमणिं गोक्षीरे प्रक्षिप्य संपात्य अभिमन्त्र्य तन्मणिबन्धनम् तत्क्षीरपानं च कारयेत् । तथा रोहिणं हरिद्रौदनं भोजयित्वा तदुच्छिष्टानुच्छिष्टेन आमपदं प्रलिप्य खट्वायाम् उपवेश्य तदधः शुककाष्ठशुकगोपीतनकाख्यानां त्रयाणां पक्षिणां सव्यजङ्घायां हरितसूत्रेण आबन्धनम् इत्येवमादिकं सूत्रोक्तं कुर्यात् । सूत्रं च । "अनु सूर्यमिति मन्त्रोक्तस्य लोममिश्रम् आचामयति०" इत्यादि "जातरूपेणापिधाप्य बध्नाति" इत्यन्तम् [कौ० ४. २] ॥

पाँचवें अनुवाकमें सात सूक्त हैं । उनमें "अनु सूर्यम्" यह प्रथम सूक्त है । इस सूक्तके द्वारा हृद्रोग और कामिला (कमलवाय) रोगकी शान्तिके लिये लाल वृषभके रोम मिला जल पिलावे तथा इसी सूक्तसे रक्तगोचर्मच्छिद्रमणिको गोक्षीरमें डाल कर सम्पातन और अभिमंत्रण करके उस मणिको बाँधे, और उस क्षीरको पिलावे । तथा रोहिण हरिद्रौदनको खिला कर उस उच्छिष्टानुच्छिष्टसे पैर तक लेप कर खाटमें बैठा कर और उसके नीचे शुककाष्ठ शुक और गोपीतनक नामक तीन पक्षियोंकी सव्यजङ्घामें हरितसूत्र बाँधना आदि सूत्रोक्त काम करे । सूत्रमें भी कहा है, कि-"अनुसूर्यमिति मंत्रोक्तस्य लोममिश्रं आचामयति०" इत्यादि "जातरूपेणापिधाप्य बध्नाति" इत्यन्तम्-अनु सूर्यम्-इस मन्त्रसे लोममिश्र जलको पिलावे०, और सुवर्णसे ढक कर बाँधे" [कौशिकसूत्र ४ । २] ॥

तत्र प्रथमा ॥

अनु॒ सूर्य॒मुद॑यतां हृद्द्यो॒तो ह॑रि॒मा च॑ ते ।
गो रोहि॑तस्य॒ वर्णे॑न॒ तेन॑ त्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ १ ॥

अनु॑ । सूर्य॑म् । उत् । अ॒य॒ता॒म् । हृ॒त्ऽद्यो॒तः । ह॒रि॒मा । च॒ । ते॒ ।
गोः । रोहि॑तस्य । वर्णे॑न । तेन॑ । त्वा॒ । परि॑ । द॒ध्म॒सि॒ ॥ १ ॥

हे व्याधित पुरुष ते तव हृद्द्योतः । हृदयं द्योतयति दीपयति संतापयतीति हृद्द्योतः हृद्रोगः । ❀ द्युत दीप्तौ । अस्मात् हृच्छब्दोपपदात् "कर्मण्यण्" इति अण् प्रत्ययः । उपपदसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद्वा हृद्रोगजनितः संतापो हृद्द्योतः । ❀ द्युतेर्भावे घञ् ❀ । तथा हरिमा कामिलादिरोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः । ❀ हरिच्छब्दात् "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च" इति

चकाराद् भावे इमनिच् प्रत्ययः। "यचि भम्" इति भसंज्ञायाम् "टेः" इति टिलोपः। "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। व्याधिद्वयमपि सूर्यम् गच्छन्तं भानुम् अनुलक्षीकृत्य उदयताम् उद्गच्छतु। उक्तः संतापो हरिद्वर्णश्च अस्माच्छरीराद् उत्क्रम्य संतापकं हरिद्वर्णं सूर्यमेव प्राप्नोतु इत्यर्थः। ❀ सरतेः सुवतेर्वा क्यपि "राजसूयसूर्य॰" इत्यादिना निपात्यते। क्यपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। "अनुर्लक्षणे" इति लक्षणेर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति सूर्यशब्दाद् द्वितीया। अयताम् इति। अय पय गतौ। अनुदात्तेत्त्वाद् आत्मनेपदम् ❀॥ अनभिमतरोगजनितवर्णापगमानन्तरं इष्टवर्णसंयोजनम् आह गोरिति। रोहितस्य लोहितवर्णस्य गोः गोजातीयस्य वर्णेन लौहित्येन तेन प्रसिद्धेन तस्मात् पृथक्कृतेन हे रुग्ण त्वा त्वां परि दध्मसि परिदध्मः आच्छादयामः। तव शरीरं प्रकृष्टवर्णोपेतं कुर्म इत्यर्थः। ❀ परिपूर्वो दधातिः आच्छादने वर्तते। तथा च निगमः। "परिधत्त धत्त वाससैनम्" इति। "जरां गच्छासि परिधत्स्व वासः" [हिर॰ स॰ १६. १ ४] इति च। "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम्। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀॥

हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! तेरा हृदयको सन्ताप देने वाला हृद्रोग तथा कामिला आदि रोगसे उत्पन्न हुआ शरीरका पीला वर्ण सूर्यको लक्ष करके उछले, उक्त सन्ताप और (पीला) हरित् वर्ण भी इस शरीरसे निकल कर सन्तापक हरिद्वर्ण वाले सूर्यको प्राप्त होवे और हे रोगी पुरुष ! गौके रक्तवर्णके पृथक् किये हुए रक्तवर्णसे मैं तुझे ढ़कता हूँ, तेरे शरीरको श्रेष्ठ वर्ण वाला करता हूँ।१

द्वितीया ॥

परि॑ त्वा॒ रोहि॑तै॒र्वर्णै॑र्दीर्घायु॒त्वाय॑ दध्मसि ।

य॒थाय॒म॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त् ॥ २ ॥

परि॑ । त्वा॒ । रोहि॑तैः । वर्णैः॑ । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । द॒ध्म॒सि॒ ।

यथा॑ । अ॒यम् । अ॒र॒पाः । अस॑त् । अथो॒ इति॑ । अह॑रितः । भुव॑त्

उक्तमेव लोहितवर्णपरिधानफलप्रकटनार्थं पुनराह । हे व्याधित त्वा त्वां रोहितैः लोहितैः वर्णैः प्रागुक्तैर्गोसंबन्धिभिः परि दध्मसि परिदध्मः । ❀ "व्यवहिताश्च" इति परेरुपसर्गस्य व्यवहितः प्रयोगः ❀ । किमर्थम् इति तदाह । दीर्घायुत्वाय दीर्घं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्जीवनकालो यस्यासौ दीर्घायुः । तस्य भावस्तत्त्वम् । ❀ सकारलोपश्छान्दसः । तादर्थ्ये चतुर्थी । सति शिष्टत्वात् समासस्वरत्वं बाधित्वा त्वप्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तदेव कथम् इत्यत आह । यथा येन प्रकारेण अयम् चिकित्सितः पुरुषः अरपाः । रप इति पाप नाम । ❀ रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः [नि० ४. २१] इति हि यास्कः ❀ । न विद्यते रपः पापं यस्यासौ अरपाः । ❀ बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अपगतपापः असत् भवेत् । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥ अथो पापक्षयानन्तरमेव अहरितः कामिलादिरोगजनितहरिद्वर्णरहितः भुवत् भवेत् । रोगनिदानभूतपापक्षये सति तच्छान्तौ सत्याम् यथा दीर्घायुर्भवति तथा परिदध्म इति वाक्यार्थः । ❀ भू सत्तायाम् । अस्मात् लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधे उवङ् ❀ ॥

(पूर्वोक्त लोहितवर्ण परिधानफलको प्रकट करनेके लिये फिर कहते हैं, कि–) हे व्याधिग्रस्त पुरुष ! तुझे हम दीर्घायु पानेके लिये गोसम्बन्धी रक्तवर्णसे ढकते हैं ॥ जिससे यह पुरुष

रपरहित–पापरहित † होकर पापक्षयके अनन्तर कामला आदि रोगसे उत्पन्न हुए हरिद्वर्णसे रहित होजावे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

या रोहि॑णीर्देव॒त्या॒ ३॒॑ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः ।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वय॒स्ताभि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मासि ॥ ३ ॥

या । रोहि॑णीः । दे॒व॒त्याः॑ । गावः॑ । याः । उ॒त । रोहि॑णीः ।
रू॒पम्ऽरू॑पम् । वयः॑ऽवयः । ताभिः॑ । त्वा॒ । परि॑ । द॒ध्म॒सि॒ ॥३॥

देवत्याः देवतासु भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् प्रत्ययः ❀ । देवसंबन्धिन्यो रोहिणीः रोहिण्यः लोहितवर्णाः । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे [च] इत्यस्मात् रुहे रश्च लो वा [उ० ३. ९४] इति औणादिक इतन् प्रत्ययः । नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् । ततो "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति ङीप् । तत्संनियोगेन तकारस्य नकारः । ङीपः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे नित्स्वर एव शिष्यते । जसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । उक्तवर्णा याः कामधेन्वादयो गावः सन्ति । उत अपि च याः मनुष्यसंबन्धिन्यो रोहिणीः रोहिण्यः लोहितवर्णा गावः सन्ति ताभिः उभयविधाभिर्गोभिः रूपंरूपम् सर्वगोव्यक्तिगतं कृत्स्नम् अरुणरूपं तथा वयोवयः सर्वव्यक्तिगतं कृत्स्नं यौवनम् । ❀ उभयत्र "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "तस्य परम् आम्रेडितम्" इति परस्य आम्रेडितसंज्ञायाम् "अनुदात्तं च" इति अनुदात्तत्वम् ❀ । तत् सर्वम् आहृत्य हे रुग्ण त्वा त्वां परि

---

† रपो रिप्रं पापनामनी भवतः इति यास्कः–रप और रिप्र पापके नाम हैं, ऐसा यास्कमुनिने कहा है । (निरुक्त ४ । २१)॥

दध्मसि परिदध्मः । गोगतवर्णवद् उज्ज्वलवर्णैर्वयोविशेषैस्त्वदीयं शरीरं संयोजयाम इत्यर्थः ॥ यद्वा । ताभिः उक्तवर्णोपेताभिर्गोभिः हे रुग्ण त्वां परि दध्मसि । परिधानप्रकारमेव आह । रूपंरूपम् रोगविशेषेण दूषितं सर्वशरीरगतं रूपं वयोवयः उक्तप्रकारं वयश्च परि दध्मसि । ❀ ताभिष्ट्वेति । "त्वामौ द्वितीयायाः" इति युष्मदस्त्वादेशः । "युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्" इति सकारस्य षत्वम् ❀ ॥

देवताओंकी जो लाल वर्ण वालीं कामधेनु आदि गौएँ हैं और मनुष्योंकी जो लालवर्ण वालीं गौएँ हैं उन दोनों प्रकारकी गौओंके अरुणरूपको और उनके सम्पूर्ण यौवनको लेकर हम तुझे देते हैं अर्थात् गौके वर्णकी समान उज्ज्वल वर्ण और अवस्थासे तुझे संयुक्त करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सुके॑षु ते हरि॒माणं॑ रोप॒णाका॑सु दध्मसि ।
अ॒थो हारि॑द्रवेषु ते हरि॒मा॒णं नि द॑ध्मसि ॥ ४ ॥

सुके॑षु । ते॒ । ह॒रि॒माण॑म् । रो॒प॒णाका॑सु । द॒ध्म॒सि॒ ।

अ॒थो इति॑ । हारि॑द्रवेषु । ते॒ । ह॒रि॒माण॑म् । नि । द॒ध्म॒सि॒ ॥४॥

पूर्वं गवादिगतस्य उज्ज्वलस्य रक्तवर्णस्य रुग्णशरीरे प्रवेशोऽभिहितः । तच्छरीरे पूर्वम् अवस्थितस्य रोगजनितस्य हरिद्वर्णस्य का तर्हि गतिरिति तद् उच्यते । हे रोगार्त ते तव शरीरगतं हरिमाणम् रोगजनितं हरिद्वर्णम् । ❀ "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च" इति हरिच्छब्दाद् भावेर्थे इमनिच् । "यचि भम्" इति भसंज्ञायाम् "टेः" इति टिलोपः । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । तद्वर्णं शुकेषु कीरेषु तथा रोपणाकासु काष्ठशुकाख्येषु हरिद्वर्णेषु पक्षिषु

नि दध्मसि निदध्मः । वर्णतः समानाकृतिषु पक्षिविशेषेषु स्थापयाम इत्यर्थः । ❀ "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❀ ॥ अथो अपि च हारिद्रवेषु गोपीतनकाख्येषु हरिद्वर्णेषु पक्षिविशेषेषु ते त्वदीयं हरिमाणम् हरिद्वर्णं नि दध्मसि निदध्मः स्थापयामः॥

[इति]पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

(पहिले गौओंमें स्थित उज्ज्वल रक्तवर्णका रोगीके शरीरमें प्रवेश कहा, किंतु उसके शरीरमें पहिलेसे स्थित रोगसे उत्पन्न हुए हरिद्वर्णकी क्या गति होगी ? अत एव कहते हैं, कि–) हे रोगार्त ! तेरे शरीरके रोगजनित हरिद्वर्णको शुकों (तोतों) में और काष्ठशुक नाम वाले पक्षियोंमें स्थापित करते हैं और गोपीतनक नाम वाले हरिद्वर्णके पक्षियोंमें तेरे हरिद्वर्णको स्थापित करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२२) ॥

"नक्तंजाता" "सुपर्णो जातः" इति सूक्तद्वयेन श्वेतकुष्ठापनोदनाय भृङ्गराजहरिद्रेन्द्रवारुणीनीलिकाः पिष्ट्वा शुष्कगोमयेन श्वित्रप्रदेशम् आलोहितदर्शनं प्रघृष्य लेपयेत् ॥ पलितनाशनेपि पलितानि आच्छिद्य सूक्तद्वयेन पूर्ववद् विलिम्पेत् ॥ उक्तरोगद्वयशान्तये अनेनैव सूक्तद्वयेन आज्यहोमादीनि मारुतकर्माणि च वृष्टिकर्मोक्तवत् कुर्यात् ॥ सूत्रितं च । "नक्तंजाता [१. २३] सुपर्णो जातः [१. २४] इति मन्त्रोक्तं शकृता आलोहितं प्रघृष्य आलिम्पति पलितान्याच्छिद्य मारुतान्यपिहितः" इति [कौ० ४. २] ॥

"नक्तं जातः" "सुपर्णो जातः" इन दो सूक्तोंसे श्वेत कुष्ठको दूर करनेके लिये भँगरा हल्दी इन्द्रायन और नीलके पौधेको पीस कर सूखे गोबरके साथ कोढ़के स्थान पर जहाँ तक रक्त दीखे तहाँ तक घिस कर लगावे । और पलित (रोगजनित बालोंकी सफेदी) को दूर करनेके लिये भी श्वेत बालोंको काट

कर दोनों सूक्तोंसे पहिलेकी समान लेप करे। और इन दोनों रोगोंकी शान्तिके लिये इन दोनों सूक्तोंसे घृतहोम और मारुतकर्मोंको भी वृष्टिकर्मके कथनानुसार करे। इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है, कि—“नक्तं जाता (१।२३) सुपर्णो जातः (१।२४) इति मन्त्रोक्तं शकृता आलोहितं प्रघृष्य आलिस्पति पलितान्याच्छिद्य मारुतान्यपिहितः।” (कौशिकसूत्र ४।२)

तत्र प्रथमा ॥

न॒क्तं॒जा॒ता॒स्यो॑षधे॒ रामे॒ कृष्णे॒ असि॑क्नि च।
इ॒दं र॑जनि रजय कि॒लासं॑ पलि॒तं च॒ यत्॥ १ ॥

न॒क्त॒म्ऽजा॒ता। अ॒सि॒। ओ॒ष॒धे॒। रामे॑। कृष्णे॑। असि॑क्नि। च॒।
इ॒दम्। र॒ज॒नि॒। र॒ज॒य॒। कि॒लास॑म्। प॒लि॒तम्। च॒। यत्॥१॥

हे ओषधे। ओषः फलपाकः अस्यां धीयत इति ओषधिः। ❀ डुदाञ् धारणपोषणयोः। तस्मात् “कर्मण्यधिकरणे च” इति अधिकरणे किप्रत्ययः। ततस्तत्पुरुषसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तत्वे प्राप्ते दासीभारादिषु पाठात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। पूर्वपदं च घञन्तत्वाद् आद्युदात्तम्। अत्र तु संबुद्ध्यन्तत्वाद् “आमन्त्रितस्य च” इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वमेव ❀ हे। ओषधे हरिद्राख्ये त्वं नक्तं रात्रौ जाता उत्पन्ना असि भवसि। अतस्त्वं श्वैत्यनिवर्तनेन कार्ष्ण्यम् आपादयितुं शक्ता भवसीत्यर्थः॥ तथा हे रामे। ❀ व्याधितो जनः अनया ओषध्या रमत इति रामा भृङ्गराजाख्या ओषधिः। रमु क्रीडायाम्। अस्मात् करणे घञ्। “कर्षात्वतो घञोन्त उदात्तः” इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते अस्य आमन्त्रितस्य पादादित्वेन आष्टमिकस्य सर्वानुदात्तस्य अप्राप्तेः “आमन्त्रितस्य च” इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। तथा हे कृष्णे

कृष्णवर्णे कृष्णवर्णापादिके वा इन्द्रवारुणि हे असिक्नि असितवर्णे असितवर्णापादिके वा नीलि। ❀ सर्वसमुच्चयार्थश्चकारः। असितशब्दात् "वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात् तो नः" इति प्राप्तयोर्ङीब्नकारयोः "असितपलितयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति प्रतिषेधे "छन्दसि क्नम् एक इच्छन्ति" इति वचनात् ङीप्। तत्संनियोगेन तकारस्य क्नादेशः। कृष्णे असिक्नि इत्यनयोः "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति पूर्वपूर्वामन्त्रितस्य अविद्यमानवद्भावेन पादादित्वात् षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वमेव। न च "नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम्" इति अविद्यमानवद्भावनिषेधः। भिन्नार्थवृत्तित्वेन व्याख्यातत्वात् ❀। पूर्वम् ओषधिशब्देन निर्दिष्टाया हरिद्राया जननक्रियासंबन्धित्वेन कुण्ठितशक्तित्वात् रञ्जनक्रियामपि संबन्धं दर्शयितुं पुनराह रजनीति। यद्वा। अत्र निर्दिष्टानां रामादीनां चतसृणाम् ओषधीनामपि उत्पत्तिरुच्यते नक्तंजातास्योषध इति। हे ओषधे रामादिरूपे त्वं नक्तंजातासि। इत्यतो न पुनरुक्तिशङ्कावकाशः। हे रजनि। रञ्जयति स्वसंसृष्टं वस्त्रादिकम् अर्थम् इति रजनी। ❀ रञ्ज रागे। कर्तरि ल्युट्। "रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्" इति उपधानकारलोपः। टित्वात् ङीप्। पदात् परत्वाद् "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। हे रामाद्योषधे त्वम् इदम् वक्ष्यमाणम् अङ्गं रजय श्वित्रादिदोषनिबर्हणेन स्वकीयं रागं संश्लेषय। ❀ अत्र रागापादिकानाम् ओषधीनां बहुत्वेपि प्रत्येकापेक्षया एकवचनम्। रञ्ज रागे। अस्मात् णिचि "रञ्जेर्णौ मृगरमण उपसंख्यानम्" इति विहितो नलोपश्छान्दसत्वाद् अत्रापि भवति। "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति रजनिशब्दस्य अविद्यमानवद्भावेपि इदंशब्दापेक्षया "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀। तदेवाङ्गम् आह। किलासः कुष्ठरोगः। तद्युक्तम् अङ्गम् तथा पलि-

तम् जरावस्थाप्राप्तं केशानां शौक्ल्यं तद्युक्तम् अङ्गं च । ❀ उभयत्रापि अर्शआदित्वाद् अच् ❀ । ईदृशं यद् अङ्गम् अस्ति इदम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥

हे हरिद्रा नाम वाली औषधे ! तू रात्रिमें उत्पन्न हुई है अतः (श्वेतभावको दूर कर कालापन लासकती है) और व्याधिग्रस्त पुरुष जिससे आनन्द पाता है ऐसी रामा भँगरा–नाम वाली ओषधे ! तथा हे कृष्ण वर्ण लाने वाली इन्द्रवारुणि (इन्द्रायन) नाम वाली ओषधे ! हे असित (अश्वेत) वर्ण करने वाली नील ओषधे ! और हे रँगने वाली रात्रिमें उत्पन्न हुई हरिद्रा आदि ओषधियों ! तुम इस किलास (कुष्ठ) रोगसे युक्त अङ्गको और बालोंकी श्वेततायुक्त अङ्गको कोढ़ आदिके दोष को हटा कर अपने रंगसे रँग दो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय २

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥

किलासम् पलितम् उक्तलक्षणम् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । इतः अस्मात् व्याधिदूषितात् शरीरात् पृथक् पृथक्कृत्य हे ओषधे त्वं निर्णाशय निरवशेषं घातय । ❀ "व्यवहिताश्च" इति निसो व्यवहितक्रियया संबन्धः ❀ ॥ अनन्तरम् हे रुग्ण त्वा त्वां स्वः स्वकीयः प्राग् अवस्थितो वर्णः लौहित्यादिरूपः आ विशताम् प्रविशताम् ॥ शौक्ल्यस्य पुनरुद्भवपरिहाराय आह । शुक्लानि शरीरकेशगतशुक्लरूपाणि परा पातय पराचीनं दूरं प्रेरय । यथा पुनरेनं पुरुषं न स्पृशन्ति तथा कुरु इत्यर्थः ॥

हे ओषधे ! तू कोढ़को और पलित (केशोंकी श्वेतता) को इस व्याधिदूषित शरीरसे अलग करके नष्ट कर दे, तदनन्तर हे रोगिन् ! तुझमें पहिले वर्तमान लालिमा (रक्तवर्ण) प्रवेश करे (फिर शुक्लता न आनेके लिये कहते हैं, कि-) ओषधे ! (शरीर और केशके) श्वेतवर्णको तू दूर भेज दे, जिससे वह श्वेतवर्ण फिर इसका स्पर्श न करसके ॥ २ ॥

तृतीया ॥

असि॑तं ते प्र॒लय॑नमा॒स्थान॒मसि॑तं॒ तव॑ ।
असि॑क्न्यस्योषधे॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त् ॥ ३ ॥

असि॑तम् । ते॒ । प्र॒ऽलय॑नम् । आ॒ऽस्थान॑म् । असि॑तम् । तव॑ ।
असि॑क्नी । अ॒सि॒ । ओ॒ष॒धे॒ । निः । इ॒तः । ना॒शय॒ । पृष॑त् ॥३॥

अनया नीलीमेव अवयुत्य प्रार्थयते । हे नीलि ते तव प्रलयनम् । प्रकर्षेण लीयते संश्लिष्यते अत्रेति प्रलयनम् उत्पत्तिस्थानम् । असितम् कृष्णवर्णं भवति ॥ तथा तव आस्थानम् । पुरुषैः आनीता आ समन्तात् तिष्ठत्यत्रेति आस्थानम् प्रक्षेपणभाजनादिरूपम् । असितम् कृष्णं भवति । ❀ प्रपूर्वात् लीङ् श्लेषणे इत्यस्मात् आङ् पूर्वात् तिष्ठतेश्च "करणाधिकरणयोश्च" इति अधिकरणे ल्युटि "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥ कुत एतद् इत्यत आह । हे ओषधे नीलि त्वम् असिक्नी असितवर्णा असि भवसि । यतस्तव अयं स्वभावः अतः इतः अस्मात् श्वित्रादिरोगदूषिताद् अङ्गात् आलेपादिना त्वत्संबद्धात् पृथक् किलासं पलितं च पृथक्कृत्य निर्णाशय निःशेषेण विनष्टं कुरु ॥

(इस ऋचाके द्वारा केवल नीलकी ही प्रार्थना की जाती है) हे नील ! तेरा उत्पत्तिस्थान कृष्णवर्णका होता है और जिन

पात्रोंमें तू डाला जाता है वे भी काले होते हैं और हे नील ओषधि ! तू असित वर्ण वाली है, तेरा ऐसा स्वभाव है अतः लेपन आदिके द्वारा तू कोढ़ आदि रोगसे दूषित अंगसे कोढ़को और पलित रोगको अलग करके नष्ट कर डाल ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥४॥

अस्थिऽजस्य । किलासस्य । तनूऽजस्य । च । यत् । त्वचि ।
दूष्या । कृतस्य । ब्रह्मणा । लक्ष्म । श्वेतम् । अनीनशम् ॥ ४ ॥

अनया अस्थ्यादिधातुगतस्य उत्साद्यस्य किलासस्यैव निवृत्तिम् आह । अस्थिजस्य तथा तनूजस्य । अत्र तनूशब्देन त्वगस्थ्नोर्मध्यवर्ती मांसधातुः उच्यते । तस्माद् यज्जातं तस्य । ❀ जनी प्रादुर्भावे । अस्माद् अस्थिशब्दोपपदात् तनूशब्दोपपदाच्च "पञ्चम्याम् अजातौ" इति डप्रत्ययः । "टेः" इति टिलोपः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तथा त्वचि त्वग्धातौ यद् वर्तमानं तस्य सर्वस्य किलासस्य कुष्ठव्याधेः तथा दूष्या । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः शत्रूत्पादिता कृत्या । तया कृतस्य उत्पादितस्य च किलासस्य [लक्ष्म] लक्ष्मभूतं चिन्हं श्वेतम् शरीरावयवगतं श्वैत्यम् । ब्रह्मणा अनेन प्रयुज्यमानेन मन्त्रेण अनीनशम् नाशितवान् अस्मि । ❀ नश अदर्शने । अस्मात् ण्यन्तात् लुङि "णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्" इति च्लेश्चङ् । "चङि" इति द्विर्वचने "सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे" इति सन्वद्भावः । "सन्यतः" इति अभ्यासस्य इत्वम् । "दीर्घो लघोः" इति दीर्घः । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(इस ऋचाके द्वारा अस्थि आदि धातुमें पहुँचे हुए नष्ट करने योग्य कुष्ठरोगकी ही निवृत्तिका वर्णन किया है) अस्थियोंमें पहुँचे हुए और त्वचा तथा हड्डीके बीचमें वर्तमान मांसमें पहुँचे हुए तथा त्वचामें वर्तमान कुष्ठ व्याधिका तथा शत्रुकी उत्पन्न की हुई प्राणियोंको मारने वाली कृत्याके द्वारा उत्पादित कुष्ठका जो श्वेत चिन्ह है, उसको मैंने इस प्रयोग किये हुए मन्त्रसे नष्ट कर डाला है ॥ ४ ॥

पाँचवें अनुवाकमें दूसरा सूक्त समाप्त (२३) ॥

“सुपर्णो जातः” इति सूक्तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

इस सूक्तका विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तम् आसिथ ।
तद् आसुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् १

सुऽपर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।
तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् १

अस्य औषधस्य वीर्यातिशयं प्रकटयितुम् आख्यायिकया उत्पत्तिम् आह । सुपर्णः शोभनपक्षोपेतो गरुत्मान् । ❀ बहुव्रीहौ समासे “नञ्सुभ्याम्” इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । प्रथमः आदिभूतः सन् जातः उत्पन्नः ॥ हे नील्याद्योषधे त्वं तस्य गरुत्मतः पित्तम् शरीरगतः पित्ताख्यो दोषः आसिथ पूर्वं बभूविथ । ❀ अस्तेर्लिटि “छन्दस्युभयथा” इति लिटः सार्वधातुकसंज्ञायाम् “अस्तेर्भूः” इति भूभावाभावः । आर्धधातुकसंज्ञाया अपि सद्भावाद् इडागमश्च ❀ ॥ तत् तथाविधं पित्तम् आसुरी असुराणां माया काचन स्त्री । ❀ “मायायाम् अण्” इति अण् प्रत्ययः ।

"टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् ❀ । सा युधा युद्धेन । ❀ युध संप्रहारे । "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । सुपर्णेन सह संग्रामं कृत्वा जिता जितवती । ❀ जि जये । अस्मात् कर्तरि क्तः ❀ ।। जयेन लब्धं तत् पित्तं रूपं चक्रे । ओषध्यात्मना सेव्यम् आकारम् अकार्षीत् । तदेव रूपम् आह । वनस्पतीन् नील्यादीन् ।। एतेषां नील्यादीनां सुपर्णपित्तकार्यत्वरूपप्रतिपादनेन अमोघवीर्यत्वम् उक्तं भवति ।।

(इस ओषधीके वीर्यको प्रकट करनेके लिये आख्यायिकाके द्वारा इसकी उत्पत्तिको कहते हैं, कि—) हे नील नामक ओषधे ! पहिले तू सुन्दर पर वाले गरुड़के (शरीरका दोष) पित्त था, उस पित्तको असुरोंकी माया आसुरी नाम वाली किसी स्त्रीने गरुड़के साथ संग्राम करके जीत लिया था, जयमें प्राप्त हुए उस पित्तका रूप बना दिया अर्थात् ओषधिरूपसे सेव्य आकार वाला कर दिया (उसी रूपको कहते हैं, कि—) वह रूप नील आदिमें गया है । (ये नील आदि गरुड़के पित्तका कार्य होनेसे अमोघ वीर्य वाले हैं) ।। १ ।।

द्वितीया ।।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजम् इदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत् किलासं सरूपाम् अकरत् त्वचम् ।।२।।

आसुरी । चक्रे । प्रथमा । इदम् । किलासऽभेषजम् । इदम् । किलासऽनाशनम् ।
अनीनशत् । किलासम् । सऽरूपाम् । अकरत् । त्वचम् ।। २ ।।

आसुरी पूर्वमन्त्रोक्ता असुरमायारूपा स्त्री प्रथमा श्वित्रचिकित्सकानाम् आदिभूता सती इदम् सुपर्णपित्तेन निर्मितं नील्यादिकं किलासभेषजम् किलासस्य श्वित्रस्य निवर्तकम् औषधं चक्रे कृतवती ॥ अतः इदम् नील्यादिकम् इदानीमपि लोके किलासनाशनम् किलासस्य रोगस्य निवर्तकं भवति । ❀ नश अदर्शने "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ ॥ तद् नील्याद्यौषधं प्रयुज्यमानं सत् किलासम् श्वित्ररोगम् अनीनशत् नाशयति स्म । ❀ नशेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥ तथा त्वचम् त्वग्धातुं श्वित्रदूषितं सरूपाम् समानरूपाम् । ❀ "ज्योतिर्जनपद०" इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः ❀ । श्वित्ररहितत्वचा समानवर्णाम् अकरत् अकार्षीत् । ❀ डुकृञ् करणे । अस्मात् लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः । "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ❀ ॥

पूर्वमन्त्रमें कही हुई असुरमायारूप स्त्रीने पहिली कोढ़चिकित्सक बन सुपर्णके पित्तसे निर्मित नील आदिको कोढ़को हटाने वाली ओषधिकेरूपमें निर्माण किया था । अतः यह आजकल भी कोढ़का नाशक होता है । इस नील आदि ओषधने प्रयोग करने पर कोढ़को नष्ट कर दिया है तथा कोढ़से दूषित त्वचा (त्वग्धातु) को भी कोढ़से शून्य अत एव समान वर्ण वाली कर दिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सरू॑पा॒ नाम॑ ते मा॒ता सरू॑पो॒ नाम॑ ते पि॒ता ।
स॒रू॒प॒कृत् त्वमो॑षधे॒ सा सरू॑पमि॒दं कृ॑धि ॥ ३ ॥

सऽरू॑पा । नाम॑ । ते॒ । मा॒ता । सऽरू॑पः । नाम॑ । ते॒ । पि॒तः ।

स॒रू॒प॒ऽकृत् । त्वम् । ओ॒ष॒धे॒ । सा । सऽरू॑पम् । इ॒दम् । कृ॒धि॒ ३

हे ओषधे ते तव माता जननी भूमिः सरूपा त्वया समानरूपा कृष्णवर्णैव ॥ तथा ते तव पिता द्यौः । "द्यौः पिता पृथिवी माता" [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ४] इति हि निगमः । बीजविशेषो वा पितृशब्देन विवक्षितः । सोपि सरूपः समानवर्णः ॥ उभयत्रापि नामशब्दःप्रसिद्धिपरः ॥ हे ओषधे नील्यादिरूपे त्वम् सरूपकृत् । स्वसंसृष्टं पदार्थम् आत्मना समानवर्णं करोति सा सरूपकृत् । तादृश्यसि । ❀ करोतेः "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥ सा समानरूपमातापितृजाता त्वम् इदम् श्वित्ररोगदूषितम् अङ्गं सरूपं कृधि त्वया समानवर्णं कुरु । ❀ करोतेर्लोटि "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः ❀ ॥

हे ओषधे ! तेरी माता पृथ्वी तेरे समान काले रूपवाली है तथा तेरा पिता † आकाश वा बीज भी तेरे समान रूपवाला ही प्रसिद्ध है और हे नीलादिरूप ओषधे ! तू अपने पासमें आये हुए पदार्थको अपनेसे रूपवाला कर देती है, ऐसी एकसे रूपवाले माता पितासे उत्पन्न हुई तू इस कोढ़ रोगसे दूषित अङ्गको अपने सरीखे रंग वाला करदे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

श्या॒मा स॑रू॒पंक॑रणी पृथि॒व्या अध्युद्भृ॑ता ।
इ॒दमू॒ षु प्र सा॑धय॒ पुना॑ रू॒पाणि॑ कल्पय ॥ ४ ॥

श्या॒मा । स॒रू॒प॒म्ऽक॑रणी । पृ॒थि॒व्याः । अधि॑ । उत्ऽभृता ।
इ॒दम् । ऊ॒ं इति॑ । सु । प्र । सा॒ध॒य॒ । पुन॑ः । रू॒पाणि॑ । क॒ल्प॒य॒

---

† द्यौः पिता पृथिवी माता—आकाश पिता है पृथ्वी माता है ।" [तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ५ । ४] ॥

श्यामा श्यामवर्णा सरूपंकरणी । ❀ असरूपं सरूपं क्रियत अनयेति विगृह्य उपपदान्तरेपि "आढ्यसुभग०" इत्यादिना व्यत्ययेन कृञः करणे ख्युन् । "खित्यनव्ययस्य" इति पूर्वपदस्य मुम् आगमः । यद्वा । सरूपं क्रियते अनयेति "करणाधिकरणयोश्च" इति कृञः करणे ल्युट् । पूर्वपदे सुपो लुगभावश्छान्दसः । उभयत्रापि "टिड्ढाणञ्०" इति ङीप् ❀ । तादृशी त्वम् पृथिव्या अधि भूमेरुपरि उद्भृता आसुर्या मायया उत्पादिता ॥ अतः कारणात् हे ओषधे त्वम् इदम् किलासाक्रान्तम् अङ्गं सु प्र साधय सुष्ठु रोगविनिर्मुक्तं कुरु । ❀ उशब्दः पादपूरणः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिदु इति हि यास्कः [नि. १. ९] ❀ ॥ तथा रूपाणि व्याधिसंभवात् पूर्वम् अवस्थितानि पुनः व्याधिनिर्हरणान्तरमपि कल्पय संपादय । ❀ कृपू सामर्थ्ये । अस्माद् णिच् । "कृपो रो लः" इति लत्वम् । पुनरिति । रेफस्य "रो रि" इति लोपे कृते "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति दीर्घः ❀ ॥

[इति] पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

श्याम वर्ण वाली, एकसा रूप करने वाली हे ओषधि ! तुझको पृथ्वीके ऊपर आसुरी मायाने उत्पन्न किया है, इस कारण हे ओषधे ! तू इस कोढ़से घिरे हुए अङ्गको रोगसे मुक्त कर और व्याधिसे पहिले जैसा रूप था, व्याधिको दूर करनेके अनन्तर फिर तैसा ही कर दे ॥ ४ ॥

पाँचवें अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (२४)॥

ऐकाहिकादिशीतज्वरसंततज्वरवेलाज्वरादिशान्तये "यदग्निरापः" इति सूक्तं जपेत् । लोहकुठारम् अग्नौ संताप्य उष्णोदकमध्ये स्थापयित्वा तेनोदकेन व्याधितम् अभिषिञ्चेत् । तथा च कौशिकः । "यदग्निरिति जपति परशुं तापयति क्वाथयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. २] ॥

प्रति दिन आने वाले–शीतज्वर, संततज्वर और वेलाज्वर (सामायिक ज्वर) की शान्तिके लिए "यदग्निरापः" इस सूक्तको जपे, लोहेके कुठारको अग्निमें तपा कर गरम जलमें रक्खे और उस जलसे व्याधिग्रस्त पुरुष पर अभिषेक करे। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है, "यदग्निरिति जपति परशुं तापयति क्वाथयत्यवसिञ्चति–यदग्निः सूक्तका जप करे और इस सूक्तसे फरसेको तपावे उसका क्वाथ करे और सींचे।" [कौशिकसूत्र ४ । २] ॥

तत्र प्रथमा ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत् प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृ॒तो
नमां॑सि ।
तत्र॑ त आहु पर॒मं ज॒नित्र॒ं स न॑ः सं॒विद्वान् परि॑
वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अ॒ग्निः । आप॑ः । अद॑हत् । प्र॒ऽविश्य॑ । यत्र॑ । अकृ॑ण्वन् ।
ध॒र्म॒ऽधृतः । नमां॑सि ।
तत्र॑ । ते॒ । आ॒हु॒ः । प॒र॒मम् । ज॒नित्र॑म् । सः । न॒ः । स॒म्ऽवि॒द्वान् ।
परि॑ । वृ॒ङ्गधि॒ । त॒क्म॒न् ॥ १ ॥

अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः आपः अपः । ❀ व्यत्ययेन जस् ❀ । उदकानि प्रविश्य तप्तपरशुद्वारा अन्तरनुप्रविश्य अदहत् क्वाथम् अकार्षीत् । ❀ दह भस्मीकरणे । "निपातैर्यद्यदिहन्त०" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । ततः उदकेषु औष्ण्यगुणविशिष्टोग्निर्वर्तत इत्यर्थः । अग्निविशिष्टेन उष्णोदकेन ज्वरितः अव

सिच्यते इति यत् तस्मात् कारणात् हे तक्मन् कृच्छ्रजीवनकारिन्। ❀ तकि कृच्छ्रजीवने। अस्माद् औणादिको मनिन् प्रत्ययः ❀। तथाविध ज्वर संविद्वान् सम्यक् स्वकारणम् अग्निं जानन्। ❀ विद ज्ञाने इत्यस्मात् लटः शत्रादेशः। "विदेः शतुर्वसुः" इति वस्वादेशः ❀। स त्वं नः अस्मान् उष्णोदकसिक्तगात्रान् परि वृङ्धि परिवर्जय। अस्मच्छरीरं विहाय स्वकारणभूतेन अग्निना सह निर्गच्छेत्यर्थः। ❀ वृजी वर्जने। अस्मात् लोटि "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेशः। रुधादित्वात् श्नम्। "चो कुः" इति कुत्वम्। "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपे अनुस्वारपरसवर्णौ ❀॥ अग्नेः कारणत्वे भवेद् एवम् तदेव कुत इत्यत आह यत्रेति। धर्मधृतः। धर्मशब्देन अत्र यागदानादिरुच्यते। तं धारयन्ति अनुतिष्ठन्तीति धर्मधृतः। ❀ धृञ् धारणे। अस्माद् धर्मशब्दोपपदात् "क्विप् च" इति क्विप्। उपपदसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन धातुस्वर एव शिष्यते ❀। तथाविधा यजमाना यत्र यस्मिन्नग्नौ नमांसि। अन्ननामैतत्। हविर्लक्षणानि अन्नानि। ❀ नम प्रह्वत्वे। अस्मात् औणादिकः असुन् प्रत्ययः। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀। अकृण्वन् अकुर्वन् अयजन् अजुहवुर्वा। ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च। इदित्त्वाद् नुम्। लङि "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन अकारश्च अन्तादेशः। तस्य अन्त्यलोपे स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः। "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" इति अडागम उदात्तः। "निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण् कच्चिद्यत्रयुक्तम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। तत्र तथाविधे अग्नौ हे ज्वर ते तव परमम् उत्कृष्टं जनित्रम् जन्म आहुः कथयन्ति। दोषवशाज्जाठराग्नेरेवायं ज्वरो विकार इति हि चिकित्सकानां प्रसिद्धिः। ❀ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। "ब्रुवः पञ्चानाम् आदित आहो ब्रुवः" इति झेः उस् आदेशः प्रकृतेः आहादेशश्च। जनि-

त्रम् इति। जनी प्रादुर्भावे। अस्माद् भावे औणादिक इत्रप्रत्ययः। प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ यद्वा हे तक्मन् सेकसाधनभूता अपः प्रविश्य अग्निस्त्वाम् अदहत् धक्ष्यतीति यत्। ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति भविष्यदर्थे लङ् ❀। अतो हेतोः अस्मान् परित्यज्य सेकोदकगताग्निना स्वकारणभूतेन सह निर्गच्छेत्यर्थः॥ अन्यत् पूर्ववद् योज्यम्॥

अङ्गनादिगुण युक्त अग्निदेवने तपे हुए परशु (कुठार) के द्वारा जलमें प्रवेश करके क्वाथ कर लिया है (अत एव जलमें उष्णता गुण वाला अग्नि वर्तमान है, अग्नियुक्त जलसे ज्वररोगी पर अभिषेक होरहा है, इस कारण) हे कठिन जीवन करने वाले ज्वर! तू अपने कारण अग्निको भली भाँति समझ कर हमारे उष्णजलसे छिड़के हुए अङ्गोंको त्याग दे अर्थात् हमारे शरीरको छोड़ कर अपने कारण अग्निके साथ निकलजा (अग्नि, ज्वरका कारण हो तो ऐसा होसकता है, परन्तु अग्नि ज्वरका कारण है, यह कैसे प्रतीत हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—) याग दान आदि धर्मको धारण करने वाले विद्वान् जिस अग्निमें हवि होमते हैं, उस अग्निमें तेरे उत्कृष्ट जन्मका वर्णन करते हैं (चिकित्सक कहते हैं, कि—दोषके कारण जाठराग्नि ही ज्वर नामक विकार होजाता है)॥

दूसरा अर्थ—हे कठिनतासे जीवित रहने देने वाले ज्वर! सींचनेके जलमें प्रवेश करके अग्नि तुझको जला डालेगा अतः तू हमको छोड़ कर जलमें मिली हुई अग्निके साथ बाहरको निकल जा। शेष पूर्ववत्॥ १॥

द्वितीया॥

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः श॑कल्ये॒षि यदि॑ वा ते

ज॒नित्र॑म् ।
ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य दे॒व स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑
वृ॒ङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

य॑दि । अ॒र्चिः । य॑दि । वा॒ । अ॑सि । शो॒चिः । श॒क॒ल्य॒ऽए॒षि ।
य॑दि । वा॒ । ते॒ । ज॒नित्र॑म् ।
ह्रू॑डुः । ना॑म । अ॒सि॒ । ह॒रि॒त॒स्य॒ । दे॒व॒ । सः । नः॒ । स॒म्ऽवि॒द्वान् ।
प॑रि । वृ॒ङ्ग्॒धि । त॒क्म॒न् ॥ २ ॥

हे तक्मन् कृच्छ्रजीवनकारिन् ज्वर त्वं यदि अर्चिः अर्चिष्मान् औष्ण्यगुणयुक्तोसि भवसि । यदि वा शोचिः शोचकः शरीरसंतापकोसि । यदि वा ते तव जनित्रम् जन्म शकल्येषि । शकलानां समूहः शकल्यः । ❀ समूहार्थे यप्रत्ययः ❀ । शकल्यं दाह्यं काष्ठसमूहम् इच्छतीति शकल्येट् अग्निः । ❀ इषु इच्छायाम् । अस्मात् "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति विच् प्रत्ययः ❀ । अग्नौ । तव जन्मेत्यर्थः । तथापि हे देव दीप्यमान ज्वर त्वं हरितस्य पीतवर्णस्य रूडुः रोहकः पुरुषशरीरे उत्पादकः । ❀ रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे [च] । अस्माद् औणादिकस्तुन् प्रत्ययः । "हो ढः" इति ढत्वम् । "झषस्तथोर्धोऽधः" इति तकारस्य धत्वम् । ततष्टुत्वे ढो ढे लोपे च कृते "ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति धातोः रुकारस्य दीर्घः ❀ । नामशब्दः प्रसिद्धौ । रूडुः इति प्रसिद्धः असि भवसि । यद्यपि ते बहूनि नामानि सन्ति तथापि इदमेव नाम प्रसिद्धम् इत्यर्थः ॥ व्याख्यातम् अन्यत् ॥

हे जीवनको दुःखमय करने वाले ज्वर ! यदि तू उष्णतागुण

से युक्त है, यदि तू शरीरसन्तापक है यदि तेरा जन्म काष्ठखण्डोंको चाहने वाले अग्निसे हुआ है, तथापि हे देव ज्वर ! तुम पीतवर्णके रूढु हो, अर्थात् पीतवर्णको पुरुषके शरीरमें उत्पन्न करने वाले हो अत एव तुम रूढु (हूडु) इस नामसे प्रसिद्ध हो, हे ऐसे ज्वर ! तुम अपने कारण अग्निको भली प्रकार जानते हो अतः तुम हमारे उष्णजलसे सिक्त शरीरको छोड़ कर अपने कारण अग्निके साथ निकल जाओ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो
वरुणस्यासि पुत्रः ।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्
परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि । शोकः । यदि । वा । अभिऽशोकः । यदि । वा ।
राज्ञः । वरुणस्य । असि । पुत्रः ।
हूडुः । नाम । असि । हरितस्य । देव । सः । नः ।
समऽविद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

हे तक्मन् शीतज्वर त्वं यदि शोकः शरीरस्यान्तःशोचकः । यदिशब्दयोगात् असीति क्रिया अत्रापि संबध्यते । तापकोसि भवसि । यदि बा अभिशोकः अभितः सर्वतः कृत्स्नस्य शरीरस्य शोचकोसि । ❀ शुच शोके । बाहुलकात् कर्तरि घञ् । "चजोः कुः घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀ । यदि वा राज्ञः राजमानस्य वरुणस्य पापकारिणां शिक्षकस्य । "अनृते खलु वै क्रियमाणे

[वरुणो] गृभ्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति हि श्रुतिः । तथाविधस्य देवस्य पुत्रः असि भवसि । अनेन शीतज्वरस्य उत्पत्तिरुक्ता ॥ अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे जीवनको दुःखमय करनेवाले शीतज्वर ! यदि तुम शरीरके भीतर ताप देने वाले हो, वा सम्पूर्ण शरीरको ताप देते हो अथवा तुम पापियोंको दण्ड देनेवाले प्रकाशमान वरुणके पुत्र हो, तथापि हे दीप्यमान ज्वर ! तुम पुरुषके शरीरमें पीतवर्णको चढ़ाने वाले हो अत एव रूढु (हृढु) इस नामसे प्रसिद्ध हो ! हे उपर्युक्त गुणविशिष्ट ज्वर ! तुम अपने कारण अग्निको भली भाँति जानते हो, अतः तुम हमारे उष्णजलसे सिक्त शरीरको छोड़कर अपने कारण अग्निके साथ निकल जाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नम॑ः शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि ।
यो॑ अ॒न्येद्यु॑रु॒भय॒द्यु॒र॒भ्येति॒ तृती॑काय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॑

नम॑ः । शी॒ताय॑ । त॒क्मने॑ । नम॑ः । रू॒राय॑ । शो॒चिषे॑ । कृ॒णो॒मि॒ ।
यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भ॒य॒ऽद्युः । अ॒भि॒ऽएति॑ । तृ॒ती॑यकाय । नम॑ः ।
अ॒स्तु॒ । त॒क्मने॑ ॥ ४ ॥

शीताय शीतजनकाय तक्मने कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय नमः नमस्कारं कृणोमि । ❀ "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इति चतुर्थी ❀ ॥ तथा रूराय शीतानन्तरभाविने ज्वराय शोचिषे शोचकाय नमस्कृणोमि करोमि । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च ❀ । शीतरूरौ शाखान्तरे स्पष्टम् आम्नायेते । "स इन्द्रः आत्मनः शीतरूरावजनयत् तच्छीतरूरयोर्जन्म" [तै० सं २. ५. २. ३]

इति ॥ शीतज्वरविशेषान् आह। अन्येद्युः अन्यस्मिन् परदिने यः शीतज्वरः अभ्येति आगच्छति। ❀ "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति तिङो निघाताभावः ❀। तथा उभयद्युः उभयस्मिन् द्वितीयेहनि यः शीतज्वर आयाति। ❀ "सद्यः परुत्परारि०" इत्यादिना अन्येद्युः उभयेद्युः इति शब्दौ निपातितौ। उभयद्युः इत्यत्र एत्वाभावश्छान्दसः ❀। तस्मै ऐकाहिकाय द्व्याहिकाय च ज्वराय तृतीयकाय तृतीयदिवसे आगच्छते त्र्याहिकाय ज्वराय। चातुर्थिकादीनामपि उपलक्षणम् एतत्। सर्वस्मै तक्मने शीतज्वराय नमः अस्तु नमस्कारो भवतु ॥ एवं नमस्कारेण प्रीतः सन् सर्वो ज्वरः अस्मान् परिवर्जयतु इत्यर्थः ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

शीतको उत्पन्न कर जीवनको कठिन कर देने वाले शीत रोगको मैं नमस्कार करता हूँ, तथा शीतके अनन्तर होने वाले सन्तापक (रूर) ज्वरको मैं नमस्कार करता हूँ † ॥ (अब शीतज्वरके भेदोंको कहते हैं, कि–) अन्येद्यु (परदिनमें आने वाले) ज्वरके लिये, उभयेद्यु (दूसरे दिन आने वाले) ज्वरके लिये और तीसरे दिन आने वाले इस प्रकार सब प्रकारके (चौथियाके भी) शीतज्वरको नमस्कार हो (इस प्रकार नमस्कारसे प्रसन्न हुए सब प्रकारके ज्वर हमें छोड़ दें) ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२५) ॥

---

† शीत और रूर ज्वरके विषयमें तैत्तिरीयसंहिता २।५।२।३ में स्पष्ट रीति पर कहा है, कि–"स इन्द्र आत्मनः शीतरूरावजनयत् तच्छीतरूरयोर्जन्म–इन्द्रने अपने पाससे शीत और रूर नामक ज्वरोंको उत्पन्न किया, यही शीत और रूरका जन्म (वृत्तान्त) है" (तैत्तिरीयसंहिता २। ५। २। ३) ॥

"आरेसौ" इति सूक्तेन खड्गादिसर्वशस्त्रनिवारणकर्मणि फलीकरणतुषावतक्षणानां होमः कार्यः ॥

तथैव प्रहरणोद्यतं शत्रुं दृष्ट्वा एतत् सूक्तं जपेत् । सूत्रं च । "आरेसावित्यपनोदनानि फलीकरणतुष [बुसा] वतक्षणानि" इत्यादि [कौ० २. ५] ॥

तथा दुःशकुनदर्शनकाकमैथुनादिविरुद्धदर्शने अद्भुतादिदर्शने च एतत् सूक्तं जपेत् । सूत्रितं च । "अपनोदनापाघाभ्याम् [१. २६, ४. ३३] अन्वीक्षन् प्रतिजपति" इति [कौ० ५. ६] ॥ अत्र अपनोदनशब्देन अपनोदनकर्मसाधनत्वात् "आरेसौ" इति सूक्तम् उच्यते ॥

तथा विजयस्वस्त्ययनकर्मणि अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा खड्गादि शस्त्रं संपात्य अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत् ॥

तथैव स्वस्त्ययनकामो रात्रौ शयनकाले एतत् सूक्तं जपित्वा प्रादेशेन मुखं प्रमाय स्वप्यात् ॥

तथैव सुप्तोत्थितः स्वस्त्ययनार्थम् एतेन सूक्तेन त्रीणि पदानि तिस्रो दिष्टीर्वा प्रमाय उत्तिष्ठेत् ॥

सूत्रं च । "आरे [१. २६] अमूः पारे [१. २७] पातं नः [६. ३] य एनं परिषीदन्ति [६. ७६] इति यद्ध आयुधं दण्डेन व्याख्यातं दिष्ट्या मुखं विमाय संविशति त्रीणि पदानि प्रमाय उत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" इति [कौ० ७. १]॥ दिष्टिः प्रादेश इत्यर्थः ॥

तथैव उपाकर्मणि एतत् सूक्तम् आज्यहोमे विनियुक्तम् । "आरेसावस्मदस्तु [१. २६] यस्ते पृथु स्तनयित्नुः [७. १२]" इति हि सूत्रम् [कौ० १४. ३] ॥

"आरेसौ" इस सूक्तके द्वारा खड्ग आदि सम्पूर्ण शस्त्रोंको निवारण करनेमें फलीकरणतुषावतक्षण (भुस) का होम करे ॥

तथा प्रहार करनेके लिये उद्यत शत्रुको देख कर भी इस सूक्तको जपे। इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है कि–"आरेसा-वित्यपनोदनानि फलीकरणतुषा (बुस) वतक्षणानि" इत्यादि (कौशिक सूत्र २।५)॥

तथा कुशकुनोंके दीखने पर, काकमैथुन आदि विरुद्ध दर्शन होने पर और अद्भुतादिका दर्शन होने पर भी इस सूक्तको जपे। सूत्रमें भी कहा है, कि–"अपनोदनापाधाभ्यां (१।२६,४।३३) अन्वीक्षन् प्रतिजपति–अर्थात् अथर्ववेदके प्रथमकाण्डके छब्बीसवें अपनोदन सूक्तसे और चतुर्थकाण्डके तैंतीसवें 'अप नः शोशुच-दघम्' सूक्तसे अन्वीक्षण करता हुआ जप करे" (कौशिकसूत्र ५।६)॥ यहाँ पर अपनोदनशब्दसे अपनोदनका साधन "आरेसौ" यह सूक्त लिया गया है॥

तथा विजयस्वस्त्ययन कर्ममें भी इस सूक्तसे घृतकी आहुति देकर खड्ग और शस्त्रको संपातित और अभिमन्त्रित (संपातित और अभिमन्त्रित शब्दका अर्थ प्रथमसूक्त प्रथम मन्त्रमें देखो) करके देय॥

तथा स्वस्त्ययनकी कामना वाला रात्रिमें सोते समय इस सूक्तको जाप प्रादेशसे मुखको नाम कर सो जावे॥

इसी प्रकार सोकर उठा हुआ स्वस्त्ययनके लिये इस सूक्तसे तीन पैर तीन प्रादेश नाप कर उठे॥

सूत्रमें भी कहा है, कि–"आरे (१।२६) अमू पारे (१।२७) पातं नः (६।३) य एनं परिषीदन्ति (६।७६) इति यद्व आयुधं दण्डेन व्याख्यातं दिष्ट्या मुखं विमाय संविशति त्रीणि पदानि प्रमाय उत्तिष्ठति तिस्रो दिष्टीः" (कौशिकसूत्र ७।१) इसमें दिष्टि प्रादेशका वाचक है।

इसी प्रकार उपाकर्ममें भी घृतहोमके समय इस सूक्तका विनि-

योग होता है । कौशिकसूत्र ४ । १ में भी कहा है, कि—"आरेसावस्मदस्तु (१ । २६) यस्ते पृथु स्तनयित्नुः (७ । १२) ॥"

तत्र प्रथमा ॥

आरे३सावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् ।
आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

आरे । असौ । अस्मत् । अस्तु । हेतिः । देवासः । असत् ।
आरे । अश्मा । यम् । अस्यथ ॥ १ ॥

हे देवासः देवाः । ❀ "आज्जसेरसुक्" इति असुक् आगमः ❀ । युष्मत्प्रसादात् असौ दूरे परिदृश्यमाना हेतिः हननसाधनं शत्रुभिः प्रयुक्तं खड्गाद्यायुधम् । ❀ "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति क्तिनि एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्यते ❀ । तद् आयुधम् अस्मात् अस्मत्तः सकाशात् आरे दूरे अस्तु भवतु । अस्मान् अस्पृष्ट्वैव दूरे निपततु इत्यर्थः ॥ तथा हे शत्रवः यूयं यम् अश्मानम् अस्यथ अस्मद्धननाय क्षिपथ । ❀ असु क्षेपणे । दिवादित्वात् श्यन् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । [सः] अश्मा यन्त्रादिविनिर्मुक्तः पाषाणः । आरे अस्मद्दूरदेशे असत् भवतु । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

हे देवताओं ! आपके प्रसादसे यह दूर दीखता हुआ हननसाधन शत्रुओंसे प्रयुक्त खड्ग आदि आयुध हमसे दूर ही रहे अर्थात् हमैं न छूकर दूर ही गिर जावे और हे शत्रुओं ! तुम हमैं मारनेके लिये जिस पत्थरको फैंक रहे हो, वह यन्त्र आदिसे छूटा हुआ पाषाण हमसे दूर रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः । भगः । सविता । चित्रऽराधाः ॥ २ ॥

पूर्वत्र शत्रुनिवारकत्वेन देवाः प्रार्थिताः । तत्सिद्ध्यर्थं तेषां नामग्रहणपूर्वकं सखित्वं प्रार्थ्यते ॥ असौ दिवि दृश्यमानो रातिः मित्रः सूर्यः अस्मभ्यम् अस्मत्कार्यसिद्धये सखा समानख्यानो मित्रम् अस्तु भवतु । ❀ "अनङ् सौ" इति सखिशब्दस्य अनङ् आदेशः । रातिरिति । रा दाने । "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इति कर्तरि क्तिच् । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवानाम् अधिपतिः भगः भजनीयः भाग्यस्य प्रदाता देवः । "भगो ह दाता भग इत् प्रदाता" [तै० ब्रा० ३. १. १. ८] इति हि श्रुतिः । सविता सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरको देवः । यद्वा अभिमतसाधनस्य प्रदाता । श्रूयते हि । "सवितारमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवास्मै सनिं प्रसुवति" [तै० सं० २. १. ६. ३] इति ॥ तमेव विशिनष्टि । चित्रराधाः । ❀ राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेन इति यास्कः [नि० ४. ४] ❀ । चित्रं बहुविधं राधो धनं यस्य स तथोक्तः । ❀ राध साध संसिद्धौ । अस्मात् करणे असुन् प्रत्ययः । "बहुव्रीहौ प्रकृत्या०" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ [स च सखा अस्तु] ॥ एते सर्वे देवाः अस्माकं सखायो भूत्वा शात्रवं शस्त्रनिकरं निवारयन्तु इत्यर्थः ॥

(पहिले शस्त्रोंको निवारण करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना

की अब उसकी सिद्धिके लिये उनका नाम लेकर मित्रताकी प्रार्थना की जाती है, कि–) यह आकाशमें दीखते हुए सूर्य हमारी कार्यकी सिद्धिके लिये समान प्रसिद्धि वाले मित्र हों परमैश्वर्य सम्पन्न देवताओंके स्वामी भाग्यके देने वाले † इन्द्रदेव, सब प्राणियोंके प्रेरक और अभिलषित फल देनेवाले तथा विचित्र राध ‡ (धन) वाले सविता + देवता हमारे मित्र हो अर्थात् ये सब देवता हमारे मित्र बन कर शत्रुओंके शस्त्रोंको हटावें ॥२॥

तृतीया ॥

यू॒यं नः॑ प्रवतो नपा॒न्मरु॑त॒ः सूर्य॑त्वचसः ।
शर्म॑ यच्छाथ स॒प्रथाः॑ ॥ ३ ॥

यू॒यम् । न॒ः । प्र॒ऽव॒तः॒ । न॒पा॒त् । मरु॑तः । सूर्य॑ऽत्वचसः ।
शर्म॑ । य॒च्छा॒थ॒ । स॒ऽप्रथाः॑ ॥ ३ ॥

हे प्रवतो नपात् । प्रव [तः प्रग]तस्य भुवः सकाशात् प्रचण्डैः सूर्यकिरणैः उद्धृतस्य उदकस्य नपात् न पातयितः अकाले उदकं यथा अधो न पतति तथा उपरिष्टाद्ध मेघमण्डले धारयितः पर्जन्य ।

---

† तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १ । १ । ८ में कहा है, कि–"भगो ह दाता भग इत् प्रदाता" ॥

‡ "राध इति धन नाम राध्नुवन्त्यनेन इति यास्कः–यास्क कहते हैं कि–राध यह धनका नाम है, इससे कामको सिद्ध करते हैं अत एव यह राध धनका नाम है ।" (निरुक्त ४ । ४)॥

+सवितारमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवास्मै सनिं प्रसुवति–अपना भाग पानेके लिये सविताके पास ही जाता है, वह इसको सनि देता है ॥" (तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ६ ; ३)

❀ "उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे" इति प्रोपसर्गाद् गमिधात्वर्थे वतिप्रत्ययः। "वत्यन्ताश्च" इत्यव्ययत्वेपि लिङ्गसंख्याभ्यां योगः पूर्वत्र समर्थितः। नञ्पूर्वात् पातयतेः क्विप्। "नभ्राण्नपात्०" इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः। "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। हे मरुतः एतत् संज्ञकाः सप्तगणात्मका देवाः। ❀ पादादित्वाद् आष्टमिकनिघाताभावे षाष्ठिकम् "आमन्त्रितस्य च" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀। तान् विशिनष्टि। सूर्यत्वचसः। सूर्यस्य त्वगिव त्वग् येषां ते तथोक्ताः। सूर्यसमानतेजस्का इत्यर्थः। ते सर्वे यूयं नः अस्मभ्यं सप्रथः प्रथसा विस्तारेण सहितं शर्म। गृहनामैतत्। शरणं गृहं सुखं वा यच्छात: यच्छत। ❀ दाण् दाने। अस्मात् लेटि आडागमः। शपि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀॥

हे पृथ्वी परसे सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके द्वारा खेंचे हुए जल को असमयमें नीचेको गिरने न देकर ऊपर मेघमण्डलमें धारण करने वाले पर्जन्य! हे सात गण वाले मरुत् देवताओं! आपका तेज सूर्यकी समान है आप सब मुझे विस्तृत सुख वा विस्तृत घर दीजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सु॒षू॒दत॑ मृ॒डत॑ मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ४

सु॒सू॒दत॑ । मृ॒डत॑ । मृ॒डय॑ । न॒ः । त॒नूभ्यः॑ । मयः॑ । तो॒केभ्यः॑ । कृ॒धि॒ ।

हे इन्द्रादयो देवाः यूयं सुषूदत सूदयत शत्रुमुक्तानि आयुधानि अस्मत्तोऽन्यत्र प्रेरयत। ❀ षूद क्षरणे। अस्माद् ण्यन्तात् लोटि शप्। "छन्दस्युभयथा" इति शप आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि"

इति णिलोपः ❀ ॥ तथा मृडत सुखयत । ❀ मृड सुखने ❀ ॥ सर्वापेक्षया बहुवद् उक्त्वा प्रत्येकं कर्तव्यतां दर्शयितुम् एकवद् आह । हे इन्द्रादिदेव त्वं नः अस्मान् मृडय सुखय । अनिष्टविनिबर्हणेन प्रीतिं जनयेत्यर्थः ॥ तथा अस्माकं तनूभ्यः शरीरेभ्यः । तोकेभ्यः । अपत्यनामैतत् । पुत्रेभ्यश्च मयः । सुखनामैतत् । सुखं कृधि कुरु । ❀ डुकृञ् करणे । लोटि “श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि” इति हेर्धिरादेशः “अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य” इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र आदि देवताओं तुम शत्रुओंके छोड़े हुए आयुधोंको हमसे अन्यत्र गिराओ तथा हमें सुख दो । (अब प्रत्येक इन्द्र आदिके लिये कहते हैं, कि—) हे इन्द्र आदि देव ! अनिष्टको दूर कर तुम हमें सुख दो, तथा हमारे पुत्रोंको सुख दो ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (२६) ॥

“अमूः पारे” इति सूक्तेन विजयार्थायुधप्रदानादीनि स्वस्त्ययनानि पूर्वसूक्तवत् कुर्यात् । सूत्रं तु पूर्वसूक्तोदाहृतं द्रष्टव्यम् ॥

“प्रेतं पादौ” इति ऋचा मार्गस्वस्त्ययने पादम् अभिमन्त्र्य दद्यात्॥

“अमूः पारे” इस सूक्तके द्वारा पहिले सूक्तकी समान विजयके लिये आयुधोंको देना आदि स्वस्त्ययन करे । सूत्र पहिले सूक्तमें कह दिया तहाँ देखना चाहिये ॥

मार्गस्वस्त्ययनमें “प्रेतं पादौ” इस ऋचासे पादको अभिमंत्रण करके (आयुध) दे ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒मूः पारे पृ॑दा॒क्व॑स्त्रिष॒प्ता निर्ज॑रायवः ।
तासां॑ ज॒रायु॑भिर्व॒यम॒क्ष्या॒ ३॑वपि॑ व्ययामस्यघा॒योः

परिपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः । पारे । पृदाक्वः । त्रिऽसप्ताः । निःऽजरायवः ।
तासाम् । जरायुऽभिः । वयम् । अक्ष्यौ । अपि । व्ययामसि ।
अघऽयोः परिऽपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः परिदृश्यमानाः पृदाक्वः सर्पजातयः त्रिसप्ताः त्रिगुणितसप्तसंख्याकाः "ये त्रिषप्ताः" इत्यत्रोक्ताः निर्जरा इव जराया निर्गताः । ❀ "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" इति गतिसमासः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च" इति इवशब्दस्य समासः ❀ । जरारहिता देवा इव पारे भूम्याः पारदेशे नागलोके । वर्तन्त इति शेषः ॥ तासाम् पृदाकूनां जरायुभिः । जरायुवत् शरीरस्य वेष्टकास्त्वचो जरायवः सर्पकञ्चुकाः । तैः साधनैः अघायोः । अघं हिंसनं परेषाम् इच्छतीति अघायुः । ❀ "छन्दसि परेच्छायामपि" इति अघशब्दात् कर्मणः क्यच् । "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम् । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । तथाविधस्य परिपन्थिनः युद्धादौ प्रत्यवस्थातुः शत्रोः । ❀ "छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि" इति निपात्यते ❀ । तस्य अक्ष्यौ अक्षिणी [वयम्] अपि व्ययामसि अपिव्ययामः अपिनह्यामः । यथा युद्धादौ शत्रुरस्मान् हिंसितुं न पश्यति तथा तस्य चक्षुषी महासर्पनिर्मोकैः आच्छादयाम इत्यर्थः । ❀ व्येञ् संवरणे । "इदन्तो मसि" इति मस इदन्तत्वम् । "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀ ॥

ये दीखती हुई इक्कीस सर्पजातियें देवताओंकी समान भूमिके पारके देश नागलोकमें रहते हैं, उन सर्पोंकी जरायुकी समान लिपटी हुई कैंचुलियोंसे हम दूसरोंका बुरा चीतने वाले युद्ध

आदिमें खड़े हुए शत्रुके नेत्रोंको ढकते हैं। अर्थात् शत्रु हमको न देख सके इस लिये हम उसके नेत्रोंको बड़े २ सर्पोंकी कैंचुलियोंसे ढकते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

विषू॑च्येतु कृन्त॒ती पिना॑कमिव बिभ्र॑ती ।
विष्व॑क् पुन॒र्भुवा॒ मनो॑समृद्धा अघा॒यवः॑ ॥ २ ॥

विषू॑ची । ए॒तु॒ । कृ॒न्त॒ती॑ । पिना॑कम्ऽइव । बिभ्र॑ती ।

विष्व॑क् । पु॒नः॒ऽभुवाः॑ । मनः॑ । अस॑म्ऽऋद्धाः । अ॒घ॒ऽयवः॑ २

पिनाकमिव । ऐश्वरं धनुः पिनाकम् । तद्वत् शत्रुनिहननक्षमम् आयुधं बिभ्रती धारयन्ती । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । अस्मात् लटः शत्रादेशः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्वम् । "उगितश्च" इति ङीप् । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । अत एव कृन्तती छिन्दती खड्गाद्यायुधैः शत्रून् विदारयन्ती । ❀ कृती छेदने । अस्मात् लटः शत्रादेशः । "तुदादिभ्यः शः" इति शप्रत्ययः । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् । "उगितश्च" इति ङीप् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम् अनुदात्तम्०" इति शतुरनुदात्तत्वे विकरणस्य प्रत्ययस्वरेण उदात्तत्वम् । "अतो गुणे" इति शत्रा सह एकादेशे "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इति एकादेशस्य उदात्तता । "शतुरनुमोनद्यजादी" इत्यन्तोदात्तात् शत्रन्ताद् उत्तरस्य ङीप उदात्तत्वम् ❀ । ईदृशी शात्रवी सेना विषूची विषु नाना अञ्चन्ती गच्छन्ती विप्रकीर्णा एतु गच्छतु । नानामुखं वित्रस्ता धावतु इत्यर्थः । ❀ विषुशब्दोपपदाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । भसंज्ञायाम्

"अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घत्वम् ❀ ॥ तथाविधा सेना यदि पुनर्भवा पुनः संघीभूता भवेत् तर्हि मनः तत्सेनासंबन्धि मानसं विष्वक् नानामुखम् अनवस्थितं भवतु । पुनः संघश आगतानां शत्रुसेनाभटानां मनांसि कार्याकार्यविचारशून्यानि संभ्रान्तानि भवन्तु इत्यर्थः । ❀ भू सत्तायाम् । अस्मात् "ऋदोरप्" इति अप् प्रत्ययः । ततः पुनःशब्देन बहुव्रीहिः । यद्वा कर्तरि पचाद्यच् ❀ । यद्वा पुनर्भवायाः सेनायाः संबन्धि मन इति योजना । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति षष्ठ्येकवचनस्य सुः आदेशः ❀ ॥ एवं सेनायां संभ्रान्तायां तदधिष्ठातारः अघायवः अघं परेषाम् इच्छन्तः शत्रवः असमृद्धाः समृद्धिरहिताः राष्ट्रकोशादिभ्रष्टाः । भवन्तु इति शेषः ॥

शत्रुओंके संहार करनेमें समर्थ शिवके धनुष पिनाककी समान आयुधोंको धारण करने वाली अत एव खड्ग आदिसे शत्रुओंको विदीर्ण करती हुई शत्रुकी सेना भयभीत होकर चारों ओरको भाग जावे, यदि ऐसी सेना फिर एकत्रित होजाय तो उसके भटोंका मन कार्य और अकार्यके विचारसे शून्य रहे इस प्रकार सेनाके भ्रान्त होने पर उसके स्वामी दूसरेका बुरा विचारने वाले शत्रु राष्ट्र कोश आदिसे भ्रष्ट होकर सम्पत्तिविहीन होजावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

न बहवः समशकन् नार्भका अभि दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाभितोसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

न । बहवः । सम् । अशकन् । न । अर्भकाः । अभि । दधृषुः ।
वेणोः । अद्गाःऽइव । अभितः । असम्ऽऋद्धाः । अघऽयवः ॥ ३ ॥

बहवः हस्त्यश्वरथपदातियुक्ता बहुलाः शत्रवः न सम् अशकन् न संशक्नुवन्तु । बहवोपि युद्धरङ्गे अस्मान् जेतुम् अशक्ताः पराजिता भवन्तु इत्यर्थः । ❀ शक्लृ शक्तौ । अस्मात् "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति प्रार्थनायां लुङ् । "पुषादिद्युताद्यॢदितः०" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥ तथा अर्भकाः अल्पाः । ❀ दभ्रम् अर्भकम् इत्यल्पस्य इति यास्कः [नि० ३. २०] ❀ । परिमिताः शत्रवः न अभि दादृशुः आभिमुख्येन अस्मान् न पश्यन्तु । युद्धार्थम् अस्मान् द्रष्टुमपि असमर्था दूरत एव पलायन्ताम् इत्यर्थः । ❀ दृशिर् प्रेक्षणे । अस्मात् पूर्वोक्तसूत्रेण लिट् । तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् ❀ ॥ पराजितानां शत्रूणाम् अवस्थानप्रकारम् आह उत्तरार्धेन । वेणोः वंशकाण्डस्य परितः परितो वर्तमाना उद्गा इव । उद्गच्छन्तीति उद्गाः शाखाः । ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति उदुपसृष्टाद् गमेर्डप्रत्ययः । "टेः" इति टिलोपः ❀ । तथाविधाः शाखा इव अघायवः शत्रवः असमृद्धाः समृद्धिरहिता भवन्तु । यथा परितो वर्तमाना वेणुशाखा असंहताः कृशाश्च दृश्यन्ते तथा युद्धभूमौ पराजिताः शत्रवः सेनादिरहिता राज्यभ्रष्टास्तुच्छा भवन्तु इत्यर्थः । ❀ ऋधु वृद्धौ । "क्तोधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः" इति कर्तरि क्तप्रत्ययः । "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः । ततो नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

हाथी घोड़े रथ और पैदलों वाले बहुतसे शत्रु भी (युद्धमें) हमें न जीत सकें (पराजित होजावें) । और थोड़ेसे शत्रु तो हमारे सामने भी न देख सकें (दूरसे ही भाग जावें) । पराजित होकर सम्पत्तिविहीन हुए शत्रु, वाँसकी ऊपरको जाने वालीं शाखायें (जैसे अकेली और दुबली होती हैं) तैसे, सेना आदिसे रहित राज्यभ्रष्ट तुच्छ होजावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

प्र । इतम् । पादौ । प्र । स्फुरतम् । वहतम् । पृणतः । गृहान् ।
इन्द्राणी । एतु । प्रथमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

हे पादौ जिगमिषतो जनस्य संबन्धिनौ युवां प्रेतम् प्रकर्षेण गच्छतम् । ❀ इण् गतौ । लोटि थसस्तम् आदेशः ❀ । तदर्थं प्र स्फुरतम् । पुनःपुनः शीघ्रचलनेन गमनं निष्पादयतम् इत्यर्थः ॥ गमनस्य अवधिम् आह । पृणतः इष्टफलदानेन अस्मान् प्रीणयतः गन्तव्यत्वेन उद्दिष्टपुरुषस्य गृहान् वहतम् प्रापयतम् ॥ यद्वा पृणतः पालकस्य परराष्ट्राधीशस्य शत्रोः गृहान् वहतम् अस्मदीयां सेनां प्रापयतम् । ❀ पॄ पालनपूरणयोः । अस्मात् लटः शत्रादेशः । क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः । “प्वादीनां ह्रस्वः” इति ह्रस्वत्वम् । “श्नाभ्यस्तयोरातः” इति आल्लोपः । “शतुरनुम०” इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ ॥ गन्तृजनरक्षार्थं पुरः पुरस्तात् पूर्वभागे । ❀ “पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्” इति असिप्रत्ययः पूर्वशब्दस्य पुरादेशश्च ❀ । इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी । ❀ “इन्द्रवरुणभवशर्व०” इत्यादिना ङीष् प्रत्ययः आनुगागमश्च । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । ततो यणोदेशे “उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य” इति परोऽनुदात्तः स्वर्यते ❀ । [एतु गच्छतु] तामेव विशिनष्टि । प्रथमा प्रथमभाविनी अजिता केनचिदपि अनिर्जिता । तथा अमुषिता अनपहृता । सेनाभिमानिदेवतात्वेन सर्वैरनभिभाव्येत्यर्थः । श्रूयते हि । “इन्द्राणी वै सेनायै देवता” [तै० सं० २. २. ८. १] इति । पुरोगामिन्या सेनाभिमानिन्या इन्द्रा-

एया देवतया अनुगृहीता अस्मदीया सेना शत्रून् निर्जित्य तद्गृहानपि आक्रामतु इत्यर्थः ॥

[इति] पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे ! चलना चाहने वाले मनुष्योंके पैरों ! तुम शीघ्र चलो, शीघ्र प्रस्फुरित होकर गमनको पूर्ण करो (कहाँ तक चलें ?) इष्ट फल देकर हमैं प्रसन्न करना चाहने वाले पुरुषके घर तक हमैं पहुँचाओ वा दूसरे राज्यके स्वामी शत्रुके घर तक हमारी सेनाको लेजाओ । और किसीसे भी न जीती हुई प्रथमा और किसीसे भी न हारी हुई सेनाकी अभिमानिनी देवता † इन्द्राणी चलने वालोंकी रक्षा करनेके लिये आगे चले ॥ तात्पर्य यह है, कि—आगे चलती हुई सेनाकी अभिमाननी इन्द्राणीसे अनुगृहीत हमारी सेना शत्रुओंको जीत कर उनके घर पर भी आक्रमण करे ॥ ४ ॥

छठासूक्त समाप्त (२७) ॥

"उप प्रागात्" इति सूक्तेन उद्विग्नस्य उद्वेगनिवृत्तये शुक्लवीरिणेषीकाकृतमणिबन्धनम् उल्मुकद्वयघर्षणं च कुर्यात् । सूत्रं च । "उपप्रागादित्युद्विजमानस्य शुक्लप्रसूतस्य वीरिणस्य चतसृणाम् इषीकाणाम् उभयतः" इत्यादि [कौ० ४. २] ॥

"उप प्रागात्" इस सूक्तसे उद्विग्न पुरुषके उद्वेगको हटानेके लिये श्वेत खसकी सींककी बनाई हुई मणिको बाँधे, और दो उल्मुकोंको घिसे । सूत्रमें भी कहा है, कि—"उप प्रागादित्युद्विजमानस्य शुक्लप्रसूतस्य वीरिणस्य [शुक्लप्रसूनस्य वीरणस्य] चतसृणां इषीकाणां उभयतः" इत्यादि [कौशिकसूत्र ४ । २] ॥

---

† "इन्द्राणी वै सेनायै देवता—इन्द्रायणी सेनाकी देवता है ।" (तैत्तिरीयसंहिता २ । २ । ८ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।
दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

उप । प्र । अगात् । देवः । अग्निः । रक्षःऽहा । अमीवऽचातनः ।
दहन् । अप । द्वयाविनः । यातुऽधानान् । किमीदिनः ॥ १ ॥

देवः द्योतमानः दानादिगुणयुक्तो वा । ❀ आह च यास्कः । देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा [नि० ७. १५] इति ❀ । तथाविधः अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तः उप प्रागात् उद्विजमानं पुरुषम् उपागमत् । उद्वेगकारिणो रक्षःप्रभृतीन् विनाशयितुं प्राप्त इत्यर्थः । ❀ इण् गतौ । "इणो गा लुङि" इति गादेशः । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ । तस्य तथाविधं सामर्थ्यं कुत इत्यत आह । रक्षोहा रक्षसां हिंसकानां पिशाचादीनां हन्ता । ❀ रक्षो रक्षितव्यम् अस्मात् इति यास्कः [नि० ४. १८] । रक्ष पालने इत्यस्माद् अपादाने असुन् प्रत्ययः । रक्षःशब्दोपपदात् "हन्तेर्बहुलं छन्दसि" इति क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अग्निः खलु वै रक्षोहा [तै० सं० ६. १. ४. ६] इति हि तैत्तिरीयकम् ❀ । तथा अमीवचातनः अमीवानां रोगाणां चातयिता नाशयिता । ❀ चातयतिर्नाशने इति हि यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ । उपागतस्य अग्नेः उद्वेगकारिणां रक्षसां नाशने कालव्यवायाभावम् आह दहन्निति । द्वयाविनः द्वयं वाचिकं क्रौर्यं कायिकं हिंसनं च येषाम् अस्तीति द्वयाविनः । यद्वा मायामयं सौम्यरूपं स्वाभाविकं हिंस्ररूपं च द्वयम् एषाम् अस्तीति द्वयाविनः । ❀ "बहुलं छन्दसि" इत्यत्र विनिप्रकरणे "अष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्च" इति वचनाद् विनिप्रत्ययः तत्संनियोगेन दीर्घश्च ❀ ।

किमीदिनः किम् इदानीं किम् इदानीं वर्तत इति रन्ध्रान्वेषणबुद्ध्या चरणशीलान् । ❀ किमीदिने किम् इदानीम् इति चरते इति यास्कः [नि० ६. ११] ❀ । यातुधानान् । यातवो यातनाः पीडाविशेषाः धीयन्ते विधीयन्ते क्रियन्त एभिरिति यातुधानाः । ❀ यत निकारोपस्कारयोः । अस्मात् णयन्ताद् औणादिके उप्रत्यये यातुशब्दः । डुधाञ् धारणे इत्यस्मात् "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । ततः समासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वेन स एव शिष्यते ❀ । एवंभूतान् राक्षसान् अप दहन् अपकर्षन् दहन् भस्मसात् कुर्वन् । उपागात् इति पूर्वेण संबन्धः । यद्वा । ❀ दह भस्मीकरणे इत्यस्मात् "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः ❀ । यातुधानानां दहनाद्धेतोरुपागाद् इत्यर्थः ॥

रोगोंके नाशक, हिंसक राक्षसोंका संहार करने वाले स्वर्गलोकमें रहने वाले ‡ अग्निदेव—जिनमें वाणीका क्रूरत्व और शरीरमें हिंसकत्व रूप दोष होते हैं अथवा मायामय सौम्यरूप और स्वाभाविक हिंसकरूपको जो धारण करते हैं, तथा जो इस समय क्या होरहा है ? इस समय क्या होरहा है ? इस प्रकार छिद्र ढूँढते हुए विचरते रहते हैं † और जो यातना देते रहते हैं—

---

‡ "आह च यास्कः । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—यास्क मुनिने कहा है, कि—दान देनेसे दिपनेसे, दमकानेसे और स्वर्गमें रहनेसे देव शब्द देवताओंका वाचक है ।" [निरुक्त ७ । १५] ॥

† "रक्षो रक्षितव्यं अस्मात् इति यास्कः—जिससे रक्षा करनी चाहिये वह राक्षस हैं ।" [निरुक्त ४ । १८] ॥ तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । ४ । ६ में कहा है, कि—"अग्निः खलु वै रक्षोहा—अग्नि राक्षसोंका संहार करने वाले हैं ॥"

उन उद्वेगकारी राक्षसोंको भस्म करते हुए इस उद्विग्न पुरुषके पास आरहे हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रति । दह । यातुऽधानान् । प्रति । देव । किमीदिनः ।
प्रतीचीः । कृष्णऽवर्तने । सम् । दह । यातुऽधान्यः ॥ २ ॥

पूर्वस्याम् ऋचि दहन्नुपागाद् इति आगमनशेषत्वेन दहनम् अभिहितम् । अनया तु रक्षसां दहनमेव प्राधान्येन अभिधीयते । हे अग्ने यातुधानान् यातूनां यातनानां विधातॄन् राक्षसान् प्रति दह प्रत्येकं प्रतिमुखं [वा] भस्मसात् कुरु ॥ तथा हे देव द्योतनात्मक अग्ने किमीदिनः किम् [इदानीं किम्] इदानीम् इति चरणशीलान् रन्ध्रान्वेषणपरान् पिशाचविशेषान् । प्रति इत्युपसर्गश्रवणाद् अत्रापि दहेत्यनुषङ्गः ॥ कृष्णवर्त्मने हे कृष्णवर्त्मन् अग्ने प्रतीचीः प्राणिजातस्य प्रतिकूलम् अञ्चन्तीः । ❀ प्रतिपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन् । "अनिदिताम्०" इति नलोपः । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । ततो भसंज्ञायाम् "अचः" इत्यकारलोपः । "चौ" इति दीर्घत्वम् । "अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये" इति प्रतेरिगन्तत्वेन पर्युदस्तत्वात् "चौ" इति पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम् ❀ । तादृशीः यातुधान्यः यातुधानीः । ❀ यातुधानशब्दात् "पुंयोगाद् आख्यायाम्" इति ङीष् । शसि "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घाभावे यण् ❀ । ताश्च सं दह सम्यक्-निरवशेषं दह ॥

(पहिली ऋचामें कहा था, कि–अग्नि राक्षसोंको भस्म करते

हुए आरहे हैं । अत्र ऋचामें राक्षसोंके दहनका ही प्रधानरूपसे वर्णन किया जाता है) हे अग्ने ! यातना देने वाले प्रत्येक राक्षसको भस्म करिये तथा हे द्योतनात्मक अग्ने ! इस समय क्या होरहा है ? इस समय क्या होरहा है ? इस खोजमें घूमने वाले पिशाचोंको भस्म करिये । हे कृष्णवर्त्मन् अग्ने ! प्राणियों के प्रतिकूल चलनेवाली राक्षसियोंको पूर्णरूपसे भस्म करिये ॥२॥

तृतीया ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥३॥

या । श॒शाप॑ । शप॑नेन । या । अ॒घम् । मूर॑म् । आ॒ऽद॒धे ।

या । र॑सस्य । ह॑रणाय । जा॒तम् । आ॒ऽरे॒भे । तो॒कम् । अ॒त्तु॒ । सा

सं दह यातुधान्य इति पूर्वत्र सामान्येन उक्ता एव राक्षस्यः अत्र विशेषतो निर्दिश्यन्ते । या यातुधानी शपनेन आक्रोशेन । ❀ शप आक्रोशे । करणे ल्युट् ❀ । नाशहेतुभूतेन परुषवाक्येन शशाप शापं कृतवती । ❀ शप आक्रोशे इत्यस्मादेव लिटि तिपो णल् आदेशः । "लिटि" इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तथा या अन्या यातुधानी मूरम् मूलम् । ❀ "वारमूररध्वरप्रसरांगुरीणां वा रो लम् आपद्यते" इति लत्वस्य विकल्पितत्वाद् अत्राभावः ❀ । सर्वेषां दुरितानाम् आदिभूतम् अघम् हिंसारूपं पापम् आददे परिजग्राह । कृतवतीत्यर्थः । ❀ डुदाञ् दाने । "आङो दोऽनास्यविहरणे" इत्यात्मनेपदम् । लिटि "लिटस्तझयोरेश् इरेच्" इति तशब्दस्य एश् आदेशः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । पूर्ववद् निघातप्रतिषेधः ❀ । यद्वा मूरम् मूर्छाकरम् अघम् । ❀ मुर्छा मोहसमुच्छ्रा-

ययोः । "क्विप् च" इति क्विप् । "राल्लोपः" इति छकारस्य लोपः ❀ । तथा या अपरा यातुधानी जातम् अपत्यम् उद्दिश्य रसस्य असृगादिरूपस्य शरीरगतस्य हरणाय अपहरणाय पानाय आरेभे उपचक्रमे । ❀ रभ राभस्ये । लिटि "अत एकहल्मध्ये०" इति एत्वाभ्यासलोपौ । पूर्वस्वरः । निघातप्रतिषेधः ❀ । तासां सर्वासां हिंस्यं दर्शयति । सा । प्रत्येकापेक्षया समुदायापेक्षया वा एकवचनम् । सा सर्वा यातुधानी तोकम् । अपत्यनामैतत् । स्वकीयम् अपत्यम् अस्मच्छत्रुसंबन्धि वा अत्तु भक्षयतु । ❀ अद भक्षणे ❀ ॥

जो राक्षसी कठोर वाणीमें शाप देती है और जो राक्षसी सब पापोंकी जड़ हिंसारूप पापको करती है तथा जो दूसरी राक्षसी उत्पन्न हुई संतानके रक्त आदिरूप रसको हरनेके लिये (पानका) आरम्भ करती है इन सब राक्षसियोंमेंसे प्रत्येक राक्षसी अपनी सन्तानको और हमारे शत्रुकी सन्तानको खावे ३

चतुर्थी ॥

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ॥
अधा मिथो विकेश्यो ३ वि घ्नतां यातुधान्यो ३
वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अत्तु । यातुऽधानीः । स्वसारम् । उत । नप्त्यम् ।

अध । मिथः । विऽकेश्यः । वि । घ्नताम् । यातुऽधान्यः । वि ।
तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

सपुत्रबान्धवानां यातुधानीनां नाशम् आह । यातुधानी काचन

उदीरितलक्षणा राक्षसी पुत्रम् स्वकीयमेव तनयम् अत्तु भक्षयतु ॥ तथा स्वसारम् भगिनीम् । अत्तु इत्यनुषङ्गः । ❀ सुपूर्वाद् असु क्षेपणे इत्यस्मात् सावसेर्ऋन् [उ० २. ६५] इति औणादिकः ऋन् प्रत्ययः । "ऋन्नेभ्यः०" इति प्राप्तस्य ङीपो "न षट्स्वस्रादिभ्यः" इति प्रतिषेधः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ उत अपि च नप्त्यम् नप्त्रीं पौत्रस्य अपत्यरूपां संततिम् अत्तु । ❀ नप्तृशब्दात् "ऋन्नेभ्यः०" इति ङीप् । द्वितीयैकवचने "वा छन्दसि" इति पूर्वरूपस्य विकल्पितत्वाद् यणादेशः । रेफलोपश्छान्दसः ❀ ॥ अथ स्वस्वपुत्रादिहननानन्तरं यातुधान्यः राक्षस्यः विकेश्यः परस्परताडनेन विकीर्णाः केशा यासां तास्तथोक्ताः । ❀ "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात्" इति ङीष् ❀ । तथाभूताः सत्यः मिथः परस्परं वि घ्नताम् विशेषेण घ्नन्तु । परस्परताडनेन म्रियन्ताम् इत्यर्थः । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि बहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् । "गमहन०" इत्युपधालोपः । "हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु" इति कुत्वम् ❀ ॥ तथा अराय्यः अदायिन्यः । ❀ रा दाने । अस्माद् भावे घञ् । "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युक् । ततो नञा बहुव्रीहिः । पुंयोगाद् आख्यायाम्" इति ङीष् ❀ । दानप्रतिबन्धिकाः पिशाच्यश्च मिथो वि तृह्यन्ताम् । विविधं हिंस्यन्ताम् । तृह हिसि हिंसायाम् । कर्मणि लोट् ❀ ॥

सप्तमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे पञ्चमोनुवाकः ॥

(पुत्र और बान्धवों सहित यातुधानीके नाशकी प्रार्थना करते हैं) यातुधानी अपने ही पुत्रका भक्षण करे, अपनी बहिनका

भक्षण करे और अपने पौत्रकी सन्तानका भक्षण करे (अपने अपने पुत्र आदिका भक्षण करनेके अनन्तर) परस्पर ताडन करने से केशोंके विखर जाने पर परस्पर ताड़न करके मर जावें और दानकी प्रतिबन्धक राक्षसियें भी आपसमें लड़ कर मर जावें ४

सप्तम सूक्त समाप्त (२८) ॥

पाँचवाँ अनुवाक समाप्त

षष्ठेनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "अभीवर्तेन" इति प्रथमं सूक्तम् । अस्य आद्याभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः शत्रुमर्दितराष्ट्राभिवृद्धये रथचक्रनेमिमणिं सूत्रोक्तलक्षणं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य "उदसौ सूर्यः" [१. २९. ५, ६] इति उत्तमाभ्यां बध्नीयात् । तथा च कौशिकः । "अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिम् अयःसीसलोहरजतताम्रवेष्टितं हेमनाभिं वासितं बध्नाति सूत्रोतं बर्हिषि कृत्वा संपातवन्तं प्रत्यृचम् अभीवर्तोत्तमाभ्याम् आचृतति" इति [कौ० २. ७]

"माहेन्द्रीं राज्यकामस्य अद्भुतोत्पत्तिविकारेषु च" इति [न० क० १७] विहितायां माहेन्द्र्यां महाशान्तौ रथनेमिमणिबन्धने एतत् सूक्तम् । तथा च नक्षत्रकल्पे । "अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम्" इति [न० क० १९] ॥

छठे अनुवाकमें सात सूक्त हैं। उनमें "अभीवर्तेन" यह पहिला सूक्त है । इसकी पहिली चार ऋचाओंसे शत्रुसे तिरस्कृत राज्य की वृद्धिके लिये सूत्रमें कही हुई रीतिसे रथ–चक्रनेमिमणिको बना संपातित और अभिमन्त्रित करे तदनन्तर "उदसौ सूर्यः" इस प्रथमकाण्डके उन्तीसवें सूक्तके पाँचवें छठे मन्त्रको पढ़ कर उत्तमाओंसे बाँध दे। इसी बातको कौशिकसूत्र २,७ में कहा है, कि "अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिं अयःसीसलोहरजतताम्रवेष्टितं हेमनाभिवासितं बध्नाति सूत्रोतं बर्हिषि कृत्वा संपातवन्तं प्रत्यृचं अभीवर्तोत्तमाभ्यां आचृतति–लोहा सीसा चाँदी और ताँबा चढ़ी

हुई सुवर्णकी नाभिको त्रयोदशीसे तीन दिन दही और मधुसे पूर्ण पात्रमें रख कर "अभीवर्तेन" सूक्तसे बाँधे, सूत्रमें पिरो कर कुशा पर रख उसके निमित्त होम करे अभीवर्त और उत्तमासे बाँधे ॥

"माहेन्द्री राज्यकामस्य अद्भुतोत्पत्तिविकारेषु च–राज्यकी कामना वालेके अद्भुत उत्पत्तिरूप विकारोंमें माहेन्द्री शांति करे" इस नक्षत्रकल्प १७ में विहित माहेन्द्री शान्तिके रथनेमिमणिबन्धनमें भी इस सूक्तका विनियोग किया जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है; कि–"अभीवर्तेनेति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम् ।"

तत्र प्रथमा ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभिऽवर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभिऽववृधे ।
तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥१॥

येन समृद्धिसाधनत्वेन प्रसिद्धेन अभीवर्तेन । अभितो वर्तते चक्रम् अनेनेति अभीवर्तो नेमिः । ❀ वृतु वर्तने । अस्मात् "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति करणे घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घः । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । अत्र कार्ये कारणशब्दः । चक्रनेमिनिर्मितो मणिः । यद्वा अभितः सर्वतः परराष्ट्रादौ अप्रतिहतगतिर्वर्तते अनेन पुरुष इति अभीवर्तो मणिः । तेन [येन] मणिना धृतेन इन्द्रः देवानाम् अधिपतिर्देवः अभिवावृधे अभितः सर्वतः प्रवृद्धोभूत् । परमैश्वर्योपेतस्त्रिलोकीपतिर्बभूवेत्यर्थः । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् लिटि "तुजादीनां दीर्घोभ्यासस्य" इत्यभ्यासस्य

दीर्घः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । [हे] ब्रह्मणस्पते वेदराशेरधिपते । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यन्तस्य पराङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य "आमन्त्रितस्य च" इति आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एतत्संज्ञक देव तेन प्रागुदीरितमहिमोपेतेन मणिना अस्मान् शत्रुभिः पीडितान् राष्ट्राय । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । स्वराष्ट्राभिवृद्ध्यर्थम् अभि वर्धय करितुरगधनादिभिः समृद्धान् कुरु । त्वत्प्रसादात् समृद्धै रस्माभी रक्षितं राष्ट्रं शत्रुभयरहितं यथा अभिवृद्धं भवति तथा कुरु इत्यर्थः ॥

जिस समृद्धिसाधनरूपसे प्रसिद्ध मणि वा चक्रके द्वारा इन्द्र सब ओरसे बढे अर्थात् परमैश्वर्यसम्पन्न हो त्रिलोकीके स्वामी होगए, हे वेदराशिके स्वामी ब्रह्मणस्पते ! ऐसी महिमा वाली मणिसे हम शत्रुओंसे पीड़ितोंके राष्ट्रकी वृद्धिके लिये हमैं हाथी घोड़े और धन आदिसे समृद्ध करिये । अर्थात् आपका प्रसाद पाकर हमसे रक्षित और शत्रुके भयसे शून्य हमारा राष्ट्र जिस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हो तैसा करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अ॒भि॒ऽवृत्य॑ स॒पत्ना॑न॒भि या नो॒ अरा॑तयः ।
अ॒भि पृ॑त॒न्यन्तं॑ तिष्ठा॒भि यो नो॑ दु॒र॒स्यति॑ ॥२॥

अ॒भि॒ऽवृत्य॑ । स॒ऽपत्ना॑न् । अ॒भि । याः । नः॒ । अरा॑तयः ।
अ॒भि । पृ॒त॒न्यन्त॑म् । ति॒ष्ठ॒ । अ॒भि । यः । नः॒ । दु॒र॒स्यति॑ ॥२॥

हे अभीवर्त मणे त्वं सपत्नान् । सपत्नीव सपत्नाः सहजशत्रवः । अस्मदीयांस्तान् शत्रून् अभिवृत्य अभिमुखं पर्यावृत्य । तिष्ठेति

वक्ष्यमाणक्रिया अत्रापि संबध्यते । त्वमेव प्रतिपक्षी भूत्वा तान् पराकुरु इत्यर्थः ॥ तथा या नः अस्माकम् अरातयः अदातारः अस्मदीयं राष्ट्रधनादिकम् अपहृत्य शात्रवं कुर्वाणा बाह्याः शत्रवः तानपि। अभि इत्युपसर्गश्रवणात् तिष्ठेति संबन्धः । अभिमुखं तिष्ठ ॥ तथा पृतन्यन्तम् युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तम् । ❀ पृतनाशब्दात् "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् । "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इत्याकारलोपः ❀ । युद्धोन्मुखमपि शत्रुम् अभि तिष्ठ ॥ तथा यः शत्रुः नः अस्माकं दुरस्यति दुष्टम् अभिचारादिरूपं क्षुद्रं कर्म कर्तुम् इच्छति । ❀ "दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति" इति क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस्भावो निपात्यते ❀ । तथाविधमपि शत्रुम् अभि तिष्ठ । ❀ शप्तिपोः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे क्यच्स्वरेण मध्योदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

अभीवर्त मणे! तू हमारे सौतोंकी समान स्वाभाकिव शत्रुओंके सामने खड़ी होजा तू ही प्रतिपक्षी बनकर उनको हरा । और जो हमारे राष्ट्र धन आदिको हरनेवाले स्वाभाविक शत्रु हैं तू उनके सामने भी खड़ी होजा और युद्धके लिये सेना चाहने वाले युद्धोन्मुख शत्रुके सामने भी तू खड़ी होजा ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि । सोमः । अवीवृधत् ।
अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभिऽवर्तः । यथा । अससि ३

हे मणे त्वा त्वां देवः द्योतनात्मकः सविता सर्वस्य प्राणिजा-

तस्य प्रेरकः एतत्संज्ञको देवः। अभि इत्युपसर्गश्रवणाद् अवीवृधत् इति क्रिया अत्रापि संबध्यते । अभ्यवीवृधत् अभितः समृद्धम् अकार्षीत् । ❀ वृधु वृद्धौ । अस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि गुणे प्राप्ते "नित्यं छन्दसि" इति उपधाऋवर्णस्य ऋकारादेशः ❀ ।। तथा सोमो देवः अभ्यवीवृधत् । ❀ "व्यवहिताश्च" इति उपसर्गस्य व्यवहितप्रयोगः ❀ ।। तथा हे मणे त्वा त्वां विश्वा विश्वानि निखिलानि । ❀ शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः ❀ । भूतानि । सत्तां लभन्त इति भूतानि चराचरात्मकानि । ❀ "क्तोधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः" इति भवतेः कर्तरि क्तप्रत्ययः । उपसर्गश्रवणाद् अत्रापि प्रकृतक्रियासंवन्धः ❀ । अभ्यवीवृधन् । अभिवर्धनावधिम् आह । यथा येन प्रकारेण हे मणे त्वम् अभीवर्तः त्वद्धारयितुः पुरुषस्य अभितः स्वराष्ट्रपराष्ट्रादौ वर्तनसाधनभूतः अससि भवसि तथा त्वाम् अवीवृधन् इति पूर्वेण संबन्धः । ❀ अस भुवि । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः। "यावजथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ।।

हे मणे ! तुझको सब प्राणियोंके प्रेरक सूर्यदेवने सब ओरसे बढ़ाया है तथा सोमदेवने तुझे वढ़ाया है, तथा हे मणे ! सब चराचर प्राणी तुझे वढ़ाते हैं, हे मणे ! जो पुरुष तुझे धारण करता है उस पुरुषके प्रतापको तू अपने और दूसरेके राज्यमें भी फैलाती है अत एव तुझे सबने बढ़ावा दिया है ।। ३ ।।

चतुर्थी ।।

अ॒भी॒व॒र्तो अ॑भि॒भ॒वः स॑प॒त्नक्षय॑णो म॒णिः ।
रा॒ष्ट्रा॒य मह्यं॑ ब॒ध्य॒तां॒ स॒पत्ने॑भ्यः परा॒भुवे॑ ॥ ४ ॥

अ॒भि॒ऽव॒र्तः । अ॒भि॒ऽभ॒व । स॒प॒त्न॒ऽक्षय॑णः । म॒णिः ।
रा॒ष्ट्राय॑ । मह्य॑म् । ब॒ध्य॒ता॒म् । स॒ऽपत्ने॑भ्यः । प॒रा॒ऽभुवे॑ ॥ ४ ॥

अभीवर्तः अभिवर्तनसाधनभूतः । तत्र हेतुम् आह । अभिभवः शत्रूणाम् अभिभविता अभिभवनं विशिनष्टि । सपत्नक्षयणः सपत्नानां भ्रातृव्याणां क्षयकरः । यत एवम् अतः अभीवर्त इत्यर्थः । तादृशो मणिः मह्यम् । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । "ङयि च" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । मम बध्यताम् । ❀ बन्ध बन्धने । कर्मणि लोट् ❀ ॥ मणिबन्धनप्रयोजनम् आह । राष्ट्राय राष्ट्राभिवृद्धये । तथा सपत्नेभ्यः । ❀ पूर्ववत् षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । भ्रातृव्याणां पराभुवे पराभवनाय । ❀ परापूर्वाद् भवतेः संपदादिलक्षणो भावे क्विप् ❀ ॥ बध्यमानोयं मणिः पूर्वं शत्रुभिः पीडितस्य स्वराष्ट्रस्य अभिवृद्धिं बाधकानां शत्रूणां नाशनं च करोतु इत्यर्थः ॥

अभिवर्तनकी साधन, शत्रुओंको दबाने वाला, शत्रुओंका क्षय करनेवाली ऐसी मणि शत्रुओंका पराभव करनेके लिये और राष्ट्रकी वृद्धिके लिये मेरे बाँधो अर्थात् यह बँधी हुई मणि पहिले समयमें शत्रुओंसे पीड़ित राष्ट्रकी अभिवृद्धि करे और शत्रुओंका नाश भी करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

उत् । असौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।
यथा । अहम् । शत्रुऽहः । असानि । असपत्नः । सपत्नऽहा ॥५॥

असौ नभोमण्डले परिदृश्यमानः सूर्यः सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरको देवः । ❀ "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना क्यपि निपात्यते ❀ । उदगात् उदितवान् । ❀ इण् गतौ । "इणो गा लुङि" इति

गादेशः । "गातिस्था०" इति सिचो लुक् ❀ ॥ किं च मामकम् मदीयम् इदम् अधुनोच्चार्यमाणं वचः आत्मनो जयाशंसात्मकं शत्रूणाम् अभिभवप्रतिपादकं च वाक्यम् । यद्वा । जयोद्देशेन प्रयुज्यमानं मन्त्रात्मकं वाक्यम् । उत् इति उपसर्गश्रवणात् प्रकृतक्रियासंबन्धः । उदगात् । ❀ मामकम् इति । अस्मच्छब्दात् "तस्येदम्" इत्यण् । "तवकममकावेकवचने" इत्यस्मदो ममकादेशः❀ । सूर्योदयस्य वाग्व्यवहारस्य च प्रतिदिनं सत्त्वेति विशेषतस्तत्कथनस्य प्रयोजनम् आह । अहम् अभीवर्तमणिधारकः यथा येन प्रकारेण शत्रुहः शत्रूणां हन्ता असानि भवानि । ❀ हन हिंसागत्योः । "आशिषि हनः" इति डप्रत्ययः । अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः । "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः । मिपि पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे "आगमा अनुदात्ताः" इति इति आटोपि अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ❀ । यथाहम् एवं भवानि तथा उदगाद् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ मणिप्रभावात् अद्यतनसूर्योदयः अधुना प्रयुज्यमानवचश्च शत्रुहननानुकूलम् अभूद् इत्यर्थः ॥ यत एवम् अतः अहम् असपत्नः शत्रुरहित एव । यदि च सपत्ना भवेयुस्तर्हि सपत्नहा सपत्नानां शत्रूणां हन्ता अस्मि । ❀ हन्तेः "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥

यह आकाशमण्डलमें दीखते हुए सब प्राणियोंके प्रेरक सूर्यदेव उदय हुए हैं और यह अपनी विजय करने वाला और शत्रुओंका पराभव चाहने वाला मेरा वाक्य और मन्त्र भी प्रकट हुआ है। (सूर्योदय और वाणीका उदय तो प्रतिदिन होता ही रहता है, उसके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? तो कहते हैं, कि—) अभीवर्त मणिका धारण करने वाला मैं शत्रुओंका मारनेवाला होऊँ इस लिये (आज) वाणी और सूर्यका उदय हुआ है। तात्पर्य यह है, कि—मणिके प्रभावसे आजका सूर्योदय और मेरा कहा

हुआ वचन भी शत्रुके हननके अनुकूल हुआ है, अत एव मैं शत्रुरहित ही हूँ, यदि मेरे शत्रु होंगे तो मैं अब शत्रुओंको मार डालूँगा ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

स॒प॒त्न॒क्षय॑णो॒ वृषा॒भिरा॑ष्ट्रो विषास॒हिः ।
यथा॒हमे॒षा वी॒राणां॑ वि॒राजा॑नि॒ जन॑स्य च ॥६॥

स॒प॒त्न॒ऽक्षय॑णः । वृषा॑ । अ॒भिऽरा॑ष्ट्रः । वि॒ऽस॒स॒हिः ।
यथा॑ । अ॒हम् । ए॒षाम् । वी॒राणा॑म् । वि॒ऽराजा॑नि । जन॑स्य । च॒ ६

उत्तरवाक्ये यथेति श्रवणात् पूर्ववाक्येपि अर्थात् तथेत्यध्याहियते । सपत्नक्षयणः सपत्नानां शत्रूणां नाशकः । ❀ क्षि क्षये । "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०" इति कर्तरि ल्युप्रत्ययः ❀ । अतः वृषा प्रजानाम् इष्टफलस्य वर्षकः । ❀ वृष सेचने । कनिन् युवृषीत्यादिना [उ० १. १५४] कनिन् प्रत्ययः ❀ । अत एव अभिराष्ट्रः स्वराष्ट्रं परराष्ट्रं च अभिगतः अधिपतित्वेन प्राप्तः । ❀ "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति प्रादिसमासः ❀ । अतो विषासहिः विविधं पुनःपुनः परेषां सोढा अभिभविता । ❀ षह अभिभवे । अस्माद् यङन्तात् "सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ" इति किप्रत्ययः । अतोलोपयलोपौ ❀ । मणिप्रभावाद् एवंगुणविशिष्टः तथा भूयासम् कथम् इत्यत आह । अहम् मणिधारकः यथा येन प्रकारेण एषाम् शत्रुसंबन्धिनां पूर्वम् आत्मनो बाधकानां वीराणाम् शत्रुभटानां जनस्य स्वकीयस्य परकीयस्य प्राणिजातस्य च विराजानि । ❀ राजतिरैश्वर्यकर्मा ❀ । नियन्ता भवानि । तथेति पूर्वेण संबन्धः ॥ उदीरितगुणोपेतः सन् मणिप्रभावात् शत्रुप्रभृतीनां सर्वेषां शासिता भवामीति भावः ।

यद्वा । उक्तगुणोपेतः सन् अहं वीराणां जनस्य च यथा विराजानि हे मणे त्वत्प्रभावात् तथा । भूयासम् इति शेषः ॥

[इति] षष्ठेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे मणे ! मैं मणिके प्रभावसे शत्रुओंका नाशक, प्रजाओं पर इष्ट फलकी वर्षा करने वाला अत एव अपने और दूसरेके राज्य का स्वामी बनाहुआ तथा शत्रुओंको वारवार दवानेवाला होजाऊँ मणिका धारण करने वाला मैं जिस प्रकार पहिले मुझे पीड़ा देने वाले शत्रुओंके भटोंका और अपनी तथा दूसरेकी प्रजाका शासक होऊँ तैसा करिये ॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (२९)

"विश्वे देवाः" इति सूक्तेन आयुष्यकर्मणि स्थालीपाके घृतपिण्डत्रयं निक्षिप्य संपात्य अभिमन्त्र्य तद् घृतं स्थालीपाकं च अश्नीयात् । सूत्रं च । "विश्वे देवा इत्यायुष्याणि स्थालीपाके घृतपिण्डान् प्रतीनीयाश्नाति" इति [कौ० ७. ३] ॥

उपनयनकर्मणि एतत् सूक्तं माणवकस्य नाभिदेशे संस्तभ्य जपेत् । [तथा च सूत्रम्] । "बाहुगृहीतं प्राश्नम् अवस्थाप्य दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु [१. ६] विश्वे देवः वसवः [१. ३०]" इति [कौ० ७. ६] ॥

आयुष्कामस्य वैश्वदेवयागे तदुपस्थाने च एतत् सूक्तम् । सूत्रितम् । "विश्वे देवा इति विश्वान् देवान् आयुष्कामो यजत उपतिष्ठते" इति [कौ० ७. १०] ॥

अध्यायोत्सर्जनकर्मणि अस्य सूक्तस्य आज्यहोमे विनियोगः । "द्वयान् रसान् उपसादयति विश्वे देवाः [१. ३०] अहं रुद्रेभिः [४. ३०]" इति हि सूत्रम् [कौ० १४. ३] ॥

अथ अस्य सूक्तस्य आयुष्यगणे पाठात् "मेधाजननायुष्यैर्जुहु-

थात्" [कौ० ७. ८] "आयुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्" इति च [कौ० १४. ३] सूत्राद् उपनयनोपाकर्मणोरपि आज्यहोमे अस्य विनियोगः ॥

"ऐरावतीं गजक्षये" [न० क० १७] इति नक्षत्रकल्पविहितायाम् ऐरावत्याख्यायां महाशान्तौ "आयुष्यशान्तिस्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इति [न० क० १८] आयुष्यगणस्य विधानात् तद्गणप्रयुक्तोस्य विनियोगः ॥

तथा "वैश्वदेवीं गतायुषाम्" इति [न० क० १७] विहितायां वैश्वदेव्याख्यायां महाशान्तावपि एतद् विनियुक्तम् । नक्षत्रकल्पे "विश्वे देवा इति वैश्वदेव्याम्" इति [न० क० १८] ॥

आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः ।
एतान् पञ्च गणान् हुत्वा [प० ५. ४]

इति परिशिष्टोक्ते पुष्पाभिषेकेपि अस्य गणप्रयुक्तो विनियोगः ॥

"ये देवा दिवि" [१. ३०. ३] इत्येषा दर्शपूर्णमासयोर्वषट्कारानुमन्त्रणे विनियुक्ता । उक्तं वैताने । "ये देवा दिवि ष्ठेत्यनुवषट्काम्" इति [वै० १. ४] ॥

"विश्वे देवाः" इस सूक्तसे आयुष्यकर्म करते समय स्थालीपाकमें घृतके तीन पिण्ड रक्खे, संपात करे और अभिमंत्रण करे तदनन्तर उस घृत और स्थालीपाकका भक्षण करे। इस विषय में सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"विश्वे देवा इत्यायुष्याणि स्थालीपाके घृतपिण्डान् प्रतिनीयाश्नीयात्" (कौशिकसूत्र ७ । ३) ॥

उपाकर्ममें भी इस सूक्तको बालककी नाभिको छूकर जपे। इसी बातको सूत्रमें भी कहा है, कि—"बाहुगृहीतं प्राञ्चं अवस्थाप्य दक्षिणेन पाणिना नाभिदेशे संस्तभ्य जपति अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु (१ । ६) विश्वे देवा वसवः (१ । ३०)" (कौशिकसूत्र ७ । ६) ॥

आयुष्कामके वैश्वदेवयागमें और उसके उपस्थानमें भी यह सूक्त है। सूत्रमें भी कहा है, कि—"विश्वे देवा इति विश्वान् देवान् आयुष्कामो यजत उपतिष्ठते" (कौशिकसूत्र ७।१०)॥

अध्यायके उत्सर्जनकर्ममें इस सूक्तका घृतहोमके समय विनियोग होता है। कौशिकसूत्र १४।३ में भी कहा है, कि—द्वयान् रसान् उपसादयति विश्वे देवाः (१।३०) अहं रुद्रेभिः (४।३०)॥"

इस सूक्तका आयुष्यगणमें पाठ है, अत एव कौशिकसूत्र ७।८ "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्—मेधाजननके और आयुष्यगणके मंत्रों से होम करे" के अनुसार तथा कौशिकसूत्र १४।३ "आयुष्यैः स्वस्त्ययनैराज्यं जुहुयात्—आयुष्यगणके तथा स्वस्त्ययनगणके मंत्रोंसे आहुति देय" के अनुसार उपानयन और उपाकर्मके घृतहोममें भी इस सूक्तका विनियोग है॥

"ऐरावतीं गजक्षये—गजक्षयमें ऐरावती महाशांतिका विधान है।" इस नक्षत्रकल्प १७ के अनुसार विहित ऐरावती नाम वाली महाशांतिमें "आयुष्यशांतिस्वस्तिगण ऐरावत्याम्—आयुष्यगण स्वस्तिगण और शांतिगणका ऐरावती शांतिमें प्रयोग करना चाहिये॥" इस नक्षत्रकल्पके १८ वें सूत्रके अनुसार गणके कारण इस सूक्तका प्रयोग होता है॥

इसी प्रकार "वैश्वदेवीं गतायुषाम्—गतायुपुरुषोंके लिये वैश्वदेवी महाशान्तिका प्रयोग होता है।" इस नक्षत्रकल्प १७ में विहित महाशान्तिमें भी इसका विनियोग है। यही बात नक्षत्रकल्प १८ में कही है, कि—"विश्वे देवा इति वैश्वदेव्याम्।"

और अथर्वपरिशिष्ट ५।४ में कथित "आयुष्य अभय स्वस्त्ययनगण इन पाँच गणोंसे होम करके०" के अनुसार गणमें आने से पुष्पाभिषेकमें भी इसका विनियोग किया जाता है॥

इस सूक्तकी तीसरी ऋचा 'ये देवा दिवि' का दर्श और पूर्ण-

मासके वषट्कारानुमन्त्रणमें विनियोग किया जाता है। इसी बातको वैतानसूत्र १।४ में कहा है, कि–“ये देवा दिवि ष्ठेत्यनुवषट्कारम् ।”

तत्र प्रथमा ॥

विश्वे॑ देवा॒ वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒ममु॒तादि॑त्या जागृ॒त
यू॒यम॒स्मिन् ।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भिर्मे॒मं प्रा॑प॒त पौरु॑षेयो
व॒धो यः ॥ १ ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः॒ । वस॑वः । रक्ष॑त । इ॒मम् । उ॒त । आ॒दि॒त्याः ।
जा॒गृ॒त । यू॒यम् । अ॒स्मिन् ।
मा । इ॒मम् । स॑ऽनाभिः । उ॒त । वा॒ । अ॒न्यऽना॑भिः । मा ।
इ॒मम् । प्र । आ॒प॒त् । पौरु॑षेयः । व॒धः । यः ॥ १ ॥

विश्वे सर्वे हे देवाः इन्द्राद्याः। यद्वा विश्वेदेवाख्या गणदेवाः। ❀ “आमन्त्रितस्य च” इति विश्वशब्दस्य षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । तस्य “विभाषितम् विशेषवचने बहुवचनम्” इति विकल्पेन अविद्यमानवद्भावनिषेधात् ततः परस्य देवशब्दस्य “आमन्त्रितस्य च” इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। तथा हे वसवः एतत्संज्ञा देवाः। ❀ “आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्” इति पूर्वामन्त्रितद्वयस्य अविद्यमानवद्भावेन पदात् परत्वाभावाद् “आमन्त्रितस्य च” इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀। ते सर्वे यूयम् इमम् आयुष्कामं पुरुषं रक्षत पालयत। ❀ रक्ष पालने। “०अदुपदेशाल्ल-

सार्वधातुकम् अनुदात्तम्०” इति तिङ्विभक्तेरनुदात्तत्वम्। शपश्च पित्त्वादेव अनुदात्तत्वम्। ततो धातुस्वरेण आद्युदात्तता।“आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्” इति आमन्त्रितत्रयस्यापि अविद्यमानवद्भावेन पदात्परत्वाभावात् “तिङ्ङतिङः” इति निघाताभावः ❀ ॥ उत अपि च हे आदित्याः अदितेः पुत्रा धात्रर्यमादयो देवाः।“❀ दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः” इति अदितिशब्दाद् अपत्यार्थे प्राग्दीव्यतीयो ण्यप्रत्ययः ❀। यूयमपि अस्मिन् आयुष्कामपुरुषविषये जागृत रक्षणार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत। ❀ जागृ निद्राक्षये। अदादित्वात् शपो लुक्। “जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु” इति ङितः पर्युदासाद् गुणाभावः ❀ ॥ आदित्यकर्तृकस्य जागरणस्य प्रयोजनम् आह। इमम् आयुष्कामं पुरुषं सनाभिः समानो नाभिः गर्भाशयो यस्यासौ सनाभिर्ज्ञातिः। ❀ णह बन्धने। नहो भश्च [उ० ४. १२५] इति औणादिक इञ् प्रत्ययः। तत्संनियोगेन हकारस्य भकारादेशः। ततः समानशब्देन बहुव्रीहौ “ज्योतिर्जनपद०” इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः। “बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्” इति सा एव भवति ❀। उत वा अपि वा अन्यनाभिः असमानजन्मा ज्ञातिरूपः अज्ञातिरूपः इति द्विविधोपि शत्रुः। ❀ अत्र माङ्श्रवणाद् भाविनी क्रिया संबध्यते ❀। मा प्रापत् हिंसितुं मैव प्राप्नोतु ॥ तथा यः पौरुषेयः पुरुषकृतः। ❀ “पुरुषाद् वधविकार०” इति ढञ् प्रत्ययः ❀। तथाविधो वधः हिंसनम्। ❀ “हनश्च बधः” इति भावे हन्तेरप् प्रत्यय धातोर्वधादेशश्च ❀। सोपि इमम् आयुष्कामं पुरुषं मा प्रापत्। ❀ आप्लृ व्याप्तौ। लुङि “पुषादिद्युताद्यॢदितः०” इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ ॥ उक्ताभिर्देवताभिः परिरक्षितः सन् सर्वबाधाविनिर्मुक्तश्चिरं जीवतु इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र आदि सब देवताओं! वा विश्वेदेवा नामक देवताओं!

तथा वसु नामक देवताओं ! आप सब इस आयु चाहने वाले पुरुषकी रक्षा करिये, हे अदितिके पुत्र धाता अर्यमा आदि देवताओ ! आप इस आयु चाहनेवाले पुरुषकी रक्षाके लिये सावधान रहिये। (सावधान रहनेका प्रयोजन यह है, कि–) इसकी जातिका वा अन्य जातिका शत्रु भी हिंसा करनेके लिये इसके पास न आसके और कोई पुरुष इसका वध न कर सके तात्पर्य यह है, कि–यह उक्त देवताओंसे रक्षित बना हुआ सब बाधाओं से मुक्त होकर जीवित रहे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये वो॑ देवाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम्
सर्वे॑भ्यो व॒ः परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ॥२॥

ये । व॒ः । दे॒वा॒ः । पि॒त॑रः । ये । च॒ । पु॒त्राः । सऽचे॑तसः । मे॒ । शृ॒णु॒त॒ । इ॒दम् । उ॒क्तम् ।

सर्वे॑भ्यः। व॒ः । परि॑। द॒दा॒मि॒। ए॒तम् । स्व॒स्ति। ए॒न॒म् । ज॒रसे॑। व॒हा॒थ॒॥ २ ॥

हे देवाः दानादिगुणयुक्ताः प्रागुदीरिताः वः युष्माकं ये पितरः ये च पुत्राः सन्ति ते सर्वे यूयं सचेतसः अस्मिन्नायुष्कामपुरुषविषये समानमनस्काः सन्तः। ❀ "समानस्य च्छन्दसि०" इति समानशब्दस्य सभावः ❀। मे मदीयम् इदम् वक्ष्यमाणम् उक्थम् वाक्यम्। ❀ वच परिभाषणे। अस्माद् औणादिको भावे क्थन् प्रत्ययः। "वचिस्वपि०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀। तद् वचनं शृणुत उक्तप्रकारेण कर्तुम् आकर्णयत। ❀ श्रु श्रवणे। "श्रुवः शृ च" इति श्नुप्रत्ययः धातोः शृभावश्च ❀॥ किं तद् वाक्यम्

इत्यत आह । हे देवाः सर्वेभ्यो वः । ❀ “बहुवचनस्य वस्नसौ” इति चतुर्थीबहुवचनान्तस्य युष्मदो वस् आदेशः ❀ । युष्मभ्यम् एतम् आयुष्कामं पुरुषं परि ददामि । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षितुं प्रयच्छामि ॥ अतो यूयम् एनम् रक्षार्थं दत्तं पुरुषं स्वस्ति आध्यात्मिकादिदुःखपरिहाण्या जरसे जरायै । ❀ “जराया जरस् अन्यतरस्याम्” इति जरस् आदेशः ❀ । जराप्राप्तिपर्यन्तं वहाथ प्रापयत । ❀ वह प्रापणे । लेटि आडागमः ❀ ॥ जरोपलक्षितं शतसंवत्सरपरिमितं दीर्घम् आयुः अस्मै प्रयच्छतेत्यर्थः ॥

हे पहिले मन्त्रमें कहे हुए देवताओ ! आपके जो पितर और पुत्र हैं, वे सब आप इस आयु चाहनेवाले पुरुषके विषयमें समान चित्त रखकर इस मेरे वचनको प्रार्थनानुसार करनेके लिये सुनिये कि–हे देवताओं ! मैं इस आयुष्काम (आयु चाहनेवाले पुरुष) को रक्षा करनेके लिये देता हूँ, अत एव आप इस रक्षा करनेके लिये दिये हुए पुरुषको आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे बचाते हुए बुढ़ापे तक धारण करिये अर्थात् सौ वर्षकी बुढ़ापे तककी दीर्घायु इसको दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑-
धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑ १॒न्तः ।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒माय॑ुर॒स्मै श॒तम॒न्यान् परि॑ वृणक्तु
मृ॒त्यून् ॥ ३ ॥

ये । दे॒वा॒ः । दि॒वि । स्थ । ये । पृ॒थि॒व्याम् । ये । अ॒न्तरि॑क्षे ।
औष॑धीषु । प॒शुषु॑ । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः ।

ते । कृणुत । जरसम् । आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्यून् ॥ ३ ॥

हे देवाः अग्निवायुसूर्यप्रभृतयः देवताकाण्डे समाम्नाताः । द्युपृथिव्यादिस्थानभेदेषु विभज्य वक्ष्यमाणानां सर्वेषां देवानां साधारणोयं निर्देशः । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । ये सूर्यादयो यूयं दिवि द्युलोके स्थ भवथ जगदनुग्रहार्थं निवसथ । ❀ "ऊडिदंपदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः" इति दिव उत्तरस्याः सप्तम्या उदात्तत्वम् । अस्तेर्लट् । मध्यमबहुवचने अदादित्वात् शपो लुक् । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तथा ये अग्न्यादयो देवाः यूयं पृथिव्याम् भूमौ । समनन्तरक्रियानुषङ्गः । स्थ भवथ । तथा ये वाय्वादयो यूयम् अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके स्थ । प्रकाशप्रवर्षणपचनाद्युपकारनिमित्तत्वेन त्रिषु लोकेषु वर्तध्वम् इत्यर्थः । यद्वा "ये देवा दिव्येकादश स्थ पृथिव्याम् अध्येकादश स्थ । अप्सुषदो महिनैकादश स्थ" [तै० सं० १. ४. १०. १] इति मन्त्रप्रसिद्धाः स्थानत्रये वर्तमानास्त्रयस्त्रिंशद्देवा अत्र संबोध्यन्ते । तथा ओषधीषु व्रीहियवादिषु पशुषु गवादिषु अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये तत्तदभिमानित्वेन वर्तमाना ये यूयं स्थ । ❀ "ऊडिदम्०" इत्यादिना अप्शब्दात् परस्य सुप उदात्तत्वम् । अन्तर्शब्दः स्वरादिष्वन्तोदात्तः पठितः । संहितायां यणादेशे "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इत्यन्तर्शब्दाकारः स्वर्यते ❀ । ते सर्वे देवा यूयम् अस्मै आयुष्कामाय पुरुषाय जरसम् जराम् । जरापर्यन्तम् इत्यर्थः । ❀ "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ❀ । तथाविधम् आयुः जीवनं कृणुत कुरुत ॥ भवत्प्रसादाद्ध असौ शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्जीवतु इत्यर्थः ॥ तदर्थम् अन्यान् काल-

मृत्युन्व्यतिरिक्तान् शतम्। अपरिमितनामैतत्। अपरिमितान् मृत्यून् मरणहेतुभूतान् ज्वरादिरूपान्। "ये ते सहस्रम् अयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे" [तै० ब्रा० ३. १०. ८. २] इत्यादिमन्त्रप्रसिद्धान् अपमृत्युविशेषान् परि वृणक्त परिवर्जयत। परमायुर्भङ्गकरान् अपमृत्यून् निवारयतेत्यर्थः। ❀ वृजी वर्जने। लोण्मध्यमबहुवचनादेशस्य तशब्दस्य "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तप् आदेशः। तस्य पित्त्वेन ङित्त्वाभावात् श्नस्य लोपाभावः ❀॥ यद्वा शतमिति आयुःशब्देन संबध्यते। शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कुरुतेत्यर्थः॥

हे अग्नि वायु सूर्य और देवताकाण्डमें कहे हुए सकल देवताओ ! जो तुम जगत् पर अनुग्रह करनेके लिये द्युलोकमें रहते हो, तथा हे अग्नि आदि देवताओ ! जो तुम पृथ्वी पर रहते हो तथा हे वायु आदि देवताओ ! जो तुम अन्तरिक्ष–लोकमें रहते हो अर्थात् प्रकाश वर्षण और पचन आदि उपकार करनेके लिये तीनों लोकोंमें रहते हो।–वा तैत्तिरीयसंहिपामें प्रसिद्ध तैंतीस देवताओं ! †–तथा व्रीहि यव आदि ओषधियोंमें, गौ आदि पशुओंमें और जलोंमें उनके अभिमानीरूपसे वर्तमान देवताओं ! तुम सब आयु चाहने वाले पुरुषकी आयु बुढ़ापे तककी करो–आपके प्रसादसे यह सौ वर्ष तक जीवित रहे, इस लिये आप काल और मृत्युसे अन्य सैंकड़ों मरणके हेतु ज्वर ‡ आदि परमायुनाशक अपमृत्युओंको दूर करो॥ ३॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता १।४।१०।१ में कहा है, कि–ये देवा दिवि एकादश स्थ पृथिव्यां अधि एकादश स्थ अप्सुषदो महिनैकादश स्थ–हे देवताओं ! तुम जो स्वर्गमें ग्यारह हो, पृथिवी पर ग्यारह हो और जलमें ग्यारह हो॥"

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१०।८।२ में अपमृत्युओंके विषयमें कहा है, कि–"ये वो सहस्रं अयुतं पाशा मृत्यो मर्त्याय हन्तवे–

चतुर्थी ॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्रऽयाजाः । उत । वा । अनुऽयाजाः । हुतऽभागाः । अहुतऽअदः । च । देवाः ।

येषाम् । वः । पञ्च । प्रऽदिशः । विऽभक्ताः । तान् । वः । अस्मै । सत्रऽसदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

प्रयाजाः । प्रधानयागात् प्रथमभाविनः समित्तनूनपादादयः पञ्च यागाः प्रयाजाः । ते येषां देवानां स्वभूताः । "अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः" इति प्रक्रम्य "आग्नेया इति तु स्थितिर्भक्तिमात्रम् इतरत्" [नि० ८. २२] इत्यन्तेन यास्केन प्रपञ्चिताः प्रयाजदेवाः । ते चात्र येषाम् इति सर्वनाम्ना विवक्ष्यन्ते । "प्रयाजान् मे अनुयाजांश्च केवलान् ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्" [ऋ० १०. ५१. ८] इति मन्त्रप्रसिद्धोऽग्निरेव वा विवक्षितः । अस्मिन् पक्षे येषाम् इति बहुवचनं पूजार्थम् । ❀ येषाम् इत्यत्र "सावेकाचः०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः । प्रपूर्वाद् यजतेः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति घञ् । "प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे" इति कुत्वाभावो निपात्यते । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । उत वा

हे मृत्यो ! तेरे (जो) सहस्रों लाखों पाश मरणशील मनुष्योंको मारनेके लिये हैं ॥"

अपि वा अनुयाजाः । अनु पश्चात् प्रधानयागानन्तरभाविनस्त्रयो यागा अनुयाजाः । ते च येषां देवानां स्वभूताः । ❀ प्रयाजशब्दवत् अनुयाजशब्दस्यापि पदस्वरप्रक्रिये वेदितव्ये ❀ । ये च अन्ये देवा हुतभागाः । हुतम् अग्नौ प्रास्तं चरुपुरोडाशादिकं हविः भागो येषां देवानां ते हुतभागा इन्द्रादयः । तथा ये च देवा अहुतादः । न हुतम् । अहुतम् अग्नेरन्यत्र क्षिप्यमाणं हविरदन्ति भक्षयन्तीति अहुतादः बलिहरणादिदेवाः । ❀ अद भक्षणे । इत्यस्माद् "अदोऽनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ । हे इन्द्रादयो देवाः येषाम् प्रसिद्धानां वः युष्माकं पञ्च पञ्चसंख्याकाः प्रदिशः प्रधानभूताः प्राच्याद्या दिशः विभक्ताः ईशितव्यत्वेन विभज्य स्थिताः । यद्वा "पथ्यां स्वस्तिम् अयजन् प्राचीमेव तया दिशं प्राजानन्" [तै० सं० ६.१.५.२] इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धाः पथ्या स्वस्ति अग्निः सोमः सविता दितिः इत्येतन्नामानो देवाः येषाम् इति यच्छब्देन विवक्षिताः । हे देवाः तान् उक्तान् सर्वान् वः युष्मान् अस्मै आयुष्कामस्य पुरुषस्य आयुर्वर्धनाद्युपकाराय सत्रसदः । सीदन्त्यस्मिन्निति सत्रम् सदनम् । तस्मिन् सीदतः संनिहितान् कृणोमि करोमि । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इत्यस्माद् अधिकरणे औणादिकस्त्रन् प्रत्ययः । तस्मिन्नुपपदे तस्मादेव धातोः "सत्सूद्विष०" इत्यादिना कर्तरि क्विप् ❀ ॥

[इति] द्वितीयं सूक्तम् ॥

प्रधानयागसे पहिले होने वाले समित् तनूनपात् आदि पाँच याग प्रयाज कहलाते हैं वे याग जिनके देवताओंके लिये किये जाते हैं ‡ अथवा जिन अग्निदेवके लिये प्रयाज किये जाते हैं वे

---

‡ यास्कमुनिने प्रयाज देवताओंके सम्बन्धमें लिखा है, कि— "अथ किं देवताः प्रयाजानुजाः" इति प्रक्रम्य "आग्नेया इति तु स्थितिर्भक्तिमात्रमितरत्—प्रयाज और अनुयाज देवता कौनसे हैं ?

अग्निदेव, और प्रधान यागके अनन्तर होने वाले तीन याग जिन देवताओंके लिये किये जाते हैं, तथा अग्निमें होमी हुई चरुपुरोडाश आदि हवि जिन इन्द्र आदि देवताओंका भाग है, तथा अग्निसे अन्यत्र डाली हुई हविका भक्षण करने वाले बलिहरण आदि देवता और पाँच प्रधान दिशाएँ जिनके स्वामित्वमें रहती हैं वे देवता, वा पथ्या स्वस्ति अग्नि सोम सविता और दिति नामक जो देवता है, ऐसे हे सब देवताओं ! मैं तुम सबको आयुष्काम पुरुषका आयुर्वर्धन आदि उपकार करनेके लिये सत्रसद बनाता हूँ अर्थात् इसके समीप बैठने वाला बनाता हूँ ॥ ४ ॥

द्वितीय सूक्त समाप्त (३०) ॥

अत्र नित्यनैमित्तिककाम्यभेदेन द्वाविंशतिः सवयज्ञा विहिताः । ते च ब्रह्मौदनस्वर्गौदनचतुःशरावसवौदनसवशतौदनद्वयाजौदनपञ्चौदनब्रह्मास्यौदनमृत्युसवानडुत्सवद्वयकर्किपृश्निद्वयपौनशिलपवित्रोर्वरा-ऋषभवशाशालाबृहस्पतिसवाख्याः । तत्र चतुःशरावौदनसवे “आशानाम्” इति सूक्तं विनियुक्तम् । तत्र तेन निरुप्तहविरभिमर्शनम् संपातम् दातृवाचनम् दानं च कुर्यात् । यद्ध आह कौशिकः । “आशानाम् इति चतुःशरावम्” इति [कौ० ८. ५] । “निरुप्तं

इसका आरम्भ करके छन्दोदेवता ऋतुदेवता पशुदेवता और आत्मदेवता तथा अग्निदेवको प्रयाजदेवता कहा है, औरोंको भक्तिमात्र कहा है । अत एव ये निरुक्तमें कहे हुए छन्दोदेवता आदि प्रयाज देवता हैं वा अग्नि ही प्रयाज देवता है । ऋग्वेद १० । ५१ । ८ में कहा है, कि—“प्रयाजान् मे अनुयाजांश्च केवलान् ऊर्जस्वन्तं हविषो दत्त भागम्—अर्थात् हे विश्वेदेवताओ ! आप मुझे अन्य देवताओंके सम्पर्कसे रहित प्रयाज और अनुयाजोंको दीजिये और हविके बलवान् भाग घृतको मुझे दीजिये ।” इस प्रकार इस मन्त्रमें प्रसिद्ध अग्नि भी प्रयाज देवता है ॥

सूक्तेनाभिमृशति” इति [कौ० ८. ६.]। “सूक्तेन पूर्वं संपातवन्तं करोति” [कौ० ८. ४]। “तस्मिन्ननन्वारब्धं दातारं वाचयति तन्त्रसूक्तं पच्छः” इति [कौ० ८. ६] “सूक्तेनाभिमन्त्र्य दद्यात्” [कौ० ८. ४] इति च ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन धूमकेतुरूपाद्भुतदर्शने दिग्देवताकस्य बहुरूपस्य अजस्य अवदानानि तद्देवताकं चरुं प्रत्यृचं जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । “अथ यत्रैतद् धूमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तद् अयोगक्षेमाशङ्कम् इत्युक्तं पञ्च पशवस्तायन्ते” इति प्रक्रम्य “आशानामिति दैशस्य” इति [कौ० १३. ३५] ॥

तद्वदेव ग्रामनगरदेशप्राकाराद्यवदरणे “अस्रामस्त्वा” इति तृतीयावर्जम् अनेन सूक्तेन पुरोडाशानां पाषाणानां च निखननं कुर्यात् । “आशापालीयं तृतीयावर्जम्” इति प्रक्रम्य “पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तःस्रक्तिषु निदधात्युभयान् संपातवतः” इति हि सूत्रितम् [कौ० ५. २]॥

अस्य प्रथमयर्चा सर्वरोगभैषज्ये आप्लावनावसेचनपायनादिकं कुर्यात् । सूत्रं च । “ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः” इति [कौ० ४. ८]॥ अत्र अंहोलिङ्गाभिरिति “आशानाम् आशापालेभ्यः इत्येका [१. ३१. १] “अग्नेर्मन्वे” इति [४. २३–२६] सप्त सूक्तानि “या ओषधयः सोमराज्ञीः” इत्येका [६. ९६. १] “वैश्वानरो न आगमत्” इत्येका [६. ३५ २] “शुम्भनी द्यावापृथिवी” इत्येका [७. ११७. १] “यदर्वाचीनम्” इत्येका [१०. ५. २२] “मुञ्चन्तु मा” [११. ६. ७] “भवाशर्वाविदम्” [११. ६. ९] “या देवीः पञ्च” [११. ६. २२] “यन्मातली रथ०” [११. ६. २३] इत्येताभिश्चतसृभिर्वर्जितम् “अग्निं ब्रूमः” [११. ६] इत्यर्थसूक्तम् । अयं सप्तप्रतीकः अंहोलिङ्गगणो विवक्षितः ॥

अश्वमेधे उत्सृष्टम् अश्वम् "आशानाम्" इति सूक्तेन ब्रह्मा अनुमन्त्रयते। उक्तं वैताने। "आशापालीयेनोत्सृष्टं संवत्सरम्" इति [वै० ७. १]॥

तथा "अंहोलिङ्गानाम् आपोभोजनहवींषि" [कौ० ७. ६] इत्यादावपि एतद् द्रष्टव्यम्॥

अद्भुतमहाशान्तौ दिग्देवताक आद्यो मन्त्रः। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "अथातोऽद्भुतमहाशान्तौ दिशो यजते विदिशो यजते" इत्यारभ्य "आशानाम्" इति [न० क० १४]॥

"स्वस्ति मात्रे" [१. ३१. ४] इत्यन्त्यया ऋचा सर्वस्वस्त्ययनकामः रात्रौ उपस्थानं कुर्यात्। "स्वस्ति मात्र इति निश्युपतिष्ठते" इति सूत्रम् [कौ० ७. १]॥

नित्य नैमित्तिक और काम्यभेदसे बाईस सव-यज्ञोंका विधान है। उनके नाम ये हैं, ब्रह्मौदन, स्वर्गौदन, चतुःशरावौदनसव, दो शतौदन, अजौदन, पञ्चौदन, ब्रह्मास्यौदन, मृत्युसव, दो अनुडुत्सव, कर्कि, दो पृश्नि, पौन, सिल, पवित्र, उर्वरा, ऋषभ, वशा, शाला और बृहस्पति। इनमेंके चतुःशरावौदनसवमें "आशानाम्" सूक्तका विनियोग किया जाता है। तहाँ इस सूक्तसे निरुप्त हवि का अभिमर्शन, सम्पात, दातृवाचन और दान करे। इन्ही बातों को कौशिक सूत्रमें कहा है, कि—"आशानाम् इति चतुःशरावम्" (कौशिकसूत्र ८।५)॥ निरुक्तं सूक्तेनाभिमृशति इति (कौशिकसूत्र ८।६)। 'सूक्तेन पूर्वं संपातवन्तं करोति" (कौशिकसूत्र ८।४) "तस्मिन्नन्वारब्धं दातारं वाचयति तन्त्रसूक्तं पच्छः" इति (कौशिक सूत्र ८।६) "सूक्तेनाभिमन्त्र्य दद्यात्" (कौशिकसूत्र ८।४)॥

इसी प्रकार धूमकेतुरूप अद्भुतदर्शन होने पर इस सूक्तसे दिग्देवताके बहुरूप अजका अवदान करे तथा उस देवताकी चरु का प्रत्येक ऋचासे होम करे। इसी बातको सूक्तमें कहा है, कि

"अथ यत्रैतद् धूमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तद् अयोगक्षेमाशङ्कम्" इत्युपक्रम्य आशानामिति दैशस्य–अर्थात् जब धूमकेतु सप्तर्षियोंके पास पहुँचता है, उस समय अयोगक्षेमकी आशंका करके० आशानाम् सूक्तसे दिग्देवताके (निमित्त बल दे) ॥" (कौशिकसूत्र १३ । ३५)॥

इसी प्रकार ग्राम नगर देश और प्राकार (परकोटा) के फटने पर "आश्रामस्त्वा" नाम वाली तीसरी ऋचाके अतिरिक्त इस सूक्तसे पुरोडाश और पाषाणोंका निखनन करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ५ । २ में कहा हैं, कि–"आशापालीयं तृतीयावर्जम्" इति प्रक्रम्य "पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तःस्रक्तिषु निदधाति उभयान् सम्पातवतः–आशापालीय इस तीसरी ऋचा को छोड़कर इस सूक्तसे पुरोडाशको तदनन्तर पत्थरोंको भीतरी नींवमें रक्खे दोनों सम्पात वाले होने चाहियें ॥

सकल रोगोंकी चिकित्सामें इस सूक्तकी पहिली ऋचासे स्नान, अवसेचन और पायन आदि करे। कौशिकसूत्र ४ । ८ में कहा है, कि–"ओषधिवनस्पतीनां अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानां अंहोलिङ्गाभिः–अर्थात् ओषधि वनस्पतियोंकी अनुक्त और अप्रतिषिद्ध चिकित्साएँ अंहोलिंगा ऋचाओंसे करे। वे अंहोलिङ्गा ऋचाएँ ये हैं–"आशानां आशापालेभ्यः" (१ । ३१ । १) "अग्नेर्मन्वे" इति (४ । २३–१९) ये सात सूक्त "या ओषधयः सोमराज्ञीः" (६ । ९६ । १) "वैश्वानरो न आगमत्" (६ । ३५ । २) "शुंभनी द्यावा पृथिवी (७ । १११ । १) "यदर्वाचीनम्" (१० । ५ । २२) "मुञ्चन्तु मा" (११ । ६ । ७) "भवाशर्वाविदम्" (११ । ६ । ९) "या देवीः पञ्च" (११ । ६ । २२) "यन्मातली रथम्" (११ । ६ । २३) इन चार ऋचाओंसे रहित "अग्निं ब्रूमः" (११ । ६) यह अर्थ सूक्त। ये सात अंहोलिङ्ग गण है॥

ब्रह्मा अश्वमेधमें छोड़े हुए अश्वका आशानां सूक्तसे अनुमन्त्रण किया करता है। इसी बातको वैतानसूत्र ७। १ में कहा है, कि—"आशापालीयेनोत्सृष्टं संवत्सरम्" ॥

तथा "अंहोलिङ्गानां आपोभोजनहवींषि—अंहोलिङ्गोंका जल भोजन और हविके समय विनियोग होता है" (कौशिकसूत्र ७। ६) इत्यादिमें भी इसका विनियोग होता है ॥

अद्भुतमहाशान्तिमें दिग्देवताके लिये पहिले मन्त्रका विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"अथातोऽद्भुतमहाशान्तौ दिशो यजते विदिशो यजते" इत्यारभ्य "आशानाम्" इति—अर्थात् अद्भुत महाशान्तिमें दिग्देवताके लिये और विदिग्देवताके निमित्त यजन करता है—इसका आरम्भ कहा है, कि—"आशानाम्" (इस मन्त्रसे) ॥ (नक्षत्रकल्प १४) ॥

सर्वस्वस्त्ययनको चाहने वाला पुरुष "स्वस्ति मात्रे" इस १। ३१। ४ ऋचासे रात्रिमें उपस्थान करे। इसी बातको कौशिक सूत्र ७। १ में कहा है, कि—"स्वस्ति मात्र इति निश्युपतिष्ठते" ॥

तत्र प्रथमा ॥

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः ।
इ॒दं भू॒तस्याध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥१॥

आशा॑नाम् । आ॒शा॒ऽपा॒लेभ्यः॑ । च॒तुःऽभ्यः॑ । अ॒मृते॑भ्यः ।

इ॒दम् । भू॒तस्य॑ । अधि॑ऽअक्षेभ्यः । वि॒धेम॑ । ह॒विषा॑ । व॒यम् ॥१॥

आशानाम् प्राच्यादिदिशाम् । ❀ आशाया अदिगाख्या चेत् [फि० १. १६] इति अन्तोदात्तत्वस्य पर्युदासाद् आद्युदात्तता ❀ । [आशा]—पालेभ्यः । आशाः पालयन्ति रक्षयन्तीति आशापालाः । ❀ "कर्मण्यण्" इति अण् प्रत्ययः । कृदुत्तरपद-

प्रकृतिस्वरत्वेन अन्तोदात्तता ❀ । अत्र आशापालेभ्य इति समस्तेन पदेन स्वामित्वमात्रं विवक्षितम् । आशानाम् इति षष्ठ्यन्तेन ईशितव्यस्य बहुत्वम् अभिधीयत इति न पौनरुक्त्यम् । तेभ्यश्चतुर्भ्यः चतुःसंख्याकेभ्यः इन्द्रयमादिभ्यः । ❀ "झल्युपोत्तमम्" इति उपोत्तमस्य अच उदात्तत्वम् ❀ । अमृतेभ्यः । मृतं मरणम् । ❀ भावे निष्ठा ❀ । तद् न विद्यते येषां ते तथोक्तास्तेभ्यः । ❀ "नञो जरमरमित्रमृताः" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । भूतस्य सत्तां प्राप्तस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः अध्यक्षेभ्यः अधिपतिभ्यः इन्द्रादिभ्यः इदम् इदानीं चतुःशरावसवयागकाले हविषा ओदनेन मन्त्रसंस्कृतेन विधेम परिचरेम । ❀ विधतिः परिचरणकर्मा [निघ० ३. ५] । विध विधाने इति तुदादौ च पठ्यते । विकरणस्वरेण मध्योदात्तत्वम् । पादादित्वाद् निघाताभावः ❀ ॥

मरणरहित और स्थावर जङ्गम प्राणियोंके स्वामी इन्द्र आदि चार दिक्पालोंके लिये हम इस चतुःशराव यागके समयमें मन्त्रसंस्कृत हवि अर्पण कर सेवा करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ दे॒वाः ।
ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सोअंह॑सः ॥२॥

ये । आशा॑नाम् । आ॒शा॒ऽपा॒लाः । च॒त्वारः॑ । स्थन॑ । दे॒वाः॒ ।
ते । नः॒ । निःऽऋ॑त्याः । पाशे॑भ्यः । मु॒ञ्चत॑ । अंह॑सःऽअंहसः २

हे देवाः इन्द्रादयः चत्वारः चतुःसंख्याका ये प्रसिद्धा यूयम् आशानाम् दिशाम् आशापालाः अधिपतयः स्तन भवत । ❀ अस भुवि इत्यस्मात् लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनादेशस्य तशब्दस्य "तप्तनप्तनथनाश्च" इति तनादेशः । "श्नसोरल्लोपः" इत्याकारलोपः ❀ ।

ते यूयं नः अस्मान् हविषा युष्मान् प्रीणयितॄन् निर्ऋत्याः । निर्ऋतिः आर्तिकरी पापदेवता । तस्या संबन्धिभ्यः पाशेभ्यः मरणहेतुभ्यः । तथा अंहसोअंहसःनिर्ऋतिपाशव्यतिरिक्ताद् मरणहेतुभूताद् अन्यस्मात् सर्वस्मात् पापात् मुञ्चत मोचयत । ❀ मुच्लृ मोक्षणे । "शे मुचादीनाम्" । इति नुम् ❀ ॥

हे इन्द्र आदि चार प्रसिद्ध देवताओं ! तुम दिशाओंके स्वामी हो, ऐसे आप हविसे आपको तृप्त करने वालों हमको पीड़ा देने वाली पापदेवता निर्ऋतिके मरणप्रद पाशोंसे तथा निर्ऋतिके अतिरिक्त मरणके अन्य सब पाशोंसे भी हमें बचाइये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अस्रा॑मस्त्वा ह॒विषा॑ यजा॒म्यश्लो॑णस्त्वा घृ॒तेन॑ जु॒होमि।
य आशा॑नामाशापा॒लस्तु॒रीयो॑ दे॒वः स न॑ः सुभू॒तमेह
व॑क्षत् ॥ ३ ॥

अस्रा॑मः । त्वा॒ । ह॒विषा॑ । य॒जा॒मि॒ । अश्लो॑णः । त्वा॒ । घृ॒तेन॑ । जु॒हो॒मि॒ ।
यः । आशा॑नाम् । आ॒शा॒ऽपा॒लः । तु॒रीय॑ः । दे॒वः । सः । न॒ः ।
सु॒ऽभू॒तम् । आ । इ॒ह । व॒क्ष॒त् ॥ ३ ॥

अत्र उत्तरार्धे वक्ष्यमाणो देवः संबोधनीयः । हे धनद त्वा त्वाम् अभिमतधनादिसिद्ध्यर्थम् अश्रामः अश्रमः । ❀ श्रमु तपसि खेदे च । अस्माद् घञि "अत उपधायाः" इति प्राप्ताया वृद्धेः "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति निषेधाभावश्छान्दसः ❀ । श्रमरहितः शरीरप्रयासम् अननुसंदधानः सन् हविषा चर्वादिरूपेण यजामि पूजयामि ॥ तथा हे देव त्वा त्वाम् उद्दिश्य अश्रोणः श्रोणाख्यव्याधिविशेषरहितः सन् घृतेन आज्येन जुहोमि ।

❀ घृतेनेति। "तृतीया च होश्छन्दसि" इति तृतीया ❀ ॥ तम् अभिमतं देवं दर्शयति। आशानाम् दिशाम् आशापालः स्वामी तुरीयः पूर्वोदीरितेन्द्रादिदिक्पालापेक्षया चतुर्थः। ❀ "चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च" इति छप्रत्ययः तत्संनियोगेन चकारलोपश्च। "आयन्नादिषु उपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थम्" इति वचनात् प्रत्ययस्वरेण ईकार उदात्तः ❀। एवंभूतो यः प्रसिद्धो देवः धनदाख्यदेवोस्ति स देवः नः अस्माकं सुभूतम् सुष्ठु प्रभूतं सुवर्णरजतादिरूपं धनम् इह अस्मिन् कर्मणि संनिहितः गृहे वा आ वक्षत् आवहतु प्रापयतु। मया दत्तेन हविराज्यादिना प्रीतः सन् मह्यं यथेष्टं धनम् आहृत्य प्रयच्छतु इत्यर्थः। ❀ वह प्रापणे। अस्मात् लेटि अडागमः। "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप्। ततः "हो ढः" इति ढत्वम्। "षढोः कः सि" इति कत्वम्। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀॥

हे कुबेर! मैं तुमको अभिलषित धन आदिकी सिद्धिके लिये अपने श्रमको कुछ भी न गिनकर चरु आदिरूप हविसे तुम्हारी पूजा करता हूँ। और हे देव! श्रोण नाम वाली व्याधिसे रहित हुआ मैं आपके निमित्त घृतकी आहुति देता हूँ। अत एव जो दिक्पाल पहिले कहे हुए इन्द्र आदि देवताओंमें चौथे हैं, वह हमें बहुतसा सुवर्ण चाँदी आदि धन इस कर्ममें समीप रह कर दें तात्पर्य यह है, कि—मेरी दीहुई घृत आदिकी हविसे प्रसन्न होकर वह मुझे यथेष्ट धन लाकर दें॥ ३ ॥

चतुर्थी॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥

स्व॒स्ति । मा॒त्रे । उ॒त । पि॒त्रे । नः॒ । अ॒स्तु॒ । स्व॒स्ति । गो॑भ्यः ।

जग॑ते । पुरु॑षेभ्यः ।

विश्व॑म् । सु॒ऽभू॒तम् । सु॒ऽवि॒दत्र॑म् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । ज्योक् ।

ए॒व । दृ॒शे॒म॒ । सूर्य॑म् ॥ ४ ॥

आत्मनोभिलषितं धनादिकं संप्रार्थ्य स्वकीयानां मात्रादीनां कुशलम् आशास्ते। "एभ्यो माता गरीयसी" इति स्मरणात् पित्रादिभ्यः श्रैष्ठ्यम् अभिप्रेत्य मातुः प्रथमतो निर्देशः । मात्रे स्वकीयायै जनन्यै । ❀"ऋन्नेभ्यः०" इति प्राप्तस्य ङीपो "न षट्स्वस्रादिभ्यः" इति प्रतिषेधः । "नमःस्वस्तिस्वाहा०" इति चतुर्थी । "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । स्वस्ति क्षेमः अस्तु । ❀ स्वतीत्यविनाशिनाम । अस्तिरभिपूजितः सु अस्तीति हि यास्कः [नि० ३. २१] ❀ । [उत अपि च] नः अस्माकं पित्रे जनकाय स्वस्त्यस्तु भवतु । उपलक्षणम् एतद् अन्येषामपि पुत्रपत्न्यादीनाम् । तथा गोभ्यः पशुभ्यः स्वस्त्यस्तु । ❀ "सावेकाचस्तृतीयादि०" इति प्राप्तस्य विभक्त्युदात्तत्वस्य "न गोश्वन्त्साववर्ण०" इति प्रतिषेधः ❀ । तथा पुरुषेभ्यः स्वकीयेभ्यो भृत्यादिभ्यः स्वस्त्यस्तु । किं बहुना जगते सर्वस्मै लोकाय स्वस्त्यस्तु ॥ मात्रादीनां स्वस्त्यस्तु इत्युक्तम् तदेव विशिनष्टि । नः अस्माकं संबन्धि विश्वम् सर्वम् उक्तं मात्रादिकं सुभूतम् शोभनधनोपेतं सुविदत्रम् शोभनज्ञानयुक्तं च अस्तु भवतु । ❀ सुविदत्रः कल्याणविद्य इति हि यास्कः [नि० ६. १४] ❀ ॥ यद्वा सुभूतम् सु शोभनं भूतं भवनं यस्य तत् तथोक्तम् । सुविदत्रम् । विद्यते लभ्यत इति विदत्रम् धनम् । ❀ विद्लृ लाभे विद ज्ञाने इत्यस्माद्वा सुविदेः कत्रन् [उ० ३. १०८] इति कत्रन् प्रत्ययः ❀ । शो-

भनं विदत्रं धनं यस्य तत् तथोक्तम् यद्वा। सुभूतम् सुसमृद्धं विश्वम् सर्वं सुविदत्रम् धनं नोस्तु। ❀ सुविदत्रशब्दं यास्कस्तु द्वेधा व्युत्पादयामास। सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वा एकोपसर्गात् ददातेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात् [नि० ७. ६] इति ❀ ॥ तथा उक्तमात्रादिसहितस्य आत्मनश्च दीर्घम् आयुः प्रार्थयते। ज्योगेव चिरकालमेव शतसंवत्सरपर्यन्तं सूर्यम् आदित्यं दृशेम पश्येम। ❀ दृशिर् प्रेक्षणे। "लिङ्याशिष्यङ्" इत्यस्य स्थाने "दृशेरग्वक्तव्यः" इति अक् प्रत्ययः। कित्त्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥

[इति] षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

(अपने अभिलषित धन आदिकी प्रार्थना करके अपनी माता आदिके कुशलकी प्रार्थना करते हैं। "एभ्यो माता गरीयसी—इन सबन्धियोंमें माता बड़ी है।" इस स्मरणके अनुसार पिता आदिसे माताको श्रेष्ठ समझकर माताके लिये पहिले प्रार्थना की है) हमारी माताका स्वस्ति हो, हमारे पिताके लिये स्वस्ति हो, हमारी गौओंके लिये स्वस्ति हो, सारे संसारके लिये स्वस्ति हो। हमारी माता आदि सब शोभन धनसे युक्त और शोभन ज्ञानयुक्त होवें, और हम चिरकाल तक—सैंकड़ों वर्षों तक सूर्यको देखते रहें ॥ ४ ॥

छठे अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (३१)

"इदं जनासः" इति सूक्तेन वन्ध्यायाः पुत्रजननकर्मणि तस्याः शान्तौषधिसहितोदकाभिषेकम् पुरोडाशकन्दुकालंकारप्रदानं च कुर्यात्। सूत्रितं हि। "इदं जनास इत्यस्यै शिंशपाशाखासु उदकान्ते शान्ता अधिशिरोवसिञ्चति [आव्रजितायै]" इति [कौ० ४. १०] ॥

तथा अनेन सूक्तेन पुष्टिकामः संपत्कामो वा द्यावापृथिव्योर्यागम् उपस्थानं वा कुर्यात्। आह कौशिकः। "इदं जनास इति

द्यावापृथिव्यौ पुष्टिकामः संपत्कामः” इति [कौ० ७. १०] ॥

अत्र आद्या दर्शपूर्णमासयोः पत्न्यञ्जलौ उदपात्रनिनयने विनियुक्ता । सूत्रं च । “बर्हिषि पत्न्यञ्जलौ निनयति समुद्रं वः प्र हिणोमि इति [१०. ५. २३] इदं जनासः [१. ३२. १] इति वा” इति [कौ० १. ६] ॥

“इदं जनासः” इस सूक्तसे वंध्याके पुत्रप्रजननकर्ममें उसका शान्ता (शमी) ओषधिसहित अभिषेक करे तथा इसी सूक्तसे उसको पुरोडाश गैंद और अलंकार भी देय । इसी बातको सूत्र में भी कहा है, कि—“इदं जनास इत्यस्यै शिंशपाशाखासु उदकान्ते शान्ता अधिशिरोऽवसिञ्चति [आव्रजितायै] इति—‘इदं जनासः’ इस सूक्तसे वंध्या पर शिंशपा (सरीफे)की शाखाओं के नीचे जलके समीप शान्ता (शमी—जएड) ओषधिसे शिर पर अभिषेक करे ।” (कौशिकसूत्र ४ । १०) ॥

तथा पुष्टि चाहने वाला वा संपत्ति चाहने वाला इस सूक्तसे द्यावापृथिवीके यागको वा उपस्थानको करे । इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि—“इदं जनास इति द्यावापृथिव्यौ पुष्टिकामः संपत्कामः” ॥

इस सूक्तकी पहिली ऋचाका दर्शपूर्णमास यागमें पत्नीकी अञ्जलिमें उदपात्र रखनेमें विनियोग किया जाता है । इसी बात को कौशिकसूत्र १ । ६ में कहा है, कि—“बर्हिषि पत्न्यञ्जलौ निनयति समुद्रं वः प्र हिणोमि इति [१०. ५. २३] इदं जनासः [१ । ३२ । १] इति वा” इति [कौ० १ । ६]

तत्र प्रथमा ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥

इदम् । जनासः । विदथ । महत् । ब्रह्म । वदिष्यति ।

न । तत् । पृथिव्याम् । नो इति । दिवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥

जनासः हे जनाः । ❀ "आज्जसेरसुक्" ❀ । ज्ञातुकामा यूयम् इदम् वक्ष्यमाणं वस्तु विदथ जानीथ । ❀ विद ज्ञाने । लटि मध्यमबहुवचने व्यत्ययेन शः ❀ ॥ किं तद् इत्यत आह । मन्त्रद्रष्टा ऋषिः महत् महत्त्वगुणयुक्तं व्यापकं ब्रह्म ब्रह्मणः प्रथमकार्यम् । श्रूयते हि । "आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीत्" [तै० सं० ७. १. ५. १.] इति । स्मर्यते च ।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अपाकिरत् इति [म० स्मृ० १. ८] ।

तादृशं ब्रह्म वदिष्यति कथयिष्यति ॥ तस्योदकस्य प्रतिनियतं निवासस्थानं वक्तुं लोकप्रतीतिसिद्धं स्थानम् अपवदति । तत् उदकात्मकं ब्रह्म पृथिव्याम् भूमौ न । तिष्ठतीति शेषः । वृष्ट्यूर्ध्वभाविनो जलस्यैव भूमौ अवस्थानम् । ननु लोकप्रतीतिसिद्धं द्युलोक एवेत्यत आह । नो नैव दिवि द्युलोके । तिष्ठतीति शेषः ॥ तर्हि संभाविता लोकद्वये अविद्यमानस्य तस्य खपुष्पकल्पनेत्यत आह । येन उक्तेन उदकेन वीरुधः विरोहणशीलाश्च कौशिकेनोक्ताश्चित्त्याद्या अन्याश्चौषधयः प्राणन्ति जीवन्ति । उदकम् अन्तरेण अनुपपद्यमानं वीरुधां जीवनं तत्सत्तायाः कल्पकम् इति तस्य नासत्त्वम् इत्यर्थः । ❀ श्वस प्राणने । अन च । अदादित्वात् शपो लुक् । "अनितेः" इति णत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ ॥

हे जाननेकी इच्छा वाले मनुष्या ! तुम इस आगे कही हुई वस्तुको जानो (वह वस्तु क्या है ? उसको कहते हैं, कि—) मन्त्रद्रष्टा ऋषि महत्त्वगुणयुक्त व्यापक ब्रह्मके प्रथम कार्य

(जल+ब्रह्म) को कहेंगे (जलके लोकप्रतीतिसिद्ध स्थानका खंडन करके उसके प्रतिनियत निवासस्थानको कहते हैं, कि-) वह जलात्मक ब्रह्म पृथिवी पर नहीं रहता है (क्योंकि–ऊपर रहने वाला जल ही वृष्टिके द्वारा पृथ्वी पर आजाता है, अब फिर कहते हैं, कि–फिर लोकप्रतीतिसिद्ध द्युलोकको ही जलका स्थान मान लिया जाय, तो कहते हैं, कि-) वह द्युलोकमें भी नहीं रहता है (तो कहते हैं, कि–जब वह दोनों लोकोंमें नहीं है तो उसकी कल्पना खपुष्प ही है अत एव कहते हैं, कि–) जिस जलसे विरोहणशील ओषधियें और कौशिककी कही हुई चित्ति आदि अन्य औषधियें जीवित रहती हैं । (अत एव जलके बिना न होने वाला वीरुधोंका जीवन उसकी सत्ताका कल्पक है, अत एव उसका असत्त्व नहीं है) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा २

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थाम । श्रान्तसदाम्ऽइव ।
आऽस्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः । न । वा ॥

पूर्वं प्रतिपादितप्रकारेण उदकसत्ताया अवश्यंभावात् लब्ध-

---

† तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । ५ । १ में कहा है, कि–"आपो वा इदं अग्रे सलिलं आसीत्–यह जल ही पहिले था ।"

तथा मनुस्मृति १ । ८ में भी कहा है, कि-"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यं अपाकिरत्–पहिले उसने जलकी सृष्टि की और उसमें अपने वीर्यको स्थापित किया) ॥

सत्ताकस्य च वस्तुनः क्वचिद् अवस्थाननियमात् अस्यापि केनचिद् निवासस्थानेन भवितव्यम् इत्याशङ्क्य विवक्षितम् असाधारणं स्थानं दर्शयति अन्तरिक्ष इति । आसाम् वीरुधां स्थाम स्थानं स्थितिहेतुभूतम् उदकम् अन्तरिक्षे द्यावापृथिव्योर्मध्यवर्तिनि लोके । वर्तत इति शेषः । ❀ स्थामेति । ष्ठा गतिनिवृत्तौ । अस्माद् मनिन् प्रत्ययः ❀ ॥ यद्वा । आसाम् वीरुज्जीवनहेतुभूतानाम् अपां स्थाम स्थानम् अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके । आह च भगवान् पतञ्जलिर्महाभाष्ये । "अन्तरिक्षे महत् समुद्रं विततम् अस्ति" इति । श्रूयते च । "अस्मिन् महत्यर्णवेन्तरिक्षे" [तै० सं० ४. ५. ११. १] इति । तत्र दृष्टान्तः । श्रान्तसदामिव । तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना श्रान्ताः सन्तः सीदन्ति निवसन्ति सुखोपभोगार्थम् इति श्रान्तसदः यक्षगन्धर्वादयः । ❀ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु । अस्मात् "सत्सूद्विष०" इत्यादिना क्विप् ❀ । तेषां यथा अन्तरिक्षं स्थानम् । "यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितम् अन्तरिक्षम्" [नृ० पू० ता० १ । २] इति श्रुतेः । तथेति पूर्वेण संवन्धः । ❀ "इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" इति समासः ❀ ॥ लोकान्तरगतत्वेन तद् उदकं भूलोकनिवासिनाम् अनुपकारकम् इत्याशङ्क्य आह आस्थानम् इति । अस्य अस्मिन् लोके परिदृश्यमानस्य भूतस्य लब्धसत्ताकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः आस्थानम् । आ समन्तात् तिष्ठन्ति जीवन्ति अनेनेति आस्थानम् । ❀ करणे ल्युट् ❀ । वृष्टिद्वारा जगज्जीवनकारणम् इत्यर्थः ॥ तस्य दुर्ज्ञानत्वम् आह । तत् कारणभूतम् उदकं वेधसः विधातारो मन्वादयः विदुः जानन्ति न वा विदुः न वा जानन्ति । सर्वस्रष्टृणां तेषामपि संदिग्धं किल तत् किमु वक्तव्यम् अर्वाचीनानां मनुष्याणां दुर्ज्ञेयमिति इत्यर्थः । ❀ विदुष्टद् इति । "युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तःपादम्" इति विसर्जनीयस्य षत्वम् ❀ ॥

(पहिले मन्त्रमें प्रतिपादित की हुई रीतिके अनुसार जलसत्ता अवश्य है, और सत्तावाली वस्तु कहीं रहेगी, यह नियम है । अत एव इसका भी कोई निवासस्थान होना चाहिये ऐसी आशङ्का करके इस मन्त्रमें जलका स्थान अन्तरिक्ष माना है) इन वीरुधों की स्थितिका कारण जल द्यावापृथिवीके मध्यवर्ती लोक अन्तरिक्षलोकमें रहता है‡ । (उसमें दृष्टान्त यह है, कि-) कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपसे श्रान्त होकर सुख भोगनेके लिये निवास करने वाले यक्ष गन्धर्व † आदिका निवासस्थान जैसे अंतरिक्ष लोक है (जब वह जल दूसरे लोकमें है तो उससे भूलोकवासियों का उपकार कैसे होसकता है इस आशंकाके उत्तरमें कहते हैं,कि) इस लोकमें दीखते हुए सत्तावान् स्थावरजंगमात्मक जगत्का जल आस्थान है, अर्थात् इसके द्वारा जगत् जीवित रहता है, तात्पर्य यह है, कि-यह जल वृष्टिके द्वारा जगत्के जीवनका कारण है । (अब उसकी दुर्ज्ञेयताको कहते हैं, कि-) उस कारणभूत जलको विधाता मनु आदि भी जानते हैं या नहीं ? (सबके रचयिताओं को जब इस बिषयमें सन्देह है, फिर आज कलके मनुष्योंको उसको दुर्ज्ञेय होना, कौनसे आश्चर्यकी बात है ?) ॥ २ ॥

---

‡ इसी बातको भगवान् पतञ्जलिने महाभाष्यमें कहा है, कि— "अन्तरिक्षे महत् समुद्रं विततं अस्ति—अन्तरिक्षमें बड़ा भारी समुद्र फैल रहा है ।" श्रुतिमें भी कहा है, कि—"अस्मिन् महत्यर्णवे अन्तरिक्षे—इस अन्तरिक्षके महासमुद्रमें" (तैत्तिरीयसंहिता ४ । ५ । ११ । १) ॥

† नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद् १ । २ में कहा है, कि-"यक्ष-गन्धर्वाप्सरोगणसेवितं अन्तरिक्षम्-अन्तरिक्षलोक यक्ष गन्धर्व और अप्सराओंसे सेवित है" ॥

तृतीया ॥

यद् रोद॑सी॒ रेज॑माने॒ भूमि॑श्च नि॒रत॑क्षतम् ।
आ॒र्द्रं त॒दद्य स॒र्वदा॑ स॒मुद्रस्ये॑व स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोद॑सी॒ इति॑ । रेज॑माने॒ इति॑ । भूमिः॑ । च॒ । निः॒ऽअत॑क्षतम् ।
आ॒र्द्रम् । तत् । अ॒द्य । स॒र्व॒दा । स॒मु॒द्रस्य॑ऽइव । स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

तस्योदकस्य उत्पत्तिप्रकारम् आह । रोदसी हे द्यावापृथिव्यौ रेजमाने कम्पमाने जलम् उत्पादयितुं व्याप्रियमाणे । ❀ रेजृ कम्पने इति धातुः । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः इति यास्कः [नि० ३. २१] ❀ । भूमिः चकारात् द्यौश्च युवां यत् प्रागुदीरितम् उदकं निरतक्षतम् उदपादयतम् । सृष्टस्योदकस्य सर्वदा धारणात् प्राधान्यं सूचयितुं भूमेः अवयुत्यापि निर्देशः । ❀ तक्षू त्वक्षू तनूकरणे । अस्मात् लङि मध्यमद्विवचने रूपम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तत् उदकम् अद्य इदानीं वर्तमानकाले सर्वदा सर्वस्मिन् काले आर्द्रम् आर्द्रगुणयुक्तं शोषरहितम् । वर्तत इति शेषः । वृष्टिद्वारा उदके निर्गतेपि पुनरपि अन्तरिक्षगतम् उदकम् अनुपक्षीणं वर्तत इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः । समुद्रस्येव स्रोत्याः । यथा समुद्रगामिन्यो नद्यः अक्षीणोदका वर्तन्ते तद्वद् इत्यर्थः । ❀ "स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ" इति ड्यप्रत्ययः । डित्त्वात् टिलोपः ❀ ॥

(जलके उत्पत्तिप्रकारको कहते हैं, कि-) हे द्यावापृथिवी तुमने जलको उत्पन्न करनेमें लगे रहकर इस जलको उत्पन्न किया है और भूमिने इस जलको उत्पन्न किया है । वह जल इस समय और सब समय आर्द्रगुणयुक्त रहता है । तात्पर्य यह है, कि-वृष्टिके द्वारा जलके निकल जाने पर भी अन्तरिक्षका जल अनुपक्षीण

ही रहता है, कभी क्षीण नहीं होता है। (उसमें दृष्टान्त यह है, कि-) जैसे समुद्रगामिनी नदियें अक्षीण जल वाली रहती हैं।३।

चतुर्थी ॥

विश्वं॑म॒न्याम॑भी॒वार॒ तद॒न्यस्या॒मधि॑श्रि॒तम् ।

दि॒वे च॑ वि॒श्ववे॑दसे पृथि॒व्यै चा॑क॒रं नमः॑ ॥ ४ ॥

विश्व॑म् । अ॒न्याम् । अ॒भि॒ऽवार॑ । तत् । अ॒न्यस्या॑म् । अधि॑ । श्रि॒तम् ।

दि॒वे । च॒ । वि॒श्वऽवे॑दसे । पृ॒थि॒व्यै । च॒ । अ॒क॒र॒म् । नमः॑ ॥ ४ ॥

विशिष्टकारणजन्यत्वेन आप्यं श्रैष्ठ्यं सूचयितुं कारणत्वेन उक्ते द्यावापृथिव्यौ प्रशंसति । विश्वम् । ❀ कर्मणि षष्ठ्यभावश्छान्दसः ❀ । विश्वस्य अन्यान् । ❀ "सुपां सुपो भवन्ति" इति सोः अम् आदेशः ❀ । अन्या द्यौः अभीवारः अभितो वरणं छादनम् । भवतीति शेषः । ❀ वृञ् वरणे । "वृणो [तेराच्छादने" इति अ] भिपूर्वादपि व्यत्ययेन घञ् । "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀ ।। अथ वा विश्वम् कृत्स्नं जगत् अन्याम् अन्यया दिवा । ❀ व्यत्ययेन द्वितीया ❀ । अभिवारः अभिवृतम् । ❀ कर्मणि घञ् ❀ । आच्छन्नम् इत्यर्थः । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ ॥ यद्वा । विश्वम् कर्तृभूतं जगत् अन्याम् दिवम् उद्दिश्य अभीवारः । अभितः संभजनयुक्तं वृष्टिविषयप्रार्थनायुक्तम् अभूत् । ❀ वृङ् संभक्तौ । भावे घञ् ❀ ॥ तत् उक्तं विश्वम् अन्यस्याम् पृथिव्याम् अधिश्रितम् आश्रितं वर्तते ॥ दिवे उक्तलक्षणाय द्युलोकाय विश्ववेदसे । वेद इति धननाम । विश्वस्य जगतो धनभूताय । वृष्टिप्रदानेन सर्वधनहेतुत्वाद्ध धनात्मकत्वम् । यद्वा वेद इति ज्ञाननाम । विश्वं विश्वविषयं ज्ञानं यस्याः सा तथोक्ता तस्यै । तथा पृथिव्यै विश्वाधारभूतायै । परस्परसमुच्-

याथौं चकारौ। नमः। अन्ननामैतत्। हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा अकरम् करोमि। ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति करोतेर्वर्तमाने लुङ्। "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः। "तिङ्ङतिङः" इति निघातः ❀॥

[इति] षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

(श्रेष्ठ कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण जल श्रेष्ठ है इस बातको सूचित करनेके लिए जलके कारणरूपसे कहे हुए द्यावापृथिवी की प्रशंसा करते हैं, कि-) द्यौः विश्वका आवरण (ढक्कनरूप) है अथवा कर्तृभूत जगत् द्यौसे वृष्टिविषयकी प्रार्थना करता है। और वह विश्व पृथिवीका आश्रित रहता है। वृष्टि करनेसे संपूर्ण धनोंके कारण और विश्वका ज्ञान रखने वाले उस द्युलोकको तथा विश्वकी आधारभूत पृथिवीको मैं नमस्कार करता हूँ वा हविरूप अन्न देता हूँ॥ ४॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (३२)॥

"हिरण्यवर्णाः" इति सूक्तस्य बृहद्गणे लघुगणे अपां सूक्तेषु च पाठात् तेषां यत्र यत्र विनियोगस्तत्र अस्य सूक्तस्य विनियोगोनुसंधेयः॥ गणस्वरूपसूत्रं पूर्वमेव उदाहृतम् [१. ४]॥

तथा अनेन सूक्तेन अर्थोत्थापनकर्मणि "अम्बयो यन्ति" [१. ४] इति सूक्तोक्तानि कर्माणि कुर्यात्॥

तथा गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि वपनानन्तरम् अनेन सूक्तेन माणवकं स्नापयेत्। सूत्र्यते हि। "अथैनम् उप्तकेशश्मश्रुं कृत्तनखम् आप्लावयति हिरण्यवर्णाः इत्येतेन सूक्तेन" इति [कौ० ७. ५]॥

तथैव मधुपर्के पाद्योदकाभिमन्त्रणे च एतत् सूक्तम्। "अथोदकम् आहारयति पाद्यं भो इति हिरण्यवर्णाभिः [१. ३३] प्रतिमन्त्र्य" इति सूत्रितम् [कौ० १२. १]॥

तद्वदेव अनुकदेश उदकप्रादुर्भावलक्षणे अद्भुते अनेन सूक्तेन

आज्यहोमः कार्यः। सूत्रितं हि। "अथ यत्रैतद् अनुदक उदकोन्मीतो भवति हिरण्यवर्णा इत्यपां सूक्तैर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. २६]॥

उदकपूर्णकलशभङ्गे नवकलशम् आहृत्य तत्र अनेन सूक्तेन उदकम् अभिमन्त्र्य पूरयेत्। "अथ यत्रैतत् कुम्भ उदधानः सक्तुधानी वा उखा वा अनिङ्गिता विकसति" इति प्रक्रम्य सत्रितम् "अन्यं कृत्वा ध्रुवाभ्यां दृंहयित्वा तत्र हिरण्यवर्णा इत्युदकम् आसेचयेत्" इति [कौ० १३. ४४]॥

पुष्पाभिषेके कलशाभिमंत्रणेपि एतत् सूक्तम्। तद् उक्तं परिशिष्टे।

सावित्र्युभयतः कुर्यात् शं–नो देवी तथैव च।

हिरण्यवर्णाः सूक्तं चानुवाक्याद्यमेव च इति [प० ५. २]

"हिरण्यवर्णाः" सूक्तका बृहद्गण लघुगण और अपांसूक्तमें भी पाठ है, अत एव इन गणोंका जहाँ विनियोग होगा तहाँ इसका भी विनियोग होगा। इन गणोंका सूत्र प्रथमकाण्डके चतुर्थ सूक्तमें आचुका है॥

तथा इस सूक्तसे अर्थोत्थापन कर्ममें चतुर्थसूक्तमें कहे हुये कर्म करे॥

तथा गोदान नामक संस्कार कर्ममें वपन (मुण्डन)के अनन्तर इस सूक्तसे बालकको स्नान करावे। इसी बातको कौशिकसूत्र ७।५ में कहा है, कि–"अथैनं उप्तकेशश्मश्रुं कृत्तनखं आप्लावयति हिरण्यवर्णाः इत्येतेन सूक्तेन–इस केश मूँछ मुड़े हुए, नख कटे हुएको हिरण्यवर्णाः सूक्तसे स्नान करावे"॥

इसी प्रकार मधुपर्क और पाद्योदकके अभिमंत्रणमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको कौशिकसूत्र १२। १ में कहा है, कि–"अथोदकं आहारयति पाद्यम् भो इति हिरण्यवर्णाभिः प्रतिमंत्र्य"॥

यार्थौ चकारौ । नमः । अन्ननामैतत् । हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा अकरम् करोमि । ❀ “छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति करोतेर्वर्तमाने लुङ् । “कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि” इति च्लेः अङ् आदेशः । “तिङ्ङतिङः” इति निघातः ❀ ॥

[इति] षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

(श्रेष्ठ कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण जल श्रेष्ठ है इस बातको सूचित करनेके लिए जलके कारणरूपसे कहे हुए द्यावापृथिवी की प्रशंसा करते हैं, कि-) द्यौः विश्वका आवरण (ढक्कनरूप) है अथवा कर्तृभूत जगत् द्यौसे वृष्टिविषयकी प्रार्थना करता है । और वह विश्व पृथिवीका आश्रित रहता है । वृष्टि करनेसे संपूर्ण धनोंके कारण और विश्वका ज्ञान रखने वाले उस द्युलोकको तथा विश्वकी आधारभूत पृथिवीको मैं नमस्कार करता हूँ वा हविरूप अन्न देता हूँ ॥ ४ ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (३२) ॥

“हिरण्यवर्णाः” इति सूक्तस्य बृहद्गणे लघुगणे अपां सूक्तेषु च पाठात् तेषां यत्र यत्र विनियोगस्तत्र अस्य सूक्तस्य विनियोगोनुसंधेयः ॥ गणस्वरूपसूत्रं पूर्वमेव उदाहृतम् [१. ४] ॥

तथा अनेन सूक्तेन अर्थोत्थापनकर्मणि “अम्बयो यन्ति” [१. ४] इति सूक्तोक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥

तथा गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि वपनानन्तरम् अनेन सूक्तेन माणवकं स्नापयेत् । सूत्र्यते हि । “अथैनम् उप्तकेशश्मश्रुं कृत्तनखम् आप्लावयति हिरण्यवर्णाः इत्येतेन सूक्तेन” इति [कौ० ७. ५]॥

तथैव मधुपर्के पाद्योदकाभिमन्त्रणे च एतत् सूक्तम् । “अथोदकम् आहारयति पाद्यं भो इति हिरण्यवर्णाभिः [१. ३३] प्रतिमन्त्र्य” इति सूत्रितम् [कौ० १२. १] ॥

तद्वदेव अनुक्तदेश उदकप्रादुर्भावलक्षणे अद्भुते अनेन सूक्तेन

आज्यहोमः कार्यः । सूत्रितं हि । "अथ यत्रैतद् अनुदक उदकोन्मीलो भवति हिरण्यवर्णा इत्यपां सूक्तैर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. २६]॥

उदकपूर्णकलशभङ्गे नवकलशम् आहृत्य तत्र अनेन सूक्तेन उदकम् अभिमन्त्र्य पूरयेत् । "अथ यत्रैतत् कुम्भ उदधानः सक्तुधानी वा उखा वा अनिङ्गिता विकसति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् "अन्यं कृत्वा ध्रुवाभ्यां दृंहयित्वा तत्र हिरण्यवर्णा इत्युदकम् आसेचयेत्" इति [कौ० १३. ४४] ॥

पुष्पाभिषेके कलशाभिमंत्रणेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं परिशिष्टे।

सावित्र्युभयतः कुर्यात् शं—नो देवी तथैव च ।
हिरण्यवर्णाः सूक्तं चानुवाक्याद्यमेव च इति [प० ५. २]

"हिरण्यवर्णाः" सूक्तका बृहद्गण लघुगण और अपांसूक्तमें भी पाठ है, अत एव इन गणोंका जहाँ विनियोग होगा तहाँ इसका भी विनियोग होगा। इन गणोंका सूत्र प्रथमकाण्डके चतुर्थ सूक्तमें आचुका है ॥

तथा इस सूक्तसे अर्थोत्थापन कर्ममें चतुर्थसूक्तमें कहे हुये कर्म करे ॥

तथा गोदान नामक संस्कार कर्ममें वपन (मुण्डन)के अनन्तर इस सूक्तसे बालकको स्नान करावे । इसी बातको कौशिकसूक्त ७ । ५ में कहा है, कि—"अथैनं उप्तकेशश्मश्रुं कृत्तनखं आप्लावयति हिरण्यवर्णाः इत्येतेन सूक्तेन—इस केश मूँछ मुड़े हुए, नख कटे हुएको हिरण्यवर्णाः सूक्तसे स्नान करावे" ॥

इसी प्रकार मधुपर्क और पाद्योदकके अभिमंत्रणमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है । इसी बातको कौशिकसूत्र १२ । १ में कहा है, कि—"अथोदकं आहारयति पाद्यम् भो इति हिरण्यवर्णाभिः प्रतिमंत्र्य" ॥

इसी प्रकार जलरहित देशमें जलप्रादुर्भावरूप अद्भुत होनेपर इस सूक्तसे घृतका होम करना चाहिये ॥ इसी बातको कौशिकसूत्र १३ । २६ में कहा है, कि—"अथ यत्रैतद् अनुदक उदकोन्मीलो भवति हिरण्यवर्णा इत्यपां सूक्तैर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः—जहाँ जलरहितदेशमें जल निकलने लगे तहाँ हिरण्यवर्णाः इस अपांसूक्तसे होम करे, यही इसका प्रायश्चित्त है" ॥

जलसे पूर्ण कलश टूट फूट जावे तो नवीन कलश (कुम्भ) को लाकर इस सूक्तसे जलको अभिमंत्रित करके भरे । इसी बातको कौशिकसूत्र १३ । ४४ में कहा है, कि—"अथ यत्रैतद् कुम्भ उदधानः सक्तुधानी वा उखा वा अनिंगिता विकसति" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् "अन्यं कृत्वा ध्रुवाभ्यां दृंहयित्वा तत्र हिरण्यवर्णा इत्युदकम् आसेचयेत्" ॥

पुष्पाभिषेकके कलशाभिमंत्रमें भी इस सूक्तका पाठ होता है । इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—

सावित्र्युभयतः कुर्यात् शं नो देवी तथैव च ।
हिरण्यवर्णाः सूक्तं चानुवाक्याद्यमेव च ॥
(प० ५ । २)

तत्र प्रथमा ॥

हिर॑ण्यवर्णा॒ः शुच॑यः पाव॒का यासु॑ जा॒तः स॑वि॒ता यास्व॒ग्निः ।
या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आप॒ः शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ १ ॥

हिर॑ण्यऽवर्णाः । शुच॑यः । पा॒व॒काः । यासु॑ । जा॒तः । स॒वि॒ता ।

यासु॑ । अ॒ग्निः ।

याः । अ॒ग्निम् । गर्भ॑म् । द॒धि॒रे । सु॒ऽवर्णाः॑ । ताः । न॒ः । आप॑ः ।

शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु॒ ॥ १ ॥

हिरण्यवर्णाः हितरमणीयवर्णाः हिरण्यसदृशवर्णा वा हिरण्यस्य वर्ण इव वर्णो यासां तास्तथोक्ताः। ❀ "सप्तम्युपमान०" इत्यादिना बहुव्रीहिः । "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तत्वम् ❀। शुचयः शुद्धा अत एव पावकाः अन्येषां स्नानपानादिना शोधयित्र्यः । ❀ "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य०" इत्यादिना प्राप्तस्य इत्वस्य "पावकादीनाम् छन्दस्युपसंख्यानम्" इति प्रतिषेधः ❀ । अपां स्वरूपपर्यालोचनया शुद्धिहेतुताम् अभिधाय शोधकानां सवित्रादीनां जन्महेतुत्वेनापि तां समर्थयते यास्विति । यासु अप्सु सविता सर्वस्य प्राणिजातस्य प्रेरक आदित्यो जातः प्रादुर्भूतः । प्रत्यहं हि समुद्रात् सूर्य उद्यन् दृश्यते तदपेक्षोयं निर्देशः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । "श्वीदितो निष्ठायाम्" इति इट्प्रतिषेधः । "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ । तथा यासु अप्सु मेघस्थासु सामुद्रीषु च अग्निः वैद्युतवाडवरूपेण जात इति संबन्धः । गर्भरूपेण शुचिना अग्निना नित्यसंबन्धादपि अपां पूतताम् आह या अग्निम् इति । याः सुवर्णाः शोभनवर्णा आपः अग्निम् अङ्गनादिगुणयुक्तं देवं गर्भं दधिरे गर्भत्वेन धारयन्ति । तथा च निगमः । "अग्ने गर्भो अपाम् असि" [तै० सं० ४. २. ३. ३] इति । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः ।"छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लिट् । बहुवचने आलोपे कृते तस्य "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवत्त्वाद् द्विर्वचनम् । इरेचश्चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। ता उदीरितलक्षणाः

सर्वा आपः नः अस्माकम् अवसेकादिना कर्मणा शम् रोगादिशमनहेतवःस्योनाः । सुखनामैतत् । सुखकारिण्यश्च भवन्तु ॥

हितकर और रमणीय वर्ण वाला वा सुवर्णकी समान वर्ण वाला और पवित्र, अत एव स्नान पान आदिसे दूसरोंको शुद्ध करने वाला (जल अपने स्वरूपसे ही पवित्र है अत एव पवित्र करने वाला है तथा शोधक सूर्य आदिका उत्पन्न करनेवाला है, यथा) जिस जलसे सब प्राणियोंके प्रेरक आदित्य उत्पन्न हुए हैं (सूर्य प्रतिदिन समुद्रसे उठते हुए दीखते हैं, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यह बात कही है) तथा जिस मेघस्थ और समुद्र के जलमें अग्नि विजली और बड़वानलके रूपमें उत्पन्न होता है, जो शोभन वर्ण वाला जल अंगनादिगुणयुक्त अग्निको गर्भरूपमें धारण करता है[1] ॥ यह सब प्रकारका जल हमारे अवसेक आदि कर्मसे रोग आदिका शमन करनेवाला और हमें सुख देनेवाला हो १

द्वितीया ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव-
पश्यन् जनानाम् ।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं
स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति
सत्यऽअनृते । अवऽपश्यन् । जनानाम् ।

---

[1] तैत्तिरीयसंहिता ४ । २ । ३ । ३ में कहा है, कि—"अग्ने गर्भो अपां असि–हे अग्ने ! तुम जलोंके गर्भ हो" ॥

या । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सुऽवर्णाः । ताः । नः ।

आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

आप एव स्तूयन्ते । राजा राजमानो वरुणः एतत्संज्ञः पापिनां निग्रहकर्ता देवः यासाम् अपां मध्ये मध्यभागे । समुद्रमध्य इति यावत् । तत्र स्थित्वा [जनानां] सत्यानृते । सत्यं यथार्थभाषणम् तद्विपरीतम् अनृतम् । उभे अवपश्यन् तत्कर्तृनिग्रहार्थम् अवयुत्य परस्परसांकर्यपरिहारेण जानन् याति गच्छति पाशहस्तस्तत्रतत्र संनिधत्ते ॥ तथा च तैत्तिरीकम् । "अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति" [तै० ब्रा० १. ७. २. ६] इति ॥ अन्यद्व्याख्यातम् ॥

(अब जलकी ही स्तुति करते हैं) पापियोंको दण्ड देनेवाले राजमान वरुणदेव जिस जलके मध्य (समुद्र) में स्थित होकर मनुष्योंके सत्यभाषण और असत्यभाषण दोनोंको देख उनके कर्ताओं पर शासन करनेके लिये उन दोनोंको परस्पर अलग कर उनको समझ कर हाथमें पाश धारण कर तहाँ फल देनेको जाते हैं + । और जिस सुन्दर वर्ण वाले जलने अग्निको गर्भमें धारण किया है, वह जल हमें शान्ति और सुखदायक हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे

बहुधा भवन्ति ।

+ तैत्तिरीयब्राह्मण १।७।२।६ में कहा है, कि—"अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति—झूँठ बोलने पर वरुण दण्ड देते हैं" ॥

या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं
स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

यासाम् । देवाः । दिवि । कृण्वन्ति । भक्षम् । याः । अन्तरिक्षे ।
बहुऽधा । भवन्ति ।
याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सुऽवर्णाः । ताः । नः ।
आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ३ ॥

देवाः इन्द्राद्याः यासाम् अपां सारभूतं अमृतं सोमं वा दिवि द्युलोके भक्षम् उपभोग्यम् । ❀ भक्ष अदने । कर्मणि घञ् । "णेरनिटि" इति णिलोपः । "एरजण्यन्तानाम्" इति अचो न प्रसङ्गः । भक्ष मन्थ भोग देह इति उञ्छादिषु पाठाद् अन्तोदात्तता ❀ । कृण्वन्ति कुर्वन्ति । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । इदित्त्वाद् नुम् । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः तत्संनियोगेन अकारश्चान्तादेशः । अतो लोपे तस्य स्थानिवद्भावात् लघूपधगुणाभावः । "सतिशिष्टस्वरबलीयस्त्वम् अन्यत्र विकरणेभ्यः" इति उप्रत्ययस्वरं बाधित्वा पिङः प्रत्यस्वरेण आद्युदात्तत्वम् ❀ । तथा या आपः अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके बहुधा बहुप्रकारेण । ❀ "बहुगणवतुडति संख्या" इति संख्याया विधार्थे धा" इति धा प्रत्ययः ❀ । वृष्ट्यादिरूपेण नाना भवन्ति ॥ व्याख्यातम् अन्यत् ॥

इन्द्र आदि देवता जिस जलके सारभूत अमृतको और सोमको द्युलोकमें उपभोग करते हैं और जो जल अंतरिक्षमें वृष्टि आदि रूपसे अनेक प्रकारका होजाता है और जो सुन्दर वर्ण वाला जल अग्निको गर्भमें धारण करता है, वह हमैं शान्तिदायक और सुखदायक हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

शि॒वेन॑ मा॒ चक्षु॑षा पश्यतापः शि॒वया॑ त॒न्वोप॑
स्पृशत॒ त्वच॑ं मे ।
घृ॒त॒श्चुत॒ः शुच॑यो॒ याः पा॑व॒कास्ता न॒ आप॒ः शं
स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ४ ॥

शि॒वेन॑ । मा॒ । चक्षु॑षा । प॒श्य॒त॒ । आ॒प॒ः । शि॒वया॑ । त॒न्वा॑ ।
उप॑ । स्पृ॒शत॒ । त्वच॑म् । मे॒ ।
घृ॒त॒ऽश्चुत॑ः । शुच॑यः । याः । पा॒व॒काः । ताः । न॒ः । आप॑ः ।
शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु ॥ ४ ॥

हे आपः । ❀ "आमन्त्रितस्य च" इत्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । अबभिमानिन्यो देवता यूयं शिवेन अक्रूरेण सुखकरेण चक्षुषा लोचनेन मा मां सेकादिना अनिष्टपरिहारेष्टप्राप्तिकामं पश्यत अवलोकयत । ❀ "त्वामौ द्वितीयायाः" इत्यस्मदो द्वितीयान्तस्य मादेशः ❀ ॥ तथा शिवया कल्याण्या इष्टप्राप्तिहेतुभूतया तन्वा युष्मदीयेन शरीरेण मे मम युष्मदनुग्रहाकाङ्क्षिणः त्वचम् त्वग्धातुम् उप स्पृशत संमृशत ॥ परोक्षवद् आह । घृतश्चुतः घृतं क्षरणशीलं दीप्यमानं वा अमृतं श्चोतन्ति क्षरन्तीति घृतश्चुतः अमृतस्राविण्य आपः । ❀ श्चुतिर् क्षरणे । "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥ अन्यद्व्याख्यातम् ॥

इति पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे जलके अभिमानी देवताओ ! आप अपने सुखदायक अक्रूर नेत्रसे मुझ सेक आदिसे अनिष्टको दूर करना चाहने वालेको

देखिये, तथा इष्ट प्राप्तिके कारण अपने शरीरसे आप, आपका अनुग्रह चाहने वालेकी त्वचाका स्पर्श करिये। अमृत टपकाने वाले जल, तथा मेघमें विजली समुद्रमें बड़वानल इस प्रकार अग्निको गर्भ में धारण करने वाले जल भी सुख और शान्तिप्रद हों ॥ ४ ॥

छठे अनुवाकमें पाँचवाँ सूक्त समाप्त (३३) ॥

परिषज्जयकर्मणि सभाप्रवेशात् पूर्वम् "इयं वीरुत्" इति सूक्तेन मधुकाख्यां वीरुधं भक्षयेत् । सूत्रितं हि । "इयं वीरुद् इति मधुकं खादन् अपराजिताम् परिषदम् आव्रजति" इति [कौ० ५. २] ॥

विवाहकर्मण्यपि एतेन सूक्तेन मधुकमणिं रक्तसूत्रेण बद्ध्वा अंगुल्यां बध्नीयात् । सूत्रितं च । "इयं वीरुद् इति मधुकमणिं लक्षारक्तेन सूत्रेण विग्रथ्य अनामिकायां बध्नाति" इति [कौ० १०. २] ॥

विवाह एव चतुर्थिकाकर्मणि शयनकाले मधुकमणिं पिष्ट्वा औक्षे प्रक्षिप्य अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य वधूवरौ परस्परं संगच्छेयाताम् । "मधुकमणिम् औक्षेऽपनीय इयं वीरुत् [१. ३४] अमोहम् [१४. २. ७१, ७२] "इति संस्पृशतः" इति [कौ० १०. ५] सूत्रितत्वात् ॥

अश्वमेधे ब्रह्मोद्यवदनेपि एतत् सूक्तम् ॥

सभाजयके कर्ममें सभामें प्रवेश करनेसे पहिले "इयं वीरुत्" सूक्तसे मधूक (महुआ) नाम वाली वीरुत्का भक्षण करे । कौशिकसूत्र ५ । २ में भी कहा है, कि–"इयं वीरुत् इति मधूकं खादन् अपराजितां परिषदं आव्रजति–इयं वीरुत् सूक्तको पढ़ मधूक खाता हुआ अपराजित सभामें जावे" ॥

विवाहकर्ममें इस सूक्तसे मधूकमणिको रक्तसूत्रसे बाँधकर अँगुलीमें बाँधे, कौशिकसूत्र १०।२ में कहा भी है, कि–"इयं वीरुदिति मधूकमणिं लाक्षारक्तसूत्रेण विग्रथ्य अनामिकायां बध्नाति ।"

विवाहके चतुर्थीकर्ममें शयनके समय मधूकमणिको पीस कर ओष्ठमें डाल इस सूक्तसे अभिमंत्रित कर वधू और वर परस्पर संगमन करें। क्योंकि—कौशिकसूत्र १० । ५ में कहा है, कि—"मधूकमणिं औक्षेपनीय इयं वीरुत् (१ । ३४) अमोऽहम् (१४। २ । ७१, ७२) इति संस्पृशतः–मधूकमणिको ओष्ठमें डाल कर "इयं वीरुत्" (१ । ३४) और "अमोहम्" चौदहवें काण्डके द्वितीय अनुवाकके ७१ और ७२ वें सूक्तसे छुएँ।"

अश्वमेधके ब्रह्मोद्यवदनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है।

तत्र प्रथमा ॥

इ॒यं वी॒रुन्मधु॑जाता॒ मधु॑ना त्वा खनामसि ।
मधो॒रधि॒ प्रजा॑तासि॒ सा नो॒ मधु॑मतस्कृधि ॥ १ ॥

इ॒यम् । वी॒रुत् । मधु॑ऽजाता । मधु॑ना । त्वा॒ । ख॒ना॒म॒सि॒ ।
मधोः॑ । अधि॑ । प्रऽजा॑ता । अ॒सि॒ । सा । नः॒ । मधु॑ऽमतः । कृ॒धि॒ ॥ १ ॥

इयम् पुरोवर्तिनी सभाजयादिकर्मसु विनियुज्यमाना वीरुत् विरोहणशीला लता मधुकाख्या मधुजाता मधुनि मधुररसोपेते भूतले जाता उत्पन्ना। यद्वा मधुने मध्वर्थम् उपभोक्तॄणां वचसि माधुर्यसंपादनाय जाता उत्पन्ना। अथवा मधुना क्षौद्ररसेन जाता उत्पन्ना। तस्या उत्पत्तौ क्षौद्ररस एव जलवत् कारणम् इत्यर्थः। ❀ जनी प्रादुर्भावे। कर्तरि निष्ठा ❀॥ हे वीरुत् त्वा त्वाम् स्वभावतो मधुरां वयमपि मधुना मधुरूपेण खनित्रादिना खनामसि खनामः अवदारयामः। ❀ खनु अवदारणे। "इदन्तो मसिः" इति मस इदन्तत्वम् ❀। यद्वा मधुना। ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀। मधुरेण प्रकारेण खनामः। माधुर्यरसोपेतामेव त्वां खनामि न तु केवलाम् इत्यर्थः॥ तथा त्वं मधोः मधुनः। ❀ लिङ्ग-

व्यत्ययः । "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति पञ्चमी ❀ । मधुरूपाद् उपादानकारणात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । प्रजाता प्रकर्षेण जाता असि भवसि ॥ या त्वम् उक्तप्रकारेण आश्रयतः स्वभावतः उपादानतश्च मधुमयी भवसि सा त्वं नः अस्मान् मधुमतः मधुररसोपेतान् कृधि कुरु । कायिकवाचिकमानसरूपः अस्मदीयः सकलो व्यापारः मधुररसोपेतः सन् सर्वैरुपादेयो भवतु इत्यर्थः । ❀ डुकृञ् करणे । मध्यमैकवचने छान्दसो विकरणस्य लुक् । "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः । "कः करत्करतिकृधिकृतष्वनदितेः" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

यह आगे रक्खी हुई सभाजय आदि कर्मोंमें विनियुज्यमान वीरुत् अर्थात् विरोहणशील (चढ़ने वाली) मधूक नाम वाली लता मधुर रस वाली भूमिमें उत्पन्न हुई है । वा मधुभावके लिये उपभोग करने वालोंके वचनमें माधुर्यका सम्पादन करनेके लिये उत्पन्न हुई है अथवा क्षौद्ररससे उत्पन्न हुई है अर्थात् इसकी उत्पत्तिमें क्षौद्ररस ही जलवत् कारण है । हे वीरुत् ! तू स्वभाव से ही मधुर है हम भी तुझे मधुररूपसे खनित्र आदिसे खोदते हैं अथवा मधुररस वाली ही तुझको खोदता हूँ केवल सूखीको नहीं खोदता हूँ । तथा तू मधुररूप उपादानकारणसे उत्पन्न हुई है । इस प्रकार तू स्वभाव और उपादान दोनों प्रकारसे मधुमयी है अतः हमैं भी मधुररसयुक्त कर । तात्पर्य यह है, कि—हमारे मन वाणी और शरीरका सब व्यापार मधुरतायुक्त होनेसे सबके ग्रहण करने योग्य हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जि॒ह्वाया॒ अग्रे॒ मधु॑ मे जिह्वामू॒ले म॒धूल॑कम् ।
ममेदह॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वाऽमूले । मधूलकम् ।

मम । इत् । अह । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उपऽआयसि ॥

[हे] मधुकलते त्वं [मे] जिह्वाया रसनाया अग्रे अग्रभागे मधु क्षौद्रं यथा भवति तथा वर्तस्व ॥ तथा जिह्वामूले रसनाया मूलभागे मधूलकम् मधुररसबहुलं जलमधूलकवृत्तपुष्पं यथा भवति तथा तदात्मिका वा वर्तस्व । जिह्वायां मध्वादिसंनिधानेन तन्निर्वर्त्या वागपि मधुरा सर्वेषां सुश्रवा भवतु इत्यर्थः ॥ तथा हे लते त्वं मम । इत् इति अहेति च निपातौ अवधारणार्थौ । उभाभ्याम् अन्ययोगायोगव्यवच्छेदौ क्रियेते । ममैव नान्यस्येत्यर्थः । क्रतौ कर्मणि शारीरे व्यापारे असः भव । ❀ अस भुवि । लेटि अडागमः ❀ ॥ तथा मम चित्तम् अन्तःकरणम् उपायसि उपागच्छ । मदीयः शारीरो मानसो व्यापारश्च त्वत्संनिधानात् माधुर्यरसोपेतः सर्वश्लाघ्यो भवतु इत्यर्थः ॥

हे मधूकलते ! मेरी जिह्वाके अग्रभागमें जिस प्रकार मधुरभाव रहे, तैसा तू वर्ताव कर, तथा जलमधूलक वृत्तका पुष्प जैसे मधुररससे परिपूर्ण रहता है, तिसी प्रकार मेरी जिह्वाका अग्रभाग मधुरससे पूर्ण रहे और हे मधूकलते ! तू मेरे शरीरमें और व्यापारमें रह और मेरे अन्तःकरणमें भी आ जा । तात्पर्य यह है, कि—मेरा मानसिक वाचिक और शारीरिक व्यापार तेरी समीपता से मधुररस युक्त होकर प्रशंसनीय होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ ३ ॥

मधु॑ऽमत् । मे॒ । नि॒ऽक्रम॑णम् । मध॑ऽमत् । मे॒ । प॒रा॒ऽअय॑नम् ।

वा॒चा । व॒दा॒मि॒ । मधु॑ऽमत् । भू॒या॑सम् । मधु॑ऽसंदृशः ॥ ३ ॥

हे मधुकलते त्वद्धारणेन मे मम निक्रमणम् निकटगमनं संनिहितार्थेषु प्रवर्तनं मधुमत् मधुयुक्तं स्वस्य परेषां च प्रीतिकरम् । भवतु इति शेषः ॥ तथा मे मम परायणम् परागमनं दूरगमनं मधुमत् भवतु ॥ तथा वाचा वागिन्द्रियेण यद् वदामि कथयामि तत् सर्वं मधुमत् भवतु ॥ इत्थं स्वकीयानां सर्वेषां व्यापाराणां मधुमयत्वात् तथाविधव्यापारयुक्तः अहमपि संदृशः संद्रष्टुः सर्वस्य पुरुषस्य मधु मधुमत् प्रीतिविषयो भूयासम् । ❀ संपूर्वाद् दृशेः "क्विप् च" इति क्विप् ❀ ॥

हे मधूकलते ! तुझको धारण करनेसे मेरा निकटगमन अर्थात् समीपके कार्योंमें प्रवृत्त होना अपनेको और दूसरेको प्रसन्नता देने वाला हो और मेरा परागमन भी—दूरका गमन भी—मधुरता युक्त हो और अपनी वाणीसे मैं जो कुछ कहूँ वह भी मधुरता-भरा हो । इस प्रकार अपने सब व्यापारोंके मधुमय होनेके कारण मैं भी सब देखने वाले पुरुषोंका (मधु) प्रिय होऊँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

मधो॑रस्मि॒ मधु॑तरो म॒दुघा॒न्मधु॑मत्तरः ।
मामित् किल॒ त्वं वना॒ः शाखां॒ मधु॑मतीमिव ॥४॥

मधो॑ः । अ॒स्मि॒ । मधु॑ऽतरः । म॒दुघा॑त् । मधु॑मत्ऽतरः ।

माम् । इत् । किल॑ । त्वम् । वना॑ः । शाखा॑म् । मधु॑मतीम्ऽइव ४

हे मधुकलते त्वत्संनिधानात् मधोः मधुनः क्षौद्रात् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । मधुतरः अतिशयेन मधुररसोपेतः अस्मि भवामि ।

❀ मधुशब्दात् तरप् ❀ ॥ मदुघात् मधुदुघात् । ❀ दुह प्रपूरणे । मधुशब्दोपपदाद् अस्माद् "दुहः कब् घश्च" इति कप् प्रत्ययः तत्संनियोगेन घत्वं च । मधुशब्दे धुलोपश्छान्दसः ❀ । मधुस्राविणः पदार्थविशेषात् मधुमत्तरः अतिशयेन मधुमान् अस्मि । ❀ मधुशब्दाद् मतुप् । तदन्तात् "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इति तरप् ❀ । स्वस्य अतिशयेन मधुमत्त्वे हेतुम् आह मामित् इति । हे मधुकलते त्वं मामित् । इच्छब्दः अवधारणे । किलशब्दः प्रसिद्धौ । मामेव खलु वनाः संभजेः । यतस्त्वं मय्येव संनिहिता अतोहं सर्वस्माद् मधुतर इत्यर्थः । ❀ वन षण संभक्तौ । अस्मात् लेटि मध्यमे "लेटोडाटौ" इत्याडागमः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । मधुमतीमिव मधुयुक्तां शाखाम् वृक्षसंबन्धिनीं यथा जनः सेवते तद्वद् इत्यर्थः ॥

हे मधूकलते ! मैं तेरी समीपतासे शहदसे भी मधुर होजाऊँ मधुस्रावी (मधु बहानेवाले पदार्थ) से भी अधिक मधुमय होऊँ (मेरे परम मधुर होनेका कारण यह है, कि–) हे मधूकलते ! तू केवल मुझे ही सेवन करती है अतः मैं सबसे मधुर हूँ । मधुयुक्त वृक्षकी शाखाका ही जैसे सब सेवन करते हैं [इस प्रकार सब मेरा सेवन करें] ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥५॥

परि । त्वा । परिऽतत्नुना । इक्षुणा । अगाम् । अविऽद्विषे ।
यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अपऽगाः ।
असः ॥ ५ ॥

हे जाये त्वा त्वां परितत्नुना परिततेन सर्वतो व्याप्तेन। ❀ तनु विस्तारे। "तनिपत्योश्छन्दसि" इति उपधालोपः ❀। तथाविधेन इक्षुणा इक्षुवद् अतिशयितमाधुर्यरसोपेतेन मधुकेन अविद्विषे आवयोः परस्परं विद्वेषणाभावाय पर्यगाम् परितः प्राप्तवान् अस्मि। ❀ इण् गतौ। "इणो गा लुङि" इति गादेशः। "व्यवहिताश्च" इति परेर्व्यवहितप्रयोगः ❀। परिगमनस्य न केवलम् अविद्वेषमात्रं फलम् अपि तु यथा येन प्रकारेण हे जाये त्वं माम् पतिं कामिनी कामयमाना असः भवेः। ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀। यथा च मत् मत्तः सकाशात्। ❀ "एकवचनस्य च" इति अस्मद उत्तरस्य ङसेः अत् आदेशः। "त्वमावेकवचने" इति मपर्यन्तस्य मादेशे "शेषे लोपः" इति लोपः ❀। अपगाः अपहाय गच्छन्ती नासः न भवेः। ❀ गाङ् गतौ। अस्माद् अपपूर्वाद् "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति विच् प्रत्ययः ❀। तथा त्वां पर्यगाम् इति पूर्वेण संबन्धः॥

इति प्रथमकाण्डे षष्ठेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम्॥

हे जाये! तुझको मैं सब ओरसे व्याप्त (मधुरतावाले) गन्नेकी समान परम मधुरभावसे हम दोनोंमें परस्पर अविद्वेष रहनेके अर्थ प्राप्त हुआ हूँ। (परिगमनका—समीप आनेका—अविद्वेषमात्र ही फल नहीं है, किन्तु) जिस प्रकार हे जाये! तू मुझ पतिकी कामना करने वाली रहे और जिस प्रकार तू मुझे छोड़ कर न जासके, इस धर्मभावसे मैं तेरे पास आया हूँ॥ ५॥

प्रथम काण्डके छटे अनुवाकमें छटा सूक्त समाप्त (३४)

"यदाबध्नन्" इति सूक्तेन सर्वसंपत्कर्मसु वासितयुग्मकृष्णलमणिबन्धनम् सारूपवत्सौदने पुरुषाकृतिम् आलिख्य तत्प्राशनं च कुर्यात्। तथा च सूत्रम्। "यदाबध्नन्[न् १. ३५ नव प्राणान् ५. २८ इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सं पुरुषगात्रं

द्वादशरात्रं संपातवन्तं कृत्वाऽनभिमुखम् अश्नाति" इति। कौ०२.२॥

तथा आयुष्कामः हिरण्यमणिं युग्मकृष्णलं संपात्य अभिमन्त्र्य स्थालीपाकं च संपात्य अभिमन्त्र्य तन्मणिब]न्धनं तदोदनप्राशनं च अनेनैव सूक्तेन कुर्यात् । तथा च सूत्रम् । "यदाबध्नन् [१. ३५] नव प्राणान् [५. २८] इति युग्मकृष्णलम् आदिष्टानां स्थालीपाक आधाय बध्नात्याशयति" इति [कौ० ७. ३] ॥

उपनयनकर्मण्यपि आयुष्कामस्य ब्रह्मचारिण आज्यहोमे विनियुक्तम् । तथा च सूत्रम् । "मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्" इति [कौ० ७. ८] ॥

तथा "आदित्यां श्रुततेजोधनायुष्कामस्य" इति [न० क० १७] विहितायाम् आदित्याख्यायां महाशान्तौ युग्मकृष्णलमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "यदाबध्नन्निति युग्मकृष्णलम् आदित्यायाम्" इति [न० क० १६] ॥

तथा प्रातःप्रातः अनेन सूक्तेन अलंकारान् अभिमन्त्र्य पुरोहितो राज्ञे प्रयच्छेत् । तथा च परिशिष्टे "अथ पुरोहितकर्माणि राज्ञः प्रातरुत्थितस्य कृतस्वस्त्ययनस्य" इति प्रक्रम्य उक्तम् । "परिधत्त [२. १३. २, ३] इति द्वाभ्यां राज्ञे वस्त्रम् अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत् यदाबध्नन्नित्यलंकारान्" इति [प० ४. १] ॥

हिरण्यगर्भाख्ये महादानेपि अनेन सूक्तेन हिरण्यस्रजं यजमानस्य बध्नीयात् । तद् उक्तं तत्रैव । अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यम् [१६. २६] "यदाबध्नन् [१. ३५] इति हिरण्यस्रजम् आग्रथ्य" इति [प० १३. १] ॥

सर्वसम्पत् कर्मोंमें "यदाबध्नन्" इस प्रथमकाण्डके पैंतीसवें सूक्तसे त्रयोदशीसे आरम्भ कर तीन दिन तक नीलमको दही और मधुसे पूर्णपात्रमें रख उसको बाँधे और अपने तथा बछड़े के एकसे रूपवाली गौके दूधमें बने भातमें पुरुषकी आकृति खींच

उसका भक्षण करे। इसी बातको कौशिकसूत्र २। २ में कहा है कि–"यदाऽबध्नन् नवप्राणान् इति युग्मकृष्णलं वासितं बध्नाति सारूपवत्सम् पुरुषगात्रं द्वादशरात्रं सम्पातवन्तं कृत्वाभिमुखं अश्नाति–"यदाबध्नन्" इस प्रथमकाण्डके पैंतीसवें सूक्त और "नव प्राणान्" इस पञ्चमकाण्डके अट्ठाइसवें सूक्तसे दो वासित नीलम मणियोंको बाँधे और अपने तथा बछड़ेके एकसे रूपवाली गौके दूधके भातके पुरुषशरीर पर बारह रात्रि तक होमकर उस को अनभिमुख करके भक्षण करे॥

इसी प्रकार आयु चाहने वाला पुरुष हिरण्यमणिको और दो नीलमोंको संपातित और अभिमन्त्रित करके और स्थालीपाकको भी सम्पातित और अभिमन्त्रित करके मणियोंका बाँधना और भातका भक्षण इसी सूक्तसे करे॥ इसी बातको कौशिकसूत्र ७। ३ में कहा है, कि–"यदाबध्नन् (१। ३५) नव प्राणान् (५। २८) इति युग्मकृष्णलं आदिष्टानां स्थालीपाकं आधाय बध्नात्याशयति"॥

और इस सूक्तका उपनयनकर्मके समय आयु चाहने वाले ब्रह्मचारीके घृतहोममें विनियोग किया जाता है॥ इसी बातको कौशिकसूत्र ७। ८ में कहा है, कि–"मेधाजननायुष्यैर्जुहुयात्–मेधाजनन और आयुष्यगणके सूक्तोंसे होम करे"॥

तथा "आदित्यां श्रुततेजोधनायुष्कामस्य–वेद तेज धन और आयुकी कामना वालेके लिये आदित्या महाशांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आदित्या नाम वाली महाशांतिमें दो नीलम बाँधनेके समय भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि–"यदाऽबध्नन्निति युग्मकृष्णलं आदित्यायाम्–आदित्या महाशांतिमें "यदाऽबध्नन्" इस सूक्त से दो नीलमोंको बाँधे॥

तथा पुरोहित प्रतिदिन प्रातःकालके समय इस सूक्तसे अलंकारोंको अभिमन्त्रित कर राजाको दे । इसी बातको अथर्वपरिशिष्ट ४ । १ में कहा है, कि–"अथ पुरोहितकर्माणि राज्ञः प्रातरुत्थितस्य कृतस्वस्त्ययनस्य" इति प्रक्रम्य उक्तम् "परिधत्त (२ । १३ । २, ३) इति द्वाभ्यां राज्ञे वस्त्रं अभिमन्त्र्य प्रयच्छेद् यदाबध्नन्नित्यलंकारान्–अत्र पुरोहितके कर्मोंको कहते हैं, कि-प्रातःकाल जब राजा उठे और उसका स्वस्त्ययन होजाय॰ तब दूसरे काण्डके १३ वें अनुवाकके दूसरे और तीसरे सूक्तसे वस्त्रोंको अभिमन्त्रित कर राजाको दे । तथा 'यदाबध्नन्' सूक्तसे अलंकारोंको अभिमंत्रित करके दे" ॥

हिरण्यगर्भ नाम वाले महादानमें भी इस सूक्तसे सुवर्णकी मालाको यजमानके बाँधे । इसी बातको अथर्वपरिशिष्ट १३ । १ में कहा है, कि–"अग्ने प्रजातं परि यद्धिरण्यं" इस उन्नीसवें काण्डके छब्बीसवें सूक्तसे और "यदाबध्नम्" इस प्रथमकाण्डके पैंतीसवें सूक्तसे सुवर्णकी मालाको गूँथ कर (पहिरावे) ॥"

तत्र प्रथमा ॥

यदाब॑ध्नन् दाक्षाय॒णा हिर॑ण्यं श॒तानी॑काय
सुम॒नस्यमा॑नाः ।
तत् ते॑ ब॒ध्नाम्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑य दीर्घायु॒त्वाय॑
श॒तशा॑रदाय ॥ १ ॥

यत् । आ॒ऽअब॑ध्नन् । दा॒क्षा॒य॒णाः । हिर॑ण्यम् । श॒तऽअ॑नी-
काय । सु॒ऽम॒न॒स्यमा॑नाः ।

तत् । ते॒ । ब॒ध्ना॒मि॒ । आयु॑षे । वर्च॑से । बला॑य । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ ।

श॒तऽशारदाय ॥ १ ॥

दाक्षायणाः दक्षस्य अपत्यं दाक्षिः । ❀ “अत इञ्” इति इञ् प्रत्ययः ❀ । दाक्षेरपत्यं दक्षस्य गोत्रम् । ❀ तत्र “यञिञोश्च” इति फक् । “आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्” इति फस्य आयन् आदेशः । [“ञ्नित्यादिर्नित्यम्”] इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । दक्षापत्यभूता महर्षयः सुमनस्यमानाः । शोभनं मनो येषां ते सुमनसः । सुमनस इव आचरन्तः सुमनस्यमानाः । ❀ सुमनस्शब्दात् “कर्तुः क्यङ् सलोपश्च” इति क्यङ् । सलोपस्य विकल्पितत्वाद् अत्र अभावः । यद्वा प्राग् असुमनसः सुमनसो भवन्तीति च्व्यर्थविवक्षायां “भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः” इति क्यङ् । अन्त्यहलो लोपाभावश्छान्दसः । तदन्तात् लटः शानच् । “कर्तरि शप्” इति शप् प्रत्ययः । तस्य पित्त्वाद् अनुदात्तत्वम् । “०अदुपदेशाल्लसार्वधातुकम्०” इति शानचोऽनुदात्तत्वम् । क्यङः प्रत्ययस्वरेण उदात्तता ❀ । सौमनस्यं कुर्वाणाः सन्तः शतानीकाय । शतम् अनीकानि यस्यासौ शतानीकः । ❀ “दिक्संख्ये संज्ञायाम्” इति समासः ❀ । “शतानीकं सात्राजितम् अभिषिषेच” इति [ऐ० ब्रा० ८. २१] श्रुतिप्रसिद्धाय राज्ञे यत् प्रसिद्धं कृष्णलादिरूपं हिरण्यम् हितरमणीयरूपं सुवर्णम् । ❀ हिरण्यशब्दं बहुधा यास्को निरवोचत् । हितरमणं भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः इति [नि० २. १०] । हर्य गतिकान्त्योः । हर्यतेः कन्यन् हिर च इति [उ० ५. ४४] कन्यन् प्रत्ययः । “ञ्नित्यादिर्नित्यम्” इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । आबध्नन् बन्धनं कृतवन्तः । ❀ बन्ध बन्धने । अस्मात् लङि श्नाप्रत्ययः । “श्नाभ्यस्तयोरातः” इत्याकारलोपः । “लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः” इति अट उदात्तत्वम् । “यद्वृत्तान्नित्यम्” इति

निघातप्रतिषेधः ❀ । तत् तथाविधं हिरण्यम् हे आयुरादिफलकाम ते तव बध्नामि बन्धनं करोमि । तद्बन्धनस्य फलम् आह । आयुषे आयुरभिवृद्धये वर्चसे तेजसे बलाय बलप्राप्तये । आयुष इत्युक्तं तदेव विवृणोति । दीर्घायुत्वाय दीर्घायुष्ट्वाय । ❀ छान्दसः सलोपः ❀ । चिरकालजीवनाय । कियत्परिमितम् आयुषो दैर्घ्यम् इति तद् आह । शतशारदाय । शरदृतोः संबन्धिनः तद्विशिष्टाः संवत्सराः शारदाः । शतं शारदाः समाहृता यस्मिन् जीवने तत् शतशारदम् । तस्मै । शतसंवत्सरजीवनायेत्यर्थः । आयुर्दैर्घ्यपरिच्छेदस्तु मनुष्याणां परमायुर्विवक्षयेति द्रष्टव्यम् । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः" [तै० सं० २. ३. ११. ५] इति ॥

हे आयु आदिका फल चाहने वाले ! मैं तेरी आयुकी वृद्धिके लिये तेज और बलकी प्राप्तिके लिये तथा तुझे सौ ‡ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त करानेके लिये शोभन मन वाले दक्षगोत्री महर्षियोंने श्रुतिप्रसिद्ध शतानीक † राजाके जो हृदयको आनन्द देने वाला नीलम आदि हिरण्य बाँधा था उस हृदयको आनन्द देने वाले हिरण्यको तेरे बाँधता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत् ।

---

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । ११ । ५ में कहा है, कि—"शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः—पुरुषोंकी आयु सौ वर्षकी होती है०" ॥

† ऐतरेयब्राह्मण ८ । १ की श्रुतिमें कहा है, कि—"शतानीकं सात्राजितं अभिषिषेच-सत्राजितके पुत्र शतानीकका अभिषेक किया

यो बिभ॑र्ति दाक्षाय॒णं हिर॑ण्यं॒ स जी॒वेषु॑ कृणुते
दी॒र्घमायुः॑ ॥ २ ॥

न । ए॒न॒म् । रक्षां॑सि । न । पि॒शा॒चाः । स॒ह॒न्ते॒ । दे॒वाना॑म् ।
ओजः॑ । प्र॒थ॒म॒ऽजम् । हि । ए॒तत् ।
यः । बिभ॑र्ति । दा॒क्षा॒य॒णम् । हिर॑ण्यम् । सः । जी॒वेषु॑ । कृ॒णु॒ते॒ ।
दी॒र्घ॑म् । आयुः॑ ॥ २ ॥

एनम् आबद्धहिरण्यं पुरुषं रक्षांसि राक्षसाः । ❀ रक्षो रक्षितव्यम् । अस्मात् इति हि यास्कः [नि० ४. १८] ❀ । न सहन्ते नाभि भवन्ति । ज्वराद्युपद्रवकरणेन न बाधन्त इत्यर्थः । ❀ षह अभिभवे इति धातुः ❀ ।। तथा पिशाचाः पिशिताशिनो भूतविशेषाः न सहन्ते ।। धृतहिरण्यस्य ईदृशं सामर्थ्यं कुत इत्यत आह देवानाम् इति । एतत् सुवर्णं देवानाम् इन्द्रादीनां प्रथमजम् प्रथमत उत्पन्नम् । ❀ जनी प्रादुर्भावे । "अन्येषामपि दृश्यते" इति डप्रत्ययः ❀ । ओजो हि । [ओजः] शरीरधारको बलहेतुः अष्टमो धातुविशेषः । यद्ध आहुराचार्याः ।

ओजो नामाष्टमी दशा ।
क्षेत्रज्ञस्य तद्ध ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते । इति ।

यद्वा देवानाम् । आदरार्थं बहुवचनम् । देवस्य अग्नेः एतत् हिरण्यं प्रथमजम् ओजः प्रथमोत्पन्नं रेतोरूपं तेजो हि ।। यस्मात् कारणाद्ध रक्षसां हन्तुरग्नेस्तेजो हिरण्यम् "अग्निः खलु वै रक्षोहा" [तै० सं० ६. १. ४. ६] इति श्रुतेः तस्मात् हिरण्यं रक्षोनिवर्तकम् इत्यर्थः ।। हिरण्यस्य अग्निरेतस्त्वं तैत्तिरीयके

श्रूयते । "आपो वरुणस्य पत्नय आसन् । ता अग्निरभ्यध्यायत् ताः समभवन् । तस्य रेतः परापतत् । तद्धिरण्यम् अभवत्" [तै० ब्रा० १. १. ३. ८] इति यतो हिरण्यं रक्षोघ्नम् अतस्तद् दाक्षायणम् । दाक्षायणैः शतानीकस्य प्रथमम् आबद्धत्वात् हिरण्यमपि दाक्षायणम् उच्यते । तथाविधं हिरण्यं यः पुरुषो रक्षोवधकामो बिभर्ति । ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचने "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्त्वम् । "भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । स पुरुषः जीवेषु प्राणिषु मध्ये दीर्घम् शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः जीवनकालं कृणुते करोति । रक्षाकरहिरण्यधारणात् निरामयः सन् शतसंवत्सरं जीवतीत्यर्थः । ❀ डुकृञ् करणे । व्यत्ययेन श्नुः ❀ ॥

जिसके हिरण्य बँधा हुआ होता है उस पुरुषको राक्षस † ज्वर आदिका उपद्रव करके पीड़ा नहीं देते हैं और कच्चे मांस का भक्षण करने वाले पिशाच भी उसको पीड़ा नहीं दे सकते (अब इस शङ्काका उत्तर देते हैं, कि–हिरण्य धारण करनेवाले पुरुषोंमें ऐसी शक्ति कैसे होती है ? कि–) यह सुवर्ण इन्द्र आदि देवताओंसे पूर्व उत्पन्न हुआ । शरीरधारक बलकारक आठवी धातु है ÷ अथवा यह सुवर्ण अग्निदेवका प्रथम उत्पन्न हुआ

---

† "रक्षो रक्षितव्यं अस्मात् इति हि यास्कः–यास्क मुनिने कहा है, कि–जिससे रक्षा करनी चाहिये, वह राक्षस कहलाता है" (निरुक्त ४ । १८) ॥

+ आचार्योंने भी कहा है, कि 'ओजो नामाष्टमी दशा । क्षेत्रज्ञस्य तत् ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते–ओज नामकी आठवीं धातु है, वह ओज क्षेत्रज्ञ (जीव) का एकमात्र आश्रय है" ॥

ओज (वीर्य) है × (तात्पर्य यह है, कि—राक्षसोंके संहारक अग्निका तेज·सुवर्ण ही है अतः सुवर्ण राक्षसोंको दूर करनेवाला है) सुवर्ण राक्षसोंका संहार करने वाला है अत एव यह दाक्षायण कहलाता है। ऐसे सुवर्णको राक्षसोंका संहार करना चाहने वाला जो पुरुष धारण करता है, वह पुरुष प्राणियोंमें अपनी सौ वर्ष तककी दीर्घायु कर लेता है। तात्पर्य यह है, कि—वह रक्षा करने वाले सुवर्णको धारण करनेसे सौ वर्ष तक जीवित रहता है ॥

तृतीया ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत
वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो
बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

अपाम् । तेजः । ज्योतिः । ओजः । बलम् । च । वनस्पतीनाम् ।
उत । वीर्याणि ।
इन्द्रेऽइव । इन्द्रियाणि । अधि । धारयामः । अस्मिन् । तत् ।
दक्षमाणः । बिभरत् । हिरण्यम् ॥ ३ ॥

अपाम् उदकानां संबन्धि यत् तेजः स्नानपानादिना नैर्मल्यकरं सामर्थ्यम् । अपां तेजः वनस्पतीनाम् वीर्याणि इत्याद्यन्तयोर्गुणानां गुणविशेषसंबन्धश्रवणात् मध्येपि ज्योतिरादीनां यथा-

---

× सुवर्ण अग्निका वीर्य है इस बातको तैत्तिरीय ब्राह्मण १। १।३।८ में कहा है, कि—"तस्य रेतः परापतत् तद्धिरण्यमभवत्—अग्निका वीर्य गिरा और वह सुवर्ण हुआ" ॥

योगं गुणिविशेषसंबद्धानामेव अत्र ग्रहणं द्रष्टव्यम् । तथा च ज्योतिष्मतां सूर्यचन्द्रादीनां संबन्धि यत् ज्योतिः ओजस्विनाम् इन्द्रादीनां संबन्धि यद् ओजः बलहेतुभूतो धातुविशेषः । इन्द्रस्य ओजस्वित्वं यजुर्मन्त्रवर्णे प्रसिद्धम् । "इन्द्रौजस्विन्नोजस्वी त्वं देवेषु भूयाः" [तै० सं० ३. ३. १. १] । इति बलवतां पुरुषाणां यद् बलम् शरीरसामर्थ्यम् । उक्तसर्वसमुच्चयार्थश्चकारः । उतशब्दः अप्यर्थे । वनस्पतीनाम् वृक्षविशेषाणां वीर्याणि उपकारजननसामर्थ्यान्यपि यानि सन्ति । वनानां पतयो वनस्पतयः । ❀ "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्" इति सुडागमः । "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति पूर्वोत्तरपदयोर्युगपत् प्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तत्वम् ❀ । तानि सर्वाणि अस्मिन् उक्तहिरण्यधारके पुरुषे । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । धारयामः स्थापयामः । तत्र दृष्टान्तः । इन्द्रियाणि इन्द्रस्य असाधारणचिह्नानि । ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा" इति निपात्यते ❀ । तानि इन्द्र इव । यथा तानि इन्द्र एव असाधारण्येन वर्तन्ते तद्वद् अस्मिन्निति संबन्धः । यस्मात् तेजःप्रभृतीनि धारयामः तत् तस्मात् कारणाद् दक्षमाणः वर्धमानः असौ पुरुषः । ❀ दक्ष वृद्धौ इति धातुः ❀ । हिरण्यम् तेजःप्रभृतीनां प्रापकं कृष्णलादिमणिरूपं बिभरत् बिभर्तु । ❀ डुभृञ् धारपोषणयोः । लेटि अडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "श्लौ" इति द्विर्वचने "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ ॥

जलोंका जो स्नान पान आदिसे निर्मल करने वाला तेज है ज्योति वाले सूर्य चन्द्र आदिकी जो ज्योति है, ओजस्वी इन्द्र आदिका जो ओज है[†] और बलवान् पुरुषोंके शरीरकी सामर्थ्य

[†] इन्द्रका ओजस्वीपन तैत्तिरीयसंहिता ३।३।१।१ में

रूप जो बल है और वनस्पतियोंका उपकार करनेमें समर्थ जो वीर्य है, उस सबको हम इस हिरण्यधारक पुरुषमें स्थापित करते हैं (उसमें दृष्टान्त यह है, कि–) इन्द्रके असाधारण चिह्न जैसे इन्द्रमें ही रहते हैं, इसी प्रकार हम उपर्युक्त वस्तुओंको इस पुरुषमें स्थापित करते हैं। हम इसमें तेज आदिको स्थापित करते हैं, अतएव यह वृद्धि पानेवाला पुरुष तेज आदिको प्राप्त करानेवाले नीलम-मणि आदि सुवर्णको धारण करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

समा॑नां मा॒सामृ॒तुभि॑ष्ट्वा व॒यं सं॑वत्स॒रस्य॒ पय॑सा पिपर्मि
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्तेनु॑ मन्य॒न्ता॒मह॑णीयमानाः ॥

समा॑नाम् । मा॒साम् । ऋ॒तुऽभिः॑ । त्वा॒ । व॒यम् । स॒म्ऽव॒त्स॒र॒स्य॑ । पय॑सा । पि॒प॒र्मि॒ ।

इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः॑ । ते । अनु॑ । म॒न्य॒न्ता॒म् । अह॑णीयमानाः

हे सर्वसम्पदादिफलकाम त्वा त्वां समानाम् संवत्सराणां मासाम् मासानाम् । ❀ "पद्न्नोमास्०" इति मासशब्दस्य मास्भावः । "ऊडिदंपदाद्०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । व्यधिकरणे षष्ठ्यौ ❀ । संवत्सरसंबन्धिनां चैत्रादिमासानां संबन्धिभिर्ऋतुभिः वसन्ताद्यैः । समाशब्दो यद्यपि नित्यबहुवचनान्तः तथाप्यत्र अर्थबहुत्व एव बहुवचनं विवक्षितम् । तत्सामर्थ्येन पुरुषायुषसंबन्धिशतसंवत्सरावयवभूतमासारब्धैर्ऋतुभिरित्यर्थः संपद्यते । तथाविधैः ऋतुभिः वयम् । ❀ व्यत्ययेन बहुवचनम् ❀ । अहं पिपर्मि पूरयामि ।

वर्णित है । यथा—"इन्द्रौजस्विन्नोजस्वी त्वं देवेषु भूयाः—हे ओजस्विन् इन्द्र ! तुम देवताओंमें बलवान् हो" ॥

एतत्सुवर्णधारणेन एनं पुरुषं शतसंवत्सरपर्यन्तं जीवयामीत्यर्थः। ❀ पॄ पालनपूरणयोः। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। "अर्तिपिपर्त्योश्च" इत्यभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ ॥ यद्वा समानाम् आरम्भकैः ऋतुभिः। ऋतुसमुदायो हि संवत्सरः । तथा मासाम् मासानां कार्यभूतैः ऋतुभिः इति षष्ठीद्वयस्य ऋतुशब्देनैव संबन्धः ॥ दरिद्रस्य दीर्घमपि आयुर्निरर्थकम् इत्यत आह संवत्सरस्येति। संवत्सरस्य संवत्सरकालसंबन्धिना । संवत्सरव्यापिनेत्यर्थः। तादृशेन पयसा क्षीरेण। एतद् अन्येषामपि फलानाम् उपलक्षणम्। गोधनधान्यादिरूपेण च पिपर्मि पूरयामि। एतत्सुवर्णधारकस्य पुरुषस्य आयुर्मध्ये यथा एकमपि दिनम् उक्तफलरहितं न भवति तथा करोमीत्यर्थः॥ क्रियमाणेर्थे देवानाम् अनुमतिं प्रार्थयते। इन्द्राग्नी इन्द्रश्च अग्निश्च। ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति प्राप्तस्य उभयपदप्रकृतिस्वरत्वस्य "नोत्तरपदेनुदात्तादौ०" इति प्रतिषेधे "समासस्य" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀। तथा विश्वे सर्वे अन्येपि देवाः ये सन्ति ते सर्वे अहृणीयमानाः। ❀ हृणीयतिः क्रुध्यतिकर्मा ❀। अक्रुध्यन्तः क्रियमाणकर्मणि संभवद्वैकल्यनिमित्तं क्रोधम् अकुर्वन्तः अनु मन्यन्ताम् अनुजानन्तु। सुवर्णधारणादिक्रियाजनितम् आयुरादि फलम् अंगीकुर्वन्तु इत्यर्थः। ❀ हृणीङ् इति कण्ड्वादिषु पाठात् "कण्ड्वादिभ्यो यक्"। तस्य ङित्त्वाद् आत्मनेपदम्। नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

इति प्रथमकाण्डे षष्ठोनुवाकः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्द विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराजधुरंधरेण
सायणाचार्येण विरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
प्रथमकाण्डः समाप्तः ॥

हे सर्वसम्पत्तिरूप फल चाहने वाले! मैं तुझको वर्षोंकी आरम्भक ऋतुओंसे और तथा मासोंकी कार्यभूत बसन्त आदि ऋतुओंसे पूरित करता हूँ अर्थात् सुवर्णधारणसे तुझको मैं सौ वर्षतक जीवित रखता हूँ (दरिद्रकी अधिक अवस्था भी निरर्थक है, अतः) तुझको मैं सम्वत्सरपर्यन्त रहनेवाले दुग्धसे पूर्ण करता हूँ और वर्षों रहने वाले गौ धन धान्य आदिसे भी पूर्ण करता हूँ। तात्पर्य यह है, कि–तुझ सुवर्णधारक पुरुषकी आयुमें एक दिन भी उक्तफल रहित न बीते ऐसा प्रबन्ध करता हूँ (अब इस कर्ममें देवताओंकी अनुमतिकी प्रार्थना करते हैं, कि–) इन्द्र और अग्नि देवता तथा अन्यान्य सब देवता भी इस वर्तमान कर्ममें त्रुटियों पर क्रोध न कर सुवर्णधारण आदि क्रियासे उत्पन्न हुए आयु आदि फल प्राप्त होनेकी अनुमति दें॥ ४॥

प्रथमकाण्डके छठे अनुवाकमें सातवाँ सूक्त समाप्त (३५) ॥

छठा अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका प्रथमकाण्ड ऋ० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका-
सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित
समाप्त.

प्रथमः काण्डः समाप्तः

❀ श्रीगणेशाय नमः ❀

द्वितीयं-काण्डम्

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

सकल कार्योंके आरम्भमें वागीश आदि देवता जिनको प्रणाम करके कृतकृत्य होते हैं, उन गजानन गणेशजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योखिलं जगत् ।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंसे संपूर्ण जगत् को रचा है, उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

द्वितीये काण्डे षड् अनुवाकाः। तत्र प्रथमेऽनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "वेनस्तत्" इति प्रथमं सूक्तम् । तस्य अभिमतफलसिद्ध्यसिद्धिविज्ञानकर्मसु विनियोगः । तानि च । पञ्चपर्वयुतवेणुदण्डं काम्पीलवृक्षशाखां युगं वा अभिमन्त्र्य अभिमतकार्यं संचिन्त्य समे देशे ऊर्ध्वं धारयेत् । यदि दण्डादयश्चिन्तितदिशि निपतेयुः तदा कार्यसिद्धिं जानीयात् विपर्यये तु असिद्धिम् ॥

तद्वदेव इषुं संधाय अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य विसृजेत् । निर्दिष्टलक्ष्यपतनेन अर्थसिद्धिः ॥

तथैव उदकपूर्णे कुम्भे कमण्डलौ वा दुग्धं प्रक्षिप्य आयाचेत्। ऊनेन अधिकेन वा यथासंकल्पं अर्थसिद्धिः ॥

तथैव दर्भस्तम्बम् अनेन अभिमन्त्र्य कार्यं चिन्तयित्वा गणयेत् । समसंख्यायाम् अभिमतसिद्धिः ॥

एवम् इध्मम् अभिमन्त्र्य अग्नौ प्रक्षिपेत् । प्रदक्षिणज्वलनेन इष्टसिद्धिः ॥

तथैव अक्षान् अनेन अभिमन्त्र्य प्रक्षिपेत् । इष्टसंख्यापतनेन कार्यसिद्धिः ॥

एवं हस्तयोरङ्गुलिद्वयम् अनेन अभिमन्त्र्य चिन्तयेत् । उद्दिष्टांगुलिस्पर्शनेन अभिलषितसिद्धिः ॥

तथैव एकविंशतिसंख्याकाः शर्करा अभिमन्त्र्य ततो गृहीत्वा विभजेत् । यथोद्देशं समविषमभावेन अर्थसिद्धिः ॥

तथा नष्टद्रव्यविज्ञानार्थम् उदकुम्भम् हलम् अक्षान् वा नववस्त्रेण आवेष्ट्य संपात्य अभिमन्त्र्य अरजोवित्ते कुमार्यौ हरतम् इति ब्रूयात् । ते च येन दिग्भागेन हरेतां ततो नष्टम् इति जानीयात्

तथैव विवाहात् प्राक् कुमार्याः सौभाग्यादिलक्षणविज्ञानकर्मण्यपि आकृतिलोष्टवल्मीकलोष्टचतुष्पथलोष्टश्मशानलोष्टरूपाश्चतस्रो मृत्तिका अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्र्य आसाम् अन्यतमां गृहाणेति कुमारीं ब्रूयात् । तत्र आकृतिलोष्टवल्मीकलोष्टयोः स्पर्शने कल्याणं भवति। आकृतिलोष्टः क्षेत्रमृत्तिकेति पूर्वम् उक्तम् । चतुष्पथलोष्टस्पर्शनेन।मरिष्यतीति जानीयात् ॥

तथा कुमार्या अञ्जलौ उदकम् आपूर्य अभिमन्त्र्य प्रक्षिपेति तां ब्रूयात् । यदि प्राचीं दिशं प्रति निनयेत् तदा कल्याणं प्रतीयात् ॥

अत्र सूत्रम् । "वेनस्तद् इति पञ्चपर्वेषुकुम्भकमण्डलुस्तम्बकाम्पीलशाखायुगेध्माक्षेषु पाण्योरेकविंशत्या शर्कराः" इत्यादि "उदकाञ्जलिं निनयेत्याह प्राचीनम् अपक्षिपन्त्यां कल्याणम्" इत्यन्तं द्रष्टव्यम् [कौ० ५. १] ॥

अत्र "स नः पिता जनिता" [२. १. ३] इत्यस्या ऋचः अग्निचयने षोडशगृहीतोत्तरार्धाज्येन वैश्वकर्महोमे विनियोगः । उक्तं वैताने । "यो विश्वचर्षणिः [१३. २. २६] इत्यौपवसथ्ये

षोडशगृहीतार्धस्य स नः पिता जनिता [२. १. ३] इत्युत्तरार्धस्य” इति [वै ० ५. २]॥

द्वितीयकाण्डमें छः अनुवाक हैं। पहिले अनुवाकमें छः सूक्त हैं। उनमें “वेनस्तत्” यह प्रथमसूक्त है। इसका अभिलषित फल की सिद्धि वा असिद्धिके जाननेके कर्मोंमें विनियोग किया जाता है। वे कर्म ये हैं—

पाँच गाँठ वाले बाँसके दण्डेको, कबीलेके वृक्षकी शाखाको वा युगको अभिमन्त्रित करके अभिलषित कार्यको विचार कर समदेशमें ऊपरको खड़ा कर देय, यदि दण्ड आदि विचारी हुई दिशामें गिरें तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा और न चाहीहुई दिशामें दण्ड आदिके गिरने पर जाने, कि—काम सिद्ध नहीं होगा॥

इसी प्रकार बाणको चढ़ा कर इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके छोड़ देय। यदि बाण निर्दिष्ट स्थान पर गिरे तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा॥

इसी प्रकार जलसे पूर्ण कुम्भमें वा कमण्डलुमें दुग्ध डाल कर मनमें प्रार्थना करे। संकल्पके अनुसार कम वा अधिक होने पर अर्थसिद्धि समझे॥

इसी प्रकार कुशाओंके मुट्ठेको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके कार्यको विचार कर गिने, यदि संख्या सम हो तो समझे, कि कार्य सिद्ध होगा॥

इसी प्रकार ईंधनको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके अग्निमें डाले, यदि प्रदक्षिणा करने पर अग्नि प्रज्वलित होजाय, तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा॥

इसी प्रकार इस सूक्तसे फाँसोंको अभिमन्त्रित करके फैंके, यदि मनचाही संख्या गिरे तो समझे, कि—कार्य सिद्ध होगा॥

इसी प्रकार दोनों हाथकी दो अंगुलियोंको इस सूक्तसे अभि-

मन्त्रित करके विचारे, यदि उद्दिष्ट अंगुलिका स्पर्श हो तो समझे कि-कार्य सिद्ध होगा ॥

इसी प्रकार रेतके इक्कीस कणोंको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करे फिर उनका विभाग करे। उस समय विचारके अनुसार सम वा विषम संख्या आने पर समझे, कि-प्रयोजनकी सिद्धि होगी

इसी प्रकार खोये हुए द्रव्यको जाननेके लिये जलपूर्ण कुम्भ को, हलको वा फाँसोंको नवीन वस्त्रसे ढक कर संपात (उसके निमित्त होम) और अभिमन्त्रण करके रजोधर्मरहित दो कुमारियोंसे कहे, कि-इनको उठाकर लेजाओ। वे जिस दिशाकी ओर इनको ले जावें उस ही दिशाकी ओर खोये हुए धनको गया हुआ समझे ॥

इसी प्रकार विवाहसे पहिले कुमारीके सौभाग्य आदि लक्षणों को जाननेके लिये एक स्वाभाविक ढला, एक वमईका ढला एक चौराहेका ढला और एक श्मशानका ढला इसी प्रकार ढलेरूप चार मृत्तिकाओंको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करके कुमारीसे कहे कि-इनमेंसे एकको उठा ले। इनमेंसे स्वाभाविक ढले और वमई के ढलेको छूनेसे कल्याण होता है-आकृतिलोष्ट (स्वाभाविक ढला) खेतकी मट्टीका नाम है, यह बात पहिले कही जा चुकी है—और चौराहेकी मट्टीको छूनेसे समझे कि-मरण होगा ॥

इसी प्रकार कुमारीकी अंजलिमें जल भर कर अभिमन्त्रण करके कहे कि-इसको डाल दे यदि वह पूर्वदिशाकी ओर फैंके तो समझे, कि-कल्याण होगा ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है। कौशिकसूत्र ५। १ "वेनस्तत् इसी पञ्चपर्वेषुकुम्भकमण्डलुस्तम्बकाम्पील शाखायुग्मेध्माक्षेषु पाणयोरेकत्रिंशत्या शर्कराः" से "उदकांजलिं निनयेत्याह प्राचीनं अपक्षिपन्त्यां कल्याणम्" तकका सूत्र देखो ॥

इस सूक्तकी "सा नः पिता जनिता" (२। १। ३) इस तीसरी ऋचाका अग्निचयनमें षोडशगृहीतउत्तरार्ध घृतसे वैश्वकर्म होम

करनेमें विनियोग किया जाता है। इसी बातको वैतानसूत्र ५।२ में कहा है, कि–"यो विश्वचर्षणिः इत्यौपवसथ्ये षोडशगृहतार्धस्य स नः पिता जनिता इत्युत्तरार्धस्य–अर्थात् "यो विश्वचर्षणिः इस तेरहवें काण्डके दूसरे अनुवाकके छब्बीसवें सूक्तके औपवसथ्यमें षोडशगृहीतार्धघृतका "स नः पिता जनिता" इस दूसरे काण्डके प्रथम अनुवाकके प्रथमसूक्तके तीसरे मंत्रमें विनियोग कियाजाता है।

तत्र प्रथमा ॥

वे॒नस्तत् प॑श्यत पर॒मं गुहा॒ यद् यत्र॒ विश्व॒ं भव॒त्येक॑रूपम्।

इ॒दं पृश्नि॑रदुह॒ज्जाय॑मानाः॒ स्व॒र्विदो॑ अ॒भ्य॑नूषत॒ व्राः ।१।

वे॒नः । तत् । प॒श्य॒त॒ । प॒र॒मम् । गुहा॑ । यत् । यत्र॑ । विश्व॑म् ।
भव॑ति । एक॑ऽरूपम् ।

इ॒दम् । पृश्नि॑ः । अ॒दु॒ह॒त् । जाय॑मानाः । स्व॒ःऽवि॑दः । अ॒भि । अ॒नू॒-
ष॒त॒ । व्राः ॥ १ ॥

वेनतेः कान्तिकर्मसु पाठाद् दीप्यमान आदित्यो वेन इत्युच्यते। ❀ वेनोः वेनतेः कान्तिकर्मण इति हि यास्कः [नि० १०. ३८] ❀। गुहा गुहायाम्। ❀ "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् ❀। गुहारूपे सर्वप्राणिहृदये यत् श्रुत्यन्तरप्रसिद्धं सत्यज्ञानादिलक्षणं परमम् ब्रह्म। यत्र यस्मिन् अधिष्ठानरूपे ब्रह्मणि विश्वम् आरोपितं कृत्स्नं जगत् एकरूपम् एकाकारं भवति आरोपितस्य अधिष्ठानव्यतिरेकेण सत्त्वाभावात्। आह स्म भगवान् बादरायणः। "तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः" इति [बा० २.१.१४]। ❀ भवतीति। शप्तिपोः पित्त्वाद् अनुदात्तत्वे धातुस्वरेण आद्युदात्तत्वम्। "तिङ्ङतिङः" इति निघातस्य च "निपातैर्यद्यदि-

हन्त०" इति ।प्रतिषेधः ❀ । तत् उक्तलक्षणं ब्रह्म वेनः पश्यत् अपश्यत् । स्वानन्यत्वेन साक्षात्कृतवान् इत्यर्थः । ❀ दृशेर्लङि "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ ।। पृश्निः । दिवश्च आदित्यस्य च साधारणनामैतत् । प्राप्तोज्ज्वलवर्ण आदित्यः । ❀ आह च यास्कः । पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः [नि० २. १४] इति ❀ । इदम् भूतभौतिकप्रपञ्चजातम् अदुहत् । अनुद्भूतनामरूपात्मकं जगत् ब्रह्मानन्यत्वेन सर्वशक्तित्वाद् उद्भूतनामरूपत्वेन व्यक्तम् अकार्षीद् इत्यर्थः । ❀ दुहेर्लुङि छान्दसः अङ् ❀ ।। जायमानाः उत्पद्यमाना [व्राः] । व्रियन्त इति व्राः । ❀ घञर्थे कविधानम् "स्थास्नागापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" इति परिगणनस्य उपलक्षणार्थत्वात् वृञ् वरणे इत्यस्मात् कप्रत्ययः ❀ । आवृतात्मानः प्रजाः स्वर्विदः । स्वःशब्दाभिधेयम् आदित्यं स्वोत्पादकं विदन्ति जानन्तीति स्वर्विदः । ❀ स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरण इति हि निरुक्तम् [नि० २. १४] ❀ । अभ्यनूषत आभिमुख्येन तम् आदित्यं स्तुवन्ति । ❀ णु स्तवने । "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति वर्तमाने लुङ् । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । कुटादित्वेन सिचो ङित्त्वाद् गुणाभावः । "अनित्यम् आगमशासनम्" इति इडभावः ❀ ।।

यद्वा । वेनः पर्जन्यात्मा मध्यमस्थानो देवः । "वायुः वरुणः" इति प्रक्रम्य "वेनः असुनीतिः" इति [निघ० ५. ४] मध्यमस्थानदेवगणे पाठात् । तत् आदित्यमण्डलस्थम् उदकं पश्यति । तदेव विशिनष्टि । परमम् उत्कृष्टं गुहारूपे आदित्यमण्डले यद् उदकम् अस्ति । यत्र च उदके विश्वम् जगत् एकरूपम् नैमित्तिकप्रलये उदकात्मकं भवति । ❀ "आपो वा इदम् अग्रे सलिलम् आसीत्" [तै० सं० ७. १. ५. १] इति "आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः" [तै० आ० १०. २२] इति च श्रुतेः ❀ ।।

अथ वा यत्र यस्मिन्नुदके विषये विश्वम् एकरूपम् उपजीव्यत्वेन एकाकारबुद्धिमद् भवति । ❀ श्रूयते हि । “नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेप एवाभि समनसः” [तै० सं० ५. ३. १. ३] इति ❀ । तत् पश्यतीति संबन्धः ॥ इदम् । उदकनामैतत् । उदकम् उक्तम् उदकं पृश्निः आदित्यः तद्रश्मिसमूहो वा अदुहत् वर्षति । ❀ “यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति” इति [तै० सं० २. ४. १०. २] “याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति” [तै० आ० १०. ६३] इति तैत्तिरीयकश्रुतेः ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।

इति [म० स्मृ० ३. ७६] स्मृतेश्च ❀ ॥ जायमानाः पृश्नेरुत्पद्यमानाः स्वर्विदः सुखस्य लम्भयित्रीः व्राः व्रियमाणाः संभज्यमानाः स्वीक्रियमाणा अपः सर्वे जना अभ्यनूषत अभिष्टुवन्ति ॥ एवम् उक्तलक्षणः सर्वज्ञ आदित्यः शुभाशुभविज्ञानं करोतु इति विज्ञानकर्मणा संबन्धः ॥

सब प्राणियोंकी हृदयरूप गुफामें जो दूसरी श्रुतिमें प्रसिद्ध सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाला परम ब्रह्म है। जिस अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें आरोपित सम्पूर्ण जगत् एकाकार—एकरूप—होजाता है (क्योंकि आरोपित वस्तु अधिष्ठानसे अलग नहीं रहसकती) ऐसे ब्रह्मको वेन—सूर्य—ने देखा † (स्वानन्यरूपसे साक्षात्कार किया ‡) इस

---

† वेन धातुका कान्तिकर्म वाली धातुओंमें पाठ है अत एव दिपते हुए आदित्य वेन कहलाते हैं। यास्कमुनिने भी निरुक्त १० । ३८ में कहा है, कि—“वेनो वेनतेः कांतिकर्मणः-कांतिकर्म वाली वेन धातुसे वेन शब्द बना है” ॥

‡ वेदांतसूत्रके द्वितीय अध्यायके प्रथमपादके चौदहवें सूत्रमें भी भगवान् व्यासजीने यही बात कही है, कि—“तदनन्यत्वम्

अप्रकट नाम रूपवाले भूत भौतिक प्रपञ्च जगत्को ब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण सर्वशक्ति संपन्न होनेसे पृश्नि (सूर्य वा आकाश ÷) ने प्रकट नाम और रूप वाला किया है। आवृत आत्मा वाली उत्पन्न हुई प्रजाएँ अपने उत्पादक इस पृश्निको—आदित्य-को जानती हैं और अभिमुख होकर उस आदित्यकी स्तुति करती हैं

अथवा—मध्यमस्थानीय (वेन) पर्जन्य × जिस जलमें सारा संसार उपजीव्य होनेके कारण एकमत + होता है और जिस जलमें नैमित्तिक प्रलयके समय सारा जगत् उदकात्मक एकरूप होजाता है, † उस आदित्यमण्डलरूप गुहामें विराजमान

आरम्भणशब्दादिभ्यः-आरम्भणशब्द आदिसे ब्रह्मका अनन्यत्व है।"

÷ यास्कमुनिने निरुक्त २। १४ में कहा है, कि—"पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः—पृश्नि आदित्य है, क्योंकि—वर्ण इनका प्राशन करता है ॥"

× वेन शब्दसे मध्यमस्थानीय पर्जन्य भी समझा जाता है। निघण्टु ५। ४ में 'वायुः वरुणः' इस बातका आरम्भ करके कहा है, कि—"वेनः असुनीतिः" इस प्रकार वेनका मध्यमस्थानीय देवताओंमें पाठ है ॥

+ तैत्तिरीयसंहिता ५। ३। १। ३ में कहा है, कि—नानामनसः खलु वै पशवो नानाव्रतास्तेऽप एवाभि समनसः—जीव अनेक प्रकारके मन (विचार) और व्रत वाले हैं, परन्तु जलके विषयमें सबका एकमत है ॥

† तैत्तिरीयसंहिता ७। १। ५। १ में कहा है, कि—"आपो वा इदं अग्रे सलिलं आसीत्—पहिले यह जल ही था"। और तैत्तिरीय आरण्यक १०। २२ में भी कहा है, कि—"आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः—यह सब जल ही है, सकल भूत जल ही हैं"॥

श्रेष्ठ जलको पर्जन्य देखता है उस जलको सूर्य बरसाते हैं ‡ उन सूर्यसे उत्पन्न हुए सुख देनेवाले अत एव सबसे स्वीकृत जलकी सब प्राणी स्तुति करते हैं । (अत एव ऐसे सर्वज्ञ आदित्य शुभ और अशुभको जतावें) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

प्र तद् वो॑चेद् अ॒मृत॑स्य वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॑
प॒रमं गुहा॒ यत् ।
त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स
पि॒तुष्पि॒ता स॑त् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वो॒चे॒त् । अ॒मृत॑स्य । वि॒द्वान् । ग॒न्ध॒र्वः । धाम॑ । प॒र॒मम् ।
गुहा॑ । यत् ।
त्रीणि॑ । प॒दानि॑ । निऽहि॑ता । गुहा॑ । अ॒स्य॒ । यः । तानि॑ । वेद॑ ।
सः । पि॒तुः । पि॒ता । अ॒स॒त् ॥ २ ॥

---

‡ तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । २ । १० में कहा है, कि—"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति—जब यह आदित्य तिरछी किरणोंसे लौटते हैं तब वर्षा करते हैं ॥" और तैत्तिरीय ब्राह्मण १० । ६३ में कहा है, कि—"याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति—जिन किरणोंसे सूर्य तपते हैं, उन ही किरणोंसे पर्जन्य वरसता है ॥" और मनुस्मृति अध्याय ३ श्लोक ७६ में भी कहा है, कि—"आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः—आदित्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे प्रजा होती है" ॥

अमृतस्य अविनाशिनो ब्रह्मणो विद्वान् जानन्। ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी। न त्वत्र "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि षष्ठी। "नलोकाव्ययनिष्ठा०" इति तस्याः प्रतिषेधविधानात्। स्वरूपपदाध्याहारेण वा संबन्धः अमृतस्य स्वरूपं विद्वान् इति। न विद्यते मृतं यस्येति बहुव्रीहौ समासे "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वे प्राप्ते "नञो जरमरमित्रमृताः" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀। गन्धर्वः गावो रश्मयः। तान् धारयतीति गन्धर्वः आदित्यः। ❀ "सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १] इति श्रुतेः। गां वेदलक्षणां वाचं वा धारयतीति गन्धर्वः। "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते" [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] इत्यादिश्रुतेः। "गवि गन् धृञो वः" इति गोशब्दोपपदाद् धृञो वप्रत्ययः। गोशब्दस्य गन्आदेशः ❀। तत् उक्तलक्षणं ब्रह्म प्र वोचेत् प्रब्रवीतु। उपासकेभ्य इति शेषः। ❀ "व्यवहिताश्च" इति प्रोपसर्गस्य व्यवहितक्रियया संबन्धः। ब्रूञ आशीर्लिङि वच्यादेशे "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः। "वच उम्" इति उम् आगमः ❀॥ किं तद् इति तद् आह। परमम् क्रियाफलभूतविनश्वरस्वर्गाद्यपेक्षया उत्कृष्टं धाम पुनरावृत्तिरहितं स्थानम्। उक्तं हि भगवता

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम। इति
[भ० गी० १५. ६]।

गुहा गुहायां हृद्रूपायां स्थितं यत् तत्त्वं तद् वोचेत् इति संबन्धः॥ हृदयस्थस्य नित्यापरोक्षस्य परतत्त्वस्य उपदेश्यत्वम् अनुपपन्नम् इत्यत आह त्रीणि पदानीति। अस्य परमात्मनस्त्रीणि पदानि गुहा गुहायां निहिता निहितानि। यद्यपि अत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो

निरवयवत्वात् पादकल्पना नोपपद्यते तथापि भूतभौतिकप्रपञ्चजातात् तदुपादानस्य आत्मनो निरतिशयमहत्त्वं प्रतिपादयितुं त्रिपदत्वम् उक्तम् इति अविरोधः। यथा छान्दोग्ये। "पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद् अस्यामृतं दिवि" [छा० उ० ३. १२. ६] इति। गुहानिहितपदार्थवत अज्ञातम् अपरिच्छिन्नं ब्रह्म उपदेशैकसमधिगम्यम् अस्तीति तात्पर्यार्थः। ❀ निहितेति। निपूर्वाद् धाञः कर्मणि निष्ठा। "दधातेर्हिः" इति हिरादेशः। "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति शेर्लोपः। "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀॥ यद्वा अस्य पूर्वोक्तस्य परब्रह्मणः त्रीणि पदानि पद्यन्ते गम्यन्ते मुमुक्षुभिः प्राप्यन्त इति पदशब्देन अंशीभूता विराड्ढिरण्यगर्भेश्वरा उच्यन्ते। गुहा। गूहयति संवृणोति परिच्छिनत्ति परमात्मानम् इति गुहा माया। तत्र निहितानि समष्टिरूपेण उपहितानि॥ गुरूपदेशजनितब्रह्मावबोधस्य प्रयोजनम् आह। यः शमदमादिसंपन्नोऽधिकारी तानि तत् पादत्रयोपलक्षितं निष्कलं ब्रह्म वेद जीवेश्वरोपाधिपरित्यागेन साक्षात्करोति। ❀ वेत्तेः "विदो लटो वा" इति तिपो णल् आदेशः। "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम्। "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। स विद्वान् पितुः स्वजनकस्यापि पिता कारणभूतः असत् भवति। अस्तेर्लेटि अडागमः ❀। सर्वजगदधिष्ठानभूतब्रह्मीभावेन स्वस्यापि सर्वजगत्कारणत्वोपपत्तेः। तद् उक्तं सामब्राह्मणे। "शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृद् आसीत् स पितॄन् पुत्रका इत्यामंत्रयत" इत्यादि। स्मर्यते च।

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ २. १५१
ते तम् अर्थम् अपृच्छन्त देवान् आगतमन्यवः।
देवाश्चैनान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥ २. १५२

इति [म० स्मृ०] । अथ वा तानि विराड्‌हिरण्यगर्भेश्वरतत्त्वानि वेद प्रणवावयवैः अकारादिभिः व्यष्टिरूपाणां विश्वतैजसप्राज्ञानां समष्टिरूपविराडादितादात्म्यज्ञानपुरःसरं तुरीयं वस्तु यो वेद स पितुः पिता असद् इति पूर्ववत् ॥

अविनाशी अमृत ब्रह्मको जानने वाले किरणधारी और वेदलक्षणा वाणीको धारण करने वाले अतः गन्धर्व † कहलानेवाले आदित्य, क्रियाके फलरूप नाशवान् स्वर्ग आदिकी अपेक्षा पुनरावृत्तिरहित स्थान ‡ हृदयरूप गुफामें स्थित उक्तलक्षण ब्रह्मको उपासकोंसे कहें । (हृदयमें स्थित, नित्य अपरोक्ष अर्थात् नित्य प्रत्यक्ष परतत्त्वका उपदेशयोग्य होना युक्तियुक्त नहीं है, अत एव कहा है, कि–) इस निरुपाधिक ब्रह्मके तीन पद गुहामें निहित–स्थित–हैं । (यद्यपि यहाँ निरुपाधिक ब्रह्मके पदोंकी कल्पना करना अयुक्त है तथापि भूत–भौतिक–प्रपञ्च–समूहकी अपेक्षा उसके उपादान आत्माका अतिशयमहत्त्व प्रतिपादन करनेके लिये त्रिपदत्व–तीन पादरूप–वर्णन किया है ।–इस प्रकार यहाँ कोई

---

† तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ७ । १ में कहा है, कि–"सूर्यो गंधर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः–सूर्य गंधर्व है और सूर्यकी किरणें अप्सरायें हैं ।" और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । १२ ६ । १ में कहा है, कि–"ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते–ऋग्वेदके मन्त्रोंसे सूर्यदेव पूर्वाह्णके समय आकाशमें विचरते हैं" इस श्रुतिके अनुसार वेदरूपा वाणी गौको धारण करनेसे सूर्यदेवका नाम गंधर्व भी है ॥

‡ इस स्थानकी प्रशंसा करते हुए श्रीभगवान्‌ने भगवद्गीतामें कहा है, कि–"न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः । यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥–अर्थात् जिस स्थानमें सूर्य चन्द्रमा और अग्नि प्रकाश नहीं कर सकते हैं और जहाँ जाकर प्राणी फिर नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम–श्रेष्ठ–स्थान है" ॥

विरोध नहीं है + । तात्पर्य यह है, कि–गुफामें स्थित पदार्थकी समान अज्ञात अपरिच्छिन्न ब्रह्म केवल उपदेशसे ही प्राप्त होसकता है)।

अथवा–इस पूर्वोक्त ब्रह्मके विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर नामक तीन पद (अंश) मुमुक्षुके पाने योग्य हैं वे पद परमात्माको आच्छादन करने वाली गुफारूप मायामें समष्टिरूपसे उपहित हैं । (गुरुके उपदेशसे प्राप्त होने वाले ब्रह्मोपदेशके फलको कहते हैं, कि-) जो शम दम आदिसे सम्पन्न अधिकारी होता है वह तीन पदोंसे उपलक्षित निष्कल ब्रह्मको जानता है अर्थात् जीव और ईश्वरकी उपाधिको त्यागकर साक्षात्कार करता है, ऐसा विद्वान् पुरुष अपने पिताका भी पिता होता है अर्थात् अपने जनकका भी कारण होता है × ॥

+ छान्दोग्य उपनिषत्में भी कहा है, कि–पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद्ध अस्यामृतं दिवि–सब प्राणी ब्रह्मके एक पाद हैं और इस ब्रह्मके तीन पाद आकाशमें प्रतिष्ठित हैं ॥

× सकल जगत्के अधिष्ठानभूत ब्रह्मभावके अपनेमें आजानेके कारण अपने आप भी प्राणीका सकल जगत्का कारण होजाना उपपन्न है इसी बातको सामब्राह्मणमें कहा है, कि–"शिशुर्वा आंगिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृत् आसीत् स पितॄन् पुत्रका इत्यामंत्रयत इत्यादि–एक अंगिरसगोत्री बालकने मंत्रवेत्ता पितरोंको मंत्र पढ़ा कर पुकारा था, कि–हे पुत्रो !" स्मृतिमें भी कहा है, कि–"अध्यापयामास पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः । पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ ते तमर्थमपृच्छन्त देवान् आगतमन्यवः । देवाश्चैनान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥–अर्थात् अंगिरसगोत्री चतुर बालकने अपने पितरोंको पढ़ाया और ज्ञान देने

अथवा– प्रणवके अवयव अकार आदिसे व्यष्टिरूप विश्व, तैजस, प्राज्ञ और समष्टिरूपसे विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वरतत्त्वके तादात्म्यभावको जानकर जो चौथेको जानता है वह अपने कारण का भी कारण होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद
भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना
यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

सः । नः । पिता । जनिता । सः । उत । बन्धुः । धामानि ।
वेद । भुवनानि । विश्वा ।
यः । देवानाम् । नामऽधः । एकः । एव । तम् । सम्ऽप्रश्नम् ।
भुवना । यन्ति । सर्वा ॥ ३ ॥

स सूर्यात्मकः परमात्मा नः अस्माकं पिता पालयिता ॥ न केवलं पालकः किंतु जनिता जनयिता उत्पादकः । ❀ "जनिता मन्त्रे" इति निपातनात् णिलोपः ❀ ॥ उत अपि च सः उक्त एव बन्धुः भ्रात्रादिरूपो बन्धुवर्गः । पुत्रादीनां चेतनानां तद्व्य-

---

से उनको शिष्य मान कर कहने लगा, कि–हे पुत्रो !, तब क्रोध आजानेसे उन्होंने देवताओंके सामने यह अभियोग उपस्थित किया । तब देवताओंने निर्णय दिया, कि--इस बालकने तुमसे न्याययुक्त बात कही है" मनुस्मृति २ । १५१–१५२ ॥

तिरेकेण अभावात् तत्तन्नामभिः स एवाभिधीयत इत्यर्थः । ❀ बन्धुः । बन्ध बन्धने । शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च [उ० १. १०] इति उप्रत्ययः । धान्ये नित् [उ० १. ६] इत्यतो नित् इत्यनुवृत्तेः "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ इदानीं तस्य सर्वज्ञताम् आह । धामानि कर्मफलभूतस्वर्गादिस्थानानि । ❀ धामानि त्रयाणि भवन्ति । स्थानानि नामानि जन्मानीति । इति हि निरुक्तम् [नि० ६. २८] ❀ । तत्र स्थितानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भवन्ति सत्तां लभन्ते उत्पद्यन्ते इति भुवनानि भूतजातानि च वेद । स्वाध्यस्तं कृत्स्नप्रपञ्चं स्वाभिन्नं जानातीत्यर्थः ॥ तथा य उक्तः परमात्मा एक एव देवानाम् इन्द्रादीनां स्वसृष्टानां नामधाः । इन्द्रमित्रादीनि नामानि दधाति विदधाति करोतीति नामधाः । श्रूयते हि । "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" [तै० आ० ३. १२. ७] इति । यद्वा इन्द्राग्न्यादिदेवतात्मकः सन् तत्तन्नामानि स्वयमेव धत्ते इति नामधाः । तथा चाम्नायते । "तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपस्तत् प्रजापतिः" [तै० आ० १०. १. २] इति । "इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः" [ऋ० १. १६४. ४६] इति । ❀ नामोपपदात् दधातेः "आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च" इति चकाराद् विच् प्रत्ययः । "गतिकारकोपपदात् कृत्" [इति] उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तम् उक्तलक्षणम् आत्मानं विषयीकृत्य सर्वा सर्वाणि [भुवना] भुवनानि भूतजातानि । ❀ उभयत्र "शेश्छन्दसि०" इति शेर्लोपः ❀ । संप्रश्नम् । किंविधोऽयं आत्मा इति संभूय क्रियमाणः प्रश्नः संप्रश्नः । तं यन्ति प्राप्नुवन्ति । "यतो वाचो निवर्तन्ते"

[तै० आ० ८. ९] इत्यादिश्रुत्या परतत्त्वस्य अवाङ्मनसगोचरत्वात् तत्स्वरूपं निश्चेतुम् असमर्थाः सन्तो जिज्ञासवः किम् अयम् आत्मा ज्ञानादिगुणकः उत निर्गुणः परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नो वा जगतः किं निमित्तकारणमेव उत उपादानकारणमपि इत्येवमादिसंशयम् आपद्यन्त इत्यर्थः ।। अथ वा संप्रश्नम् । क्रियाविशेषणम् एतत् । संगतः प्रश्नः संप्रश्नः । तत्पूर्वकं गुरुशास्त्रोपदेशतस्तमेव परमात्मानं यन्ति । तदैक्यं लभन्त इत्यर्थः । "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" [तै० आ० २. २] "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" [तै० आ० ८. १] "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतिभ्यः ।। विश्वं कृत्स्नं जगत् कर्म कर्तव्यं यस्येति व्युत्पत्त्या विश्वकर्मशब्देन परमात्मैवोच्यते इति वैश्वकर्मणहोमेपि अस्या ऋचो विनियोग उपपन्नः । ❀ संप्रश्न इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् इत्यस्मात् संपूर्वात् "यजयाच०" इत्यादिना नङ् । "प्रश्ने चासन्नकाले" इति निपातनात् संप्रसारणाभावः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यन्तीति । इण् गतौ । "इणो यण्" इति यण् आदेशः ❀ ।।

वह सूर्यात्मक परमात्मा हमारा पालन करनेवाले पिता हैं, वह केवल पालक ही नहीं हैं, किन्तु हमको उत्पन्न करनेवाले जनिता भी हैं और वही हमारे भाई आदि रूप बन्धु हैं (अर्थात् चेतन पुत्र आदि उनके विना नहीं रहसकते अत एव उन भाई आदिके नामसे सूर्यदेव ही कहे जाते हैं । अब उन देवकी सर्वज्ञताका वर्णन करते हैं, कि–) वह कर्मफलरूप स्वर्ग आदि स्थानों † को जानते हैं और उनमें स्थित (सत्ताको पानेवाले–उत्पन्न होने

---

† मूलके धाम पदका अर्थ यहाँ स्वर्ग आदि स्थान कियागया है । क्योंकि–निरुक्त ९ । २८ में कहा है, कि–"धाम तीन अर्थों का वाचक है–स्थान, नाम और जन्म । यथा–धामानि त्रयाणि भवन्ति । स्थानानि नामानि जन्मानि ।"

वाले--प्राणिसमूहोंको-भूतसमूहोंको) सब भुवनोंको भी वह जानते हैं (अर्थात् अपनेमें अध्यस्त सारे प्रपञ्चको वह अपनेसे अभिन्न जानते हैं) तथा जिस परमात्माका वर्णन किया जाता है वह एक ही अपने रचेहुए इन्द्र आदि देवताओंके नामको धरनेवाले हैं ÷

अथवा इन्द्र अग्नि आदि देवता बन कर उनके नामोंको वह स्वयं ही धारण करते हैं × उक्तलक्षण वाले आत्माको सब प्राणी प्राप्त होते हैं अर्थात् उसमें एकताको प्राप्त होजाते हैं + इस प्रकार

÷ “सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते--धीर ब्रह्म सब रूपोंको एकत्रित कर उनका नाम रख उनको प्रणाम करता है” ॥

× तैत्तिरीय आरण्यक १०।१।२ में कहा है, कि--“तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तत् आपस्तत् प्रजापतिः--वह परब्रह्म ही अग्नि है, वह परब्रह्म ही वायु सूर्य चन्द्रमा शुक्र जल और प्रजापति है”। और ऋग्वेद १। १६४। ४६ में भी कहा है, कि--“इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।--वह उसको इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं और वही गरुत्मान् सुपर्ण भी हैं। वह परब्रह्म एक है तब भी ब्राह्मण यम मातरिश्वा आदि अनेक नामोंसे उसका वर्णन करते हैं ॥

+ तैत्तिरीय आरण्यक २।२ में कहा है, कि--ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति--ब्रह्म होता हुआ पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होजाता है। और तैत्तिरीय आरण्यक ८।१ में कहा है, कि--“ब्रह्मवित् आप्नोति परम्--ब्रह्मवेत्ता परब्रह्ममें लीन होजाता है”। और “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति--ब्रह्मको जानने वाला ब्रह्म ही होजाता है” ॥ इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मवेत्ताका ब्रह्म होजाना सिद्ध है ॥

यह संप्रश्न ‡ हुआ अर्थात् यह प्रश्न सङ्गत होगया ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ४

परि । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । आयम् । उप । आऽतिष्ठे । प्रथमऽजाम् । ऋतस्य ।

वाचम्ऽइव । वक्तरि । भुवनेऽस्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥ ४ ॥

ज्ञानोत्तरकालं तत्त्वविद् ब्रूते । द्यावापृथिवी द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः आद्युदात्तः । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "देवताद्वन्द्वे च" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । तदुपलक्षितं कृत्स्नं जगत् सद्यः तदानीं तत्त्वज्ञानसमकालमेव पर्यायम् परितः प्राप्तवान् अस्मि । स्वाभेदेन अवगतस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वाद् इति भावः । तथा च श्रुत्यन्तरे ।

---

‡ संप्रश्न शब्दकी दूसरी व्याख्या यह है, कि—यह आत्मा कैसा है यह बड़ा भारी प्रश्न है । तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ में कहा है, कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते—उस आत्माके स्वरूपको जाननेमें वाणी लौट आती है ।" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध वाणी और मनके अगोचर परतत्त्वका स्वरूप निश्चित करना अशक्य है । यह समझते हुए जिज्ञासु इस संशयमें पड़जाते हैं, कि—यह आत्मा ज्ञानादि गुण वाला है वा निर्गुण है, परिच्छिन्न है वा अपरिच्छिन्न, यह जगत्का उपादान कारण है वा निमित्तकारण भी है ?

"अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति [ऋ० ४. २६. १]। ❀ इण् गतौ। लङि उत्तमैकवचने गुणायादेशयोः आडागमः ❀॥ ऋतस्य सत्यस्य सत्याद् ब्रह्मणः। ❀ संबन्धसामान्ये षष्ठी ❀। प्रथमजाः भूतभौतिकप्रपञ्चजातात् पूर्वम् उत्पन्नः सूत्रात्मा। श्रूयते हि। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इति [ऋ० १०. १२१. १]। उपातिष्ठेत्। स यथा समष्टिरूपेण कृत्स्नं जगद् व्याप्य अवतिष्ठते तद्वद् अहम् अस्मीत्यर्थः। ❀ प्रथमं जायत इति प्रथमजाः। जनी प्रादुर्भावे इत्यस्मात् "जनसनखनक्रमगमो विट्"। "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्त्वम् ❀॥ सद्यःप्राप्तिं दृष्टान्तेन उपपादयति वाचमिवेति। वक्तरि प्रयोक्तरि स्थितां वाचं निकटस्थिता बोद्धारो यथा प्रयोगसमकाल एव अवगच्छन्ति तथेत्यर्थः। यद्वा ज्ञानिना प्राप्यस्य तत्त्वस्य सर्वात्मकताम् आह वाचमिवेति। ❀ प्रथमार्थे द्वितीया। "सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्" इति वचनात् ❀। वाक् रवात्मकं विततं शब्दब्रह्म वक्तरि पुरुषे परिच्छिन्नं सत् यथा आविर्भवति। यथाहुराचार्याः।

स रवः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः॥
आविर्भवति देहेषु प्राणिनाम् अर्थविस्तृतः। इति।

एवं परमात्मा भुवनेष्ठाः। मायातत्कार्यात्मके भुवने भूतजाते तिष्ठति उपहितः सन् वर्तत इति भुवनेष्ठाः। ❀ तिष्ठतेर्विचि "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्। सुषामादित्वात् षत्वम् ❀। एष परमात्मा धास्युः पोषणेच्छावान्। हेतुगर्भविशेषणम् एतत्। पोषणाद्धेतोस्तत्रतत्र भूतेषु वर्तत इत्यर्थः। ❀ डुधाञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् [उ० ४. १८८] इति भावे असुन् प्रत्यये धा इति रूपम्। धाः धारणं पोषणं जगत

इच्छतीति "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच्। "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀। यद्वा धासिरित्यन्नाम। तदुपलक्षितं भोग्यजातम् आत्मन इच्छतीति धास्युः। ❀ धाञ औणादिकः सिप्रत्ययः। ततः क्यचि अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀॥ निष्क्रियस्य सतः कथं पोषकत्वं भोक्तृत्वं चेति तत्राह नन्वेषो अग्निरिति। एष परमात्मा अग्निर्ननु वैश्वानरात्मना पोषको भोक्ता खलु। श्रूयते हि वाजसनेयके। "एतावद् वा इदम् अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नम् अग्निरन्नादः" इति। भगवताप्युक्तम्।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् इति [भ०गी०१५.१४]॥

(ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर तत्त्ववेत्ता कहता है, कि–) द्यौ और पृथिवी तथा सम्पूर्ण जगत्को मैं तत्काल ही तत्त्वज्ञानद्वारा पाचुका हूँ ‡ सत्य ब्रह्मके द्वारा भूतभौतिक प्रपञ्चसे प्रथम उत्पन्न हुआ सूत्रात्मा † जैसे समष्टिरूपसे सकल जगत्को व्याप कर स्थित रहता है, तैसे ही मैं हूँ। (अत्र सद्यः–प्राप्ति–तत्कालप्राप्तिका दृष्टान्त देते हैं कि–) वक्तामें स्थित वाणीको निकटमें स्थित जानने वाले जैसे प्रयोगके समकालमें ही जान जाते हैं इसी प्रकार मैं तत्त्वज्ञान होते ही इन सबको पागया हूँ।

अथवा–(ज्ञानीके प्राप्त करने योग्य तत्त्वकी सर्वात्मकताको दिखाते हैं, कि–) वाणी अर्थात् रवात्मक फैला हुआ शब्दब्रह्म वक्ता पुरुषमें परिच्छिन्न होकर जिस प्रकार आविर्भूत–प्रकट–

---

‡ इसी बातको ऋग्वेद ४।२६।१ में कहा है, कि–"अहं मनुरभवं सूर्यश्च–मैं मनु हुआ मैं सूर्य हुआ"॥

† ऋग्वेद १०।१२१।१ में कहा है, कि–"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्–पहिले हिरण्यगर्भ हुआ वह प्राणियोंका एकमात्र स्वामी हुआ।"

होता है + इसी प्रकार परमात्मा मायाके कार्य भूतों—प्राणियों—में गुप्तभावसे रहता है अत एव भुवनेष्ठा कहलाता है। यह परमात्मा पोषण करनेकी इच्छासे भूतोंमें रहता है और भोग्य पदार्थोंको चाहता है। (अब शङ्का होती है, कि—ब्रह्म तो निष्क्रिय है उसमें भोक्तापन और पोषकपन कैसे रह सकता है? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि—) यह परमात्मा अग्नि है अर्थात् यह अग्निरूपसे पोषक और भोक्ता है ÷ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

प॒रि विश्वा॒ भुव॑नान्यायमृ॒तस्य॒ तन्तु॒ वित॑तं दृ॒शे कम् ।
यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मान॒शानाः स॑मा॒ने योना॒वध्यैर॑यन्त ५

+ आचार्योंने कहा है, कि—“स रवः श्रुतिसंपन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते। स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः ॥ आविर्भवति देहेषु प्राणिनां अर्थविस्तृतः-श्रुतिसम्पन्न पुरुष उस रव—शब्द—को शब्दब्रह्म कहते हैं, वह सर्वत्र पुरा हुआ है, प्राणियोंके उत्पन्न होने पर वह प्राणियोंके शरीरमें आविर्भूत होता है” ॥

÷ श्रुतिमें भी कहा है, कि—“एतावद् वा इदं अन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नं अग्निरन्नादः—यह सब अन्न है और अन्नाद है, सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद (अन्नको खाने वाला) है”। भगवद्गीता १५। १४ में भगवान्‌ने भी कहा है, कि—“अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥—मैं वैश्वानर (अग्नि) रूपसे प्राणियोंके देहमें रहता हूँ और प्राण और अपानसे संयुक्त होकर चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ” ॥

परि॑ । विश्वा॑ । भुव॑नानि । आ॒य॒म् । ऋ॒तस्य॑ । तन्तु॑म् । वि॒ऽत॑-तम् । दृ॒शे । कम् ।

यत्र॑ । दे॒वाः । अ॒मृत॑म् । आ॒न॒शा॒नाः । स॒मा॒ने । योनौ॑ । अधि॑ । ऐर॑यन्त ॥

विश्वा विश्वानि भुवनानि पृथिव्यादीन् कर्मफलभूतान् लोकान् पर्यायम् ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् खलु परितः प्राप्नवम् । परितो गमनस्य प्रयोजनम् आह । ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणः तन्तुम् पटस्य तन्तुवत् जगतः कारणभूतं विततम् व्याप्तं स्वरूपं दृशे द्रष्टुम् । पर्यायम् इति सम्बन्धः । ❀ कम् इति पदपूरणः । तथा च यास्कः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विती इति [नि० १. ९] ❀ । यद्वा । ऋतस्य पुण्यापुण्यलक्षणकर्मणः कारणभूतं तन्तुम् तन्तुवद् बन्धनहेतुं मूलाज्ञानं विततम् अनादित्वेन विस्तीर्णम् । "ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य" इति [तै० आ० १०.१.४] श्रुत्यन्तराद् अत्रापि छित्त्वेत्यध्याहारः । कम् सुखात्मकं ब्रह्म । "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" [छा० उ० ४. १०. ५] इति श्रुतेः । दृशे द्रष्टुं पर्यायम् इति योजना । ❀ "दृशे विख्ये च" इति दृशेस्तुमर्थे केप्रत्ययान्तो निपातितः ❀ ॥ द्रष्टव्यं ब्रह्मैव विशिनष्टि यत्र देवा इत्यर्धर्चेन । यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि देवाः इन्द्राद्या अमृतम् अविनश्वरं परमानन्दम् आनशानाः अश्नुवानाः प्राप्नुवन्तः समाने योनौ एकस्मिन्नेव कारणभूते ब्रह्मणि । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी आधिक्यार्थो वा ❀ । ऐरयन्त स्वात्मानम् अगमयन् । तदेकीभूता इत्यर्थः ॥ अथ वा तत्त्ववित् स्वानुभवम् आविष्करोति । यत्र ब्रह्मणि मनोवृत्तिभिः साक्षात्कृते अमृतम् अनश्वरनिरतिशयानन्दम् आनशानाः प्राप्नुवन्तो देवा इन्द्रियाणि समाने योनौ साधारणे कारणभूते ब्रह्मणि अध्यैरयन्त प्राप्नुवन्ति । लीना भवन्तीत्यर्थः । अर्थद्वयेपि तद् ब्रह्म द्रष्टुम् इति संबन्धः । ❀ आन-

शानाः । अश्नोतेश्छान्दसे लिटि "लिटः कानज्वा" इति कानजादेशः । "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः । "चितः" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥

[इति] द्वितीयकाण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

इन्द्र आदि देवता अविनाशी परम आनन्दका अनुभव करते हुए एकमात्र कारणभूत जिस ब्रह्ममें अपने आत्माको प्रेरित करते हैं अर्थात् उसमें एकीभूत होजाते हैं और जिस ब्रह्ममें मनोवृत्तियों के द्वारा साक्षात्कार करने पर अविनाशी परमानन्दको भोगती हुई इन्द्रियें साधारण कारणभूत ब्रह्ममें लीन होजाती हैं उस सत्य ब्रह्मके पटके तन्तुकी समान जगत्के कारणभूत व्याप्तस्वरूप ब्रह्मको देखनेके लिये मैं ज्ञान प्राप्त होनेसे पहिले कर्मफलभूत पृथिवी आदि समस्तलोकोंमें वारम्वार गया हूँ ।

अथवा—पुण्यपापरूप कर्म ऋतके कारणभूत तन्तुकी समान बन्धनके कारण अनादि होनेसे विस्तृत मूलाज्ञानको काट कर† सुखात्मक‡ ब्रह्मको देखनेके लिये मैं कर्मफलभूत पृथिवी आदि सब लोकोंको ज्ञानोत्पत्तिसे पहिले प्राप्त कर चुका हूँ (उस ब्रह्म की प्रशंसा यह है, कि--) उस ब्रहममें इन्द्र आदि देवता अविनाशी परमानन्दको भोगते हुए उस एक कारणभूत ब्रह्ममें ही एकीभूत होजाते हैं ॥ ५ ॥

---

† यद्यपि मूलके पदोंसे "काट कर" अर्थ नहीं निकलता है, तथापि "ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य—पुण्य और अपुण्यके फ़ैले हुए तन्तु अज्ञानको काटकर" इस तैत्तिरीय आरण्यककी १० । ४ । ४ श्रुतिसे "काट कर" पद लिया गया है ।

‡ यहाँ पर मूलके कं शब्दका अर्थ सुखात्मक ब्रह्म किया है । क्योंकि—छान्दोग्य उपनिषत् ४ । १० । ५ में कहा है कि-कं ब्रह्म है खं ब्रह्म है । यथा—"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" ॥

द्वितीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (३६) ॥

"दिव्यो गन्धर्वः" इत्येतत् सूक्तं मातृनामगणे पठितम्। सूत्रितं हि। "दिव्यो गन्धर्वः [२. २] इमं मे अग्ने [६. १११] यौ ते माता [८. ६] इति मातृनामानि" इति [कौ० १. ८]॥

अस्य सूक्तस्य गन्धर्वराक्षसाप्सरोभूतग्रहादिशान्तये घृताक्तसर्वौषधिहोमे चतुष्पथे ग्रहगृहीतशिरःस्थितमृन्मयकपालाग्निहोमादौ च विनियोगः। "मातृनाम्नोः सर्वसुरभिचूर्णान्यन्वक्तानि हुत्वा शेषेण प्रलिम्पति चतुष्पथे च शिरसि दर्भेण्ड्वेऽङ्गारकपालेन्वक्तानि" इत्यादि "मौञ्जे त्रिपादे वयोनिवेशने प्रबध्नाति" इत्यन्तं [कौ० ४. २] सूत्रम् अत्र द्रष्टव्यम् ॥

तथा घृतमांसमधुहिरण्यपांस्वादिघोरवर्षणाद्भुते मर्कटश्वापदादिरूपयक्षाद्भुते गोमायुनामकमण्डूकवदनादिषु अद्भुतेषु [च] अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। "अथ यत्रैतानि वर्षाणि वर्षन्ति घृतं मांसं मधु च यद्धिरण्यम्" इति प्रक्रम्य "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति तत्रतत्रोदाहृतं सूत्रं [कौ० १३. २] द्रष्टव्यम् ॥

तथा ग्रहयज्ञे प्रधानहोमानन्तरं शान्त्यर्थम् अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात्। तद् उक्तं शान्तिकल्पे। ग्रहयज्ञं प्रक्रम्य "अथ शान्तिः कृत्यादूषणैः [२. ११, ४. ४०, ४. १७, ४. १८, ४. १९, ५. १४, ५. ३१, ८. ५, १०. १] चातनैः [१. ७, १. ८, २. १४, २. १८, ३. ५, २. २५, ४. २०, ४. ३६, ४. ३७, ५. २९, ८. ३, ४] मातृनामभिः [२. २, ६. १११, ८, ६] वास्तोष्पत्यैः [३. १२, ६. ७३, ६. ९३, १२. १] आज्यं जुहुयात्" इति [शा० क० १९]॥

तथा प्राग् उदीरितानां त्रिंशच्छान्तीनां तन्त्रभूतायां महाशान्तौ अनेन सूक्तेन आज्यं हुत्वा कुम्भे संपातान् आनयेत्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे।

संपातान् आनयेत् कुम्भे जुह्वन्मन्त्रैरथोत्तरैः

इत्यारभ्य

चातनो मातृनामा च वास्तोष्पत्योथ पाप्महा [न० क० २३] इति ॥

तथा यत्रयत्र महाशान्त्यादौ मातृनामगणस्य विनियोगस्तत्रतत्रैतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

तथा अश्वमेधे "दिव्यो गन्धर्वः" इत्यनया ऋचा ब्रह्मा संवत्सरान्ते युज्यमानम् अश्वम् अनुमन्त्रयेत । "दिव्यो गन्धर्व इत्येतया कौशिकः" इति हि वैतानं सूत्रम् [वै० ७. १] ॥

"दिव्यो गन्धर्वः" इस सूक्तका मातृनामगणमें पाठ है । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है । यथा—"दिव्यो गन्धर्वः [२ । २] इमं मे अग्ने [६ । १११] यौ ते माता [८ । ६] इति मातृनामानि इति" (कौशिकसूत्र १ । ८) ।

इस सूक्तका गंधर्व राक्षस अप्सरा भूत और ग्रह आदिकी शान्तिके लिये किये जानेवाले घृतसे प्लुत सर्वौषधिहोममें चतुष्पथ में ग्रहगृहीशिरःस्थितमृन्मयकपालाग्निहोम आदिमें विनियोग होता है । इस विषयमें "मातृनाम्नोः सर्वसुरभिचूर्णान्यन्वक्तानि हुत्वा शेषेण प्रलिम्पति चतुष्पथे च शिरसि दर्भेण्ड्वेऽङ्गारकपालेन्वक्तानि" से "मौञ्जे त्रिपादे वयोनिवेशने प्रबध्नाति" तकका कौशिकसूत्र ४ । २ देखना चाहिये ॥

तथा घृत मांस मधु सुवर्ण धूल आदिकी घोर वर्षारूप अद्भुत होने पर, वन्दर श्वापद आदिरूप अद्भुत होने पर और गीदड़ तथा मण्डूकमुख नामक अद्भुत होने पर इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय ॥ "अथ यत्रैतानि वर्षाणि वर्षन्ति घृतं मांसं मधु च यद्धिरण्यम्" इति प्रक्रम्य "दिव्यो गन्धर्व इति मातृनामभिर्जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः—अर्थात् जहाँ घृत मांस मधु सुवर्ण आदिकी वर्षा हो० तहाँ दिव्यो गन्धर्वः इस मातृनामगणसे होम करे यही उसका प्रायश्चित्त है।" (कौशिकसूत्र १३ । २)॥

इसीप्रकार ग्रहयज्ञमें प्रधानहोमके अनन्तर शांतिके लिये घृतकी आहुति देय । इसी बातको शान्तिकल्पमें कहा है, यथा–ग्रहयज्ञका आरम्भ करके कहा है "अत्र शान्ति करनेके लिये कृत्यादूषणके २ । ११, ४ । ४०, ४ । १७, ४ । १८, ४ । १९, ५ । १४, ५ । ३१, ८ । ५, १० । १ इन सूक्तोंसे, और चातनगणके १ । ७, १ । ८ २ । १४, २ । १८ । ३-५, २ । २५, ४ । २०, ४ । ३६, ४ । ३७, ५ । २९, ८ । ३, ४ सूक्तोंसे तथा मातृनामगणके २ । २, ६ । १११, ८ । ६ सूक्तोंसे तथा वास्तोष्पत्यगणके ३ । १२, ६ । ७३, ६ । ९३, १२ । १ सूक्तोंसे घृतकी आहुति देय" (शांतिकल्प १६) ॥

इसी प्रकार पहिले कही हुई तीस महाशांतियोंमें प्रधान महाशान्तिमें इस सूक्तसे घृतका होम करके कुम्भमें संपातोंको लावे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"सम्पातान् आनयेत् कुम्भे जुह्वन् मन्त्रैरथोत्तरैः । इत्यारभ्य । चातनो मातृनामा च वास्तोष्पत्योथ पाप्महा–अगले मन्त्रोंसे होम करके कुम्भोंमें संपातोंको लावे । इसका आरंभ करके कहा है, कि–चातन मातृनाम वास्तोष्पत्य और पाप्महा ामक (मंत्र अगले मंत्र) हैं" ॥ नक्षत्रकल्प २३

इसी प्रकार जहाँ २ महाशांति आदिमें मातृनामगणका विनियोग हो तहाँ २ ही इस सूक्तको पढ़ना चाहिये ॥

इसी प्रकार अश्वमेधयज्ञमें ब्रह्मा सम्वत्सरके अन्तमें युज्यमान अश्वको "दिव्यो गंधर्वः" इस ऋचासे अनुमन्त्रित करे । इसी बातको वैतानसूत्र ७ । १ में कहा है, कि–"दिव्यो गंधर्व इत्येतया कौशिकः" ॥

तत्र प्रथमा ॥

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑
वि॒द्वीड्य॑ः ।

तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दि॒व्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि
ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥ १ ॥

दि॒व्यः । ग॒न्ध॒र्वः । भुव॑नस्य । यः । पतिः॑ । एकः॑ । ए॒व । न॒म॒स्यः᳡ ।
वि॒क्षु । ईड्यः॑ ।

तम् । त्वा॒ । यौ॒मि॒ । ब्रह्म॑णा । दि॒व्य॒ । दे॒व॒ । नमः॑ । ते॒ ।
अ॒स्तु । दि॒वि । ते॒ । स॒धऽस्थ॑म् ॥ १ ॥

दिवम् अर्हतीति दिव्यः । द्युस्थान इत्यर्थः । ❀ "छन्दसि च" इति यः । प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तः ❀ । गाः रश्मीन् उदकं वा धारयतीति गन्धर्वः सूर्यः भुवनस्य पृथिव्यादिलोकस्य वृष्ट्यादिनाः पतिः पोषकः । श्रूयते हि । "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" [तै० सं० २. ४. १०. २] इत्यादि । अथ वा भुवनस्य प्राणिजातस्य पतिः प्राणरूपेण पालकः । तथा च आथर्वणोपनिषदि आम्नायते । "सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः" [प्र० उ० १. ८] इति । "योसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति" इति हि तैत्तिरीयके [तै० आ० १. १४. १] । विक्षु प्रजासु एक एव नमस्यः नमस्कार्यः ईड्यः स्तुत्यश्च । ❀ नमःशब्दात् "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" इति पूजायां क्यच् । तदन्ताद्द "अचो यत्" । अतोलोपयलोपौ ❀ । यद्वा नमस्कारार्हः । ❀ "तद्द अर्हति" इति छान्दसो यत् । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् । विक्षु । "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । ईड्यः । ईड स्तुतौ इत्यस्मात् "ऋहलोर्ण्यत्" । "ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः" इत्याद्युदात्त-

त्वम् ❀ । ईदृशो यो गन्धर्वः तं त्वा त्वां ब्रह्मणा परमात्मना यौमि संयोजयामि । तद्रूपेण भावयामीत्यर्थः ॥ यद्वा ब्रह्मणा स्तुतिलक्षणेन मंत्रेण हविर्लक्षणेन अन्नेन वा यौमि संयोजयामि । ❀ यु मिश्रणे । "उतो वृद्धिर्लुकि हलि" इति वृद्धिः ❀ । हे दिव्य दिवि भव हे देव द्योतनादिगुणविशिष्ट । ❀ दीव्यतेः इगुपधलक्षणे के प्राप्ते "देवसेनमेषादयः पचादिषु द्रष्टव्याः" इति अच् प्रत्ययः ❀ ॥ किं च ते तुभ्यं नमोस्तु मया क्रियमाणो नमस्कारो भवतु । ❀ "नमः स्वस्ति०" इति युष्मदश्चतुर्थी । "तेमयावेकवचनस्य" इति तेआदेशः । "अनुदात्तं सर्वम् अपादादौ" इत्यनुदात्तः ❀ ॥ नमस्कार्यत्वमेव उपपादयति । दिवि द्युलोके खलु ते तव सधस्थम् सहस्थानम् । आवासस्थानम् इत्यर्थः । ❀ दिवि । "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तता । सह तिष्ठन्त्यत्रेति "घञर्थे कविधानं स्थास्नागापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" इत्यधिकरणे कप्रत्ययः । "सध मादस्थयोश्छन्दसि" इति सहस्य सधादेशः । "अद्रिसध्योरन्तोदात्तत्वनिपातनं कृत्स्वरनिवृत्त्यर्थम्" इत्यत्र सध्रिग्रहणस्य सहादेशोपलक्षणार्थत्वात् सधशब्दस्य अन्तोदात्तता ❀ ॥ अस्या ऋचः अश्वमेधे वध्यमानाश्वानुमन्त्रणे विनियोगस्य दर्शितत्वात् तदनुसारेण अर्थो नेयः । गन्धर्वः गन्धर्वकुलजातोश्व इत्यर्थः । "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" [बृ० आ० १. १. १] । इत्यादिना अश्वमेधाङ्गस्य अश्वस्य बृहदारण्यके विराडात्मना उपास्यत्वदर्शनात् सर्वाणि विशेषणानि अश्वपक्षेपि युज्यन्ते ॥

स्वर्गमें रहनेवाले अत एव दिव्य, जल और किरणोंको धारण करनेवाले अत एव गंधर्व, सूर्यदेव पृथिवी आदि भुवनोंके वृष्टि आदि से पोषण करनेके कारण पति हैं † और प्राणियोंके प्राणरूपसे

---

† तैत्तिरीयसंहिता २।४।१०।२ में कहा है, कि–"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति–जब

पालक‡ हैं और प्रजाओंके प्रणाम करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं हे गन्धर्व सूर्य! मैं तुम्हारी परब्रह्मरूपसे भावना करता हूँ, और मैं आपको हविरूप अन्नसे संयुक्त करता हूँ। हे स्वर्गमें रहनेवाले द्योतन आदि गुणसम्पन्न सूर्य! मेरा किया हुआ नमस्कार आप को प्राप्त हो, आपका स्थान स्वर्गलोकमें है ॥ १ ॥ ×

द्वितीया ॥

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगव॒याता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य ।
मृ॒डाद् ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः सु॒शेवाः॑ ॥ २ ॥

यह सूर्य तिरछी किरणोंसे लौटते हैं—दक्षिणायनमें आते हैं—तब वर्षा करते हैं" ॥

‡ अथर्ववेदके उपनिषत् प्रश्नोपनिषत्में भी कहा है, कि—"सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः—सैकड़ों रूपोंमें वर्तमान सहस्रों किरणों वाले प्रजाओंके प्राणरूप सूर्यदेव उदय होते हैं (प्रश्नोपनिषत् १।८)। और तैत्तिरीय आरण्यक १।१४।१ में भी कहा है, कि—"योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणान् आदायोदेति—यह जो तपते हुए सूर्य उदय होते हैं, यह सब प्राणियोंको प्राणोंके लाते हुए उदित होते हैं ॥

× इस ऋचाका अश्वमेधमें वध किये जातेहुए अश्वके अनुमंत्रणमें विनियोग दीखता है अत एव तहाँ उसके अनुसार ही अर्थ करना चाहिये। तहाँ गंधर्व शब्दका अर्थ गंधर्वकुलमें उत्पन्न हुआ अश्व करना चाहिये। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" इस बृहदारण्यक १।१।१ इत्यादिमें अश्वमेधके अङ्ग अश्वकी विराडात्मारूपसे उपासना करनी कही है अत एव सब विशेषण अश्वपक्षमें भी लगाये जासकते हैं ॥

दिवि । स्पृष्टः । यजतः । सूर्यऽत्वक् । अवऽयाता । हरसः । दैव्यस्य ।
मृडात् । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव । नमस्यः ।
सुऽशेवाः ॥ २ ॥

दिवि द्युस्थाने स्पृष्टः स्प्रष्टा । तत्र स्थित इत्यर्थः । ❀ स्पृश संस्पर्शने इत्यस्मात् कर्तरि क्तः ❀ । यजतः यष्टव्यः । ❀ भृमृदृशियजिपत्यमिनमिहनिभ्योऽतच् [उ० ३. ११०] इति अतच् प्रत्ययः । चित्त्वाद् अन्तोदात्तः ❀ । सूर्यस्य त्वगिव त्वग् यस्य स सूर्यत्वक् । सूर्यसमानवर्ण इत्यर्थः । ❀ "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना सुवतेः सरतेर्वा क्यबन्तो निपातितः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । दैव्यस्य देवसंबन्धिनो हरसः । क्रोधनामैतत् । क्रोधस्य अवयाता अपगमयिता । ❀ "देवाद् यञञौ" इति प्राग्दीव्यतीयेषु अर्थेषु यञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इत्याद्युदात्तः ❀ ॥ न केवलं दैव्यस्य क्रोधस्य निवारकः अपि तु सुखप्रदोपि अयमेव इत्याह । मृडात् मृडयतु । ❀ मृड सुखने इत्यस्मात् लेटि आडागमः । "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀ । गन्धर्व इत्यादि पूर्ववत् । सुशेवाः । शेवम् इति सुखनाम । शोभनं सुखं यस्य स तथोक्तः । ❀ व्यत्ययेन बहुवचनम् । इणशीङ्भ्यां वन् [उ० १. १५०] इति वन् प्रत्ययः । "आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि" इति बहुव्रीहौ उत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । यद्वा । ❀ एवृ शेवृ केवृ सेवने तालव्यादिः पठ्यते । अस्माद् भावे असुनि शोभनं शेवः शेवनं यस्येति बहुव्रीहौ "सोर्मनसी अलोमोषसी" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ । अनायासेन सेव्य इत्यर्थः ॥

आकाशमें स्थित, पूजन करने योग्य सूर्यकी समान वर्णवाला देवताओंके क्रोधको हटाने वाला जो गन्धर्व भुवनोंका स्वामी है नमस्कार करनेयोग्य है, सुन्दररूपसे सुख देनेवाला है वह सुख देय२

तृतीया ॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥

अनवद्याभिः । सम् । ऊं इति । जग्मे । आभिः । अप्सरःसु । अपि । गन्धर्वः । आसीत् ।
समुद्रे । आसाम् । सदनम् । मे । आहुः । यतः । सद्यः । आ । च । परा । च । यन्ति ॥ ३ ॥

अनवद्याभिः अगर्ह्याभिः । प्रशस्तरूपाभिरित्यर्थः । ❀ "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इति गर्ह्यार्थे अवद्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तो निपातितः । बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । आभिरप्सरोभिः मरीचिरूपाभिः । "सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १] इति श्रुतेः । सूर्यरूपो गन्धर्वः सं जग्मे संगतवान् । उशब्दः पदपूरणार्थः प्रसिद्ध्यर्थो वा । ❀ "समो गम्यृच्छि०" इत्यादिना अकर्मकाद् गमेरात्मनेपदम् । "गमहन०" इत्युपधालोपः ❀ । अप्सरासु अप्सरःस्वपि गन्धर्वः सूर्यनामा आसीत् संगतोभवत् । गन्धर्वाप्सरसां परस्परसाहित्यप्रतिपादनेन तेषाम् अविनाभावस्य सिद्धत्वात् सहैव तेषां पूजाहोमादिकं कार्यम् इति तात्पर्यार्थः । अत एव तैत्तिरीयके । "गन्धर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" इति प्रक्रम्य "तस्यै स्वाहा ताभ्यः स्वाहेति जुहोति तेनै-

वैनान् समर्धयति” [तै० सं० ३. ४. ८. ४] इति होमसाहित्यम् आम्नातम् । ❀ अप्सरास्विति । आप इत्यन्तरिक्षनाम । उदकं वा । तत्र चरतीत्यप्सरा । बाहुलकाद् अच् । यद्वा अप्स इति रूपनाम । रो मत्वर्थीयः । उभयत्र अप् । अथ वा अप्सु सरतीति अप्शब्दोपपदात् सर्तेः असुन् । अप्सुशब्दोपपदात् ला आदाने इत्यस्माद् वा रत्वे असुन् । रा दाने इत्यस्माद् वा असुन् । तथा च सकारान्तोप्सरःशब्दः । तस्यैव व्यत्ययेन सकारस्य आत्वम् । एतत् सर्वं यास्केनोक्तम् । अप्सरा अप्सारिण्यपि वा अप्स इति रूपनाम अप्सातेरप्सानीयं भवति । आदर्शनीयं व्यापनीयं वेति । तद्रा भवति रूपवती तद् अनयात्तम् इति वा तद् अस्यै दत्तम् इति वा इति च [नि. ५. १३] । अत एव व्युत्पत्त्यनवधारणात् पदकारा नावगृह्णते ❀ । अप्सरसां स्थानम् आह समुद्र इति । आसाम् अप्सरसां मरीचिरूपाणां सदनम् । ❀ सीदन्त्यस्मिन्निति सदनम् आवासस्थानम् । अधिकरणे ल्युट् ❀ । समुद्रे समुद्द्रवन्ति अस्माद् आप इति वा संमोदन्तेस्मिन् भूतानीति वा समुद्रशब्देन आदित्य उच्यते । तत्र इति मे मम आहुः कथयन्ति अभिज्ञाः । इति मन्त्रद्रष्टुर्वचनम् एतत् । तदेव उपपादयति । यतः यस्माद् आदित्यात् सद्यः सूर्योदयसमकालमेव आ यन्ति च आगच्छन्ति च परा यन्ति च अस्मात् स्थानात् तत् पुनः परागच्छन्ति च । अस्तमयकाले तदेव प्रविशन्तीत्यर्थः ॥ अथ वा गन्धर्वशब्दः प्रसिद्धगन्धर्वजातिवाचकः । अप्सरःशब्दोपि प्रसिद्धाप्सरोजातिवाची । सम् जग्म इति परस्परानुरागविशेषेण स्त्रीपुंसात्मकानां तेषां गतिरुक्ता । समुद्रशब्देन अन्तरिक्षलोक उच्यते । यतः यस्माद् अन्तरिक्षलोकाद् आयन्ति प्रजापीडार्थम् आविर्भवन्ति पुनस्तत्रैव परा यन्ति । तिरोभवन्तीत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववद् योज्यम् ॥

अनिन्दनीय-प्रशंसनीय-रूप वालीं किरणरूप अप्सराओंसे सूर्यदेव रूप गन्धर्व † सङ्गत होगए हैं, अप्सराओंमें भी सूर्यनामक गन्धर्व सङ्गत हुआ था × इन किरणरूप अप्सराओंका स्थान जिसमें प्राणी आनन्द करते हैं वह समुद्रोपनामक सूर्य हैं ÷ (मंत्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं, कि-) विद्वान् पुरुष मुझसे कहते हैं, कि-इन सूर्यसे ही सूर्योदयके साथ ही किरणें निकल आती हैं और अस्तके समय फिर इनमें ही लीन होजाती हैं और इन गंधर्व तथा अप्सराओंका स्थान भी अंतरिक्ष है ये उस अंतरिक्षलोकसे ही प्रजाको पीड़ा देनेके लिये आजाते हैं और फिर उसीमें अंतर्धान होजाते हैं ॥ ३ ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ७ । १ में कहा है, कि-"सूर्यो गंधर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः-सूर्य गन्धर्व है और उसकी किरणें अप्सरायें हैं" ॥

× गंधर्व अप्सराओंका परस्पर साहचर्य दिखाया है उसका तात्पर्य यह है, कि-इनके निमित्त पूजा होम आदि साथ ही साथ करना चाहिये । इसी लिये तैत्तिरीयसंहिता ३ । ४ । ८ । ४ में कहा है, कि-"गंधर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" जो उन्मादमें आता है उसको गंधर्व और अप्सरायें उन्मादयुक्त करती है ।" इसका आरम्भ करके आगे कहा है, कि—"तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहेति जुहोति तेनैवैनान् समर्धयति-उन गंधर्वोंके लिये स्वाहा है उन अप्सराओंके लिये स्वाहा है इस प्रकार होम करे और इसीसे उनकी वृद्धि करे" ॥

÷ जिससे जल उछलते हैं, जिसमें प्राणी आनंद करते हैं वह समुद्र कहलाता है, इसी लिये यहाँ समुद्र शब्दसे सूर्यका ग्रहण किया है ॥

चतुर्थी ॥

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

अभ्रिये । दिद्युत् । नक्षत्रिये । याः । विश्वऽवसुम् । गन्धर्वम् । सचध्वे ।
ताभ्यः । वः । देवीः । नमः । इत् । कृणोमि ॥ ४ ॥

हे अभ्रिये । अभ्रेषु भवा अभ्रिया । ❀ "समुद्राभ्राद्धः" इति भवार्थे घप्रत्ययः । घस्य इय् आदेशः ❀ । हे दिद्युत् द्योतनस्वभावे । ❀ द्युत दीप्तौ इत्यस्मात् "द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च" इति क्विपि द्विर्वचने "द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम्" इत्यभ्यासस्य संप्रसारणम् ❀ । हे नक्षत्रिये नक्षत्ररूपिणि । ❀ "नक्षत्राद् घः" इति स्वार्थे घप्रत्ययः । "चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. १] इति श्रुतेर्नक्षत्राणाम् अप्सरस्त्वम् ❀। यद्वा अभ्रिये । अभ्रम् अन्तरिक्षम् । तत्र भवः अभ्रियो मेघः । तस्मिन् । दिद्युत् । ❀ व्यत्ययेनैकवचनम् ❀ । द्योतमाना या अप्सरसः । "पर्जन्यो गन्धर्वस्तस्य विद्युतोप्सरसः" [तै० सं० ३. ४. ७. २] इति श्रुतेः । नक्षत्रिये । जातावेकवचनम् । सुकृतफलोपभोगायतनानि नक्षत्राणि । "देवगृहा वै नक्षत्राणि" [तै० ब्रा० १. ५. २. ६] इति श्रुतेः । तेषु च या अप्सरसः या यूयं विश्वावसुम् । विश्वं वसु यस्मिन् स विश्वावसुः । ❀ "विश्वस्य वसुराटोः" इति पूर्वपदस्य दीर्घः । "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । एतन्नामानं गन्धर्वं सचध्वे संगता भवथ । ❀ षच समवाये ❀ । हे देवीः देव्यो द्योतमानाः । ❀ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । ताभ्यः उक्तरूपाभ्यो वः युष्मभ्यम् । ❀ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इति चतुर्थीबहुवचनान्तस्य युष्मदो वस् आदेशः ❀ । नमः ।

अन्ननामैतत् । हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा इच्छब्दः अवधारणे । कृणोमि करोमि । ❀ कृवि हिंसाकरणयोश्च । "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

हे मेघोंमें होनेवालीं दमकनेके स्वभावकी नक्षत्ररूपी किरणों ! तुममेंसे जो सम्पूर्ण धनवाले किरणधारी चंद्रमा†से सङ्गत होती हैं उन तुम दमकने वाली किरणोंके निमित्त मैं नमस्कार करता हूँ, हविरूप अन्न देता हूँ ॥

वा–हे आकाशमें होनेवाले मेघ+में दमकती हुई अप्सराओ ! तुम पुण्यफल भोगनेके स्थानरूप नक्षत्र÷स्वरूप हो तुममेंसे जो अप्सरायें विश्वावसु नाम वाले गंधर्वसे सङ्गत हुई हैं, उन प्रकाशमयी देवियोंको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

याः । क्लन्दाः । तमिषीचयः । अक्षऽकामाः । मनःऽमुहः ।
ताभ्यः । गन्धर्वऽपत्नीभ्यः । अप्सराभ्यः । अकरम् । नमः ॥ ५ ॥

क्लन्दाः क्लन्दयित्र्यो मनुष्यान् आविश्य उपद्रवकरणेन रोदयित्र्यः । ❀ कदि क्रदि क्लदि आह्वाने रोदने च इत्यत्र क्लन्देर्ण्यन्तात् पचाद्यच् ❀ । तमिषीचयः । तविषीति बलनाम। तद् अश्व-

---

† "चन्द्रमा गंधर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसः–चन्द्रमा गंधर्व है और उसके नक्षत्र अप्सरायें हैं" (तैत्तिरीयसंहिता ३।४।७।१)।

+ "पर्जन्यो गंधर्वस्तस्य विद्यु तोऽप्सरसः–पर्जन्य गंधर्व है, बिजलियें उसकी अप्सरायें हैं॥" (तै० स० ३ । ४ । ७२) ॥

÷ "देवगृहा वै नक्षत्राणि–नक्षत्र देवताओंके घर हैं" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । ५ । २ । ६) ॥

न्ति प्राप्नुवन्ति चिन्वन्ति वेति तविषीचयः। बलवत्य इत्यर्थः। ❀ तवेर्वृद्ध्यर्थात् तवेर्णिद्वा [उ० १. ४८] इति टिषच् प्रत्ययः। टित्वाद् ङीप्। वर्णव्यत्ययश्छान्दसः। ततः अञ्चतेश्चिनोतेर्वा क्विनि पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः। तमु ग्लानौ। इत्यस्माद् वा बाहुलकात् टिषच् प्रत्ययः ❀। तमिषीं ग्लानिं परेषाम् आविष्टानाम् उपचिन्वन्तीति तमिषीचयः। अक्षकामाः अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि नाशयितुं कामयमानाः। ❀ कर्मण्यण्। 'कर्मण्यण्" इति अणि प्राप्ते "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" इति णप्रत्ययः ❀। मनोमुहः मनसो मोहयित्र्यः। उन्मादकारिण्य इत्यर्थः। श्रूयते हि तैत्तिरीयके। "गन्धर्वाप्सरसो वा एतम् उन्मादयन्ति य उन्माद्यति" [तै० सं० ३. ४. ८. ४.] इति। एवंविधा या अप्सरसस्ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यः गन्धर्वाः पतयो यासाम्। ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति ङीब्नकारौ ❀। अप्सराभ्यः अप्सरोभ्यः नमः हविर्लक्षणम् अन्नं नमस्कारं वा अकरम् करोमि। ❀ "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति करोतेश्छान्दसे लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेः अङ् आदेशः। "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः ❀॥

इति द्वितीये काण्डे प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम्॥

मनुष्योंमें प्रवेश कर उपद्रव करके उनको रुलाने वालीं, बलवती और आविष्ट पुरुषोंमें ग्लानि फैलाने वालीं, इंद्रियोंको नष्ट करना चाहने वालीं और मनको मोहमें डालने वालीं अर्थात् उन्माद करने वालीं † जो गंधर्वपत्नी अप्सरायें हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ, हविरूप अन्न देता हूँ॥ ५॥

द्वितीय काण्डके प्रथम अनुवाकमें द्वितीयसूक्त समाप्त (३७)॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता ३। ४। ८। ४ में कहा है, कि—"गंधर्वाप्सरसो वा एतं उन्मादयन्ति य उन्माद्यति—जो उन्माद करता है उसको गंधर्व और अप्सरायें उन्मादयुक्त कर देती है॥"

"अदो यत्" इति सूक्तेन ज्वरातीसारातिमूत्रनाडीव्रणेषु तदुपशान्तये मुञ्जशिरोनिर्मितरज्जुबन्धनम् क्षेत्रमृत्तिकाया वा पायनन् सर्पिर्लेपनम् चर्मदृतिमुखेन अपानशिश्ननाडीव्रणमुखानां धमनं च कार्यम् । "विद्मा शरस्य [१. २] अदो यत् [२. ३] इति मुञ्जशिरोरज्ज्वा बध्नाति" इत्यादि [कौ० ४. १] सूत्रं द्रष्टव्यम्

"अदो यत्" इस सूक्तसे ज्वर अतीसार अतिमूत्र और नाड़ीव्रणमें इनकी शांतिके लिये श्रेष्ठ मूँजकी रस्सी बाँधे, खेतकी मट्टीको पिलावे, घृतका लेपन करे, चमड़ेकी धौकनीके मुखसे अपान शिश्न और नाड़ीव्रणके मुखका धमन भी करे। इस विषय में कौशिकसूत्र ४। १ का प्रमाण है। कि–"विद्मा शरस्य (१। २) और अदो यत् (२। ३) इन दो सूक्तोंसे श्रेष्ठ मूँजकी रस्सी बाँधता है। इत्यादि"

तत्र प्रथमा ॥

अ॒दो यद॑व॒धाव॑त्यव॒त्कमधि॒ पर्व॑तात् ।
तत् ते॑ कृणोमि भेष॒जं सुभे॑षज॒ं यथास॑सि ॥ १ ॥

अ॒दः । यत् । अ॒व॒ऽधाव॑ति । अ॒व॒त्ऽकम् । अधि॑ । पर्व॑तात् ।
तत् । ते॒ । कृ॒णो॒मि॒ । भे॒ष॒जम् । सुऽभे॑षजम् । यथा॑ । अस॑सि ॥ १ ॥

पर्वतात् । अत्र पर्वतशब्देन मुञ्जवान् नाम पर्वतो विवक्षितः । "मुञ्जशिरोरज्ज्वा बध्नाति" इति विनियुक्तस्य मुख्यमुञ्जस्य तत्रैवोत्पत्तेः । तस्मात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । "अधिपरी अनर्थकौ" इति स्मरणात् ❀ । अदः विप्रकृष्टं यत् प्रसिद्धम् अवत्कम् व्याधिपरिहारेण रक्षकं मुञ्जशिरः अवधावति अवरुह्य भूमौ धावति । व्याप्य वर्तत इत्यर्थः । ❀ "पाघ्राध्मा०" इत्यादिना सर्तेर्वेगितायां गतौ धाव् आदेशः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघात-

प्रतिषेधे "तिङि चोदात्तवति" इति गतेरनुदात्तत्वम् ❀ । हे मुञ्ज ते तव त्वदीयं तत् अग्रम् । यद्वा । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । तत् तथाविधं ते त्वां भेषजं कृणोमि व्याधिनिवृत्त्यर्थम् औषधं करोमि । यथा येन प्रकारेण सुभेषजम् व्याधिनिवर्तनक्षमम् अतिशयितवीर्ययुक्तम् असमि । तथा कृणोमीति संबन्धः । ❀ सुभेषजम् । "स्वती पूजायाम्" इति प्रादिसमासः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । असमि । अस्तेः "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ॥

मुञ्जवान् पर्वतसे जो सर्वश्रेष्ठ, प्रसिद्ध व्याधि हरनेसे रक्षा करने वाला श्रेष्ठ मूँज उतर कर भूमि पर दौड़ता है अर्थात् भूमि पर व्याप्त है, ऐसे हे मूँज ! मैं तेरे अग्रभागको व्याधि हटानेके लिये औषधि बनाता हूँ,—तू जिस प्रकार व्याधिको दूर करनेमें समर्थ परमवीर्यवान् औषध बने तैसा करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आद॒ङ्गा कु॒वि॒दङ्गा श॒तं या भे॑ष॒जानि॑ ते ।
तेषा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मम॑नास्र॒वम॑रो॑गणम् ॥ २ ॥

आत् । अ॒ङ्ग । कु॒वित् । अ॒ङ्ग । श॒तम् । या । भे॒ष॒जानि॑ । ते॒ ।
ते॑षाम् । अ॒सि॒ । त्वम् । उ॒त्ऽत॒मम् । अ॒ना॒स्र॒वम् । अ॒रो॑गणम् २

अङ्गेत्याभिमुख्यकरणे । हे ओषधे आत् प्रयोगसमनन्तरमेव । रोगं निवर्तयेत्यध्याहारः ॥ तथा अंग कुवित् । बहुनामैतत् । बहुधा उत्पन्नान् अतीसारादीन् रोगान् । विनाशयेति शेषः । ❀ अङ्ग इत्युभयत्र "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । तदेव प्रशंसति । हे ओषधे ते तव संबन्धीनि सजातीयानि शतम्

अपरिमितानि या यानि । ❀ "शेश्छन्दसि बहुलम्" इति लोपः ❀ । भेषजानि सन्ति तेषाम् भेषजानां मध्ये त्वम् उत्तमम् उत्कृष्टतमम् असि भवसि । ❀ उत्कृष्टार्थवाचिन उच्छब्दाद् अतिशायने तमप् । "उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र" इति उञ्छादिषु पाठात् अन्तोदात्तः ❀ । उत्तमत्वं समर्थयते । अनास्रावम् । आस्रवन्तीति आस्रावाः अतीसारातिमूत्रनाडीव्रणादयः । तेषाम् निवर्तकम् । ❀ आङ्पूर्वात् स्रवतेः "श्या व्याधास्रु०" इत्यादिना णः ❀ । अरोगणम् तन्मूलरोगनिवर्तकम् । ❀ रुजो भङ्गे इत्यस्माद् भावे ल्युट् । छान्दसं कुत्वम् ❀ ॥

हे ओषधे ! तू प्रयोग करनेके साथ ही रोगको दूर कर, तथा हे ओषधे ! बहुधा उत्पन्न होने वाले अतीसार आदि रोगोंको नष्ट कर, हे ओषधे ! तेरी सजातीय जो अपरिमित ओषधियें हैं उनमें तू श्रेष्ठ है, तू अतिसार अतिमूत्र और नाड़ीव्रण आदिको दूर करनेवाली है और उन रोगोंको जड़से दूर करने वाली है ॥२॥

तृतीया ॥

नी॒चैः ख॑न॒न्त्यसुरा अरु॒स्राण॑मि॒दं म॒हत् ।
तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं॑ तदु॒ रोग॑मनीनशत् ॥ ३ ॥

नी॒चैः । ख॒न॒न्ति॒ । असु॑राः । अ॒रुः॒ऽस्राण॑म् । इ॒दम् । म॒हत् ।
तत् । आ॒ऽस्रा॒वस्य॑ । भे॒ष॒जम् । तत् । ऊं॒ इति॑ । रोग॑म् । अ॒नी॒-
न॒श॒त् ॥ ३ ॥

असुराः । असून् प्राणान् लान्ति आददते अपहरन्तीत्यसुराः । ❀"आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः ❀ । अस्यन्ति शरीरं क्षिपन्ति पातयन्तीति असुराः व्याधयो राक्षसा वा । ❀ । असेरुरन्

[उ० १, ४२] इति उरन् प्रत्ययः ❀ । इदम् परिदृश्यमानं महत् उल्बणम् अरुःस्राणम् अरुषो व्रणस्य पाकस्थानम् । व्रणमुखम् इत्यर्थः । ❀ स्रै पाके इत्यस्माद् अधिकरणे ल्युट् ❀ । नीचैः खनन्ति अन्तरन्तः अवदारयन्ति । अभ्यन्तरं व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्वा असुराः असुः प्राणः । ❀ रो मत्वर्थीयः ❀ । प्राणवन्तः । बलवन्त इत्यर्थः । अरुःस्राणम् । अरुःस्रायति पक्वं भवति उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुःस्राणम् । ❀ करणे ल्युट् ❀ । इदम् महत् औषधं नीचैः खनन्ति समूलम् उद्धरन्ति ॥ तत् उक्तम् औषधम् आस्रावस्य उक्तलक्षणस्य रोगस्य भेषजम् निवर्तकम् । तदु तदेव रोगम् अतीसारादिकम् अशीशमत् समूलं नाशयति । ❀ शमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

प्राणोंको हरने वाले असुर और शरीरको गिरानेवाली असुररूप व्याधियें इस दीखते हुए बड़े भारी व्रणके मुखको भीतरसे फाड़ते हैं अर्थात् इसके भीतर व्याप्त होते हैं (किन्तु) यह मूँज नामक औषध आस्रावकी बड़ी भारी औषध है, वही इन अतीसार आदि रोगोंको समूल नाश करती है ।। ३ ।।

चतुर्थी ॥

उ॒प॒जीका॒ उद्भ॑रन्ति समु॒द्रादधि॑ भेष॒जम् ।
तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं तदु॒ रोग॑मशीशमत् ॥ ४ ॥

उ॒प॒ऽजीका॑ः । उत् । भ॒र॒न्ति॒ । स॒मु॒द्रात् । अधि॑ । भे॒ष॒जम् ।
तत् । आ॒ऽस्रा॒वस्य॑ । भे॒ष॒जम् । तत् । ऊं॒ इति॑ । रोग॑म् । अ॒शी॒श॒म॒त् ॥ ४ ॥

उपजीका वल्मीकनिष्पादिका वम्र्यः समुद्रात् पृथिव्या अधोवस्थितात् जलराशेः । [अधिः] पञ्चम्यर्थानुवादी । भेषजम्

रोगनिवारकम् औषधम् [उद्धरन्ति] उद्धरन्ति । पृथिव्या ऊर्ध्वं हरन्ति । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ ॥ तत् वल्मीकमृत्तिकारूपम् औषधम् आस्रावस्येत्यादि पूर्ववत् ॥

वमईको बनाने वाली पृथ्वीके नीचे स्थित जलराशिसे रोगनिवारक औषधिको पृथ्वीके ऊपर लाती है, यह वमईकी मिट्टी रूप औषधि आस्रावकी ओषध है, यह अतीसार आदि रोगोंको समूल नष्ट कर डालती है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒रु॒स्राण॑मि॒दं म॒हत पृ॑थि॒व्या अध्युद्भृ॑तम् ।
तदा॑स्रा॒वस्य॑ भे॑ष॒जं तदु॒ रोग॑मनीनशत् ॥ ५ ॥

अ॒रु॒ःऽस्रा॑णम् । इ॒दम् । म॒हत् । पृ॒थि॒व्याः । अधि॑ । उत्ऽभृतम् ।
तत् । आ॒ऽस्रा॒वस्य॑ । भे॒ष॒जम् । तत् । ऊं॒ इति॑ । रोग॑म् । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ ५ ॥

अरुःस्राणम् अरुषो व्रणस्य पाचनं पृथिव्याः केदारादिक्षेत्ररूपायाः सकाशात् । अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । उद्भृतम् उद्धृतम् । ❀ "गतिरनन्तरः" इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यद्व इदं महत् औषधं क्षेत्रमृत्तिकारूपम् तत् आस्रावस्येत्यादि पूर्ववत् । ❀ अनीनशत् इति । णशेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

व्रणको पकाने वाली, क्यारी आदि खेतसे उठाई हुई क्षेत्रमृत्तिकारूप औषधि अतीसार आदिकी बड़ी भारी ओषधि है यह रोग को समूल नष्ट कर डालती है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शं नो॑ भव॒न्त्वप॒ ओष॑धयः शि॒वाः ।

इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद् विसृष्टा
इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

शम् । नः । भवन्तु । अपः । ओषधयः । शिवाः ।
इन्द्रस्य । वज्रः । अप । हन्तु । रक्षसः । आरात् । विऽसृष्टाः ।
इषवः । पतन्तु । रक्षसाम् ॥ ६ ॥

औषधार्थं प्रयुज्यमाना आपः ओषधयश्च शिवाः सुखहेतवः सत्यः नः अस्माकं शम् रोगाणां शमनाय भवन्तु ॥ रक्षसः राक्षसान् रोगोत्पादकान् इन्द्रस्य वज्रः अप हन्तु हिनस्तु । ❀ रक्षत्यस्माद् इति "भीमादयोपादाने" इत्यपादाने रक्षतेः असिप्रत्ययः । रक्षो रक्षितव्यम् अस्माद् इति यास्कः [नि० ४, १८] । प्रत्याद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ विसृष्टा मनुष्याणां पीडनाय प्रयुक्ता रक्षसाम् इषवः रोगादिरूपा आरात् अस्मत्तो दूरे पतन्तु ॥

[इति] द्वितीये काण्डे प्रथमेऽनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

औषधके लिये प्रयुक्त किये हुए जल सुखदायक होकर हमारे रोगोंको शांत करनेवाले हों, रोगोत्पादक (राक्षसों) को इंद्रका वज्र मार डाले और मनुष्योंको पीड़ित करनेके लिये छोड़े हुए राक्षसोंके रोगरूप बाण हमसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

द्वितीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमे तीसरा सूक्त समाप्त (३८)

"दीर्घायुत्वाय" इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थम् आत्मरक्षार्थम् विघ्नशमनार्थं च जङ्गिडाख्यवृक्षविशेषमणिं शणसूत्रप्रोतं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । "दीर्घायुत्वायेति मन्त्रोक्तं बध्नाति" इति सूत्रम् [कौ० ५. ६] ॥

"दीर्घायुत्वाय" इस सूक्तसे कृत्यादूषणके लिये, अपनी रक्षा के लिये, और विघ्नशमन करनेके लिये भी जङ्गिड नाम वाले

वृक्षकी मणिको सुतरी सनसे पिरो संपात और अभिमन्त्रण करके बाँधे । कौशिकसूत्र ५ । ६ में भी कहा है, कि—"दीर्घायुत्वायेति मंत्रोक्तं बध्नाति-दीर्घायुत्वाय इस मंत्रमें कहीहुई मणिको बाँधता है"।

तत्र प्रथमा ॥

दी॒र्घा॒यु॒त्वाय॑ बृह॒ते रणा॒यारि॑ष्यन्तो॒ दक्ष॑माणाः॒ सदै॒व ।
म॒णिं वि॑ष्कन्ध॒दूष॑णं जङ्गि॒डं बि॑भृमो व॒यम् ॥ १ ॥

दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । बृ॒ह॒ते । रणा॑य । अरि॑ष्यन्तः । दक्ष॑माणाः । सदा॑ । ए॒व । म॒णिम् । वि॒ऽस्क॒न्ध॒ऽदूष॑णम् । ज॒ङ्गि॒डम् । बि॒भृ॒मः । व॒यम् ॥ १ ॥

दीर्घायुत्वाय चिरकालजीवनाय । ❀ छन्दसीणः [उ ०१.२] इति एतेः उण् प्रत्ययः ❀ । यद्वा दीर्घायुष्ट्वाय । ❀ एतेर्णिच्च [उ० २. ११७.] इति उसिप्रत्ययः । सकारलोपश्छान्दसः । बहुव्रीहेर्भावे त्वप्रत्ययः ❀ । दीर्घम् आयुः अस्माकं यथा स्याद् इत्येवमर्थं बृहते महते रणाय रमणीयाय प्रशस्याय कर्मणे । अभिलषितकर्मानुष्ठानविघ्नशान्तय इत्यर्थः । ❀ "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । "वशिरण्योरप्युपसंख्यानम्" इति रणतेः शब्दार्थात् कर्मणि अप् प्रत्ययः ❀ । अरिष्यन्तः अविनश्यन्तः । अहिंसनाद्धेतोरित्यर्थः । ❀ रुष रिष हिंसायाम् । "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शतृप्रत्ययः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । सदैव सर्वदैव रक्षमाणाः आत्मानं पालयमानाः । ❀ रक्ष पालने इत्यस्माद् व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । हेतौ शानच् ❀ । आत्मरक्षणाद्धेतोरित्यर्थः । विस्कन्धदूषणम् । विस्कन्धः रक्षःपिशाचादिकृतगतिप्रतिबन्धात्मकः शरीरशोषणरूपो वा विघ्नः तस्य निवारकम् । ❀ विपूर्वात् स्कन्देर्घञि धत्वं छान्दसम् । दुष वैकृत्ये । अस्माद् ण्यन्तात् करणे ल्युट् । "दोषो

णौ" इति ऊत्वम् ❀ । जङ्गिडम् । जङ्गिडः वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः । तेन साधितं मणिं बिभृमो धारयामः । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः । श्लौ "भृञाम् इत्" इत्यभ्यासस्य इत्त्वम् ❀ ॥

हमारा जीवन चिरकालतकका हो इस प्रशंसनीय कर्मके लिये अहिंसन कर्मके कारण सदा अपनी रक्षा करते हुए हम राक्षसों की गतिको रोकने वाले और शरीरशोषणरूप विघ्नको हटाने वाले बनारसमें प्रसिद्ध जङ्गिडवृक्षकी बनी हुई मणिको धारण करते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धाद् अभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः । जम्भात् । विऽशरात् । विऽस्कन्धात् । अभिऽशोचनात् ।
मणिः । सहस्रऽवीर्यः । परि । नः । पातु । विश्वतः ॥ २ ॥

जम्भात् हिंसकात् कृत्यादेः । यद्वा जम्भ इति दन्तविशेषस्य आख्या । राक्षसदन्तविशेषकृतात् खादनाद् इत्यर्थः । विशरात् शरीरविशरणात् । ❀ शॄ हिंसायाम् इत्यस्मात् "ऋदोरप्" ❀ । विस्कन्धात् विघ्नात् रक्षःपिशाचादिकृताद् रोगादिरूपात् [अभिशोचनात् कृत्याकृताच्छोकात्] सहस्रवीर्यः अपरिमितसामर्थ्यो जङ्गिडः [जङ्गिड] वृक्षविकारो मणिः नः अस्मान् विश्वतः विश्वस्माद् उदीरिताज्जम्भादेः परि पातु परिरक्षतु । ❀ "उपसर्गाद् बहुलम्" [इति] नसोपि णत्वम् । विश्वत इति । विश्वशब्दात् "पञ्चम्यास्यसिल्" । "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥

हिंसक कृत्या आदिसे और राक्षसोंके दाँतोंके चवानेसे, शरीर

के टुकड़े २ होनेसे तथा राक्षसोंके किये हुए रोगसे अपरिमित वीर्य वाली यह जंगिडमणि हमारी सबओरसे रक्षा करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒यं वि॒ष्क॑न्धं सहते॒यं बा॑धते अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒यं नो॑ वि॒श्वभे॑षजो जङ्गि॒डः पा॒त्वंह॑सः ॥३॥

अ॒यम् । विऽस्क॑न्धम् । स॒ह॒ते॒ । अ॒यम् । बा॒ध॒ते॒ । अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒यम् । नः॒ । वि॒श्वऽभे॑षजः । ज॒ङ्गि॒डः । पा॒तु॒ । अं॑हसः ॥ ३ ॥

अयं जङ्गिडो मणिः विस्कन्धम् परकृतं सहते । अभिभवतीत्यर्थः ॥ अयम् उक्तो मणिः अत्त्रिणः अत्तॄन् भक्षकान् कृत्यादीन् बाधते नाशयति । ❀ अद भक्षणे इत्यस्माद्द अदेस्त्रिनिश्च [उ० ४. ६८] इति त्रिनिप्रत्ययः ❀ ॥ अयं मणिः नः अस्माकं विश्वभेषजः विश्वेषां रोगादीनां निवर्तकः । यद्वा विश्वं कृत्स्नं भेषजं यस्मिन् । सकलौषधात्मक इत्यर्थः । ❀ "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । जङ्गिडो मणिः अंहसः पापात् पातु रक्षतु ॥

यह जंगिडमणि दूसरेके किये हुए राक्षस आदिके उपद्रवकी टक्कर झेलती है और यह जंगिड़ मणि भक्षक कृत्या आदिको मारती है, यह मणि हमारे सब रोगोंकी निवारक है और सकल औषधिरूप है, यह जङ्गिड़मणि पापसे हमारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

दे॒वैर्द॒त्तेन॑ म॒णिना॑ जङ्गि॒डेन॑ मयो॒भुवा॑ ।
विष्क॑न्धं॒ सर्वा॒ रक्षां॑सि व्याया॒मे सं॑हामहे ॥४॥

देवैः । दत्तेन । मणिना । जङ्गिडेन । मयःऽभुवा ।

विऽस्कन्धम् । सर्वा । रक्षांसि । विऽआयामे । सहामहे ॥४॥

देवैः अग्न्यादिभिर्दत्तेन । अनेन अमोघवीर्यत्वम् अस्योक्तम् । मयोभुवा । मय इति सुखनाम । तद् भवत्यस्माद् इति मयोभूः । ❀ "क्विप् च" इति क्विप् ❀ । यद्वा मयसः सुखस्य भावयिता उत्पादयिता । ❀ अन्तर्णीतण्यर्थाद् भवतेः क्विप् ❀ । तेन जङ्गिडेन उक्तेन मणिना । ❀ करणे तृतीया ❀ । विस्कन्धम् विघ्नं [तथा] तद्धेतुभूतानि सर्वा सर्वाणि रक्षांसि रक्षःशब्दोपलक्षितान् भूतप्रेतपिशाचादीन् व्यायामे संचरणे । निमित्तभूते सतीत्यर्थः । ❀ व्याङ्पूर्वाद् यमेर्भावे घञ् । "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्य०" इति वृद्धिप्रतिषेधो न भवति । अस्य अनुदात्तोपदेशत्वात् ❀ । यद्वा । ❀ व्यायच्छन्ति संचरन्ति अस्मिन्निति । अधिकरणे घञ् ❀ । संचरणप्रदेशे सहामहे अभिभवामः ॥

अग्नि आदि देवताओंके दियेहुए (अत एव अमोघवीर्यसंपन्न) सुखकी उत्पादक जंगिड मणिसे विघ्नोंको (तथा उनके कारण) भूत प्रेत पिशाच राक्षसोंको उनके विचरण करनेके देशमें हम तिरस्कृत करते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥५॥

शणः । च । मा । जङ्गिडः । च । विऽस्कन्धात् । अभि । रक्षताम् ।

अरण्यात् । अन्यः । आऽभृतः । कृष्याः । अन्यः । रसेभ्यः ॥५॥

शणः प्रसिद्धः मणिबन्धनसूत्रप्रकृतिभूतः । जङ्गिड उक्तः ।

चशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ । तावुभौ विस्कन्धात् उक्ताद् मा माम् अभि रक्षताम् अभितः सर्वतः पालयताम् । तावेव दर्शयति । अन्यः तयोरेकः । जङ्गिड इत्यर्थः । अरण्यात् वनाद् आभृतः आहृतः । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ । अन्यः एकः शणः कृष्याः । कृषिः कर्षकव्यापारविशेषः । तस्मात् रसेभ्यः ओषधिसारभूतकाष्ठेभ्यः । आभृत इति संबन्धः । एवम् आनीतौ शणजङ्गिडौ विस्कन्धाद् रक्षताम् इति संबन्धः ॥

मणिको बाँधनेका डोरारूप सन और जंगिड भी चारों ओर से मेरी रक्षा करे । इन दोनोंमेंसे एक जंगिड जंगलसे लायागया और दूसरा सन कृषिके (ओषधिसारभूतकाष्ठ) रससे लाया गया है, इस प्रकार लाये हुए सन और जंगिड विस्कंधसे—विघ्न से हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः ।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

कृत्याऽदूषिः । अयम् । मणिः । अथो इति । अरातिऽदूषिः ।
अथो इति । सहस्वान् । जङ्गिडः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ६

मणेः प्रशंसापूर्वकम् अभिलषितफलसाधनत्वं प्रदर्श्यते । अयम् उक्तो मणिः कृत्यादूषिः । परकृताभिचारक्रियाजन्या पीडाकरी काचिच्छक्तिः कृत्या । तस्या निवारकः । ❀ दुषेर्ण्यन्ताद् अच इः [उ० ४. १३८] इति इकारप्रत्ययः ❀ ॥ अथो अपि च अरातिदूषिः । अरातयः शत्रवः । तेषां दूषकः ॥ अथो अपि च सहस्वान् सहः अभिभवनसाधनं बलम् अभिभवनं वा तद्वान् । ❀ "तसौ

मत्वर्थे" इति सकारान्तस्य भत्वेन पदत्वाभावाद् रुत्वाभावः ❀। एवंगुणविशिष्टो जङ्गिडः नः अस्माकम् आयूंषि प्र तारिषत्। ❀ प्रपूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः ❀। प्रवर्धयतु। ❀ प्र ण इति। "उपसर्गाद् बहुलम्" इति णत्वम्। तारिषदिति। तरतेः पञ्चमलकारे "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप्। "सिब्बहुलं छन्दसि णिद् वक्तव्यः" इति सिपो णिद्भावाद् वृद्धिः। "लेटोडाटौ" इत्यडागमः। "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु" इति इकारलोपः ❀॥

द्वितीयकाण्डे प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम्॥

(अब मणिकी प्रशंसा कर अभिलषित फलसाधनकी प्रार्थना करते हैं, कि--) यह मणि दूसरेके अभिचारसे उत्पन्न हुई पीड़ा देने वाली शक्ति कृत्याको दूर करनेवाली है, शत्रुओंको हटाने वाली है, बलवती है, ऐसी यह जंगिड़ मणि हमारी आयुको बढ़ावे॥

द्वितीयकाण्डके प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (२९)॥

"इन्द्र जुषस्व" इति सूक्तेन बलकामः इन्द्रं यजते उपतिष्ठते वा। यद् आह कौशिकः। "इन्द्र जुषस्वेतीन्द्रं बलकामः" इति [कौ० ७. १०]॥

सोमाभिषवकाले अभिषवहोमेषु च अस्य विनियोगः। उक्तं वैताने। "इन्द्र जुषस्वेति राज्ञ्यभिषूयमाणेभिषवणहोमान् जुहोति" इति [वै० ३. ६]॥

तथा षोडशिग्रहे इन्द्रोपस्थानेपि एतत् सूक्तम्। [उक्तं] वैताने। "षोडशिग्रहेष्विन्द्र जुषस्वेतीन्द्रम्" इति [वै० ४. १]॥

तथा "ऐन्द्रीं विजयबलपुष्टिपशुकामस्य परचक्रागमे च" इति [न० क० १७] विहितायां महाशान्तौ एतत् सूक्तं योजयेत्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "अथावापिकाः शान्तयः" इति प्रक्रम्य "इन्द्र जुषस्वेत्यैन्द्र्याम्" इति [न० क० १८]॥

"इन्द्र जुषस्व" इस सूक्तसे बलकी कामनावाला पुरुष इन्द्रकी

पूजा करे वा उपस्थान करे। इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है। यथा।-इन्द्र जुषस्वेतीन्द्रं बलकामः" (कौशिकसूत्र ७। १०) ॥

सोमाभिषवकालमें और अभिषवहोममें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको वैतानसूक्तमें कहा है। यथा-"इंद्र जुषस्वेति राज्यभिषूयमाणेभिषवणहोमान् जुहोति" (वैतानसूत्र ३। ६)

इसी प्रकार षोडशिग्रह और इन्द्रोपस्थानमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इसी बातको वैतानसूक्त ४। १ में कहा है, कि-"षोडशिग्रहेष्विन्द्र जुषस्वेतीन्द्रम्" ॥

इसी प्रकार "ऐन्द्रीं विजयबलपुष्टिपशुकामस्य परचक्रागमे च- विजय पुष्टि बल और पशुकी कामना वालेके लिये तथा शत्रुकी आज्ञाके प्रवृत्त होने पर ऐन्द्री महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित ऐन्द्री महाशांतिमें इस सूक्तको पढ़े। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि-"अथावापिका शांतयः" इति प्रक्रम्य "इन्द्र जुषस्वेत्यैन्द्रयाम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्र॑ जु॒षस्व॒ प्र व॒हा या॑हि शूर॒ हरि॑भ्याम् ।
पिबा॑ सु॒तस्य॑ म॒तेरि॒ह मधो॑श्चका॒नश्चारु॒र्मदा॑य ॥ १ ॥

इन्द्र॑ । जु॒षस्व । प्र । व॒ह॒ । आ । या॒हि॒ । शू॒र॒ । हरि॑ऽभ्याम् ।

पिब॑ । सु॒तस्य॑ । म॒तेः । इ॒ह । मधो॑ः । च॒का॒नः । चारु॑ । मदा॑य १

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त जुषस्व प्रीयस्व। ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः ❀ ॥ प्रवह प्रकृष्टम् अभिलषितं फलं प्रापय ॥ हे शूर शौर्ययुक्त हरिभ्याम् एतन्नामकाभ्याम् अश्वाभ्याम्। ❀ हरी इन्द्रस्य इति हि यास्कः [निघ० १. १५] ❀। ताभ्याम् आ याहि अस्म-

दीयं यज्ञं प्रति आगच्छ ॥ आगत्य इह अस्मिन् यज्ञे सुतस्य अभिषुतस्य मतेः । ❀ कर्मणि क्तिन् ❀ । मननीयस्य । प्रशस्यस्येत्यर्थः । यद्वा । मतिरिति मेधाविनाम । तत्संबन्धिन इत्यर्थः । मधोः मधुररसस्य सोमस्य । भागम् इति शेषः । यद्वा । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानसंज्ञायां "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी ❀ । उक्तविधं सोमं पिब । ❀ "द्व्यचोतस्तिङः" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ एवं पीतः सोमः चकानः । ❀ चक तृप्तौ इति धातोः शानच् । छान्दसः शपो लुक् ❀ । तर्पयन्नित्यर्थः । यद्वा । ❀ कै गै रै शब्दे इत्यस्मात् कर्मणि लिटः कानच् ❀ । स्तूयमानः चारुः दशापवित्रेण शोधितत्वान्निर्मलः मदाय मदोत्पत्तये । भवतु इति शेषः । ❀ "मदोऽनुपसर्गे" इति भावे अप् प्रत्ययः ❀ ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्रदेव! प्रसन्न हूजिये, अभिलषित फल दीजिये, हे शूरतासम्पन्न इन्द्र! अपने हरी † नामक घोड़ोंके द्वारा हमारे यज्ञमें आइये । और हमारे इस यज्ञमें आकर अभिषित प्रशंसनीय सोमभागको पीजिये इस प्रकार दशापवित्रसे शोधित होनेके कारण निर्मल पिया हुआ सोम तृप्त करता हुआ मद उत्पन्न करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्र॑ ज॒ठरं॑ न॒व्यो न पृ॒णस्व॒ मधो॑र्दि॒वो न ।
अ॒स्य सु॒तस्य॒ स्व॑१॒र्णोप॑ त्वा॒ मदाः॑ सु॒वाचो॑ अगुः ॥ २ ॥

इन्द्र॑ । ज॒ठर॑म् । न॒व्यः । न । पृ॒णस्व॑ । मधोः॑ । दि॒वः । न ।

---

† "हरी इन्द्रस्य हि इति हि यास्कः—हरि इन्द्रके घोड़े हैं इस बातको यास्कमुनिने कहा है ।" (निघण्टु १ । १५) ॥

अस्य । सुतस्य । स्वः । न । उप । त्वा । मदाः । सुऽवाचः । अगुः ॥२॥

हे इन्द्र नव्यो न नूतन इव । ❀ "वस्त्वप्स्वौककविक्षेमत्वर्चोनिष्केवलोक्थजनपूर्वनवसूरमर्त्तयविष्ठेभ्यो यत्" इति नवशब्दात् स्वार्थे यत् प्रत्ययः । उपमानोत्तरस्थो नञ् उपमार्थे वर्तते । दुर्मदासो न सुरायाम् [ऋ० ८. २. १२] इत्युपमार्थीय उपरिष्टाद् उपाचारस्तस्य येनोपमिमीते इति [नि० १. ४] यास्कवचनात् ❀ । अनेन आदरातिशय उक्तः । मधोः मधुररसस्य सोमस्य भागेन जठरम् स्वोदरकुहरं पृणस्व पूरय । ❀ पृण प्रीणने । तौदादिकः । अत्र पूरणकर्मा ❀ । तत्र दृष्टान्तः । दिवो न दिवः स्वर्गस्य संबन्धिना अमृतेनेव ॥ ततश्च सुतस्य अभिषुतस्य अस्य सोमस्य सुवाचः स्तुतिरूपा मन्त्रात्मिकाः शोभना वाचो येषां तथाविधा मदाः मदकरा रसाः स्वर्ण स्वर्गे यथा तथा अत्रापि त्वा त्वाम् उपागुः उपगच्छन्तु । ❀ एतेश्छान्दसे लुङि "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀ ॥

हे इन्द्र ! इस स्वर्गके अमृतकी समान नवीनसे मधुर रस वाले सोमसे अपने उदरको भरिये । तदनन्तर इस अभिषुत स्तुति पाने वाले सोमके मदकारी रस स्वर्गकी समान यहाँ भी आप को प्राप्त हों ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद वलं भृगुर्न ससहे शत्रून् मदे सोमस्य ॥३॥

इन्द्रः । तुराषाट् । मित्रः । वृत्रम् । यः । जघान । यतीः । न ।
बिभेद । वलम् । भृगुः । न । ससहे । शत्रून् । मदे । सोमस्य ॥३॥

तुराषाट् [तुरं] तूर्णं सहते अभिभवति शत्रून् इति तुराषाट । ❀ "छन्दसि सहः" इति सहेर्ण्विप्रत्ययः । "सहेः साडः सः" इति षत्वम् ❀ । मित्रः सर्वप्राणिमित्रभूतो य इन्द्रः वृत्रम् एतन्नामानं त्वाष्ट्रम् असुरम् आवारकं मेघं वा जघान हतवान् । ❀ उक्तं हि यास्केन । तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः [नि० २. १६] इति ❀ । तत्र दृष्टान्तः । यतीर्न यतयो नाम नियमनशीला आसुर्यः प्रजाः । ता इव । यद्वा अत्र यतिशब्देन वेदान्तार्थविचारशून्याः परिव्राजका विवक्षिताः । तानिव । तथा च कौषीतकोपनिषदि इन्द्रवाक्यम् । "त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम् अहनम् अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इति [कौ० उ० ३. १] । तथा भृगुर्न भृगुरिव वलम् अङ्गिरसां सत्रम् आसीनानां यज्ञसाधनभूता गा अपहृत्य स्थितं वलनामानम् असुरं बिभेद विदारितवान् ॥ एतत् सर्वं सामर्थ्यं सोमपानप्रभावनिबन्धनम् इत्याह ससहे शत्रून् इति । सोमस्य पीतस्य मदे सति शत्रून् उदीरितान् ससहे अभिभूतवान् । ❀ एत्वाभ्यासलोपाभावश्छान्दसः ❀ ॥

शीघ्र ही शत्रुओंको दबाने वाले तुराषाट्, सब प्राणियोंके मित्र इंद्रने वृत्र नाम वाले असुरको और आवारक मेघको मारा है † और भृगु (परशुरामजी) की समान इंद्रने अंगिरस गोत्र वालोंकी यज्ञकी साधनभूत गौओंको हर कर बैठे हुए बल नामक असुरको वेदांतके विचारसे शून्य यतियोंकी समान + मार डाला था

---

† यास्कमुनिने भी कहा है, कि—"तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः—वृत्र कौन है ? नैरुक्त कहते हैं वृत्र मेघका नाम है और इतिहासको जानने वाले कहते हैं, कि—त्वष्टाके पुत्र असुरका नाम वृत्र है" (निरुक्त २ । १६) ॥

+ कौषीतकि उपनिषत्में इन्द्रका वाक्य भी है, कि—"त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रं अहनं अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्—

(यह सब सामर्थ्य सोमपानके प्रभावके कारण हुई है यथा–) सोमको पीने पर मद होनेपर ही इंद्रने इन शत्रुओंको दबाया था ३

चतुर्थी ॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि
शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे
रणाय ॥ ४ ॥

आ । त्वा । विशन्तु । सुतासः । इन्द्र । पृणस्व । कुक्षी इति ।
विड्ढि । शक्र । धिया । आ । इहि आ । नः ।
श्रुधि । हवम् । गिरः । मे । जुषस्व । आ । इन्द्र । स्वयुक्ऽयुभिः ।
मत्स्व । इह । महे । रणाय ॥ ४ ॥

हे इन्द्र सुतासः सुता अभिषुताः सोमाः । ❀ "आज्जसेरसुक् ❀ । त्वा त्वाम् आ विशन्तु प्रविशन्तु ॥ तैराविष्टैः सोमैः कुक्षीदक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयं पृणस्व पूरय ॥ वृड्ढि वर्धय च । ❀ वृहेर्वृद्ध्यर्थात् लोटि छान्दसः शपो लुक् । हेर्ध्यादेशे ढत्वष्टुत्वजश्त्वानि ❀ ॥ हे शक्र नः अस्माकं धिया । धीरिति कर्मनाम । कर्मणा आवाहनस्तुत्यादिरूपेण एहि आगच्छ । यद्वा धिया अनुग्रहबुद्ध्या नः अस्मान् अभिलक्ष्य आगच्छ ॥ हवम् अस्मदीयम् आह्वानं श्रुधि शृणु । ❀ ह्वेञो "भावेनुपसर्गस्य" इति अप् संप्रसारणं च ।

मैंने तीन सिर वाले त्वष्टाके पुत्र असुरको मारा है और सच्चे नहीं किंतु बनावटी यतियोंको कुत्तोंको डाल दिया था" कौषीतकि उपनिषत् ३ । १) ॥

श्रुधीति । श्रु श्रवणे । विकरणप्रत्ययस्य लुक् । "श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः । "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ तथा मे मदीया गिरः स्तुतिरूपा वाचः जुषस्व सेवस्व । स्वीकुर्वित्यर्थः । यद्वा मम गिरः श्रुत्वा प्रीतो भव ॥ ततः हे इन्द्र इह अस्मिन् यज्ञे स्वयुग्भिः स्वसखिभूतैर्मरुदादिभिर्देवैः सह मत्स्व सोमपानेन तृप्तो भव । ❀ मदी हर्षे । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । छान्दसो विकरणस्य लुक् ❀ । किमर्थम् । महे महते रणाय रमणीयाय कर्मणे । कर्मफलसिद्ध्य इत्यर्थः ॥

हे इन्द्र! अभिषुत सोम आपमें प्रवेश करें उन प्रविष्ट सोमोंसे आप अपनी दाहिनी और बाईं दोनों कोखोंको भरिये और बढ़ाइये। हे इंद्र! हमारे आवाहन स्तुति आदिरूप कर्मसे यहाँ आइये और हम पर अनुग्रहबुद्धि रख कर आइये, और हमारे आह्वानको सुनिये। और मेरी स्तुतिरूप वाणीका सेवन करिये और मेरी वाणीको सुन कर प्रसन्न हूजिये। और हे इन्द्र! इस यज्ञमें प्रशंसनीय कर्मकी फलसिद्धि देनेके लिये अपने मित्र मरुत् आदि देवताओंके साथ सोमपान कर तृप्त हूजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्र॒थमानि॑
व॒ज्री ।
अ॒हन्न॒हि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम्

इ॑न्द्रस्य । नु । प्र । वो॒च॒म् । वी॒र्या॑णि । यानि॑ । च॒कार॑ ।
प्र॒थ॒मा॑नि । व॒ज्री ।

अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणाः॑ । अ॒भि-

न॒त् । पर्वतानाम् ॥ ५ ॥

इन्द्रस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं प्र वोचम् ब्रवीमि । ❀ छान्दसो लुङ् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योङ्" इति च्लेः अङ् आदेशः ❀ । वज्री वज्रवान् प्रथमानि आदिभूतानि प्रथितानि वा । ❀ प्रथ प्रख्याने इत्यस्मात् प्रथेरमच् [उ० ५. ६८] इति अमच् प्रत्ययः ❀ । यानि वीर्याणि चकार कृतवान् । ❀ "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधे "लिति" इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥ कानि पुनस्तानीति तत्राह । अहिम् । आहननात् अहिः वृत्रोसुरो मेघो वा । ❀ आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च [उ० ४. १३७] इति डित् इण् प्रत्ययः ❀ । तम् अहन् हतवान् । ❀ हन्तेर्लङि शपो लुकि "हल्ङ्यादि०" लोपे रूपम् । पादादित्वान्निघाताभावाद् अडागमस्य उदात्तत्वम् ❀ ॥ अनु तदनन्तरम् अपः तेन वृत्रेण निरुद्धानि उदकानि ततर्द जिहिंस विदारितवान् । मार्गप्रदानेन निःसारितवान् इत्यर्थः । ❀ उतृदिर् हिंसानादरयो इति धातुः । अप इति । "ऊडिदम्०" इत्यादिना शस उदात्तत्वम् ❀ ॥ पर्वतानाम् शिलोच्चयानां संबन्धिनीः वक्षणाः । नदीनामैतत् । वहन्ति कूलानीति वक्षणा नद्यः । ताः प्राभिनत् विदारितवान् ॥

वज्रधारी इन्द्रने जिन प्रसिद्ध कर्मोंको पहिले किया है, इन्द्रके उन वीरता भरे कर्मोंको मैं शीघ्रतासे कहता हूँ कि—इन्द्रने वृत्रासुरको और मेघको ताड़ित किया है, तदनन्तर इन्द्रने वृत्रके रोके हुए जलको मारा अर्थात् उनको मार्ग देकर निकाला है और पर्वतोंकी नदियोंको विदारा है अर्थात् उनके जलको वहाया है ५

षष्ठी ॥

अ॒ह॒न्नहिं॒ पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष
वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रम् । स्वर्यम् । ततक्ष ।

वाश्राःऽइव । धेनवः । स्यन्दमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अव । जग्मुः । आपः ॥ ६ ॥

पर्वते शिलोच्चये पर्ववान् पर्वतो मेघस्तस्मिन् वा शिश्रियाणम् श्रितम् । ❀ श्रयतेः कानच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम् ❀ । अहिम् वृत्रं मेघम् असुरं वा अहन् जघान ॥ त्वष्टा वृत्रस्य पिता अस्मै इन्द्राय स्वर्यम् सुष्ठु प्रेरणीयम् उपतापकरणं वा वज्रम् आयुधं ततक्ष तीक्ष्णं चकार । ❀ तक्षू त्वक्षू तनूकरणे ❀ । "तस्मै त्वष्टा वज्रम् असिञ्चत्" इत्यादि तैत्तिरीयकम् [तै० सं० २.४.१२.२] । यद्वा अस्मै वृत्राय । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य [च] कर्मणि स्थानिनः" इति कर्मणि चतुर्थी ❀ । वृत्रं हन्तुम् इत्यर्थः । ❀ स्वर्यम् इति । सुपूर्वाद् अर्तेः स्वृ शब्दोपतापयोः इत्यस्माद् वा "ऋहलोर्ण्यत्" । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति वृद्ध्यभावः । अत एव व्युत्पत्त्यनवधारणाद् अनवग्रहः ❀ ॥ वाश्राः शब्दायमाना धेनव इव । ❀ वाशृ शब्दे इत्यस्मात् स्फायितञ्चीत्यादिना [उ० २.१३] रक् ❀ । स्यन्दमानाः प्रवहन्त्यः । ❀ स्यन्दू प्रस्रवणे । अस्मात् लटः शानच् । "०अदुपदेशाल्लसार्वधातुक०" [इति] अनुदात्तत्वे धातुस्वरः ❀ । तथाविधा आपः अञ्जः अंजसा अन्यैरनिरुद्धाः समुद्रम् सरित्पतिम् अव जग्मुः अवाङ्मुखाः सत्यः प्रापुः ॥

इन्द्रने पर्वत पर स्थित वृत्रासुरको मारा है और मेघको ताड़ित किया है और वृत्रासुरके पिता त्वष्टाने इन्द्रके लिये † सन्ताप-

---

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ४ । १२ । २ में कहा है, कि—तस्मै त्वष्टा वज्रं असिञ्चत्—उस पर त्वष्टाने वज्र फैंका" ॥

दायक वज्र तीक्ष्ण किया था। शब्द करती हुई गौओंकी समान नदियें वहती हुई और किसीसे न रुकती हुई नदीपति समुद्रके पास नीचेकी ओर मुख करके चली जाती हैं (इसी प्रकार इन्द्र का वज्र वृत्रासुर पर पड़ा) ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥

वृषऽयमानः। अवृणीत। सोमम्। त्रिऽकद्रुकेषु। अपिबत्। सुतस्य।
आ। सायकम्। मघऽवा। अदत्त। वज्रम्। अहन्। एनम्।
प्रथमऽजाम्। अहीनाम् ॥ ७ ॥

वृषायमाणः वृषेव आचरन्निन्द्रः सोमम् सोमात्मकं प्रशस्तम् अन्नम् अवृणीत। ❀ वृङ् संभक्तौ ❀। प्रजापतेः स्रष्टुः सकाशाद् वृतवान्। ❀ वृषशब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति आचारार्थे क्यङ्। "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः ❀॥ अनन्तरं त्रिकद्रुकेषु पूर्वम् अभिप्लवत्र्यहं त्रिकद्रुकशब्देन उच्यते। तद् उक्तम् आपस्तम्बेन "ज्योतिर्गौरायुरिति त्रिकद्रुकाः" इति। त्रयः सन्तः कद्द्रवन्ति कुटिलम् आवर्तन्ते संवत्सरसत्त्र इति त्रिकद्रुकाः। तेषु सोमयागेषु सुतस्य। ❀ कर्मणि षष्ठी ❀। अभिषुतं सोमम् अपिबत् ॥ पीत्वा लब्धबलः सन् मघवा इन्द्रः सायकम्। ❀ षो अन्तकर्मणि। अस्मात् ण्वुल् ❀। शत्रूणां घातकं वज्रम् आदत्त अगृह्णात्। ❀ "आङो दोऽनास्यविहरणे" इत्यात्मनेपदम् ❀॥ ततः अहीनाम् आहन्तॄणाम् असुराणां प्रथमजाम् प्रथमजातम् एनम् वृत्रम् अहन् हतवान्। ❀ एनम् इति। अन्वा-

देशे एनादेशोनुदात्तः । प्रथमजाम् इति । प्रथमं जायत इति प्रथमजाः । “जनसनखनक्रमगमो विट्” इति विट् । “विड्वनोरनुनासिकस्यात्” इत्यात्वम् ❀ ॥

इति प्रथमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इति सायणाचार्यविरचिते अथर्वसंहिताभाष्ये
द्वितीयकाण्डे प्रथमोनुवाकः ।

वृषकी समान आचरण करने वाले इन्द्रने सोमरूप प्रशंसनीय अन्नको प्रजापतिसे वरा है, और त्रिकद्रुक नामक सोमयागोंमें अभिषुत सोमको पिया है, सोमको पीनेसे बल प्राप्त करके इन्द्रने शत्रुओंके घातक वज्रको ग्रहण किया । और इंद्रने घातक असुरों में प्रथम उत्पन्न हुए इस वृत्रासुरको मार डाला ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (४०) ॥
द्वितीयकाण्डका प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र “समास्त्वाग्ने” इति प्रथमं सूक्तम् । अनेन संपत्कामः अग्नेर्यागम् उपस्थानं वा कुर्यात् । “समास्त्वाग्ने [२. ६] अभ्यर्चत [७. ८७] इत्यग्निं संपत्कामः” इति [कौ० ७. १०] कौशिकसूत्रात् ॥

तथा भूतरोगचोरादिभयेन दारुणे संवत्सरे सति तच्छान्तये अनेन सूक्तेन आज्यं जुहुयात् । तथा च सूत्रम् । “अथ यत्रैतत् समा दारुणा भवन्ति” इति प्रक्रम्य “समास्त्वाग्न इत्येतेन सूक्तेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः” इति [कौ० १३. १०] ॥

तथा अग्निचयने प्राजापत्ये पशौ सामिधेनीकाले ब्रह्मा एतत् सूक्तं जपेत् । “समास्त्वाग्न इति जपति” इति [वै० ५. १] वैतानसूत्रात् ॥

तथा “आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च” इति [न०क० १७] विहितायाम् आग्नेय्यां महाशान्तौ एतत् सूक्तं योजयेत् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “समास्त्वाग्नेभ्यर्चेत्याग्नेय्याम्” इति [न०क० १८] ॥

राज्ञो रात्रौ आरात्रिकविधाने "अति निहः" [२. ६. ५] इत्यनया दीपं प्रज्वालयेत् । उक्तं परिशिष्टे ।

कृत्वा पिष्टमयं दीपं सुवर्तिस्नेहसंस्रवम् ।
अति निहः मान्यान् इति द्वाभ्यामेनं प्रदीपयेत् । इति [प० ७. २]॥

दूसरे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "समास्त्वाग्ने" यह प्रथम सूक्त है। सम्पत्ति चाहने वाला पुरुष इस सूक्तसे अग्निके याग वा उपस्थानको करे । इसी बातको कौशिकसूत्र ७ । १० में कहा है, कि—"समास्त्वाग्ने (२ । ६) अभ्यर्चत (७ । ८७) इत्यग्निं सम्पत्कामः" ॥

इसी प्रकार भूत रोग चोर आदिके भयसे सम्वत्सर दारुण हो रहा हो तो उसकी शान्तिके लिये इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र १३ । १० में कहा है, कि—"अथ यत्रैतत् समा दारुणा भवन्ति—जहाँ यह दारुण सम्वत्सर हों०" "समास्त्वाग्न इत्येतेन सूक्तेन आज्य जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः—तहाँ 'समास्त्वाग्ने' इस सूक्तसे घृतकी आहुति देय यही उसका प्रायश्चित्त है ॥"

इसी प्रकार ब्रह्मा अग्निचयनमें प्रजापतिपशुके सामिधेनी समय में इस सूक्तको जपे । वैतानसूत्र ५ । १ में यही बात कही है कि—"समास्त्वाग्न इति जपति" ॥

इसी प्रकार 'आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च—सर्वकामना वालेके लिये और अग्निभयमें आग्नेयी शान्तिको करे' इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आग्नेयी महाशांतिमें इस सूक्तको जपे । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"समास्त्वाग्नेऽभ्यर्चतेत्याग्नेय्याम्—समास्त्वाग्ने सूक्तसे आग्नेयी महाशान्तिमें पूजन करे" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

रात्रिमें राजा की आरती करते समय दूसरे काण्ड के द्वितीय अनुवाकके प्रथम सूक्तके “अति निहः” इस पाँचवें मन्त्रसे दीपको प्रज्वलित करे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि–“कृत्वा पिष्टमयं दीपं सुवर्तिस्नेहसंस्रवम्। अति निहः प्रान्यान् इति द्वाभ्यामेनं प्रदीपयेत् ॥–पिट्ठीका दीपक बना कर उसमें स्नेह (तेल वा घी) में डूबती हुई बत्ती डाले फिर अतिनिहः और प्रान्यान् इन दो ऋचाओंको पढ़कर उसको प्रज्वलित करे” (परिशिष्ट ७। २।)

तत्र प्रथमा ॥

समा॑स्त्वाग्न ऋ॒तवो॑ वर्धयन्तु संव॒त्सरा ऋष॑यो॒ यानि॑
स॒त्या ।
सं दि॒व्येन॑ दीदिहि रोच॒नेन॒ विश्वा॒ आ भा॑हि प्र॒दि-
श॒श्चत॑स्रः ॥ १ ॥

समाः॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । ऋ॒तवः॑ । व॒र्ध॒य॒न्तु॒ । स॒म्ऽव॒त्स॒राः ।
ऋष॑यः । यानि॑ । स॒त्या ।
सम् । दि॒व्येन॑ । दी॒दि॒हि॒ । रो॒च॒नेन॑ । विश्वाः॑ । आ । भा॒हि॒ ।
प्र॒ऽदिशः॑ । चत॑स्रः ॥ १ ॥

हे अग्ने समाः संवत्सरास्त्वा त्वां वर्धयन्तु। ऋतवश्च त्वां वर्धयन्तु। पुनः संवत्सरशब्देन मासार्धमासदिवसरूपाः तदवयवाश्च त्वां वर्धयन्तु। ऋषयः प्रसिद्धा वसिष्ठप्रभृतयः। यानि अन्यानि च सत्या सत्यानि पृथिव्यादीनि तानि च त्वां वर्धयन्तु। ❀ “शेश्छन्दसि बहुलम्” इति शेर्लोपः ❀ ॥ स त्वं संवर्धितो दिव्येन द्युलोकार्हेण आत्मीयेन। ❀ “छन्दसि च”

इति यः ❀ । रोचनेन रोचमानेन वपुषा । ❀ रुच दीप्तौ इत्यस्माद् "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् ❀ । सं दीदिहि सम्यग् दीप्य दीप्यस्व वा । ❀ दीप्यतेः "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । "तुजादीनाम्०" इत्यभ्यासस्य दीर्घत्वम् । "लोपो व्योर्वलि" इति लोपः । धात्वन्तरं वा दीदेतिश्छान्दसो दीप्तिकर्मा ❀ ॥ तथा दीप्तश्च त्वं विश्वाः सर्वाश्चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशः आ भाहि प्रकाशय । प्रदिशां प्रकाशने किं पुनर्विदिशाम् इत्यष्टानामपि दिशां प्रकाशलाभः ॥

हे अग्ने ! सम्वत्सर आपको बढ़ावें, ऋतु आपको समृद्ध करें, सम्वत्सरोंके मास पक्ष दिनरूप अङ्ग भी आपको समृद्धिसम्पन्न करें और जो पृथिवी आदि सत्य हैं वे भी आपको समृद्धियुक्त करें उनसे समृद्ध किये हुए आप अपने द्युलोकके योग्य दमकते हुए शरीरसे भली प्रकार दिपिये और दीप्त होकर आप पूर्व आदि चार श्रेष्ठ दिशाओंको—प्रदिशाओंको—प्रकाशित—करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

सम् । च । इध्यस्व । अग्ने । प्र । च । वर्धय । इमम् । उत । च ।
तिष्ठ । महते । सौभगाय ।

मा । ते । रिषन् । उपऽसत्तारः । अग्ने । ब्रह्माणः । ते । यशसः ।
सन्तु । मा । अन्ये ॥ २ ॥

हे अग्ने समिध्यस्व च स्वयमेव समिद्धो भव । ❀ इन्धी दीप्तौ ।

कर्मकर्तरि यकि "अनिदिताम्०" इति नलोपः ❀ ॥ इमम् यजमानं [प्र] वर्धय च समृद्धकामं कुरु । ❀ "चवायोगे प्रथमा" इति इध्यस्वेति प्रथमा तिङ् विभक्तिर्न निहन्यते ❀ ॥ उत्तिष्ठ च उत्साहवान् भव । ❀ "उदोनूर्ध्वकर्मणि" इत्यात्मनेपदं व्यत्ययेन न प्रवर्तते । "उद ईहायाम्" इति वचनाद् अनीहाविषयो वा द्रष्टव्यः ❀ । यद्वा ऊर्ध्वं उच्छ्रितो भव । ❀ ततश्च ऊर्ध्वकर्मत्वाद् आत्मनेपदाभावः ❀ । किमर्थम् । महते सौभगाय सुश्रीकत्वाय । यजमानस्येति शेषः । ❀ "बृहन्महतोरुपसंख्यानम्" इति महतो विभक्तेरुदात्तत्वम् । उद्गात्रादिषु "सुभग मन्त्रे" इति पाठाद् अञ् । "सुभगस्य मन्त्र उत्तरपदवृद्धिर्नेष्यते" इति भगान्तलक्षणवृद्ध्यभावः ❀ ॥ हे अग्ने इदं चाप्यस्तु । [ते] तव उपसत्तारःउपसदनकर्तारः परिचारका ऋत्विग्यजमाना मा रिषन् मा विनश्यन्तु सम्यक् कर्मणि वर्तन्ताम् । ❀ रिष हिंसायाम् । अस्माद् व्यत्ययेन च्लेः अङ् आदेशः । सदेस्तृचि कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ अपि च ब्रह्माणः ब्राह्मणाः ते त्वदीया ऋत्विग्यजमानाः त्वत्परिचरणे वर्तमाना यशसः सन्तु यशस्विनो भवन्तु । अन्ये ये त्वत्परिचरणपराङ्मुखास्त्वदीया न भवन्ति ते मा भूवन् । यशस्विन इत्यनुषङ्गः । ❀ यशःशब्दात् "तत्करोति०" इति णिच् । तदन्ताद् असुनि णिलोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण असुन उदात्तत्वम् ❀ ॥

हे अग्ने ! आप स्वयं प्रदीप्त हूजिये ! और इस यजमानको भी पूर्णकाम करिये और यजमानको बड़ा भारी ऐश्वर्य देनेके लिये उत्साह करिये–ऊपरको उठिये । हे अग्ने (यह बात भी हो, कि–) आपके सेवक ऋत्विज् यजमान आदि क्षीण न हों कर्मको भली प्रकार करते रहें और आपकी सेवामें परायण यह ऋत्विज और यजमान यशस्वी हों और जो आपकी सेवा नहीं करते हैं वे यशस्वी न हों ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद् भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

त्वाम् । अग्ने । वृणते । ब्राह्मणाः । इमे । शिवः । अग्ने । सम्ऽवरणे । भव । नः ।

सपत्नऽहा । अग्ने । अभिमातिऽजित् । भव । स्वे । गये । जागृहि । अप्रऽयुच्छन् ॥ ३ ॥

हे अग्ने इमे ब्राह्मणाः ऋत्विग्यजमानास्त्वां वृणते संभजन्ते आराधयन्ति ॥ तस्माद् नः अस्माकं संभाव्यमानप्रमादानां शिवः शान्तो भूत्वा संवरणे भव विद्यमानस्यापि प्रमादस्य संछादने वर्तस्व । मा तत्प्रकाशनेन क्रोधं कार्षीरित्यर्थः । ❀ "द्व्यचोतस्तिङः" इति भवशब्दस्य सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ किं च हे अग्ने सपत्नहा अस्मदीयानां शत्रूणां हन्ता अभिमातिजित् । अभिमातिः पाप्मा । श्रूयते हि । "पाप्मा वा अभिमातिः" इति [तै० सं० २. १. ३. ५] । तस्य जेता भव ॥ स्वे आत्मीये [गये] । गृहनामैतत् । गृहे अप्रयुच्छन् अप्रमाद्यन् । ❀ युछ प्रमादे ❀ । जागृहि प्रबुध्यस्व । आदरवान वर्तस्व ॥

हे अग्ने ! यह ऋत्विज यजमान आदि ब्राह्मण आपकी आराधना कर रहे हैं अत एव हे अग्ने ! हमसे कुछ प्रमाद होजाय तब भी आप शान्त होकर उस प्रमादको छिपाइये, उसको प्रकाशित करके क्रोध न करिये और हे अग्ने ! आप हमारे शत्रुओंको

जीतिये और हमारे अभिमाति†-पापको भी जीतिये आप अपने घरमें सावधान होकर जागिये अर्थात् इस घरमें आदरपूर्वक रहिये ३

चतुर्थी ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४॥

क्षत्रेण । अग्ने । स्वेन । सम् । रभस्व । मित्रेण । अग्ने । मित्रऽधा । यतस्व ।

सऽजातानाम् । मध्यमेऽस्थाः । राज्ञाम् । अग्ने । विऽहव्यः । दीदिहि । इह ॥ ४ ॥

हे अग्ने स्वेन आत्मीयेन क्षत्रेण । बलनामैतत् । बले सं रभस्व संरब्धो भव । संगतो भवेत्यर्थः । ❀ रभ राभस्ये ❀ ॥ किं च हे अग्ने मित्रधाः मित्राणां पोषकः । ❀ मित्रशब्दोपपदाद् धाञो क्विचि रूपम् ❀ । मित्रेण मित्रभावेन यतस्व उपकरोमीत्येव वर्तस्व मा उदासिष्ठाः । ❀ यती प्रयत्ने ❀ ॥ अपि च सजातानाम् समानं जातानां ब्राह्मणानाम् । प्रजापतिमुखाद् उत्पन्नत्वाद् अग्नेर्ब्राह्मणानां च सजातत्वम् । मध्यमेष्ठाः । मध्यमेव मध्यमम् । ❀ स्वार्थे "मध्यान्मः" ❀ । तत्र स्थाता । यद्वा सजातानां मध्ये भवो मध्यमः यजमानः । तेषाम् उपजीव्यः । तत्र सदा स्थाता । ❀ तिष्ठतेर्विच् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यलुक् । सुषामादित्वात् षत्वम् ❀ । राज्ञाम् क्षत्रियाणामपि विहव्यः विहवेषु भवः । विविधं हूयन्ते आहूयन्ते देवा एष्विति विहवा

---

† "पाप्मा वा अभिमातिः—पाप और अभिमाति एक अर्थके वाचक हैं" (तैत्तिरीयसंहिता २ । १ । ३ । ५) ॥

यज्ञाः । ❀ "ह्वः संप्रसारणं च न्यभ्युपविषु" इति अप् संप्रसारणं च । ततो "भवे छन्दसि" इति यत् ❀ । यद्वा विविधानि हव्यानि चरुपुरोडाशादीनि हवींषि यस्य स तथोक्तः । ❀ अस्मिन् पक्षे छान्दसम् अन्तस्वरितत्वम् ❀ । हे अग्ने एवंभूतस्त्वम् इह अस्मिन् कर्मणि दीदिहि दीप्यस्व । ❀ दीदेतिर्व्याख्यातम् ❀ ॥

हे अग्ने ! अपने बलसे संगत हूजिये हे अग्ने ! आप मित्रोंका पोषण करने वाले हैं, अतः मित्रभावसे उपकार करनेके विचारसे ही प्रवृत्त रहिये, उदासीनभावसे व्यवहार न करिये (अग्नि और ब्राह्मण प्रजापतिके मुखसे ही उत्पन्न हुए हैं अत एव) समान जन्म वाले ब्राह्मणोंके मध्यस्थ होकर वर्ताव करिये और यजमानके उपजीव्य होकर स्थित रहिये, और राजाओंके भी, जिनमें अनेक प्रकारसे देवताओंका आह्वान किया जाता है, और जिनमें अनेक प्रकारके चरु पुरोडाश आदि हव्य होते हैं ऐसे, विहवोपनामक यज्ञोंमें जाने वाले अग्ने ! आप इस कर्ममें प्रदीप्त हूजिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अ॒ति नि॒हो अति॒ सृधोत्यचि॑त्ती॒रति॒ द्विषः॑ ।
वि॒श्वा ह्य॑ग्ने दुरि॒ता त॑र॒ त्वम॒थास्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं
र॒यिं दाः॑ ॥ ५ ॥

अति॑ । निहः॑ । अति॑ । सृधः॑ । अति॑ । अचि॑त्तीः । अति॑ । द्विषः॑ ।
विश्वा॑ । हि । अ॒ग्ने॒ । दुः॒ऽइ॒ता । त॒र॒ । त्वम् । अथ॑ । अ॒स्मभ्य॑म् ।
स॒ह॒ऽवी॑रम् । र॒यिम् । दा॒ः ॥ ५ ॥

निहः निहन्तॄन् विषयजान् दोषान् । ❀ हन्तेः क्विपि टिलो-

परश्छान्दसः ❀ । यद्वा निकृष्टा गतीः श्वशूकरादियोनिप्राप्तिरूपाः । ❀ ओहाङ् गतौ । क्विबन्तात् शसि “आतो धातोः” इत्याकारलोपः । उदात्तनिवृत्तिस्वरो व्यत्ययेन न प्रवर्तते ❀ । तान् अति । तरेति संबन्धः । ❀ स चान्तर्णीतण्यर्थः ❀ । अतितारय । तद्धेतुभूतपापजालविनाशनेन तदपि विनाशयेत्यर्थः । [स्रिधः ।] ❀ स्रेधतिः शोषणकर्मा छान्दसः । ततः क्विप् ❀ । देहशोषकान् रोगान् अतितारय । अचित्तीः अशोभनबुद्धीः पापप्रवणा अतितारय । द्विषः द्वेष्टॄन् शत्रूंश्च अतितारय । हिशब्दः समुच्चयार्थः । किं बहुना । हे अग्ने त्वं विश्वा विश्वान्यपि [दुरिता] दुरितानि दुर्गतानि अति तर अतितारय ॥ अथ अनन्तरम् अस्मभ्यं सहवीरम् पुत्रपौत्रादिसहितं रयिम् धनं दाः देहि । ❀ छान्दसे लुङि “गातिस्थाघुपा०” इति सिचो लुक् । “बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि” इति अडभावः । “तेन सहेति तुल्ययोगे” इति तुल्यक्रियायोगे बहुव्रीहौ “वोपसर्जनस्य” इति सहस्य सभावो विकल्पितत्वात् न प्रवर्तते । “एवमादीनाम् अन्तः” [फि० ४. १४] इति सहशब्दः अन्तोदात्तः ❀ ॥

[इति] द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! हमारे नाशक विषयज दोषोंको और कुत्ते सूअर आदिकी योनिमें ले जानेवाले विषयज दोषोंको नष्ट करिये, देहको सुखानेवाले रोगोंको भी दूर करिये और पापमें ढ़केलने वाली अशोभन बुद्धिको भी दूर करिये, हमारे शत्रुओंका भी संहार करिये और क्या आप हमारी सब दुर्गतियोंको दूर करिये तदनन्तर हमैं पुत्र पौत्र आदिसे युक्त धन दीजिये ॥ ५ ॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४१) ॥

“अघद्विष्टा” इति सूक्तेन लौकिकवैदिकाक्रोशयोर्ब्राह्मणशापे क्रूरचक्षुःपुरुषदृष्टिनिपाते पिशाचयक्षादिभये च यवमणिं संपात्य

अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "अघद्विष्टा [२. ७] शं नो देवी [२. २५] वरणः [६. ८५]" इति प्रक्रम्य "प्रथमेन मन्त्रोक्तं बध्नाति" इति [कौ० ४, २] ॥

"भार्गवीं नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्तरोगगृहीतानाम्" इति [न०क० १७] विहितायां भार्गव्यां महाशान्तौ सहस्रकाण्डमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । उक्तं नक्षत्रकल्पे "अघद्विष्टा देवजातेति सहस्रकाण्डं भार्गव्याम्" इति [न० क० १९] ॥

लौकिक वा वैदिक आक्रोश होने पर, ब्राह्मणके शाप देने पर, क्रूर नेत्र वाले पुरुषके दृष्टि डालने पर और पिशाच तथा यक्ष आदिका भय होने पर यवमणिके निमित्त होम करके यवमणिका अभिमन्त्रण करके उसको बाँधे । इसी बातको कौशिक सूत्र ४ । २ में कहा है, कि–"अघ द्विष्टा (२ । ७) शंनो देवी (२ । २५) वरणः (६ । ८५) यह आरम्भ करके लिखा है, कि–इनमेंसे पहिले सूक्तसे मन्त्रोक्त मणिको बाँधे ॥"

और "भार्गवीं नक्षत्रग्रहोपसृष्टभयार्तरोगगृहीतानाम्–नक्षत्र और ग्रहोंसे उत्पन्न हुए भय और रोगोंसे जकड़े हुए पुरुषोंके निमित्त भार्गवी महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित भार्गवी महाशान्तिके दूवकी मणिके बंधनमें भी यह सूक्त पढ़ा जाता है । इसी बातको नक्षत्रकल्प १९ में कहा है, कि–"अघद्विष्टा देवजातेनि सहस्रकाण्डं भार्गव्याम्–भार्गवी महाशान्तिमें "अघ द्विष्टा देवजाता" सूक्तसे सहस्रकाण्ड (दूर्वाकी) की मणिको बाँधे" ॥

तत्र प्रथमा ॥

अ॒घद्वि॑ष्टा दे॒वजा॑ता वी॒रुच्छ॑पथ॒योप॑नी ।
आपो॒ मल॑मिव॒ प्राणै॑क्षी॒त् सर्वा॒न् मच्छ॒प॒थाँ अ॒धि॑॥ १॥

अघऽद्विष्टा । देवऽजाता । वीरुत् । शपथऽयोपनी ।
आपः । मलम्ऽइव । प्र । अनैक्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् ।
अधि ॥ १ ॥

अघद्विष्टा अघस्य पिशाचरक्षःप्रभृतिजनितस्य पापस्य द्वेषिणी विनाशयित्री । ❀ द्विष अप्रीतौ इत्यस्मात् कर्तरि क्तः ❀ । देवजाता देवर्निर्मिता देवार्थं वा उत्पन्ना शपथयोपनी लौकिकस्य वैदिकस्य च ब्राह्मणादिकृतस्य शापस्य विमोहनी निवारयित्री । ❀ युप रुप विमोहने । अस्मात् करणे ल्युट् ❀ । एवंविधा वीरुत् विरोधनशीला दूर्वा यवो वा । सर्वान् उक्तविधान् [शपथान्] शापान् मत् मत्तः । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी । "अधिपरी अनर्थकौ" इत्यनर्थको वा ❀ । प्राणैक्षीत् प्रकर्षेण प्रक्षालयतु । तज्जनितम् अरिष्टम् अस्मत्तो निःशेषं वियोजयतु इत्यर्थः । ❀ णिजिर् शौचपोषणयोः । अस्माच्छान्दसे लुङि "इरितो वा" इत्यङभावे सिचि रूपम् । "उपसर्गाद् असमासेपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । आपो मलमिव । यथा आपः शरीरादिगतं मलं स्वेदपङ्कादिरूपं प्रक्षालयन्ति ॥

पिशाच राक्षस आदिसे उत्पन्न पापको दूर करने वाली, देवताओंसे निर्मित लौकिक वैदिक और ब्राह्मणोंके शापको हटाने वाली ऐसी वीरुध (दूव वा जौ) सब प्रकारके शापोंको मुझसे इस प्रकार दूर करे जिस प्रकार जल शरीरके कीचड़ पसीने आदि मलको धोकर दूर कर देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥२॥

यः । च । सापत्नः । शपथः । जाम्याः । शपथः । च । यः ।
ब्रह्मा । यत् । मन्युतः । शपात् । सर्वम् । तत् । नः । अधःऽपदम् ॥२॥

उक्तान् शपथान् विशेषतो दर्शयति । सापत्नः सपत्नो द्वेष्यो द्वेष्टा च । ❀ "व्यन्तसपत्ने" इति सूत्रेनुवादात् । सपत्नीव सपत्न इति इवार्थे अकारप्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । तत्संबन्धी यश्च आक्रोशादिरूपः शपथः । जाम्याः जामिः सहोत्पन्ना भगिनी । ❀ न जामये भगिन्यै जामिरन्येस्यां जनयन्तीति हि यास्कः [नि० ३. ६] ❀ । तस्याश्च यः शपथः । जामिशब्दः सहजातानाम् उपलक्षणम् । ❀ "उदात्तयणो हल्पूर्वात्" इति जामिशब्दात् षष्ठ्या उदात्तत्वम् ❀ । ब्रह्मा ब्राह्मणः मन्युतः क्रोधात् यत् शपात् शपेत् । ❀ यद् इति । क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम् । शप आक्रोशे । "लेटोडाटौ" इत्याडागमः ❀ । सर्वम् तत् उक्तं त्रिविधं शपथजातं नः अस्माकम् अधस्पदम् पादस्याधस्तात् । अस्मदसंस्पृष्टं भवतु इत्यर्थः । ❀ "अधःशिरसी पदे" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀ ॥

(अब शपथोंके भेदोंको दिखाते हैं) शत्रुका जो कोसना है, बहिनका जो कोसना है, और ब्राह्मण जो क्रोधपूर्वक शाप देते हैं, ये तीन प्रकारके शाप हमारे पैरके नीचे रहें अर्थात् हमारा स्पर्श न कर सकें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अवऽततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्ऽततम् ।
तेन । सहस्रऽकाण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः द्युलोकात् अवततम् अवाङ्मुखं प्रसृतं मूलम् मूलवद् अवस्थितम् । पृथिव्याः । अधिरुपर्यर्थः । पृथिव्या उपरि उत्ततम् ऊर्ध्वम् उन्नतं वा विस्तृतम् । लोकद्वयं व्याप्य वर्तमानम् इत्यर्थः ॥ तेन उक्तलक्षणेन सहस्रकाण्डेन । सहस्रशब्दः अपरिमितवचनः । अनेकपर्वात्मना । ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀ । हे मणे नः अस्मान् विश्वतः सर्वस्मात् शापात् परि पाहि परितः सर्वतः पालय । इह परिशब्दः पालनकात्स्न्यम् आह । ❀ विश्वत इति । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चम्यास्तसिल् ❀ ॥

द्युलोकसे नीचेकी ओर मुख करके फैली हुई मूलकी समान स्थित पृथिवी पर ऊपरको उठी हुई जो असंख्य गाँठों वाली दूब है उस दूबके द्वारा हे मणे ! तू हमें सब प्रकारके शापोंसे चारों ओरसे बचा ३

चतुर्थी ॥

प॒रि मां परि॑ मे प्र॒जां परि॑ णः पाहि॒ यद् धन॑म् ।
अरा॑ति॒र्नो मा ता॑रि॒न्मा नं॑स्तारि॒षु॒रभिमा॑तयः ॥४॥

परि॑ । माम् । परि॑ । मे॒ । प्र॒ऽजाम् । परि॑ । नः॒ । पा॒हि॒ । यत् । धन॑म् ।
अरा॑तिः । नः॒ । मा । ता॒री॒त् । मा । नः॒ । ता॒रि॒षुः । अ॑भि॒ऽमातयः

हे मणे मां परि पाहि ॥ मे मदीयां प्रजाम् प्रजायत इति प्रजा ता पुत्रपौत्रादिरूपां परि पाहि ॥ नः अस्माकं यद् धनम् अस्ति तदपि परि पाहि । ब्राह्मणाद्याक्रोशेन आत्मपुत्रपौत्रधनादिनाशो भवतीति तदभावः प्रार्थ्यते ॥ शत्रुकृतपीडाभावम् अभ्यर्थ्य तत्कर्तॄणां शत्रूणाम् अभावः प्रार्थ्यते । नः अस्मान् अरातिः शत्रुर्मा तारीत् मातिक्रमतु ॥ अभिमातयः हन्तुम् अभिमन्यमानाः पिशाचयक्षादिरूपाः शत्रवो नः अस्मान् मा तारिषुः मातिक्रामन्तु मा हिंसन्तु । ❀ तरतेर्माङि लुङि "न माङ्योगे" इत्यडभावः ❀ ॥

हे मणे ! तू मेरी रक्षाकर, मेरी पुत्र पौत्रआदिरूप प्रजाकी रक्षा कर और हमारा जो कुछ धन है, उसकी भी रक्षा कर (ब्राह्मण आदिके शापसे अपना पुत्रका पौत्रोंका और धनका नाश होजाता है अत एव उसके अभावकी प्रार्थना की है शत्रुकी दी हुई पीड़ाके अभावकी प्रार्थना करके अब उसके देने वाले शत्रुओंके अभावकी प्रार्थना की जाती है, कि–) हमारा शत्रु बढ़ न सके और हमको मारनेका अभिमान करने वाले पिशाच यक्ष आदि शत्रु भी हमैं न मार सकें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

श॒प्तार॑मेतु श॒पथो॒ यः सु॒हार्त् तेन॑ नः स॒ह ।
चक्षु॑र्मन्त्रस्य दु॒र्हार्द॑ः पृ॒ष्टीरपि॑ शृणीमसि ॥ ५ ॥

श॒प्ता॑रम् । ए॒तु॒ । श॑प॒थः । यः । सु॒ऽहार्त् । तेन॑ । नः॒ । स॒ह ।
चक्षु॑ःऽमन्त्रस्य । दु॒ःऽहार्द॑ः । पृ॒ष्टीः । अपि॑ । शृ॒णी॒म॒सि॒ ॥ ५ ॥

अन्यकृतस्य शपथस्य आत्मसंबन्धं परिहृत्य ब्राह्मणाद्याक्रोशस्य अमोघत्वात् शप्तैव विषयो भवतु इत्याह । शप्तारम् शापकर्तारं पुरुषं शपथः तत्कृतः शापः प्रतिनिवृत्त्य एतु प्राप्नोतु ॥ यः पुरुषः सुहार्त् शोभनहार्दः सुमनस्कः । अनुकूलकारीत्यर्थः । हृदये भवं हार्दम् । ❀ हृदयशब्दात् प्राग्दीव्यतीये अणि "हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु" इति हृद्भावे अन्त्यलोपश्छान्दसः । यद्वा हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयति । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् ❀ । तेन सुहृदयेन मित्रेण सह नः अस्माकम् । सुखं भवतु इति शेषः ॥ मन्त्रस्य गुप्तं भाषमाणस्य पिशुनस्य । ❀ मत्रि गुप्तभाषणे इत्यस्मात् पचाद्यच् ❀ । अत एव दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य । सुहार्त् शब्दवद् व्युत्पत्तिः । एतादृशस्य क्रूरस्य चक्षुः सदोषम् अक्षि पृष्टीः ।

पृष्टयः पर्शवः पार्श्वास्थीनि । अनेन सर्वे अवयवा उपलक्ष्यन्ते । तान् अपि शृणीमसि शृणीमः हिंस्मः । समन्त्रकमणिबन्धनप्रभावाद् वयं लौकिकवैदिकाक्रोशब्राह्मणशापक्रूरचक्षुर्दर्शनादिकृतान् दोषान् विनाशयाम इत्यर्थः । ❀ शॄ हिंसायाम् । प्वादित्वात् ह्रस्वत्वम् । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(ब्राह्मण आदिका कल्पना अमोघ होता है अत एव दूसरेका दिया हुआ शाप मुझ पर न पड़ कर शाप देनेवाले पर ही पड़े, इस बातको कहते हैं, कि—) शाप देने वाले पुरुषको शाप लौट कर लगे, जो पुरुष हमसे अनुकूलता रखता है उसके साथ हमें भी सुख पहुँचे । जो हमसे दुर्भाव रखता है उसकी और जो गुप्त भावसे हमारी चुगली खाता है उसकी क्रूर आँखको और पसलियोंको हम तोड़ते फोड़ते हैं तात्पर्य यह है, कि—हम समन्त्रक मणिके प्रभावसे लौकिक वैदिक आक्रोश ब्राह्मणशाप और क्रूर नेत्र वालेके किये हुए दोषोंको नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४२)॥

"उदगातां भगवती" इति सूक्तेन कुलागतकुष्ठक्षयग्रहण्यादिरोगशान्तये उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य गृहाद् बहिर्व्याधितम् अवसिञ्चेत् ॥

अत्र "अपेयम्" इति द्वितीयया ऋचा उक्तव्याधिशान्तये व्युष्टायां रात्रौ उक्तप्रकारेणैव अवसेकं कुर्यात् ॥

"बभ्रोः" इति तृतीयया अर्जुनकाष्ठयवबुसतिलपिञ्जिकाः एकीकृत्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

तथा अनयैव ऋचा आकृतिलोष्टं वल्मीकमृत्तिकां वा जीवपशुचर्मणा आवेष्ट्य पूर्ववद् बध्नीयात् ॥

"नमस्ते लाङ्गलेभ्यः" इति चतुर्थ्या उदकघटम् अभिमन्त्र्य वृष-

भयुक्तस्य हलस्य अधस्ताद् व्याधितम् अवस्थाप्य तेनोदकेन अवसिञ्चेत् ॥

“नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः” इति पञ्चम्या शून्यगृहे उदकघटं संपात्य जरद्गर्ते च अन्ते संपात्य तद्गर्ते शालातृणानि आस्तीर्य तत्र व्याधितं स्थापयित्वा तेन घटोदकेन आचामयेत् अवसिञ्चेच्च ॥

सूत्रितं हि । “उदगाताम् [२. ८] इत्यास्नावयति बहिः अपेयम् [२] इति व्युच्छन्त्याम् बभ्रोः [३] इति मन्त्रोक्तम् आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिलिख्य जीवकोषण्यामुत्सीव्य बध्नाति । नमस्ते लाङ्गलेभ्यः [४] इति सीरयोगम् अधिशिरोवसिञ्चति । नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः [५] इति शून्यशालायाम् अप्सु संपातान् आनयत्युत्तरं जरत्खाते सशालातृणे तस्मिन्नाचामयत्यास्नावयति” इति [कौ० ४. ३] ॥ एवं सूक्तेन ऋग्भिश्च क्रियमाणानि कर्माणि उक्तक्षेत्रियव्याध्यै त्रिकल्पेन कुर्यात् । अवसेकबन्धनास्नावनादीनां सूत्रकृता पृथङ्निर्दिष्टत्वात् ॥

“उदगातां भगवती” इस सूक्तसे कुल परम्परागत कुष्ठरोग क्षयरोग और संग्रहणी आदि रोगोंकी शांतिके लिये जलपूर्ण घटके लिये होम करके और उसको अभिमन्त्रित करके घरसे बाहर रोगीको स्नान करावे ॥

उक्त व्याधियोंको शांत करनेके लिये रात्रि बीतकर उषःकाल होने पर “अपेयम्” इस दूसरी ऋचासे पूर्वोक्त रीतिसे ही अवसेक करे ॥

“बभ्रोः” इस तीसरी ऋचासे अर्जुन–काष्ठ, जौका भुस और मञ्जरीसहित तिलको एकत्रित कर अभिमंत्रित करके बाँधे ॥

तथा इसी ऋचासे स्वाभाविक मट्टी वा खेतकी मट्टीको जीव-पशुकी चर्मसे लपेट कर पहिलेकी समान बाँधे ॥

“नमस्ते लाङ्गलेभ्यः” इस चौथी ऋचासे जलपूर्ण घटका

अभिमन्त्रित करके वृषभयुक्त हलके नीचे रोगीको बैठा कर इस जलसे अभिषेक करे ॥

“नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः” इस पाँचवीं ऋचासे शून्यगृहमें जलपूर्ण घटके निमित्त होम करके और समीपमें जीर्ण गढ़ेके पास होम करके उस गढ़ेमें शालातृणोंको बिछा कर उसमें रोगीको बैठाकर उस घटके जलसे आचमन करावे और उस घटके जलको उसके ऊपर टपकावे ॥

इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है । यथा–“उदगाताम् (२।८) इत्याप्लावयति, बहिः अपेयम् (२) इति व्युच्छन्त्यां बभ्रोः (३) इति मंत्रोक्तं आकृतिलोष्टवल्मीकौ परिलिख्य जीवकोषण्यामुत्सीव्य बध्नाति । नमस्ते लाङ्गलेभ्यः (४) इति सीरयोगम् अधिशिरोवसिञ्चति । नमः सनिस्रसाक्षेभ्यः (५) इति शून्यशालायां अप्सु सम्पातान् आनयत्युत्तरं जरत्खाते सशालातृणे तस्मिन्नाचामत्याप्लावयति” इति (कौशिकसूत्रम् ४ । ३) ॥ इस सूक्तसे और ऋचाओंसे किये जानेवाले कर्म उक्त क्षेत्रियव्याधिके लिये विकल्प से करे क्योंकि–अवसेक, बन्धन और स्नानका सूत्रकारने अलग अलग निर्देश किया है ॥

तत्र प्रथमा ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

उत् । अगाताम् । भगवती इति भगऽवती । विऽचृतौ । नाम ।
तारके इति ।

वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्ऽतमम् ॥१॥

भगवती तेजस्विन्यौ विचृततः विमोचयतः बन्धम् इति विचृतौ। ❀ चृती हिंसाग्रन्थनयोः इत्यस्माद् विपूर्वात् क्विप्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀। एतन्नाम्न्यौ तारके मूलनक्षत्रम्। तदधिष्ठानमण्डलापेक्षया द्विवचननिर्देशः। ❀ तथा च तैत्तिरीयकम् [तै० आ० २. ६. १]।

अमी ये सुभगे दिवि विचृतौ नाम तारके ।
प्रेहामृतस्य यच्छताम् एतद् बद्धकमोचनम् इति ।

विचृच्छब्दस्य मूलनक्षत्रपर्यायत्वं तत्रैव आम्नातम्। "विचृतौ नक्षत्रम् पितरो देवताषाढा नक्षत्रम् आपो देवता" [तै० सं० ४. ४. १० २] इति ❀। तथाविधे नक्षत्रे उदगाताम् उदिते भवतः। ❀ "इणो गा लुङि" इति गादेशः ❀। ते नक्षत्रे क्षेत्रियस्य। क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगतः क्षयकुष्ठापस्मारादिरोगः क्षेत्रिय इत्युच्यते। ❀"क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः" इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते ❀। तस्य क्षेत्रियरोगस्य अधमम् अधरकायाश्रितम् उत्तमम् ऊर्ध्वकायाश्रितं च पाशम् पाशवद् बन्धकं रोगबीजं वि मुञ्चताम् विमोचयताम्। ❀ मुचेर्लोटि "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀॥

तेजस्वी विचृती उपनाम वाले मूल नक्षत्र † उदित होरहे हैं, ये माता पिताके अंगोंसे शरीरमें आये हुए पुत्र पौत्र आदिके क्षेत्र (शरीर)में चिकित्सा करने योग्य क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि क्षेत्रिय

---

† तैत्तिरीय आरण्यक २। ६। १ में कहा है, कि—"अमी ये सुभगे दिवि विचृतौ नाम तारके। प्रेहामृतस्य यच्छताम् एतद्बद्धकमोचनम्—ये जो आकाशमें विचृत नामके—मूल नामके—दमकते हुए तारे हैं, यह इस जगत्में अमृत पुरुषको बन्धनसे मुक्त करने वाला पदार्थ दें॥"

रोगके नीचेके शरीरमें स्थित और ऊपरके शरीरमें स्थित पाश की समान बंधक रोगके बीजको मुक्त करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अपे॒यं रात्र्यु॑च्छ॒त्वपो॑च्छ॒न्त्व॑भि॒कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् क्षे॑त्रि॒य॒ना॒श॒न्यप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छ॒तु ॥ २ ॥

अप॑ । इ॒यम् । रात्री॑ । उ॒च्छ॒तु॒ । अप॑ । उ॒च्छ॒न्तु॒ । अ॒भि॒ऽकृत्व॑रीः ॥
वी॒रुत् । क्षे॒त्रि॒य॒ऽना॒शनी॑ । अप॑ । क्षे॒त्रि॒यम् । उ॒च्छ॒तु॒ ॥ २ ॥

इयम् उषःकालीना रात्री रात्रिः । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ❀ । अपोच्छतु विवासयतु । ❀ उछी विवासे ❀ । यथा व्युच्छन्ती रात्रिस्तमो नाशयति एवं तमोवत् आवरकं क्षेत्रियव्याधिम् अपगमयतु इत्यर्थः । अनेन एतद्रोगचिकित्साकर्मणः कालः सूचितः ॥ अभिकृत्वरीः अभिकृत्वर्यः अभितः रोगशान्तिं कुर्वाणाः आदित्यादिदेवता अपोच्छन्तु प्रकृतं व्याधिम् अपगमयन्तु । ❀ अभिपूर्वात् करोतेः "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति क्वनिप् । ततस्तुगागमः । "वनो र च" इति ङीब्रेफौ । "वा छन्दसि" इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घत्वम् ❀ । यद्वा अभिकृत्वरीः कर्तनशीलाः अपस्मारादिरोगकारिण्यः पिशाच्यः अपोच्छन्तु अपगच्छन्तु ॥ किं च । क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियव्याधेर्विनाशयित्री वीरुत् या तत्तद्रोगभैषज्यप्रस्तावोक्ता ओषधिरस्ति सापि क्षेत्रियम् उक्तं रोगम् अपोच्छतु अपगमयतु ॥

(जैसे उषःकालकी रात्रि अंधकारको दूर करती है, तिसी प्रकार) यह उषः-कालकी रात्रि इस क्षेत्रिय व्याधिको दूर करे (इस बातसे क्षेत्रिय-क्षय कुष्ठ और अपस्मारकी चिकित्साका समय सूचित किया है) चारों ओरसे रोगकी शांति करते हुए

आदित्य आदि देवता इस रोगको शान्त करें, कर्तन करने वाली अपस्मार (मृगी) आदि रोगोंको करनेवाली पिशाचिनियें दूर भाग जावें और क्षेत्रिय व्याधिको दूर करने वाली जो ओषधि है वह भी क्षेत्रिय रोगको दूर करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य
तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः । अर्जुनऽकाण्डस्य । यवस्य । ते । पलाल्या । तिलस्य ।
तिलऽपिञ्ज्या ।
वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः कपिलवर्णस्य अर्जुनकाण्डस्य अर्जुनाख्यवृक्षविशेषकाष्ठस्य । शकलेनेति शेषः । यवस्य । यवः प्रसिद्धः । तस्य पलाल्या तुषेण यिलस्य तिलसंबन्धिन्या तिलपिञ्ज्या तिलसहितमञ्जर्या च कृतो मणिः हे रुग्ण ते तव रोगम् अपोच्छतु ॥ वीरुदित्यादि व्याख्यातम् ॥

हे रोगिन् ! कपिल वर्ण वाले अर्जुनकाष्ठकी जौके भुसकी और तिलसहित मञ्जरीकी बनाई हुई मणि तेरे रोगको दूर करे। क्षेत्रिय व्याधिको नष्ट करने वाली जो औषधि है वह भी क्षेत्रिय-रोगको नष्ट करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषाऽयुगेभ्यः ।
वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ४ ॥

हे रुग्ण ते त्वद्रोगशमनाय लाङ्गलेभ्यः वृषभयुक्तसीरेभ्यो नमः ॥ ईषायुगेभ्यः ईषाश्च युगानि च तेभ्यश्च हलावयवेभ्यो नमः । उभयत्रापि पूजायां बहुवचनम् । पीडाकररोगनिवर्तकत्वेन पूज्यत्वम् आरोप्य नमस्कारः कृतः । यद्वा हलादीनाम् अचेतनत्वेपि तदभिमानिदेवताभिप्रायेण नमस्कारः । तत्सद्भावश्च भगवता बादरायणेन सूत्रितः । "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इति [बा० २. १. ५] ॥ वीरुदित्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! तेरे रोगकी शांतिके लिये वृषभयुक्त सीरोंके लिये नमस्कार हो, ईषा और युग नामक हलके अवयवोंको नमस्कार हो † क्षेत्रिय व्याधिको दूर करने वाली औषध क्षेत्रिय रोगको नष्ट करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

---

† हल आदि अचेतन हैं अतः यहाँ उनके अभिमानी देवताको प्रणाम किया है । इस भावसे देवताकी सत्ताको भगवान् व्यासजीने माना है यथा—"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्—अभिमानी देवताओंका व्यपदेश विशेषानुगतिसे होता है अर्थात् "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्—अग्नि वाणी होकर मुखमें घुस गया इन विशेष अनुगमनको जताने वाले वाक्योंसे अभिमानी देवताओंका ग्रहण होता है" वेदान्तसूत्र २ । १ । ५)।

नमः । सनिस्रसऽअक्षेभ्यः । नमः । सम्ऽदेश्येभ्यः ।

नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रियऽनाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ५ ॥

सनिस्रसाक्षेभ्यः सनीस्रस्यमानानि अतिशयेन विस्रंसमानानि विशीर्यमाणानि अक्षाणि गवाक्षादिद्वाराणि येषां ते सनिस्रसाक्षाः। शून्यगृहा इत्यर्थः। ❀ स्रंसु गतौ इत्यस्मात् यङन्ताद् घञि अतोलोपयलोपौ। "नीग्वञ्चुस्रंसु०" इत्यभ्यासस्य नीग् आगमः। छान्दसं ह्रस्वत्वम् ❀ । तेभ्यः शून्यगृहेभ्यो नमः नमस्कारो भवतु ॥ संदेशेभ्यः संदिश्यन्ते त्यज्यन्ते तद्गतमृदादानेनेति संदेशाः जरद्गर्ताः। तेभ्यो नमः ॥ क्षेत्रस्य पतये शून्यगृहादिरूपस्य क्षेत्रस्याधिपतये एतन्नाम्ने देवाय नमः। ❀ "षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा" इति पतिशब्दस्य घिसंज्ञायां "घेर्ङिति" इति गुणः ❀ ॥ युष्मत्प्रसादात् रोगशान्तिर्भवतु इति नमस्काराभिप्रायः ॥ वीरुत् क्षेत्रियनाशनीत्यादि शिष्टं गतम् ॥

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

जिनकी खिड़कियोंके झरोखे ढहाऊ हैं उन शून्यगृहोंके लिये नमस्कार है, मट्टी निकाल लेनेसे त्यागने योग्य पुराने गढ़े (जरद्गर्त–सन्देश्यों–) को नमस्कार है, शून्य गृह आदि क्षेत्रके स्वामी क्षेत्रपतिको नमस्कार है। यह क्षेत्रिय रोगका नाश करने वाली वीरुध क्षेत्रियरोगको दूर भगावे ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४३) ॥

"दशवृक्ष" इति सूक्तेन ब्रह्मग्रहशान्तये पलाशौदुम्बरजम्बूकाम्पीलादिषु सूत्रोक्तेषु इच्छया दशवृक्षशकलानि गृहीत्वा तैलाक्ताहिरण्येन वेष्टितं मणिं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥ तथैव एतत् सूक्तं दश ब्राह्मणाः ब्रह्मग्रहगृहीतं स्पृशन्तो जपेयुः ॥

तद् उक्तं संहिताविधौ । "दशवृक्षेति शाकलो दश सुहृदो जपन्तोभिमृशन्ति" इति [कौ० ४. ३] ॥

"दश वृक्ष" इस सूक्तसे ब्रह्मग्रहकी शान्तिके लिये पलाश गूलड़ जामन कबीला आदि सूत्रोक्त वृक्षोंमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार किसी वृक्षके दश टुकड़े लेकर उनकी लाख और सुवर्णसे मणि बनाकर संपात और अभिमंत्रण करके बाँधे ॥

इसी प्रकार दश ब्राह्मण ब्रह्मग्रहसे गृहीत पुरुषको छूते हुए इस सूक्तको जपें । इसी बातको कौशिकसूत्र ४ । ३ में कहा है, कि–"दश वृक्षेतिशाकलो दश सुहृदो जपन्तोऽभिमृशन्ति" (कौशिकसूत्र ४ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दश॑वृक्ष मु॒ञ्चेमं रक्ष॑सो॒ ग्राह्या॒ अधि॒ यैनं॑ ज॒ग्राह॒ पर्व॑सु ।
अथो॑ एनं वनस्पते जी॒वानां॑ लो॒कमुन्न॑य ॥ १ ॥

दश॑ऽवृक्ष । मु॒ञ्च । इ॒मम् । रक्ष॑सः । ग्राह्याः॑ । अधि॑ । या । ए॒न॒म् ।
ज॒ग्राह॑ । पर्व॑ऽसु ।
अ॒थो इति॑ । ए॒न॒म् । व॒न॒स्प॒ते॒ । जी॒वाना॑म् । लो॒कम् । उत् । न॒य॒ ॥१॥

हे दशवृक्ष पलाशौदुम्बरादिदशवृक्षशकलनिर्मित मणे रक्षसः ब्रह्मराक्षसात् ग्राह्याः गृह्णातीति ग्राहिः राक्षसी । ❀ गृहेर्णिन् प्रत्यय औणादिकः ❀ । तस्याश्च । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । इमम् गृहीतं पुरुषं मुञ्च मोचय । ❀ दशवृक्षेति । "आमन्त्रितस्य च" इति षाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् । "आमन्त्रितं पूर्वम् अविद्यमानवत्" इति तस्य अविद्यमानवद्भावात् पदपरत्वस्य अभावात् मुञ्चेत्यस्य "तिङ्ङतिङः" इति निघाताभावे विकरणस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ । या ग्राहिर्ब्रह्मराक्षसी पर्वसु शरीरसम्बंधिसु अमा-

वास्यादिपर्वसु वा एनम् पुरुषं जग्राह गृहीतवती। तस्याः सकाशान्मोचयेति पूर्वेण संबन्धः । अमावास्यायां रक्षसाम् उत्थानं च "येमावास्यां रात्रिम् उदस्थुर्व्राजम् अत्रिणः" इति [१.१६.१] प्राग् आम्नातम् ॥ अथो अपि च हे वनस्पते वनानां पतिर्वनस्पतिः। ❀ पारस्करादित्वात् सुडागमः ❀। वनस्पतिविकार मणे एनम् गृहीतं पुरुषं जीवानाम् जीवतां प्राणिनां लोकम् स्थानं भूलोकम् उन्नय उद्धृत्य प्रापय। ग्रहावेशेन मृतप्रायं पुनर्जीवनयुक्तं कुरु इति भावः। ❀"नीवह्योर्हरतेश्च" इति स्मरणाद् नयतिर्द्विकर्मकः❀॥

हे पलाश गूलड़ आदि दश वृक्षशकलोंसे बनी हुई मणे! ब्रह्मराक्षसके ग्रहण करने योग्य राक्षसीसे पकड़े हुए इस पुरुषको छुड़ा जिस ब्रह्मराक्षसीने शरीरके जोड़ोंमें अमावस्या आदिके समय इसको पकड़ लिया है उस राक्षसीसे हे मणे! तू इस रोगीको छुड़ा †। हे वनस्पतियोंसे बनी हुई मणे! इस गृहीत पुरुषको जीवित प्राणियोंके लोक भूलोकमें उद्धार करके ला अर्थात् ग्रहोंके आवेशसे मृतप्राय हुएको फिर जीवनयुक्त कर॥१॥

द्वितीया ॥

आगा॒दुद॑गाद॒यं जी॒वानां॒ व्रात॒मप्य॑गात् ।
अभू॑दु पु॒त्राणां॑ पि॒ता नृ॒णां च॒ भग॑वत्तमः ॥ २ ॥

आ । अ॒गा॒त् । उत् । अ॒गा॒त् । अ॒यम् । जी॒वाना॑म् । व्रात॑म् ।
अपि॑ । अ॒गा॒त् ।

---

† अमावस्यामें राक्षस विचरण करते हैं। इसका वर्णन "येऽमावास्यां रात्रिम्" इस प्रथमकाण्डके सोलहवें सूक्तमें किया जा चुका है ॥

अभूत् । ऊं इति । पुत्राणाम् । पिता । नृणाम् । च । भगवत्ऽ-
तमः ॥ २ ॥

मणिप्रभावं वक्तुं मणिबन्धनसमनन्तरमेव अभिमतफलसिद्धिं दर्शयति । हे मणे त्वत्प्रसादाद् अयं ग्राहाद् विनिर्मुक्तो लब्धजीवनः आगात् इमं लोकम् आगमत् ॥ उदगात् उदस्थात् । संचारक्षमोभूदित्यर्थः ॥ न केवलम् उत्थानम् जीवानाम् जीवतां जनानां व्रातम् समूहमपि अगात् प्रापत् । बन्धुजनैः सह व्यवहारम् अकार्षीदित्यर्थः ॥ उ अपि च पुत्राणाम् आत्मीयानां सुतानां पिता जनकोभूत् । मृतप्रायस्य आत्मनो गतं पितृत्वं पुनर्जीवनेन आगतम् इत्यर्थः । यद्वा जनिष्यमाणानां पुत्राणाम् उत्पादकोभूदित्यर्थः ॥ किं च नृणाम् मनुष्याणां मध्ये भगवत्तमः अतिशयितभाग्ययुक्तः संपन्नः । ❀ "नृ च" इति "नामि"–दीर्घाभावः । "नाम् अन्यतरस्याम्" इति नाम उदात्तत्वम् । मणिबन्धनसमनन्तरमेव फलसिद्धिर्भवतीति अद्यतनभूतार्थवाचिनो लुङः सर्वत्र प्रयोगः । यद्वा "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति प्रार्थनायां लुङ् ❀ । आगाद् आगच्छतु इत्येवमादि योज्यम् ॥

(मणिके प्रभावको कहनेके लिये यह दिखाते हैं, कि–) मणि के बाँधनेके साथ ही अभिलषित फल सिद्ध होजाता है कि–) हे मणे ! तेरे प्रसादसे यह ग्रहसे मुक्त हुआ पुरुष जीवन पाकर इस लोकमें आजाय और चलनेमें समर्थ होजाय और जीवित मनुष्यों के समूहमें आजाय अर्थात् बन्धुओंके साथ व्यवहार करने लगे । और अपने पुत्रोंका पिता होजाय, तात्पर्य यह है, कि–मृतप्रायका गया हुआ पितृत्व पुनर्जीवन होनेसे वापिस आजाय । और यह आगे को उत्पन्न होने वाले पुत्रोंका पिता होजाय और मनुष्योंमें परमभाग्यवान् होजाय ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अधी॑ती॒रध्य॑गाद्॒यमधि॑ जीवपु॒रा अगन् ।
श॒तं ह्य॑स्य भि॒षज॑ः स॒हस्र॑मु॒त वी॒रुध॑ः ॥ ३ ॥

अधि॑ऽइतीः । अधि॑ । अ॒गा॒त् । अ॒यम् । अधि॑ । जी॒व॒ऽपु॒रा । अ॒ग॒न् ।
श॒तम् । हि । अ॒स्य॒ । भि॒षज॑ः । स॒हस्र॑म् । उ॒त । वी॒रुध॑ः ॥ ३ ॥

अयम् ब्रह्मग्रहाद् विमुक्तः पुरुषः अधीतीः अधीयन्त इत्यधीतयः । ❀ इङ् अध्ययने इक् स्मरणे इत्यस्माद् वा कर्मणि क्तिन् ❀ । प्राग् अधीतान् वेदान् स्मर्तव्यान् पदार्थान् वा अध्यगात् अस्मार्षीत् स्मरतु वा । ❀ इक् स्मरणे लुङि "इणवदिक इति वक्तव्यम्" इति "इणो गा लुङि" इति गादेशः । इङस्त्वात्मनेपदित्वाद् नैतद् रूपम् । "इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः" इति अधेः प्रयोगः ❀ ॥ तथा जीवपुराः जीवानां पुरः भोगयतनानि शरीराणि आवासस्थानानि ग्रामजनपदादीनि वा जीवपुराः । ❀ "ऋक्पूरब्धूः पथाम् आनक्ते" इत्यकारः समासान्तः ❀ । ताः अध्यगन् अध्यगमत् अज्ञासीत् जानातु वा । ❀ गमे लुङि "मन्त्रे घसह्वरणश०" इति च्लेर्लुकि संयोगान्तलोपे "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ ॥ उक्ताया अविलम्बितफलसिद्धेर्हेतुम् आह । हि यस्मात् कारणात् अस्य ग्रहगृहीतस्य शतम् अपरिमिता भिषजः । भिषज्यन्ति चिकित्सां कुर्वन्ति इति भिषजो वैद्याः । बहुभिर्वैद्यैः क्रियमाणम् एकम् औषधं फलभेदाय न कल्पत इति औषधानामपि आनन्त्यम् आह सहस्रम् । इति सहस्रम् अपरिमिता वीरुधः । विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः औषधानि । बहुभिर्वैद्यैरौषधैश्च यत् फलं भवति तद् एतत्सूक्ताभिमन्त्रितमणिबन्धनसामर्थ्येन भवतीति भावः ॥

यह ब्रह्मग्रहसे मुक्त हुआ पुरुष पहिले पढ़े हुए वेदोंका स्मरण करे और यह पुरुष जीवोंके निवासस्थान ग्राम नगर आदिको जान जाय (शीघ्र ही फल होनेका कारण यह है, कि–सैंकड़ों वैद्य और हजारों औषधियें इसको जो फल देतीं उस फलको यह मणिबन्धन देरहा है) ॥ ३ ॥

चतुर्थी

दे॒वास्ते॑ ची॒तिम॑विदन् ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑ ।
ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑दन् भूम्या॒मधि॑ ॥ ४ ॥

दे॒वाः । ते॒ । ची॒तिम् । अ॒वि॒द॒न् । ब्र॒ह्माणः॑ । उ॒त । वी॒रुधः॑ ।
ची॒तिम् । ते॒ । विश्वे॑ । दे॒वाः । अवि॑दन् । भूम्या॑म् । अधि॑ ॥४॥

बध्यमानमणेरुक्तं सामर्थ्यं देवादिप्रसिद्धम् इत्याह । हे मणे ते तव चीतिम् ग्रहविकाराद् रोगिण आदानं ग्रहादेः संवरणं छादनम् अभिभवनं वा देवाः इन्द्राद्या अविदन् विदन्ति जानन्ति । ❀ चीञ् आदानसंवरणयोः । अस्माद् भावे क्तिनि "तितुत्र०" इति इट्प्रतिषेधे वलिलोपे चीतिः इति रूपम् । वेत्तेश्छान्दसे लुङि व्यत्ययेन जुसभावः ❀ ॥ तथा ब्रह्माणः ब्राह्मणाः । उतशब्दः अप्यर्थे । वीरुधः औषधानि च । चीतिम् अविदन्निति संबन्धः॥ विश्वे देवाः एतन्नामानो वरुणमित्रादयो गणदेवाः भूम्यां भूलोके । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी । ते तव चीतिम् अविदन् ॥ यद्वा अत्र रुग्ण एव संबोध्यः । हे रुग्ण ते तव मूर्छितस्य चीतिम् संज्ञानम् । ❀ चिती संज्ञाने इत्यस्माद् औणादिके क्विप्रत्यये उपधादीर्घश्छान्दसः ❀ ॥ भूम्याम् अधि भूलोके देवा अविदन् लम्भयन्तु प्रापयन्तु । ❀ विद्लृ लाभे । अस्माद् अन्तर्णीतण्यर्थात्

छान्दसे लुङि लृदित्वाद् अङ् ❀ ॥ एवं ब्रह्माण इत्यादि योज्यम् । भूम्याम् अधीति सर्वशेषः ॥

(इस बाँधी जाने वाली मणिकी सामर्थ्य देवताओंमें प्रसिद्ध है यथा–) हे मणे ! तेरी ग्रहोंके विकारसे रोगीको छुड़ाना ग्रहों का तिरस्कार करना आदि सामर्थ्यको इन्द्र आदि देवता जानते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण औषधियें और वरुण मित्र आदि सब देवता भी पृथ्वीमें तेरी इस शक्तिको जानते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

य॒श्चकार॒ स निष्क॒रत् स ए॒व सुभि॑षक्तमः ।
स ए॒व तुभ्यं॑ भेष॒जानि॑ कृ॒णव॑द् भि॒ष॒जा शुचि॑ ॥ ५ ॥

यः । च॒कार॑ । सः । निः । क॒र॒त् । सः । ए॒व । सुभि॑षक्ऽतमः ।
सः । ए॒व । तुभ्य॑म् । भे॒ष॒जानि॑ । कृ॒णव॑त् । भि॒षजा॑ । शुचि॑ः ॥ ५ ॥

यः पुरुषो विधानज्ञः अथर्वाख्यो महर्षिर्वा चकार एतन्मणिबन्धनं कृतवान् स निष्करत् निष्कृतिं ग्रहविकारस्य शमनं करोतु । मणिबन्धनकर्ता चिकित्सको मन्त्रसिद्धान् पुरातनान् वैद्यांश्चिन्तयेदिति भावः । ❀ करोतेः पञ्चमलकारे "लेटोडाटौ" इत्यडागमः। "कःकरत्करति" इति निसः षत्वम् ❀ । यद्वा । यः परमेश्वरश्चकार इदं सर्वं जगत् सृष्टवान् स एव निष्करत् ग्रहविकारस्य निष्कृतिं करोतु । स एव उक्त एव सुभिषक्तमः । निदानज्ञानपूर्वकं चिकित्सकाः सुभिषजः तेभ्योयम् उत्कृष्टः आदिवैद्यः । श्रूयते हि । "अध्यवोचद् अधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक" [तै० सं० ४. ५. १. २] इति । "भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि" [ऋ० २. ३३. ४] इति च । स एव ईश्वर एव हे रुग्ण तुभ्यं भिषजा इदानींतनभिषग्रूपेण । ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀ ।

भेषजानि कृणवत् करोतु । शुचिः निर्मलज्ञानवान् स इति संबन्धः ॥ यद्वा तृतीयायाः सुः । शुचिना भिषजेति योज्यम् । ❀ तुभ्यम् इति । युष्मदस्मदोर्ङसि "ङयि च" इत्याद्युदात्तत्वम् । कृवि हिंसाकरणयोश्च इत्यस्मात् पञ्चमलकारे "धिन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः अकारश्चान्तादेशः । "लेटोडाटो" इत्यडागमः ❀ ।

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

विधानको जानने वाले जिन अथर्वा नाम वाले मुनिने इस मणिबंधनको प्रचलित किया है वह इस ग्रहविकारको शांत करें, जिस परमेश्वरने इस जगत्को रचा है वह इस ग्रहविकारको शान्त करें वही सुन्दरवैद्य हैं अर्थात् जो निदानको जानकर चिकित्सा करते हैं उनमें वैद्योंमें श्रेष्ठ हैं + । वह पवित्र ज्ञान वाले ईश्वर ही (वर्तमान वैद्यके रूपमें) हे रोगिन् ! तेरी औषधि करें ॥५॥

द्वितीय काण्डके द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (४४) ॥

"क्षेत्रियात् त्वा" इति सूक्तेन पूर्वोक्तक्षेत्रियरोगशान्तये चतुष्पथे उदकघटं संपात्य अभिमन्त्र्य व्याधितपर्वसु काम्पीलशकलानि बद्ध्वा कूर्चैः सह तेनोदकेन आप्लावयेद् अवसिञ्चेत् । सूत्रितं हि । "क्षेत्रियात् त्वेति चतुष्पथे काम्पीलशकलैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति" इति [कौ० ४. ३.]॥

"क्षेत्रियात् त्वा" सूक्तसे पूर्वोक्त क्षेत्रिय रोगकी शान्तिके लिये चतुष्पथमें जलपूर्ण घटके निमित्त सम्पात और अभिमन्त्रण करके रोगीकी गाँठों पर कबीलेके टुकड़ोंको बाँध कर मोरके पंखोंकी मुट्ठी (मोरछल) के साथ जलसे स्नान करावे और

+ तैत्तिरीयसंहिता ४ । ५ । १ । २ में कहा है, कि-"अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्-पहिले देव वैद्य वक्ताने यह कहा" ॥ और ऋग्वेद २ । ३३ । ४ में कहा है, कि-'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि-मैं वैद्योंमें तुम्हें श्रेष्ठ वैद्य समझता हूँ' ॥

छिड़के । सूत्रमें भी कहा है, कि—“क्षेत्रियात् त्वेति चतुर्थे काम्पीलशकलैः पर्वसु बद्ध्वा पिञ्जूलीभिराप्लावयत्यवसिञ्चति” (कौशिकसूत्र ४ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

क्षे॒त्रि॒यात् त्वा॒ निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒
वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ १ ॥

क्षे॒त्रि॒यात् । त्वा॒ । निःऽऋ॑त्याः । जा॒मि॒ऽशं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ ।
वरु॑णस्य । पाशा॑त् ।
अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑-
पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ १ ॥

हे क्षेत्रियव्याधिपीडित पुरुष त्वा त्वां क्षेत्रियात् क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगतात् पुत्रादिशरीरसंक्रान्तात् क्षयकुष्ठादेः मुञ्चामि मोचयामि । पुत्रशरीरे पित्रादिशरीरावयवसंक्रान्तिः श्रुत्यन्तरे श्रूयते । “अङ्गाद् अङ्गात् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे” [आश्व० गृ० १. १५. ११] इति ॥ तथा निर्ऋत्याः रोगनिदानभूतायाः पापदेवतायाः सकाशात् जामिशंसात् । सह जायत इति जामिर्भगिनी तदुपलक्षिता बन्धवो जामयः । अप्राप्ताभिलषितानां तेषां शंसनात् आक्रोशजनितात् पापात् द्रुहः गुरुदेवतादिद्रोहात् वरुणस्य देवस्य पाशात् पापिनां निग्राहकात् । त्वा मुञ्चामि इति सर्वत्र संबन्धः ॥ निर्ऋत्यादीनां

महारोगनिदानत्वात् तदनिवृत्तौ रोगनिवृत्तेरसंभवात् ततोपि मोचनम् उक्तम् ॥ अपि च । त्वा त्वां ब्रह्मणा मन्त्रेण अनागसम् अपराधरहितं कृणोमि करोमि । न तत् सर्वं मत्सामर्थ्येन करोमि अपि तु मन्त्रप्रभावेनेति तात्पर्यार्थः ॥ ततः हे व्याधित द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ उभे ते तव शिवे कल्याणकारिण्यौ [स्ताम्] भवताम् । ❀ अस्तेर्लोटि तसस्ताम् । "श्नसोरल्लोपः" इत्यकारलोपः ❀ । सत्स्वपि देवतान्तरेषु द्यावापृथिव्योरेव प्रार्थनम् भौमदिव्यापराधजनितत्वात् सर्वरोगाणाम् "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति [तै० ब्रा० ३. ७. ५. ५] श्रुतेः तयोरेव सर्वजगन्मातापितृत्वेन सर्वदेवान्तर्भावात् तत्प्रसादेन सर्वरोगशान्तिः सर्वदेवताप्रीतिश्च भवतीत्येवमर्थं कृतम् ॥

हे क्षेत्रियव्याधिसे पीडित पुरुष ! मैं तुझको क्षय कुष्ठ आदि दोषसे दूषित पिता माता आदिके अवयवोंसे आये हुए पुत्र आदिके शरीरमेंसे संक्रांत क्षय कुष्ठ आदि क्षेत्रियरोगसे छुड़ाता हूँ ‡ रोगकी निदानभूत पापदेवतासे तुझको छुड़ाता हूँ, (साथ उत्पन्न होती है अत एव भगिनी जामि कहलाती है, जामि शब्द में सब बांधवोंका भी उपलक्षण है अत एव अभिलषित वस्तुके न न मिलनेके कारण) बंधुओंके किये हुए आक्रोशसे उत्पन्न हुए पापसे छुड़ाता हूँ और गुरुद्रोहके पापसे और पापियोंका निग्रह करने वाले वरुणदेवके पाशसे मैं तुझको छुड़ाता हूँ (निर्ऋति आदि महारोगनिदान हैं उनकी निवृत्ति न होने पर रोगकी

---

‡ अन्य श्रुतियोंमें पुत्रके शरीरमें पिताके अवयवोंकी संक्रांति सुनी जाती है । यथा—आश्वलायनगृह्यसूत्र १ । १५ । ११ में कहा है, कि—"अंगात् अंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे—हे पुत्र ! तू प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे उत्पन्न हुआ है।

निवृत्ति असंभव है अतः उनकी निवृत्ति भी कही है) और मैं तुझे ब्रह्म(मंत्र)से अपराधरहित भी करता हूँ मैं इन सब बातोंको अपनी सामर्थसे नहीं करता हूँ, किन्तु मन्त्रके प्रभावसे करता हूँ। तदनन्तर हे रोगिन् ! द्यावा पृथिवी दोनों तेरा कल्याण करने वाले हों × ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोम॑ः स॒हौष॑धीभिः ।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो
मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒गसं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ २ ॥

शम् । ते॒ । अ॒ग्निः । स॒ह । अ॒त्ऽभिः । अ॒स्तु॒ । शम् । सोम॑ः ।
स॒ह । ओष॑धीभिः ।

× अन्य २ देवताओंके होने पर भी जो द्यावा पृथिवीकी ही प्रार्थना की है, उसका कारण यह है, कि—सब रोग भौम और दिव्य अपराधोंसे ही होते हैं और तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७। ५।५ में "द्यौः पिता पृथिवी माता—द्यौ पिता है पृथिवी माता है" इस श्रुतिसे द्यौको पिता और पृथिवीको माता बताया है और वे सब जगत्के माता पिता हैं अत एव सब देवताओंका उनमें अंतर्भाव होजाता है अतः उनके प्रसादसे सब रोगोंकी शान्ति हो सकती है और सब देवता प्रसन्न होसकते हैं। इसी अभिप्रायसे उनकी प्रार्थना की है ॥

एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् ।
द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।
अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ २ ॥

हे रुग्ण ते तव अग्निः अयं चतुष्पथे हूयमानः पृथिवीस्थानः अद्भिः अभिमन्त्रितोदकाभिमानिदेवताभिः सह समस्तव्याध्युपशमनेन [शम्] सुखकरो भवतु ॥ सोमः ओषधीनां राजा ओषधीभिः ओषध्युपलक्षितैः काम्पीलादिभिरौषधगणैः सह शम् सुखकरो भवतु । ❀ "ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥ एव एवम् अहं प्रयोक्ता त्वा त्वाम् ॥ क्षेत्रियादित्यादि पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे रोगग्रस्त ! यह पृथिवी पर स्थित चोराहेमें हूयमान अग्नि अभिमन्त्रित जलाभिमानी देवताओंके साथ सुखदायक हो, ओषधियोंका राजा सोम काम्पील (कबीला) आदि ओषधियों सहित (तुझको) सुख देने वाला हो । इस प्रकार प्रयोग करने वाला मैं तुझको क्षेत्रियव्याधिसे और रोगकी निदान पापदेवतासे छुड़ाता हूँ बांधवोंके कलपनेसे छुड़ाता हूँ और पापियों का निग्रह करने वाले वरुणदेवके पाशसे तुझको छुड़ाता हूँ, मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझको निष्पाप करता हूँ, द्यावा और पृथिवी तेरा कल्याण करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो

मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॒सं॑ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ ३ ॥

शम् । ते॒ । वात॑ः । अ॒न्तरि॑क्षे । वय॑ः । धा॒त् । शम् । ते॒ । भ॒व॒न्तु॒ ।
प्र॒ऽदि॑शः । चत॑स्रः ।
ए॒व । अ॒हम् । त्वाम् । क्षे॒त्रि॒यात् । निःऽऋ॑त्याः । जा॒मि॒ऽशं॒सात् ।
द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् ।
अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ ३ ॥

हे रुग्ण ते तव अन्तरिक्षे अन्तरा क्षान्ते द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमाने वा। ❀ अन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा इत्यादि निरुक्तम् [नि० २. १०] ❀। तस्मिन् स्वस्थाने वयोधाः वयसां पक्षिणां धाता धारथिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वातः अन्तरिक्षाधिपतिर्वायुः शम् सुखकरो भवतु ॥ तथा चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या महादिशः ते तव शं भवन्तु सुखकर्यो भवन्तु ॥ एवाहम् इत्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! द्यावा पृथिवीके बीचके अन्तरिक्षमें फिरने वाले पक्षियोंको धारण करनेवाले और अन्नसे पोषण करनेवाले वायुदेवता तेरा कल्याण करें और पूर्व आदि चार श्रेष्ठ महादिशा भी भी तेरे लिये सुखकारी हों, इसी प्रकार मैं भी तुझको क्षेत्रिय व्याधिसे, निर्ऋति देवतासे, बांधवोंके आक्रोशसे, गुरुद्रोहके पाप-

से और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे छुड़ाता हूँ, मन्त्रप्रभावके द्वारा तुझे निष्पाप करता हूँ द्यावापृथिवी तेरा कल्याण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इ॒मा या दे॒वीः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो॒ वात॑पत्नीर॒भि सूर्यो॑ वि॒चष्टे॑।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो
मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ ४ ॥

इ॒माः । याः । दे॒वीः । प्र॒ऽदिशः॑ । चत॑स्रः । वात॑ऽपत्नीः । अ॒भि ।
सूर्यः॑ । वि॒ऽचष्टे॑ ।
ए॒व । अ॒हम् । त्वाम् । क्षे॒त्रि॒यात् । निःऽऋत्याः । जा॒मि॒ऽशं॒सात् ।
द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॑सम् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑-
पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ ४ ॥

इमाः परिदृश्यमाना देवीः द्योतमानाः वातपत्नीः वातः पतिर्यासाम् । ❀ "विभाषा सपूर्वस्य" इति ङीब्नकारौ ❀ । दिक्षु वायोः संचारात् तत्पतित्वोपचारः । एवंभूता याश्चतस्रः प्रदिशः सूर्यः सर्वस्य प्रेरयिता द्युस्थानाधिपतिः सविता अभि अभितः सर्वतो विचष्टे । पश्यतिकर्मायम् । विपश्यति । स्वकिरणप्रसारणेन प्रकाशयतीत्यर्थः । ❀ चतस्र इति । "चतसर्याद्युदात्तत्वनिपात

नम्" इति वचनात् "चतुरः शसि" इति अन्तोदात्तत्वाभावः । चष्ट इति । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि । अदादित्वात् शपो लुक् । "स्कोः संयोगाद्योरन्ते च" इति कलोपः ❀ । ताभिः सह सूर्यः शं भवतु इत्यनुषङ्गः ॥ एवाहम् इत्यादि गतम् ॥

जो प्रकाशमयी श्रेष्ठ दिशाएँ वायुकी † पत्नी हैं उनको द्युस्थान के स्वामी सविता देवता चारों ओरसे देखते हैं, वे दिशाएँ और सूर्य तेरा कल्याण करें, हे रोगिन् ! मैं भी तुझको क्षेत्रियरोग से, निर्ऋति नामक पापदेवतासे, बांधवोंके अभिशापसे गुरुद्रोह से और पापियोंको दण्ड देने-वाले वरुणके पाशसे छुड़ाता हूँ, मैं तुझे मन्त्रके प्रभावसे निष्पाप करता हूँ दोनों द्यावा पृथिवी तेरा कल्याण करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ता॑सु॒ त्वा॒न्तर्ज॒रस्या द॑धामि॒ प्र यक्ष्म॑ ए॒तु निर्ऋ॑तिः परा॒चैः
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो
मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ ५ ॥

ता॑सु । त्वा॒ । अ॒न्तः । ज॒रसि॑ । आ । द॒धा॒मि॒ । प्र । यक्ष्म॑ः ।
ए॒तु॒ । निःऽऋ॑तिः । प॒रा॒चैः ।

---

† वायुका दिशाओंमें सञ्चार रहता है अतः वायुमें पतित्वका उपचार किया है ।

एव । अहम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः ।
मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते ।
द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ५ ॥

याः पूर्वमन्त्रोक्ता दिशः तासु अन्तः मध्ये हे रुग्ण त्वा त्वां जरसि जरायाम् आ दधामि । जरापर्यन्तं रोगादिपरिहारेण जीवयन् शतायुषं करोमीत्यर्थः । ❀ "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति जरस् आदेशः ❀ ॥ यक्ष्मः त्वदीयो राजयक्ष्मादिः क्षेत्रियः प्रैतु प्रगच्छतु त्वां विमुञ्चतु ॥ निर्ऋतिः त्वद्रोगनिदानभूता पापदेवता पराचैः पराङ्मुखी प्रैतु। प्रतिनिवृत्य अनवलोकयन्ती दूरं गच्छतु इत्यर्थः ॥ एवाहं त्वेत्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! मैं पूर्वमन्त्रमें कही हुई दिशाओंमें तुझे बुढ़ापे तक रोगरहित रह कर जीवित रहनेके लिये स्थापित करता हूँ अर्थात् तेरी सौ वर्षकी आयु करता हूँ तेरा राजयक्ष्मा आदि क्षेत्रियरोग दूर होजाय, तेरे रोगकी निदानभूत पापदेवता पराङ्मुख होजाय हे रोगिन् ! मैं तुझे क्षेत्रियरोगसे मुक्त करता हूँ, निर्ऋतिनामक पापदेवतासे मुक्त करता हूँ, बांधवोंके अभिशापसे छुड़ाता हूँ, गुरुद्रोहसे छुड़ाता हूँ और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे मुक्त करता हूँ, हे रोगिन् ! मैं तुझे मन्त्रके प्रभावसे अपराधरहित करता हूँ, दोनों द्यावा पृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी हों ५

षष्ठी ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी
उभे स्ताम् ॥ ६ ॥

अमुक्थाः । यक्ष्मात् । दुःऽइतात् । अवद्यात् । द्रुहः । पाशात् ।
ग्राह्याः । च । उत् । अमुक्थाः ।
एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् ।
द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।
अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ६ ॥

हे रुग्ण त्वं यक्ष्मात् क्षेत्रियव्याधेः अमुक्थाः मुक्तोसि । मा संशयं कार्षीरित्यर्थः । ❀ मुच्लृ मोक्षणे । अस्मात् कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ ॥ तथा दुरितात् दुर्गतात् रोगनिदानभूतात् पापात् अवद्यात् जाम्याद्यभिशंसनरूपाद् निन्दनात् । ❀ "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इति यत्प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । द्रुहः देवतादिद्रोहात् । पाशात् पापिनो निग्राहकाद् वरुणपाशात् ग्राह्याः ब्रह्मराक्षस्यादिरूपायाः पिशाच्याश्च उदमुक्थाः उन्मुक्तो भवसि ॥ एवाहम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे रोगिन् ! तू यक्ष्मा—क्षेत्रियव्याधि—से मुक्त होरहा है, तथा तू रोगके कारण पापसे, बहिन आदि बांधवोंके मनमें घुटनारूप

निन्दासे, देवता आदिके द्रोहसे और पापियोंको वशमें करने वाले वरुणके पाशसे और ब्रह्मराक्षसी आदिरूप पिशाचीसे भी मुक्त होरहा है, इसमें तू कुछ सन्देह न कर। मैं भी तुझको क्षय कुष्ठ अपस्मार आदि क्षेत्रियरोगसे मुक्त करता हूँ, पापदेवता निर्ऋति से मुक्त करता हूँ, वहिन आदिके अभिशापसे दूर करता हूँ देवता-द्रोह आदिके पापसे मुक्त करता हूँ पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे मुक्त करता हूँ, हे रोगिन्! मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझे निपराध करता हूँ, दोनों द्युलोक और पृथिवीलोक तेरा कल्याण करने वाले हों ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अहा॒ अरा॑ति॒मवि॑दः स्यो॒नमप्य॑भू॒र्भ॒द्रे सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के ।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद्द्रु॒हो
मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी
उ॒भे स्ता॑म् ॥ ७ ॥

अहाः॑ । अरा॑तिम् । अवि॑दः । स्यो॒नम् । अपि॑ । अ॒भू॒ः । भ॒द्रे ।
सु॒ऽकृ॒तस्य॑ । लो॒के ।
ए॒व । अ॒हम् । त्वाम् । क्षे॒त्रि॒यात् । निःऽऋ॑त्याः । जा॒मि॒ऽशं॒सात् ।
द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् ।
अ॒ना॒ग॑सम् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑-
पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ ७ ॥

हे व्याधित अरातिम् शत्रुवद्बाधकं रोगं शत्रुमेव वा अहाः अहासीः अत्याक्षीः । ❀ ओहाक् त्यागे । लुङि "मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्०" इति च्लेर्लुक् ❀ ॥ स्योनम् । सुखनामैतत् । सुखम् अविदः लब्धवान् असि । ❀ विद्लृ लाभे इत्यस्मात् लुङि लृदित्वाद् अङ् ❀ ॥ भद्रे भन्दनीये कल्याणे सुकृतस्य सुष्ठु कृतस्य पुण्यस्य फलभूतेऽस्मिन् भूलोके अप्यभूत् । ❀ "अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्ग०" इति कस्यचित् पदस्यार्थे अपिशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानाद् अत्र अन्वेतुं योग्ये जीवननिवासादिपदार्थे अपिशब्दो वर्तते ❀ । भूलोके चिरकालनिवासो दीर्घजीवनं वा तव अभूद् इत्यर्थः ॥ एवाहम् इत्यादि गतम् ॥

हे रोगिन् ! तू शत्रुकी समान बाधक रोगको और शत्रुको त्याग ! तू अब सुखको प्राप्त होगया है और पुण्यके फलरूप इस कल्याणमय भूलोकमें तू आगया है अर्थात् अब भूलोकमें तू चिरकाल तक रहेगा दीर्घायु होगा। मैं भी क्षेत्रियरोगसे, पापदेवता निर्ऋतिसे, बहिन आदि बांधवोंके कलपनेके शापसे गुरुद्रोहके पापसे और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे तुझको छुड़ाता हूँ, मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझे पापशून्य करता हूँ, द्युलोक और भूलोक ये दोनों तेरा कल्याण करने वाले हों ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम् । ऋतम् । तमसः । ग्राह्याः । अधि । देवाः । मुञ्चन्तः । असृजन् । निः । एनसः ।

एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निःऽऋत्याः । जामिऽशंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।

अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ८ ॥

ऋतम् सत्यभूतं सूर्यं तमसः स्वर्भानुरूपाद् ग्राह्याः ग्रहात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । मुञ्चन्तः मोचयन्तो देवाः इन्द्रादयः एनसः तद्धेतुभूतात् पापाद् निरसृजन् निरगमयन् । ❀ सृज विसर्गे । "सुवर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाविध्यत् तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिम् ऐच्छन्" [तै० सं० २. १. २. २] इत्यादि तैत्तिरीयकम् ❀ । यथा देवाः सूर्यं राहुग्रहाद् अमोचयन् एवम् अहमपि त्वां मन्त्रप्रभावेन क्षेत्रियरोगात् तन्निदानभूतपापादिभ्यश्च मोचयामीत्यर्थः ॥

इति द्वितीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ।

[इति] द्वितीयोनुवाकः ॥

सत्यभूत सूर्यको राहुरूप ग्रहसे छुड़ाते समय देवताओंने उसके कारण पापको भी दूर करदिया था † तात्पर्य यह है, कि—जिस

---

† तैत्तिरीयसंहिता २।१।२।२ में कहा है, कि—"सुवर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत् तस्मै देवा प्रायश्चित्तिमैच्छन्—स्वर्भानु

प्रकार देवताओंने सूर्यको राहु नामक ग्रहसे छुड़ाया है, इसी प्रकार मैं तुझे मन्त्रके प्रभावसे क्षेत्रियरोगसे मुक्त करता हूँ पापदेवता निर्ऋतिसे, बहिन आदि बांधवोंके कल्पनेसे, गुरुद्रोहके पापसे और पापियोंको दण्ड देने वाले वरुणके पाशसे भी मैं तुझको मुक्त करता हूँ मैं मन्त्रके प्रभावसे तुझे अपराधरहित करता हूँ दोनों द्यावापृथिवी तुझे सुख देनेवाले हों ॥ ८ ॥

द्वितीय अनुवाकमें।पञ्चम सूक्त समाप्त (४५) ॥

द्वितीयकाण्डमें द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

तृतीयेनुवाके सप्त सूक्तानि। तत्र "दूष्या दूषिरसि" इति प्रथमं सूक्तम्। स्त्रीशूद्रराजब्राह्मणकापालिकान्त्यजशाकिन्यादिकृताभिचारे स्वात्मरक्षार्थम् कृत्याप्रतिहरणार्थं च अनेन सूक्तेन तिलकमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तथा च सूत्रम्। "दूष्या दूषिरसीति स्राक्त्यं बध्नाति" इति [कौ० ५. ३] ॥ स्रक्तिस्तिलकवृक्ष [ः। स्रक्ति] स्तिलक इति भाष्यकारः ॥

तथा अस्य सूक्तस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् कृत्यानिर्हरणार्थे शान्त्युदकेपि एतत् सूक्तम् आवपनीयम्। यद् आह कौशिकः। "दूष्या दूषिरसि [२. ११] ये पुरस्तात् [४. ४०] ईशानां त्वा [४. १७] समं ज्योतिः [४. १८] उतो अस्यबन्धुकृत् [४. १९] सुपर्णस्त्वा [५. १४] यां ते चक्रुः [५. ३१] अयं प्रतिसरः [८. ५] यां कल्पयन्ति [१०. १] इति महाशान्तिम् आवपते" इति [कौ० ५. ३] ॥ अयमेव कृत्याप्रतिहरणगणः ॥

तथा नक्षत्रकल्पे "कृत्यादूषण एव च। चातनो मातृनामा च" [न० क० २३] इत्यत्र शान्तिकल्पे "अथ शान्तैः कृत्यादूषणै-

---

राहु नाम वाले असुरने सूर्यको अन्धकारसे वेध दिया, तब देवताओंने इसके लिये प्रायश्चित्त करना चाहा" ॥

श्वातनैः” [शा० क० १६] इत्यत्र च अस्य सूक्तस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोवगन्तव्यः ॥

एवं “बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्याभिचरतोभिचर्यमाणस्य च” इति [न० क० १७] विहितायां बार्हस्पत्याख्यायां महाशान्तौ स्राक्त्यमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम् । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे । “बार्हस्पत्यायां दूष्या दूषिरसीति स्राक्त्यम् अभिचरतोभिचर्यमाणस्य च” इति [न० क० १६] ॥

कृत्याप्रतिहरणकर्मण्येव आद्ययर्चा कृत्याया गुल्फं सूत्रोक्तद्रव्येण परिषिञ्चेत् । सूत्रं च । “दूष्या दूषिरसीति दर्व्या. त्रिः सारूपवत्सेनापोदकेन मथितेन गुल्फान् परिषिञ्चति” इति [कौ० ५. ३] ॥

तीसरे अनुवाकमें सात सूक्त हैं । उनमें “दूष्या दूषिरसि” यह प्रथमसूक्त है । स्त्री शूद्र राजा ब्राह्मण कापालिक अन्त्यज और शाकिनी आदिके अभिचार करने पर अपनी रक्षा करनेके लिये और कृत्याको दूर करनेके लिये इस सूक्तसे तिलकमणिके लिये होम करके अभिमंत्रण करके बाँधे । इसी बातको सूत्र में भी कहा है, कि–“दूष्या दूषिरिति स्राक्त्यं बध्नाति–दूष्या दूषिःसूक्तसे स्रक्तिकी मणिको बाँधता है” (कौशिकसूत्र ५ । ३) तिलकवृक्षका नाम स्रक्ति है । भाष्यकारने भी स्रक्तिको तिलक वृक्ष माना है ।

इस सूक्तका कृत्याप्रतिहरणगणमें पाठ है अतः कृत्यानिर्हरणार्थ शान्त्युदकमें भी इस सूक्तका आवपन होता है । इसी बातको कौशिकसूत्र ५ । ३ में कहा है, कि–“दूष्या दूषिरसि (२ । ११) ये पुरस्तात् (४ । ४०) ईशानां त्वा (४ । १७) समं ज्योतिः (४ । १८) उतो अस्यबंधुकृत् (४ । १६) सुपर्णस्त्वा (५ । १४) यां ते चक्रुः (५ । ३१) अयं प्रतिसरः

(८ । ५) यां कल्पयन्ति (१० । १) इति महाशांतिं आवपते" । यही कृत्याप्रतिहरणगण कहलाता है ॥

इसी प्रकार "कृत्यादूषण एव च । चातनो मातृनामा च । –चातन और मातृनामगण कृत्यादूषण भी" (नक्षत्रकल्प २३) यहाँ और "अथ शान्तै कृत्यादूषणैश्चातनैः–अब शान्त कृत्यादूषण और चातनोंसे" (शांतिकल्प १६) यहाँ पर भी इस सूक्तका गणप्रयुक्त विनियोग समझना चाहिये ॥

इसी प्रकार "बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्याभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य–राज्य श्री और ब्रह्मतेजको चाहने वालेके लिये बार्हस्पत्या शांतिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित बार्हस्पत्या नाम वाली महाशांतिमें स्राक्त्यमणिबंधनके समय यह सूक्त पढ़ा जाता है । इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि–"बार्हस्पत्यायां दूष्या दूषिरसीति स्राक्त्यम् अभिचरतोऽभिचर्यमाणस्य च" ।

कृत्याप्रतिहरणकर्ममें ही पहिली ऋचासे कृत्यागुल्फको सूत्रोक्तद्रव्यसे छिड़के । सूत्र भी है, कि–दूष्या दूषिरसीति दर्व्या त्रिः सारूपवत्सेनापोदकेन मथितेन गुल्फान् परिषिञ्चति–दूष्या दूषिरसि इस सूक्तसे दर्वीके द्वारा तीन वार मथित जलरहित सारूपवत्ससे गुल्फ पर परिषिञ्चन करे" (कौशिकसूत्र ५ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

दूष्या॒ दूषि॑रसि हेत्या हे॒तिर॑सि मे॒न्या मे॒निर॑सि ।
आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑समति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ १ ॥

दू॑ष्याः । दू॑षिः । अ॒सि॒ । हे॒त्याः । हे॒तिः । अ॒सि॒ । मे॒न्याः । मे॒निः । अ॒सि॒ ।

आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ १ ॥

हे तिलकमणे त्वं दूष्याः । दूषयति विनाशयतीति दूषिः कृत्या । ❀ दुषेर्ण्यन्ताद् औणादिक इप्रत्ययः ❀ । तस्याः परकृताया दूषिरसि दूषकः निवारकोसि ॥ हेत्याः । आयुधनामैतत् । हन्ति अनयेति प्रहीयते प्रक्षिप्यत इति वा हेतिः आयुधम् । ❀ "ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च" इति हन्तेर्हिनोतेर्वा क्तिन्प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ । तस्याः परप्रेरितायास्त्वं हेतिः प्रतिहननसाधनम् असि ॥ मेन्याः । वज्रनामैतत् । मीनाति हिनस्तीति मेनिः मर्मभेदि मन्त्रात्मकं वाग्वज्रम् । तस्य परोच्चारितस्य मेनिरसि निवारकः प्रतिवाग्वज्रोसि । ❀ मीञ् हिंसायाम् इत्यस्माद् औणादिको निप्रत्ययः ❀ । यद्यपि हेतिमेनी द्वे अपि आयुधनामनी तथापि अत्र समन्त्रकामन्त्रकास्त्रशस्त्रभेदेन तयोर्भेदोवगन्तव्यः ॥ यतस्त्वं शत्रुकृताभिचारादिजनितसर्वारिष्टनिवारकोसि अतः श्रेयांसं प्रशस्यतमम् अधिकबलम् अस्मदीयं शत्रुम् आप्नुहि हन्तुं व्याप्नुहि । निरुध्य तं जहीत्यर्थः ॥ समम् समबलं शत्रुम् अति क्राम अतिक्रम्य गच्छ । अप्रयत्नेन निवारयेत्यर्थः । न्यूनबलस्तु मन्त्रप्रभावम् अन्तरेण स्वेनैव जित इति तस्य अनुपन्यासः । तथा च तैत्तिरीयके समाम्नातम् । "प्र श्रेयांसं भ्रातृव्यं नुदतेति सदृशं क्रामति नैनं पापीयान् आप्नोति" [तै० सं० २.४.१.४] इति । ❀ क्रामेति । क्रमु पादविक्षेपे । अस्मात् लोटि शपि "क्रमः परस्मैपदेषु इति दीर्घः ❀ ॥

हे तिलकमणे ! तू दूसरेकी की हुई कृत्याको हटाने वाली है, दूसरेके प्रेरित आयुधका संहार करने वाली है, दूसरेके प्रेरित मंत्रात्मक वाग्वज्रके लिये तू वज्र है † इस प्रकार तू शत्रुके किये

---

† यद्यपि हेति और मेनि दोनों आयुधके नाम है तथापि यहाँ अमंत्रक और समन्त्रक अस्त्रशस्त्र–भेदसे उनके नामोंका भेद समझना चाहिये ॥

हुए अभिचार आदिसे उत्पन्न सकल अरिष्टोंकी निवारक है अत एव अधिक बली हमारे शत्रुको मारनेके लिये प्राप्त हो उसको घेर कर मार डालो और समान बल वाले शत्रुको अतिक्रमण कर अर्थात् उसको विना प्रयत्नके ही निवारण कर दें। (न्यून बल वाला तो मन्त्रके प्रभावके विना अपने आप ही हारा हुआ है, अतः यहाँ उसका वर्णन नहीं किया है‡) ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥

स्रक्त्यः । असि । प्रतिऽसरः । असि । प्रतिऽअभिचरणः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ २ ॥

हे मणे ! स्रक्त्यः । स्रक्तिस्तिलकवृक्षः तत्र भवः स्रक्त्यः ❀ । "भवे छन्दसि" इति यत् ❀ । तिलकवृक्षनिर्मितोसि ॥ प्रतिसरः । हन्तुम् अभिमुखाः कृत्यादयः प्रतिसार्यन्ते प्रतिमुखं निवर्त्यन्ते अनेन इति प्रतिसरः अभिमन्त्रितं रक्षासूत्रम् असि । ❀ प्रतिपूर्वात् सारयतेः "पुंसि संज्ञायां घ०" । उपधाह्रस्वश्छान्दसः ❀ । अत एव महाशान्तिषु मणिबन्धनस्थाने प्रतिसरबन्धनम् उक्तं नक्षत्रकल्पे । "प्रतिसरं वा सर्वत्र" इति [न० क० १६] ॥ प्रत्यभिचरणः प्रत्यभिचर्यते निवार्यते परकृताभिचारजनिता

---

‡ "प्र श्रेयांसं भ्रातृव्यं नुदतेति सदृशं क्रामति नैनं पापीयान् आप्नोति—यह मणि श्रेष्ठ बली शत्रुको पीड़ा देता है समान बलीको लाँघ जाता है और पापी पुरुष तो इसके पास फटक भी नहीं सकता" ।

कृत्या अनेन इति प्रत्यभिचरणः । तथाविधोसि ॥ आप्नुहीत्यादि व्याख्यातम् ॥

हे मणे ! तू तिलकवृक्षसे बनी हुई है और मारनेको आने वाली कृत्याको हटाने वाली है, और अभिमन्त्रित रक्षासूत्र है † और शत्रुके अभिचारसे उत्पन्न हुई कृत्याको हटाने वाली है, हे मणे ! तू अधिक बल वाले शत्रुको नष्ट करनेके लिये उसको प्राप्त हो, समान बल वालेको लाँघ जा ॥ २ ॥

तृतीया ॥

प्रति तमभि चर योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । चर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ३ ॥

यः शत्रुः अस्मान् सपुत्रपशुबान्धवान् द्वेष्टि जिघांसति वयं च यम् शत्रुं द्विष्मः नाशयितुम् इच्छामः । ❀ द्विष अप्रीतौ । अदादित्वात् शपो लुक् ❀ । तम् उभयविधं द्वेष्टारं द्वेष्यं च शत्रुं हे मणे प्रत्यभि चर शत्रुकृतां कृत्यां प्रतिनिवर्त्य तमपि नाशयेत्यर्थः ॥ आप्नुहीत्यादि गतम् ॥

पुत्र पशु और बांधवोंसहित जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुको नष्ट करना चाहते हैं, उन दोनों प्रकारके शत्रुओं को भी हे मणे ! शत्रुकी प्रेरित कृत्याको नष्ट करके तू मार डाल ! तू श्रेष्ठ बल वाले शत्रुको मारनेके लिये उसके पास पहुँच और समान बल वालेको दबा दे ॥ ३ ॥

---

†इसी लिये महाशान्तिओंमें मणिबंधनस्थानमें प्रतिसर(रक्षासूत्र) बंधन कहा है । यथा "प्रतिसरं वा सर्वत्र" (नक्षत्रकल्प १६) ॥

चतुर्थी ॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

सूरिः । असि । वर्चःऽधाः । असि । तनूऽपानः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ४ ॥

हे मणे सूरिः अभिज्ञोसि । शत्रुकृताभिचारनिवर्तनज्ञानवान् असीत्यर्थः ॥ वर्चोधाः वर्चसः तेजसो धाता विधाता असि धारयितॄणाम् ॥ तथा तनूपानोसि तनूनाम् अस्मत्संबन्धिनां शरीराणां परकृताभिचारात् पालयितासि । आप्नुहीत्यादि पूर्ववत् ॥

हे मणे ! तू शत्रुके किये हुए अभिचारको हटानेका ज्ञान रखती है और जो तुझको धारण करते हैं उनमें तेजको धारण करती है और दूसरेके कियेहुए अभिचारोंसे हमारे शरीरकी रक्षा करने वाली है, हे मणे ! तू श्रेष्ठ बल वाले शत्रुओंको मारनेके लिये उनके पास पहुँच और समान बल वाले शत्रुओंको दवादे ॥४॥

पञ्चमी ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ५ ॥

हे मणे शुक्रः शोचकः शत्रूणां शोचयितासि ॥ भ्राजोसि दीप्यमानः तेजस्वी भवसि ॥ स्वः ज्वरादिरोगोत्पादनेन तापकोसि । ❀ स्वृ शब्दोपतापयोः । अस्मात् छान्दसो विच् ❀ । यद्वा स्वः ।

दिवश्च आदित्यस्य च साधारणं नामैतत्। आदित्योसि आदित्यवत् कृत्यादीनाम् अभिभविता असि भवसि ॥ तथा ज्योतिः अग्न्यादिज्योतिरिव असंस्पृश्योसि। शत्रुकृताभिचारादिभिः अनाधर्षणीयोसीत्यर्थः ॥ आप्नुहीत्यादि व्याख्यातम् ॥

[इति] द्वितीयकाण्डे तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे मणे ! तू शत्रुओंको सन्ताप देनेवाली है, तेजस्वी है, शत्रुओं को ज्वर आदि देकर सन्तप्त करने वाली है, आदित्यकी समान कृत्या आदिको सन्तप्त करनेवाली है और तू अग्नि आदि ज्योति की समान असंस्पृश्य होजाती है अर्थात् शत्रुके किये हुए अभिचारोंसे अप्रधृष्य है, हे मणे! तू अधिक बली शत्रुका नाश करनेके लिये उसके समीप जा और समानबली शत्रुसे बढ़ जा ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (४६) ॥

“द्यावापृथिवी उरु” इति सूक्तेन अभिचारकर्मणि दीक्षार्थं वेणुदण्डं वृश्चति । [सूत्रितं हि । “भरद्वाजप्रव्रस्केनाङ्गिरसं दण्डं वृश्चति” इति कौ० ६. १ ॥ तत्र “द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्षम्” इति सूक्तं भरद्वाजप्रव्रस्कम् ॥]

तथा अनेनैव सूक्तेन द्वेष्यनिषूदनकर्मणि दक्षिणाभिमुखं धावतः शत्रोः पदेषु वृक्षपत्राणि प्रक्षिप्य परशुना छित्त्वा सपांसून् पर्णच्छेदान् वधकपात्रे प्रक्षिप्य आनीय भ्राष्ट्रे भर्जयेत् [कौ० ६. १] ॥

“द्यावापृथिवी उरु” इस सूक्तसे अभिचारकर्ममें दीक्षाके लिये वेणुदण्डको काटे। कौशिकसूत्र ६ । १ में कहा है, कि–“भरद्वाजप्रव्रस्केनांगिरसं दण्डं वृश्चति–भरद्वाजप्रव्रस्कसे आंगिरस दण्डको काटे” [द्यावापृथिवी सूक्त भरद्वाजप्रव्रस्क है] ॥

तथा इस सूक्तके द्वारा शत्रुसंहारक कर्ममें दक्षिणकी ओर मुख करके भागते हुए शत्रुके पैरोंमें वृक्षपत्रोंको फेंककर उन्हें फरसेसे काट डाले फिर धूलिधूसरित पत्तोंके टुकड़ोंको वधकपात्रमें डाल लाकर भाड़में भूने” ॥ (कौशिकसूत्र ६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

द्यावा॑पृथि॒वी उ॒र्व॑१॒न्तरि॑क्षं॒ क्षेत्र॑स्य॒ पत्न्यु॑रुगा॒यो॑द्भुतः ।
उ॒तान्तरि॑क्षमु॒रु वात॑गोपं॒ त इ॒ह त॑प्यन्तां॒ मयि॑ त॒प्यमा॑ने

द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । क्षेत्र॑स्य । पत्नी॑ । उ॒रु॒ऽगा॒यः । अ॑द्भुतः ।

उ॒त । अ॒न्तरि॑क्षम् । उ॒रु । वात॑ऽगोपम् । ते । इ॒ह । त॒प्य॒न्ता॒म् । मयि॑ । त॒प्यमा॑ने ॥ १ ॥

द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । ❀ "दिवो द्यावा" इति द्यावादेशः । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । "देवताद्वन्द्वे च" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । उरु विस्तीर्णम् अंतरिक्षम् तयोर्मध्ये वर्तमानोन्तरिक्षलोकः । क्षेत्रस्य । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति क्षेत्रम् उक्तं लोकत्रयम् । तस्य पत्नी अधिपतिः देवता क्रमेण अग्निवायुसूर्यात्मिका । ❀ छान्दसौ ङीम्नकारौ ❀ । अद्भुतः त्रिविक्रमरूपत्वेन सर्वलोकव्यापनाद् आश्चर्यभूतः उरुगायः उरुभिर्महानुभावैर्बहुभिर्वा गीयमानः स्तूयमानः लोकानां पालको विष्णुः । ❀ तथा च अन्यत्र आम्नातम् । "त्रेधा विष्णुरुरुगायो विचक्रमे" [तै० ब्रा० ३. १. २. ६] इति । कै गै रै शब्दे । कर्मणि घञ् । "थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्" इत्यन्तोदात्तत्वम् ❀ । उत अपि च वातगोपम् । वातो वायुः सूत्रात्मा गोपाः गोपायिता यस्य यद्वा वातेन गोप्यमानं धार्यमाणं वातगोपम् । ❀ तथा च वाजसनेयकम् । "वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि" [बृ० आ०

५. ७. २] ❀ । उरु विस्तीर्णं ब्रह्माण्डान्तर्व्यापि अन्तरिक्षम् महाकाशम् । एवं ये लोकास्तदधिपतयश्च सन्ति ते सर्वे इह अस्मिन् अभिचारकर्मणि मयि अभिचारके तप्यमाने दीक्षानियमेन उपवासादिना क्लिश्यमाने सति तप्यन्ताम् संतप्ता भवन्तु । अहं यथा द्वेष्यं नाशयितुम् उद्युक्तोस्मि एवं भवन्तोपि शत्रोः स्थानाद्यप्रदानेन हिंसका भवन्तु इत्यर्थः ॥

द्यौ और पृथिवी और इनके बीचमें विराजमान विस्तीर्ण अंतरिक्ष लोक, और जिनमें निवास करते हैं उन तीनों लोकोंके अधिपति देवता अग्नि वायु और सूर्य, त्रिविक्रमरूपसे सब लोकोंको व्याप्त करनेके कारण आश्चर्यजनक तथा बड़े २ महानुभावोंसे अनेक प्रकारसे स्तुति पाने वाले लोकपालक भगवान् विष्णु † और सूत्रात्मा वायु जिनकी रक्षा करनेवाला है वह दोनों लोक ‡ और ब्रह्माण्डके भीतर व्याप्त रहने वाला अतिविस्तृत अन्तरिक्ष (महाकाश) तथा अन्य जो लोक और उनके अधिपति हैं, वे सब इस अभिचार कर्ममें दीक्षा आदिसे मेरे क्लेश पाने पर सन्तप्त होवें अर्थात् जैसे मैं शत्रुको मारनेके लिये उद्यत हूँ , इसी प्रकार आप भी स्थान आदि न देकर शत्रुओंके हिंसक बनें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इ॒दं दे॑वाः शृणु॒त ये य॒ज्ञिया॒ स्थ भ॒रद्वा॑जो॒ मह्य॑-

---

† तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १ । २ । ६ में कहा है, कि–"त्रेधा विष्णुरुरुगायो विचक्रमे–महाकीर्तिमान् विष्णुने तीनवार पैर रक्खा" ।

‡ बृहदारण्यक ५ । ७ । २ में कहा है, कि–"वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि–हे गौतम ! वह सूत्र वायु है, हे गौतम ! वायुरूपी सूत्रसे यह लोक और परलोक तथा सब प्राणी पुरे हुए हैं)" ॥

मु॒क्थानि॑ शंसति ।
पाशे॒ स ब॒द्धो दु॒रि॑ते नि यु॑ज्यतां यो अ॒स्माकं॒
मन॑ इ॒दं हि॒नस्ति॑ ॥ २ ॥

इ॒दम् । दे॒वाः । शृ॒णु॒त । ये । य॒ज्ञियाः॑ । स्थ । भ॒रत्ऽवा॑जः ।
मह्य॑म् । उ॒क्थानि॑ । शं॒स॒ति॒ ।
पाशे॑ । सः । ब॒द्धः । दुः॒ऽइ॒ते । नि । यु॒ज्य॒ता॒म् । यः । अ॒स्माक॑म् ।
म॑नः । इ॒दम् । हि॒नस्ति॑ ॥ २ ॥

हे देवाः इदम् वक्ष्यमाणं मद्वाक्यं शृणुत । ये यूयं यज्ञियाः यज्ञार्हाः स्थ भवथ । ❀ "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घप्रत्ययः ❀ । किं तद् इति तद् आह । भरद्वाजः भरत् देवानां पोषकं वाजो हविर्लक्षणम् अन्नं यस्य सोयं भरद्वाजः वषट्कारेण देवानां हविषः प्रदाता एतन्नामको महर्षिः मह्यम् मदर्थं मदभिलषितसिद्धये उक्थानि शस्त्राणि शंसति पठति । यद्वा उक्थशब्दः स्तावकमन्त्रमात्रोपलक्षणपरः । अभिचारकर्मोचितदेवतास्तुतिपरान् मन्त्रान् प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः ॥ यः शत्रुः अस्माकम् इदम् पूर्वं सन्मार्गप्रवृत्तं मनः मानसं हिनस्ति बाधते । ❀ हिसि हिंसायाम् । इदित्त्वाद् नुम् । रुधादित्वात् श्नम् । "श्नान्नलोपः" इति नकारलोपः । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । अनभिमतकार्यकरणेन इष्टविघातेन च यो विक्षिप्तं करोति स शत्रुः पाशे पाशेन मत्कृताभिचारकर्मरूपेण बद्धः निरुद्धगतिः सन् दुरिते दुर्गते मरणरूपे नियुज्यतां नियुक्तो भवतु । अनेन कर्मणा मृतिं प्राप्नोतु इत्येतत् शृणुतेति पूर्वेण संबन्धः ॥

जो यज्ञके योग्य हैं ऐसे देवताओं ! तुम मेरे वाक्यको सुनो,

कि–“भरत् (देवताओंके पोषक) हविनामक वाज (अन्न) वाले अर्थात् वषट्कारके द्वारा देवताओंको हवि देनेवाले भरद्वाज नामक महर्षि मेरी अभिलषित वस्तुओंकी सिद्धिके लिये अभिचारकर्मके योग्य देवताओंकी स्तुतिके मन्त्ररूप शस्त्रोंको पढ़ रहे हैं। जो हमारा शत्रु पहिले हमारे सन्मार्गमें लीन चित्तको दुःखित कर चुका है तथा अनिष्ट कार्यको करके हमारे चित्तको विक्षिप्त करता है वह शत्रु मेरे किये हुए अभिचार–कर्मरूप पाशसे गतिहीन होकर मरणरूप दुर्गतिसे युक्त होजाय। अर्थात् इस कर्मसे मर जाय” ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इ॒दमि॑न्द्र शृणुहि सोमप॒ यत् त्वा॑ हृ॒दा शोच॑ता॒ जोह॑वीमि
वृ॒श्चामि॒ तं कु॑लि॒शेने॑व वृ॒क्षं यो अ॒स्माकं॒ मन॑ इ॒दं हि॒नस्ति॑

इ॒दम् । इ॒न्द्र॒ । शृ॒णु॒हि॒ । सो॒म॒ऽप॒ । यत् । त्वा॒ । हृ॒दा । शोचता ।
जोह॑वीमि ।
वृ॒श्चा॑मि । तम् । कु॒लि॑शेनऽइव । वृ॒क्षम् । यः । अ॒स्मा॑कम् ।
म॑नः । इ॒दम् । हि॒न॑स्ति ॥ ३ ॥

[पूर्वं] देवाः सामान्येन प्रार्थिताः । इदानीं तत्प्रधानभूत इन्द्रः प्रार्थ्यते । हे सोमप सोमं पिबतीति सोमपः । ❀ “आतोऽनुपसर्गे कः” तस्य संबुद्धिः ❀ । सोमपानेन सर्वदा संतुष्टमानस हे इन्द्र इदम् वक्ष्यमाणं मदीयं वाक्यं शृणुहि शृणु । ❀ “उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम्” इति हेर्लुगभावः ❀ । तदेव दर्शयति यद् इति । शोचता द्वेष्यंकृतापकारैः शोकार्तेन हृदा मनसा त्वा त्वां जोहवीमि पुनःपुनराह्वयामि । आर्तस्य अनन्यगतिकस्य मम

बचनं मा उपेक्षिष्ठा इति क्रियासमभिहारेण सूचितम् । ❀ ह्वयतेर्यङ्लुगन्तात् लडुत्तमैकवचने "ह्वः संप्रसारणम्" "अभ्यस्तस्य च" इति संप्रसारणम् ❀ । जोहवीमीति यत् तद् इदम् इति संबन्धः । तं शत्रुं वृश्चामि छिनद्मि । ❀ ओव्रश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । पादादित्वाद् अनिघातः ❀ । किमिव कुलिशेन वज्रसदृशेन परशुना वृक्षम् इव ॥ अत्र व्रश्चनलिङ्गाद् दीक्षादण्डच्छेदने शत्रुपदप्रक्षिप्तपर्णच्छेदने च विनियोग उपपन्नः ॥ यो अस्माकम् इत्यादि व्याख्यातम् ॥

(पहिले सामान्यरूपसे सब देवताओंकी प्रार्थना की, अब देवताओंमें प्रधान इन्द्रदेवकी प्रार्थना करते हैं, कि–) सोमपानसे जिनका मन सदा सन्तुष्ट रहता है ऐसे हे इन्द्र ! तुम मेरे वाक्यको सुनो, कि–"मैं शत्रुके अपकारोंके कारण जलते हुए चित्तसे तुम्हें वारम्वार पुकारता हूँ (मुझ आर्तकी एकमात्र आप ही गति हैं अतः आप मेरी उपेक्षा न करिये) जो शत्र हमारे मनको कष्ट देता है उसको मैं फरसेसे वृक्षकी समाम काट (ना चाह) ता हूँ । (यहाँ व्रश्चन–काटना–चिह्नसे दीक्षादण्डच्छेदनमें और शत्रुके पैरों पर फैंके हुए पत्तोंके छेदनेमें भी इसका विनियोग घटता है ३

चतुर्थी ॥

अ॒शी॒तिभि॑स्ति॒सृभिः॑ सा॒मगे॑भिरादि॒त्येभि॒र्वसु॑भि॒रङ्गि॑-
रोभिः ।
इ॒ष्टा॒पू॒र्तम॑वतु नः पितृ॒णामा॒मुं द॑दे॒ हर॑सा॒ दैव्ये॑न ॥४॥

अ॒शी॒तिऽभिः॑ । ति॒सृऽभिः॑ । सा॒म॒ऽगेभिः॑ । आ॒दि॒त्येभिः॑ । वसु॑ऽभिः ।
अङ्गि॑रःऽभिः ।

इ॒ष्टा॒पू॒र्तम् । अ॒व॒तु॒ । न॒ः । पि॒तृ॒णाम् । आ । अ॒मुम् । द॒दे॒ । हरसा ।
दैव्ये॑न ॥ ४ ॥

तिसृभिः त्रिसंख्याकाभिः अशीतिभिः तृचाशीतिभिः । ताश्च अशीतय ऐतरेयके महाव्रतक्रतौ बृहदुक्थे समाम्नायन्ते । "गायत्री तृचाशीतिः औष्णिही तृचाशीतिः बार्हती तृचाशीतिः" [ऐ० आ० १. ४. ३] । ताभिस्तत्संख्याक्रान्तैस्तृचैः तत्प्रतिपाद्येन्द्रदेवतया वा सामगेभिः सामगैरुद्गात्रादिभिः तत्प्रयुक्तैः स्तोत्रैर्वा आदित्येभिः आदित्यैर्द्वादशभिः वसुभिः अष्टभिः अङ्गिरोभिः प्रसिद्धैः दीर्घसत्रानुष्ठातृभिर्महर्षिभिः । वस्वादित्यसमभिव्याहाराद् अङ्गनाद् व्यापनाद् रुद्रा वा अङ्गिरःशब्देन प्रत्येतव्याः । तैः सह । ❀ सहयोगे तृतीया ❀ । पितृणाम् अस्मत्पूर्वपुरुषाणाम् इष्टापूर्तम् । इष्टं श्रुतिविहितं यागादि । पूर्तं स्मृत्युक्तं कूपारामतटाकादि । तदुभयजनितं सुकृतं नः अस्मान् अवतु शत्रोः सकाशाद् रक्षतु । यद्वा । ❀ करणे तृतीया ❀ । स्तुतशस्त्रैर्वसुरुद्रादित्यरूपाभिः सवनदेवताभिश्च निष्पादितं पितृणाम् इष्टापूर्तम् अस्मान् अवतु इति ॥ रक्षाप्रार्थनायाः प्रयोजनम् आह । अमुम् अपकर्तारम् अमुकनामानं शत्रुं दैव्येन देवसंबन्धिना । मत्कृताभिचारजनितकृत्यारूपदेवताकृतेनेत्यर्थः । हरसा । क्रोधनामैतत् । क्रोधेन आ ददे स्वीकरोमि । निगृह्णामीत्यर्थः । ❀ "आङो दोऽनास्यविहरणे" इत्यात्मनेपदम् ❀ ॥

ऐतरेयक महाव्रतक्रतुके बृहदुक्थमें कथित तृचाशीति वा तत्प्रतिपाद्य इन्द्रदेवतासे वा सामका गान करनेवाले उद्गाता आदि से प्रयुक्त स्तोत्र, बारह आदित्य, आठ वसु दीर्घसत्रका आरंभ करने वाले अंगिरानामक महर्षि और रुद्रोंसहित हमारे पूर्वपुरुषों का जो श्रुतिविहित याग आदि इष्ट है और स्मृतिमें कथित कूप

वाग और तालाव आदि है, उन इष्टापूर्तोंसे उत्पन्न हुआ पुण्य हमैं शत्रुसे रक्षित करे। अर्थात् स्तुत शस्त्रोंसे और वसु रुद्र आदित्य आदिरूप देवताओंसे भी निष्पादित पितरोंका इष्टापूर्त हमारी रक्षा करे (रक्षाकी प्रार्थनाका प्रयोजन यह है, कि—) मैं इस अपकार करनेवाले अमुक नामके शत्रुको अपने किये हुए अभिचारजनित कृत्यारूप देवताकृत क्रोधसे दण्ड देता हूँ ॥४॥

पञ्चमी ॥

द्यावा॑पृथिवी॒ अनु॒ मा दीधी॑थां॒ विश्वे॑ देवासो॒ अनु॒
मा र॑भध्वम् ।
अङ्गि॑रस॒ः पित॑र॒ः सोम्या॑सः पा॒पमार्छं॑त्वपका॒मस्य॑
क॒र्ता॑ ॥ ५ ॥

द्यावा॑पृथिवी॒ इति॑ । अनु॑ । मा॒ । आ । दी॒धी॒था॒म् । विश्वे॑ ।
दे॒वा॒स॒ः । अनु॑ । मा॒ । आ । र॒भ॒ध्व॒म् ।
अ॑ङ्गिरसः । पित॑रः । सोम्या॑सः । पा॒पम् । आ । ऋ॒च्छ॒तु॒ ।
अ॒प॒ऽका॒मस्य॑ । क॒र्ता ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी हे द्यावापृथिव्यौ मा शत्रुनिरसनार्थं दीप्तं माम् अनु युवामपि आ दीधीथाम् आदीप्ते भवतम्। शत्रुजयार्थम् आनुकूल्यं कुरुतम् इत्यर्थः। ❀ "अनुर्लक्षणे" इति अनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां "कर्मप्रवचनीयुक्ते द्वितीया" इति अस्मच्छब्दाद् द्वितीया। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः इत्यस्मात् लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥ विश्वे देवासः हे विश्वे देवाः एतन्नामानो गणदेवाः मा शत्रुजयार्थम् उद्युक्तं माम् अनु [आ रभध्वम्

शत्रुं निग्रहीतुम् उद्युक्ता भवत । तथा हे सोम्यासः सोमार्हा अङ्गिरसः हे तथाविधाः पितरः एतन्नामानो देवाः ।] यूयमपि आरभध्वम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ प्रार्थनायाः प्रयोजनं दर्शयति । अपकामस्य अनभिमतस्य कार्यस्य द्रोहस्य कर्ता शत्रुः पापं मृतिलक्षणम् आर्च्छतु प्राप्नोतु । ❀ ऋच्छ गतौ । "उपसर्गादृ ऋति धातौ" इति गुणापवादो वृद्धिः ❀ ॥

हे द्यावापृथिवी ! शत्रुका तिरस्कार करनेके लिये मुझ दीप्तके अनुसार तुम भी दीप्त होओ और शत्रुका विजय करनेके लिये अनुकूलता दिखाओ । हे विश्वेदेवताओं ! शत्रुको जीतनेके लिये उद्यत मेरे साथ तुम भी शत्रुका निग्रह करनेके लिये उद्यत होजाओ । तथा हे सोमके योग्य अंगिराओं ! तथा पितृनामक देवताओं ! तुम भी मेरे शत्रुको दवानेके लिये उद्यत होजाओ (प्रार्थनाका प्रयोजन यह है, कि–हमारे न चाहे हुए कार्यका कर्ता शत्रु मृत्युरूप पापको प्राप्त होजाना चाहिये) ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्
क्रियमाणम् ।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

अतिऽइव । यः । मरुतः । मन्यते । नः । ब्रह्म । वा । यः ।
निन्दिषत् । क्रियमाणम् ।
तपूंषि । तस्मै । वृजिनानि । सन्तु । ब्रह्मऽद्विषम् । द्यौः । अभिऽसंतपाति ॥ ६ ॥

हे मरुतः एकोनपञ्चाशत्संख्याका गणदेवाः यः शत्रुः नः अस्मान् अतीव अतिक्रान्त इव मन्यते आत्मानं जानाति । ❀मन ज्ञाने । “दिवादिभ्यः श्यन्” । “यद्वृत्तान्नित्यम्” इति निघातप्रतिषेधः ❀ । यश्च शत्रुः । वाशब्दः चार्थे । क्रियमाणम् अस्माभिरनुष्ठीयमानं ब्रह्म मन्त्रसाध्यं कर्म निन्दिषत् निन्देत् । ❀णिदि कुत्सायाम् । इदित्त्वान्नुम् । “लेटोडाटौ” इत्यडागमः । “सिब्बहुलम्०” इति सिप् ❀ । तस्मै उभयविधाय शत्रवे तपूंषि तापकानि तेजांसि आयुधानि वा वृजिनानि वर्जकानि बाधकानि सन्तु । ❀ तप संतापे इत्यस्माद् जनेरुसिः [उ० २. ११४] इत्यनुवृत्तौ अर्तिपृवपियजितनिधनितपित्रपिभ्यो नित् [उ० २. ११६] इत्युसिप्रत्ययः । नित्त्वाद् आद्युदात्तः । वृजी वर्जने । [वृजेः] किच्च [उ० २. ४७] इति इनच् प्रत्ययः । कित्त्वाद् गुणाभावः । चित्त्वाद् अन्तोदात्तः ❀ । द्यौः आदित्यः । द्युस्थानत्वात् । ब्रह्मद्विषम् मदीयं कर्म द्विषन्तं शत्रुम् अभिसंतपाति अभितः संतपतु । ❀ तपतेः पञ्चमलकारे “लेटोडाटौ” इत्याडागमः ❀ ॥

हे मरुत्नामवाले उडञ्चास गणदेवताओं ! जो हमारा शत्रु हमें बहुत दवा हुआ समझता है और जो शत्रु हमारे किये हुए मंत्रसाध्य अनुष्ठानकी निंदा करता है, इन दोनों प्रकारके शत्रुओं के लिये तापक तेज और आयुध बाधक हों तथा सूर्यदेव मेरे मन्त्रात्मक कर्मसे द्वेष करने वाले शत्रुको चारों ओरसे सन्ताप दें ॥६॥

सप्तमी ॥

स॒प्त प्रा॒णान॒ष्टौ म॒न्यस्तांस्ते॑ वृश्चामि॒ ब्रह्म॑णा ।
अया॑ य॒मस्य॒ सद॑नमाग्निदू॑तो॒ अरं॑कृतः ॥ ७ ॥

सप्त । प्राणान् । अष्टौ । मन्यः । तान् । ते । वृश्चामि । ब्रह्मणा ।
अयाः । यमस्य । सदनम् । अग्निऽदूतः । अरम्ऽकृतः ॥ ७ ॥

सप्त सप्तसंख्याकान् प्राणान् शीर्षण्यान् चक्षुरादीन्द्रियाणि । छिद्रापेक्षया सप्तसंख्या । “सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः” इति [तै० ब्रा० १. २. ३. ३] श्रुतेः । अष्टौ मन्यः धमन्यः कण्ठगता नाडीविशेषाः । तान् अष्टौ अष्टसंख्याकान् प्रधानभूतांश्च वृश्चामीत्यन्वयः । ते तव संबन्धिनस्तान् प्रसिद्धान् अवशिष्टावयवान् ब्रह्मणा मन्त्रेण तत्साध्याभिचारकर्मणा वा वृश्चामि छिनद्मि ॥ एवं मन्त्रप्रभावेन छिन्नसर्वाङ्गस्त्वं यमस्य अन्तकस्य सदनम् गृहम् अयाः याहि गच्छ । ❀ यातेश्छान्दसे लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेर्लुक ❀ । गमनप्रकारम् आह । अग्निदूतः अग्निर्दूतः अनुचरो यस्य स तथोक्तः दाहार्थे तस्यैव आनीयमानत्वात् । ❀ बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । अरंकृतः अलंकृतः शवालंकारेण बिभूषितः । ❀ “वालमूललघ्वलमङ्गुलीनाम्०” इति रत्वविकल्पः । “भूषणेलम्” इति [गति] संज्ञायां “गतिरनन्तरः” इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

मैं तेरे नेत्र आदि सात प्राणोंको † और कण्ठकी आठ प्रधान नाड़ियोंको तथा तेरे अन्य प्रसिद्ध अंगोंको मन्त्रसे वा मन्त्रसे सिद्ध होने वाले अभिचार कर्मसे काटता हूँ । इस प्रकार तू मन्त्रके प्रभावसे सम्पूर्ण अंगोंके छिन्न भिन्न होजाने पर अग्निको दूत बनाकर (क्योंकि–तुझे जलानेके लिये वही लाये जाते हैं) तथा शवरूपी अलंकारसे भूषित होकर यमराजके घरको चला जा ७

---

† यहाँ छिद्रोंकी अपेक्षा रख कर सात संख्या कही है । तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । ३ । ३ में कहा है, कि–“सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः–सात शिरके प्राण हैं” ॥

अष्टमी ॥

आ द॑धामि ते प॒दं समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि ।
अ॒ग्निः शरी॑रं वे॒वेष्ट्वसुं वाग॑पिं गच्छतु ॥ ८ ॥

आ । द॒धा॒मि॒ । ते॒ । प॒दम् । सम्ऽइ॑द्धे । जा॒तऽवे॑दसि ।
अ॒ग्निः । शरी॑रम् । वे॒वे॒ष्टु । असुम् । वाक् । अ॑पि । ग॒च्छ॒तु॒ ॥ ८ ॥

समिद्धे सम्यग्दीप्ते ज्वलिते जातवेदसि अग्नौ । जातानि जनिष्यन्ति भूतानि वेत्ति तैर्विद्यते ज्ञायते इति वा जातेषु सर्वेषु भूतेषु वैश्वानररूपेण विद्यते सत्तां लभत इति वा जातवेदाः । ❀ यद्व उक्तं यास्केन । जातवेदाः कस्मात् । जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जातेजाते विद्यत इति वा" [नि० ७. १६] इत्यादि ❀ । तस्मिन्नग्नौ हे शत्रो ते तव पदम् छिन्नपर्णसहितं पदपांसुम् आ दधामि प्रक्षिपामि । भ्राष्ट्रेऽग्निसंतप्ते भर्जयामीत्यर्थः ॥ अग्निः शरीरं त्वदीयं वेवेष्टु पदपांसुद्वारा पादं प्रविश्य कृत्स्नम् अङ्गं व्याप्नोतु । दहतु इत्यर्थः । ❀ विष्लृ व्याप्तौ । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । "निजां त्रयाणां गुणः श्लौ" इत्यभ्यासस्य गुणः ॥ वागपि वागिन्द्रियं च असुम् प्राणं गच्छतु प्राप्नोतु । उपलक्षणम् एतत् । सर्वेन्द्रियव्यवहारशून्यो भवतु इत्यर्थः ॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे शत्रो ! भली प्रकार प्रज्वलित अग्निमें ‡ मैं तेरे छिन्न-

---

‡ निरुक्तमें यास्कमुनिने कहा है, कि—"जातवेदाः कस्मात्—अग्नि जातवेदा क्यों कहलाते हैं" "जातानि वेद वैनं विदुर्जाते जाते विद्यते वा—जो उत्पन्न हुओंको जानता है, उत्पन्न हुए जिसको जानते है और प्रत्येक जात हुए (उत्पन्न हुए) में रहता है वही अग्नि जातवेदा कहलाता है ॥

पर्णसहित पैरकी धूलको डालता हूँ अर्थात् अग्निसे तपे हुए भाड़ में भूनता हूँ, यह अग्नि तेरे शरीरमें पैरकी धूलके द्वारा घुस-जावे और तेरी वाणी तथा प्राणमें भी व्याप्त होजाय, अर्थात् तू सकल इन्द्रियोंके व्यापारसे शून्य हो जाय ॥ ८ ॥

द्वितीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (४७)

“आयुर्दाः” इति सूक्तं गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि शान्त्युदके अनुयोजयेत् । तत्रैव कर्मणि अनेनैव सूक्तेन आज्यं हुत्वा ब्रह्मचारिणो मूर्ध्नि संपातान् आनयेत् । “आयुर्दा इति गोदानं कारयिष्यन्” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तम् अनुयोजयति” इति [कौ० ७. ४] “आयुर्दा इत्येतेन सूक्तेन आज्यं जुह्वन् मूर्ध्नि संपातान् आनयति” इति च [कौ० ७. ४] ॥

तत्रैव कर्मणि “परि धत्त” [२, ३] इति द्वाभ्यां नवं वासः प्रयच्छेत् ॥

“एह्यश्मानम्” [४] इत्यनया दक्षिणेन पादेनाश्मानं आस्थापयेत् ॥

“यस्य ते वासः” [५] इत्यनया पूर्वपरिहितं वासः कर्ता गृह्णीयात् ॥

“अथैनम् अहतेन वसनेन परिधापयति परिधत्तेति द्वाभ्याम् एह्यश्मानम्” इत्यादि [कौ० ७. ५] सूत्रम् अत्र द्रष्टव्यम् ॥

तथा “परि धत्त” [२, ३] इति द्वृचेन पुरोहितः प्रातःप्रातर्वस्त्रम् अभिमन्त्र्य राज्ञे दद्यात् । उक्तं परिशिष्टे । “अथ पुरोहितकर्माणि” इति प्रक्रम्य “परि धत्तेति [द्वाभ्यां] राज्ञो वस्त्रम् अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत्” इति [अ० प० ४. १] ॥

तथा आरात्रिकविधाने चतस्रः शर्कराः प्रतिदिशं क्षिप्त्वा पञ्चमीम् “एह्यश्मानम्” [४] इत्यनया राजानम् आस्थापयेत् । उक्तं परिशिष्टे । “एह्यश्मानम् आतिष्ठेति पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत्” इति [अ० प० ४. ४] ॥

“आयुर्दा” इस सूक्तको गोदान नाम वाले संस्कारकर्मके शान्त्युदकमें अनुयोजन करे । और तहाँ ही कर्मके समय इसी

सूक्तसे घृतकी आहुति देकर ब्रह्मचारीके शिर पर सम्पातोंको लावे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है। यथा–"आयुर्दा इति गोदानं कारिष्यन्" इति प्रक्रम्य सूत्रितम्। "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत् सूक्तं अनुयोजयति" इति [कौशिकसूत्र ७।४] आयुर्दा इत्येतेन सूक्तेन आज्यं जुह्वन् मूर्ध्नि सम्पातान् आनयति" (कौशिकसूत्र ७।४)॥

उसी कर्ममें "परिधत्त" और "परीदं" इन दूसरी और तीसरी ऋचाओंसे नवीन वस्त्र देय॥

"एह्यश्मानम्" इस चौथी ऋचासे दाहिने पैरके द्वारा पत्थर पर चढ़ावे॥

"यस्य ते वाचः" इस पाँचवीं ऋचासे पहिले रखे हुए वस्त्र को कर्ता ग्रहण करें।

इस विषयमें कौशिकसूत्र ७।५ देखना चाहिये, कि–"अथैनं अहतेन वसनेन परिधापयति परिधत्तेति द्वाभ्याम् एह्यश्मानम्" इत्यादि॥

तथा इस सूक्तकी "परिधत्त" और "परीदम्" इन दूसरी तीसरी ऋचाओंसे पुरोहित प्रतिदिन प्रातः कालमें वस्त्रको अभिमन्त्रित करके राजाको देवे। इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें भी कहा है, कि–"अथ पुरोहितकर्माणि" इति प्रक्रम्य "परि धत्तेति (द्वाभ्यां) राज्ञो वस्त्रं अभिमन्त्र्य प्रयच्छेत्" (अथर्वपरिशिष्ट ४।१)॥

तथा आरती करते समय रेतेके चार कणोंको प्रत्येक दिशामें फैंक कर पाँचवें कणको "एह्यश्मानम्" इस चौथी ऋचासे राजा पर स्थापित करे। इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि–"एह्यश्मानम् आतिष्ठेति पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत्" (अथर्वपरिशिष्ट४।४)॥

तत्र प्रथमा ॥

आ॒यु॒र्दा अ॑ग्ने ज॒रसं॑ वृणा॒नो घृ॒तप्र॑तीको घृ॒तपृ॑ष्ठो अग्ने
घृ॒तं पी॒त्वा मधु॒ चारु॒ गव्यं॑ पि॒तेव॑ पु॒त्रान॒भि र॑क्षतादि॒मम्

आ॒यु॒ःऽदाः । अ॒ग्ने॒ । ज॒रस॑म् । वृ॒णा॒नः । घृ॒तऽप्र॑तीकः । घृ॒तऽपृ॑ष्ठः । अ॒ग्ने॒ । घृ॒तम् । पी॒त्वा । मधु॑ । चारु॑ । गव्य॑म् । पि॒ताऽइ॑व । पु॒त्रान् । अ॒भि । र॒क्ष॒ता॒त् । इ॒मम् ॥ १ ॥

हे अग्ने आयुर्दाः आयुषो दाता । माणवकस्य भवेति शेषः । कियत्पर्यन्तं तद् आयुरिति तत्राह । जरसम् जरां वृणानः संभजमानः । जरापर्यन्तं शतसंवत्सरपरिमितं दीर्घम् आयुः प्रयच्छेत्यर्थः ॥ हे अग्ने त्वं घृतप्रतीकः घृताहुतिभिः उद्भूतज्वालारूपावयवः घृतपृष्ठः घृतमेव पृष्ठं पृष्ठवंशवत् सर्वावयवाधारभूतं गात्रं यस्य स तथोक्तः । घृतोपादानकशरीर इत्यर्थः ॥ यत एवम् अतो हेतोः मधु मधुरं चारु निर्मलं मन्त्रसिद्धं गव्यम् गवि भवम् । ❀ "सर्वत्र गोरजादिप्रत्ययप्रसंगे यद् वक्तव्यः" इति यत् । "यतोऽनावः" इत्याद्युदात्तत्वम् ❀ । एवंगुणविशिष्टं घृतम् अस्माभिर्हुतं पीत्वा यथेच्छं स्वीकृत्य तुष्टः सन् पिता जनकः पुत्रान् आत्मीयानिव इमम् माणवकम् अभि रक्षतात् अभिरक्ष । पिता यथा सापराधानपि पुत्रान् पालयति एवं त्वम् एनं पाहीत्यर्थः । ❀ रक्ष पालने । लोण्मध्यमैकवचने हेस्तातङ् आदेशः ❀ ॥

हे अग्ने ! तुम (बालकको) बुढ़ापे तककी सौ वर्षकी आयुको देने वाले हो अर्थात् इसको बुढ़ापे तककी आयु दीजिये । हे अग्ने ! आप घृतप्रतीक हैं अर्थात् घृतकी आहुतियोंसे ज्वालारूप अवयवके प्रतीक वाले हैं और घृत ही आपका पृष्ठवंशकी समान सब अवयवोंका आधारभूत है । इस कारण आप मधुर निर्मल

मन्त्रसिद्ध गोघृतको हमारे होमने पर पीकर तुष्ट हूजिये और पिता जैसे अपराधी पुत्रकी भी रक्षा करता है इसी प्रकार इस बालककी आप रक्षा करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒रामृ॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायु॑ः ।
बृह॒स्पति॒ः प्राय॑च्छ॒द् वास॑ ए॒तत् सोमा॑य॒ रा॒ज्ञे परि॑-
धात॒वा उ॑ ॥ २ ॥

परि । ध॒त्त॒ । ध॒त्त॑ । न॒ । वर्च॑सा । इ॒मम् । ज॒राऽमृत्युम् । कृ॒णु॒त॒ ।
दी॒र्घम् । आयु॑ः ।
बृहस्प॑तिः । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । वास॑ः । ए॒तत् । सोमा॑य । राज्ञे॑ ।
परि॑ऽधात॒वै । ऊ॒ं इति॑ ॥ २ ॥

वाससः सर्वदेवत्यत्वात् तदभिमानिदेवानामेव संबोध्यत्वम् । तथात्वं च वाससः तैत्तिरीयके समाम्नायते । "अग्नेस्तूषाधानम्" इति प्रक्रम्य "तद् वा एतत् सर्वदेवत्यं यद् वासः" [तै० सं० ६. १. १. ३] इति। हे देवाः परि धत्त। ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । इमम् माणवकं वासः परिधापयत । नः अस्मदीयम् इमं वर्चसा तेजसा धत्त पोषयत । तेजस्विनं कुरुतेत्यर्थः ॥ किं च । इममेव माणवकं जरामृत्युम् । जरयैव मृत्युर्मृतिर्यस्य स तथोक्तः । तथाविधं [कृणुत] कुरुत । अकालमृतिर्मा भूद् इत्यर्थः । एतदेव आह दीर्घम् इति । अस्य माणवकस्य दीर्घं शतपरिमितम् आयुरस्तु ॥ तदेव वासः प्रशंसति। बृहस्पतिः बृहताम् इन्द्रादीनां पतिः एतन्नामा देवः । ❀ "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति सुट्तलोपौ । "पत्या-

वैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एतन्नामा देवः एतत् प्रकृतं वासः सोमाय राज्ञे ब्राह्मणानां स्वामिने । "सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा" [तै० सं० १. ८. १०. २] इति श्रुतेः । परिधातवै परिधातुम् । ❀ "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवैप्रत्ययः । "तवै चान्तश्च युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । प्रायच्छत् अददात् । ❀ [दाण्] दाने इत्यस्मात् लङि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः । उ इति पदपूरणः ❀ । अनेन वस्त्राणां सोमदेवताकत्वं सूचितम् । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "सौम्यं वै वासः । स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति" [तै० ब्रा० २. २. ५. २] इति ॥

हे देवताओं ! +इस बालकको आप वस्त्र पहिराइये, हमारे इस बालकको आप तेजसे पोषण करिये अर्थात् इसको तेजस्वी बनाइये और इस बालकको जरामृत्यु करिये (बुढ़ापे तककी आयु भोग कर मरनेवाला, अकालमृत्युसे न मरनेवाला करिये) इस बालककी आयु (सौ वर्ष तककी) बड़ी करिये, बड़े २ इन्द्र आदि देवताओंके स्वामी बृहस्पति नामक देवताओंने ब्राह्मणोंके स्वामी † सोमको पहिरनेके लिये वस्त्र दिया था ‡ ॥ २ ॥

+वस्त्र सब देवताओंके लिये होता है, अतः तदभिमानी देवताओंका संबोध्यत्व है इस बातको तैत्तिरीयसंहिता ६ । १ । १ । ३ में कहा है, कि–"तद् वा एतत् सर्वदेवत्यं वासः–यह जो वस्त्र है यह सर्वदेवत्य है" ॥

† "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा–सोम हम ब्राह्मणोंके राजा हैं" (तैत्तिरीयसंहिता १ । ८ । १० । २) ॥

‡ इससे वस्त्रोंका सोमदेवताकत्व सूचित होता है । इसी बातको तैत्तिरीयब्राह्मण २ । २ । ५ । २ में कहा है, कि–सौम्यं वै वासः । स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति" ॥

तृतीया ॥

प॒रीदं वासो॑ अधिथाः स्व॒स्तयेभू॑र्गृ॒ष्टीना॑मभिशस्ति॒पा उ॑
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पुरू॒ची रा॒य॒श्च पोष॑मुप॒संव्य॑यस्व २

परि॑ । इ॒दम् । वासः॑ । अ॒धि॒था॒ः । स्व॒स्तये॑ । अभूः॑ । गृ॒ष्टी॒नाम् ।
अ॒भि॒श॒स्ति॒ऽपाः । ऊ॒ं इति ।

श॒तम् । च॒ । जीव॑ । श॒रदः॑ । पुरू॒चीः । रा॒यः । च॒ । पोषम् ।
उ॒पऽसंव्य॑यस्व ॥ ३ ॥

हे माणवक इदम् उक्तं वासः वस्त्रं स्वस्तये क्षेमाय पर्यधिथाः परिहितवानसि । ❀[परि]पूर्वाद् धाञो लुङि "स्थाघ्वोरिच्च" इति इत्वकित्त्वे । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिज्लोपः ❀ ॥ तेन परिधानेन गृष्टीनाम् गवाम् अभिशस्तिपाः । अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा । तन्निमित्ताद् भयात् पालकोभूः । पुरा खलु देवा मनुष्याणां दृढतरां त्वचं छित्त्वा क्षीरप्रदानक्षेत्रकर्षणभारोद्वहनादिबहुविधोपकारकारिषु गोषु न्यदधुः । ते च तया त्वचा संवीतगात्राः शीतवातातपादिसहनशीला बभूवुः । अत एव कारणाद् नग्नं पुरुषं दृष्ट्वा स्वकीयां त्वचम् अस्मासु स्थिताम् असौ ग्रहीतुम् आगच्छतीति बिभ्यति । तस्माद् गोसमीपं विवसनो न गच्छेद् इति । तथा च शतपथब्राह्मणे तृतीयकाण्डे दीक्षाप्रकरणे समाम्नायते । "अथ वासः परिधत्ते । सर्वत्वायैव स्वामेवास्मिन्नेतत् त्वचं दधाति । या ह वा इयं गोस्त्वक् पुरुषे हैषाग्र आस । ते देवा अब्रुवन् । गौर्वा इदं सर्वं बिभर्ति । हन्त येयं पुरुषे त्वक् गव्येतां दधाम । तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यत इति । तेवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचम् अदधुः । तयैषा वर्षन्तं तया हिमं तया घृणिं तिति-

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust Foundation

न्ते अवच्छितो ह वै पुरुषः। तस्माद् अस्य यत्रैव क्व च कुशो वान्यद् वा विकृन्तति तत एव लोहितम् उत्पद्यते तद् एतां ह्यस्मिंस्त्वचम् अदधुर्वास एव। तस्मान्नान्यः पुरुषाद् वासो बिभर्ति। तस्मादु सुवासा एव बुभूषेत्। नो हान्ते गोर्नग्नः स्यात्। वेद हि गौरहम् अस्य त्वचं बिभर्मीति। सा बिभ्यती त्रसति त्वचं म आदास्यते" इति [श० ब्रा० ३. १. २. १३]। एषैव त्वगादानभीतिः अत्र अभिशस्तिशब्देन विवक्षिता। तस्या अभिशस्तेर्वासःपरिधानेन [ता] निवर्तयेत्यभिप्रायः॥ किं च पुरूचीः बहुकालम् अञ्चन्तीः बहुविधान् पुत्रपौत्रादीन् वा व्याप्नुवतीः। ❀ पुरुपूर्वाद् अञ्चतेः "ऋत्विग्०" इत्यादिना क्विन्। "अनिदिताम्०" इति नलोपः। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "अचः" इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घः ❀। शतम् शतसंख्याकाः शरदः संवत्सरान् जीव॥ अपि च रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिम् उपसंव्ययस्व परिधत्स्व। एतद्वासःपरिधानेन धनादिसमृद्धिर्भवतीति भावः॥

हे बालक! तूने इस वस्त्रको क्षेमके लिये पहिरा है। इस वस्त्रपरिधानके कारण तू गौओंको हिंसनके भयसे बचा कर पालन करने वाला बन † और बहुत समय तक अनेक प्रकारके पुत्र

---

† पहिले देवताओंने मनुष्योंकी परम दृढ़ खालको छीलकर—दुग्धदान, खेत जोतना और भार उठाना आदि अनेक प्रकारका उपकार करने वाली गौओंको वह खाल देदी थी, वे गौएँ उस त्वचा (खाल) से शरीर ढकने पर सरदी गरमी और हवा आदिको स्वभावतः अनायास ही सहने वाली होगई हैं। इसी कारण गौएँ नग्न पुरुषको देख कर डरने लगती है, कि—यह हममें स्थित अपनी खालको लेनेके लिये आरहा है। अत एव गौके समीप नंगे होकर न जाना चाहिये। शतपथब्राह्मणके तृतीय-

पौत्र आदिसे व्याप्त होकर सौ वर्षतक जीवित रह और समृद्ध धन को धारण कर। तात्पर्य यह है कि—इस वस्त्रको धारण करनेकी सामर्थ्यसे धन आदिकी वृद्धि होती है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

एह्यश्मा॑न॒मा ति॒ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः ।
कृ॒ण्व॒न्तु विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ४ ॥

आ । इ॒हि॒ । अश्मा॑नम् । आ । ति॒ष्ठ॒ । अश्मा॑ । भ॒व॒तु॒ । ते॒ त॒नूः।
कृ॒ण्वन्तु॑ । विश्वे॑। दे॒वाः । आयुः॑।ते॒। श॒रदः॑। श॒तम्॥ ४ ॥

हे माणवक एहि आगच्छ ॥ अश्मानम् आ तिष्ठ दक्षिणेन

काण्डके दीक्षाप्रकरणमें इस आख्यायिकाका वर्णन है, कि—"तदनन्तर वस्त्रको धारण करता है। इसको सर्वत्र अपनी त्वचा रूपसे धारण करता है। यह जो गौकी त्वचा है यह पहिले पुरुषमें ही थी। देवताओंने कहा, कि—गौ ही इस सब संसारका पालन करती है, अतः पुरुषमें जो त्वचा है इसको हम गौमें स्थापित कर दें, तो उस त्वचासे यह वर्षाको पालेको और गरमीको सहसकेगी तदनन्तर उन्होंने पुरुषको छीलकर गौमें यह त्वचा स्थापित करदी। अत एव कोई व्यक्ति पुरुषके कुशा वा अन्य कोई वस्तु चुभोता तो उसके रक्त निकलने लगता है। तब देवताओंने मनुष्यमें वस्त्र-रूपी त्वचा रक्खी। इसी कारण पुरुषके अतिरिक्त और कोई प्राणी वस्त्र धारण नहीं करता है। अत एव सुवस्त्रसे ही भूषित रहे और गौके समीप नंगा न रहे। क्योंकि—गौं जानती है, कि—मैं इसकी त्वचाको धारण कर रही हूँ अतः वह डरती है—त्रस्त होती है कि—यह मेरी त्वचाको उतार लेगा" (शतपथ-ब्राह्मण ३।१।२।१३)॥

पादेन आक्रम ॥ ते तव तनूः शरीरम् अश्मा भवतु । अश्मवद्द रोगादिविनिर्मुक्तं दृढं भवतु ॥ विश्वे देवाश्च ते तव शतसंवत्सर-परिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु । ❀ "युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तपादम्" इति सकारस्य षत्वम् ❀ ॥

हे बालक ! आ और दाहिने पैरसे इस पत्थर पर चढ़ तेरा शरीर पत्थरकी समान रोगरहित और दृढ़ रहे और विश्वेदेवा भी तेरी सौवर्षकी आयु करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं१ हरामस्तं त्वा विश्वेवन्तु देवाः ।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

यस्य । ते । वासः । प्रथमऽवास्यम् । हरामः । तम् । त्वा । विश्वे । अवन्तु देवाः ।
तम् । त्वा । भ्रातरः । सुऽवृधा । वर्धमानम् । अनु । जायन्ताम् । बहवः । सुऽजातम् ॥ ५ ॥

हे माणवक यस्य परिहितवस्त्रस्य ते तव प्रथमवास्यम् पूर्वं परिहितं वासः वस्त्रं हरामः स्वीकुर्मः । ❀ वस आच्छादने इत्यस्मात् "ऋहलोर्ण्यत्" इति कर्मणि ण्यत् । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् ❀ । तम् तादृशं त्वा त्वां विश्वे सर्वे देवा अवन्तु रक्षन्तु ॥ तम् उक्तरूपं सुवृधा शोभनया वृद्ध्या वर्धमानम् पशुपुत्रधनादिभिरुपचीयमानं सुजातम् । संस्कारविशेषेण शोभनजन्मयुक्तं [त्वा] त्वाम् अनु बहवो भ्रातरो जायन्ताम् उत्पद्यन्ताम् ॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे माणवक ! तुझ वस्त्रधारीके पूर्वपरिहित वस्त्रको हम स्वीकृत करते हैं, सब देवता तेरी रक्षा करें, समृद्धिसे शोभायमान, वृद्धि पाते हुए पशु पुत्र धन आदिसे बढ़ते हुए, संस्कार के कारण शोभन जन्म वाले तेरे पीछे बहुतसे भाई उत्पन्न हों ५

द्वितीय काण्डके तृतीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (४८) ॥

“निः सालाम्” इति सूक्तेन मृतापत्यायाः स्त्रिया अपत्यनाशपरिहाराय त्रिषु मण्डपेषु एकैकस्मिन्नुदपात्रे सीसेषु च संपातानयनम् सीसोपरि स्थितायास्तस्याः संपातितोदकेन आप्लावनं च कृत्वा स्वगृहम् आनीय शान्त्युदकेन अभिषिच्य तस्यै पुरोडाशकन्दुकालङ्कारान् अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

अथ वा एकस्मिन्नेव मण्डपे अनेन सूक्तेन औदुम्बरीः समिधस्तया आधाप्य पूर्ववत् शान्त्युदकाभिषेकादिकं कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । “निःसालाम् इत्यवतोकायै कृष्णवसनायै त्रिषु शिमितेषु” इत्यादि “औदुम्बरीराधापयत्युक्तम् आव्रजितायै” इत्यन्तम् [कौ० ४. १०] ॥

यस्य गृहे गवादिर्वन्ध्या भवति तद् गृहं दैवहतं भवति तद्दोषनिवृत्तये तयैव वशया यागः कार्यः । तत्र अनेन सूक्तेन तस्याः पर्यग्निकरणं कुर्यात् । “य आत्मदा इति वशाशमनम्” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “निःसालाम् इत्युल्मुकेन त्रिः प्रसव्यं परिहरति” इति [कौ० ५. ८] ॥

आवसथ्याधाने क्रव्यादाग्निर्हरणानन्तरं शालाप्रोक्षणेपि एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । “एकाग्निम् आधास्यन्” [कौ० ९. १] इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । “निःसालाम् [२. १४] इति शालानिवेशनं प्रोक्षति ऊर्जं बिभ्रत् [७. ६२] इति प्रपादयति” इति [कौ० ९.४]॥

एतत् सूक्तं चातनगणेपि पठितम् । अतः “चातनानाम् अपनोदनेन व्याख्यातम्” [कौ० ४. १] । “चातनो मातृनामा च”

[न० क० २३] “चातनैर्मातृनामभिः” [शा० क० १५]
इत्यादिप्रदेशेष्वपि एतत् सूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

“निःसालाम्” सूक्तसे मृतवत्सा स्त्रीके सन्ताननाशको दूर करनेके लिये तीन मण्डपोंके प्रत्येक उदपात्र (जलपूर्ण पात्र) पर और नदीफेन आदिरूप सीस पर भी सम्पात करे और सीसके ऊपर स्थित मृतापत्या स्त्रीको संपातित जलसे स्नान करावे फिर अपने घर लाकर शान्त्युदकसे अभिषेक करके उस को पुरोडाश कन्दुक (गेंद) और अलंकार अभिमन्त्रण करके देय ॥

अथवा एक ही मण्डपमें इस सूक्तसे गूलड़की समिधाओंको स्त्रीसे रखवा कर पूर्ववत् शान्त्युदकाभिषेक आदि करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि–“निः सालाम् इत्यवतोकायै कृष्णवसनायै त्रिषु विमितेषु–निःसालाम् सूक्तको कृष्णवस्त्रधारिणी सन्तानरहित स्त्रीके लिये तीनों मण्डपोंमें” यहाँसे “औदुम्बरीराधाययत्युक्तं आव्रजितायै–गूलड़की समिधाओंको रखवाता है” तकका ४ । १० वाँ सूत्र देखना चाहिये ॥

जिसके घरमें गौ आदि वंध्या होती है, वह घर दैवहत होता है, उस दोषकी निवृत्तिके लिये उसी वशासे याग करना चाहिये । उस यागमें इस सूक्तसे उसका पर्यग्निकरण करे ॥ कौशिकसूत्र ५ । ८ में कहा है, कि–“य आत्मदा इति वशाशमनम्” का आरंभ करके कहा है, कि–“निः सालाम् इत्युल्मुकेन त्रिः प्रसव्यं परिहरति” ॥

आवसथ्याधानमें क्रव्यादाग्निनिर्हरणके अनन्तर शालाप्रोक्षणमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्र ६ । १, ६ । ४ में कहा है, कि– ‘एकाग्निम् आधास्यन्” इति प्रक्रम्य सूत्रितम् “निः सालां (२ । १४) इति शालानिवेशने प्रोक्षति उर्जम् बिभ्रत् (७ । ६२) इति प्रपादयति” ॥

इस सूक्तका चातनगणमें भी पाठ है अत एव "चातनानां अपनोदनेन व्याख्यातम्—चातनोंके कहनेसे व्याख्या होगई" (कौशिकसूत्र ४ । १), तथा "चातनो मातृनामा च—चातनगणका और मातृनामगणका प्रयोग करना चाहिये" (नक्षत्रकल्प २३), तथा "चातनैर्मातृनामभिः—चातन और मातृनामकगणसे अमुक कार्य करै" (शान्तिकल्प १५) ॥ इत्यादि अवसरों पर भी इस सूक्तको करना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

नि॒ःसा॒लां धृ॒ष्णुं धि॒षण॑मेकवा॒द्यां जि॑घ॒त्स्व॑म् ।
स॒र्वा॑श्च॒ण्ड॑स्य न॒प्त्यो॑ ना॒शया॑मः स॒दान्वा॑ः ॥ १ ॥

नि॒ःऽसा॒लाम् । धृ॒ष्णुम् । धि॒षण॑म् । ए॒क॒ऽवा॒द्याम् । जि॒घ॒त्ऽस्व॑म् ।
सर्वा॑ः । च॒ण्ड॑स्य । न॒प्त्य॑ः । ना॒शया॑मः । स॒दान्वा॑ः ॥ १ ॥

निःसालाम् । ❀ षल गतौ ❀ । निःसालयति निर्गमयति अपसारयतीति निःसाला एतन्नामधेया पिशाची । यद्वा सालो वृक्षविशेषः । ततो निर्गता निःसाला । ततोपि उन्नतगात्रीत्यर्थः । तां धृष्णुम् धर्षणशीलां भयस्य जनयित्रीम् एतन्नामिकां पिशाचीम् । ❀ "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" ❀ । धिषणम् । धृष्णोति अभिभवतीति धिषणः । ❀ धृषेर्धिष च संज्ञायाम् इति [उ० २. ८२] क्युः ❀ । एतन्नामानं पापग्रहम् । एकवाद्याम् एकम् एकप्रकारं परुषरूपं वाद्यं वचनं यस्याः सा तथोक्ता । यद्वा एकवारमेव वाद्यं वचनं यस्याः सा । सकृद्भाषिणीत्यर्थः । ताम् एतन्नामिकां जिघत्स्वम् जिघत्सुं भक्षणेच्छुम् । सर्वदा भक्षणशीलाम् इत्यर्थः । ❀ अदेः सनि घस्लादेशे "सस्यार्धधातुके" इति तत्वम् । "सनाशंसभिक्ष उः" इति उप्रत्ययः । "वा छन्दसि" इति अमि-

पूर्वत्वस्य विकल्पनाद् यण् आदेशः ❀ । तां च । नाशयाम इति सर्वत्र संबन्धः ॥ तथा चण्डस्य क्रुद्धस्य एतन्नामकस्य पापग्रहस्य नप्त्यः नप्त्रीः अपत्यभूताः सर्वाः निखिलाः सदान्वाः सदा नोनूयमानाः आक्रोशकारिणीः पिशाचीश्च नाशयामः । उक्तं यास्केन । ❀ सदान्वे । सदानोनुवे शब्दकारिके [नि० ६. ३०] इति । नौतेः शब्दकर्मणो यङ्लुगन्तात् पचाद्यचि "द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्" इति वचनाद् द्विर्वचनाभावः । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति गुणप्रतिषेधे छान्दसो यण् आदेशः ❀॥

सन्तानको निकालने वाली और सालके वृत्तसे भी ऊँचे शरीर वाली धर्षण करनेवाली और भयकी उत्पादिका निःसाला नामकी राक्षसीको अभिभव करने वाले धिषण नाम वाले पापग्रहको, एकमात्र कठोर वाक्यका ही उच्चारण करने वाली एकवाद्या नामकी राक्षसीको और भक्षण करनेके स्वभाव वाली राक्षसीको हम नष्ट करते हैं और चण्डनामक पापग्रहकी सन्तान सदा दुःख देने वाली पिशाचनियोंको भी हम नष्ट करते हैं ॥१॥

द्वितीया ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

निः । वः । गोऽस्थात् । अजामसि । निः । अक्षात् । निः । उपऽआनसात् ।
निः । वः । मगुन्द्याः । दुहितरः । गृहेभ्यः । चातयामहे ॥ २ ॥

हे मगुन्द्या दुहितरः मगुन्दी नाम काचन पिशाची तस्याः पुत्र्यः वः युष्मान् गोष्ठात् । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठं गोशाला । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति कः । "अम्बाम्बगोभूमि०" इत्यादिना षत्वम् ❀ । तस्माद् गोष्ठात् निरजामसि निरजामः निःसा-

रयामः । ❀ अज गतिक्षेपणयोः । "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ तथा अक्षात् अक्षक्रीडास्थानाद् द्यूतशालायाः सकाशाद् निरजामः ॥ एवम् उपानसात् । अनसः समीपम् उपानसं धान्यगृहम् । तस्माद् निरजामः । ❀ "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति शरत्प्रभृतिषु अनःशब्दस्य पाठात् टच् समासान्तः ❀ । यद्वा उपगतं च तद् अनश्च उपानसं धान्यपूर्णं शकटम् । ❀ "अनोश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः" इति तत्पुरुषे टच् समासान्तः ❀ ॥ तथा गृहेभ्यः आवासमन्दिरेभ्यो वः युष्मान् निश्चातयामहे निःसार्य निःशेषेण वा विनाशयामः । ❀ चातयतिर्नाशने इति यास्कः [नि० ६. ३०] ❀ ॥

हे मगुन्दी नाम वाली पिशाचीकी पुत्रियों ! हम तुमको जिसमें गौएँ रहती हैं ऐसे गोष्ठसे निकालते हैं, द्यूतशालासे भी तुमको निकालते हैं, धान्यपूर्ण भवन और गाड़ीसे भी तुमको निकालते हैं और निवासमन्दिरोंमेंसे भी तुमको निकाल कर हम तुम्हें पूर्णरीतिसे नष्ट करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒सौ यो अ॑ध॒राद् गृ॒हस्तत्र॑ सन्त्वरा॒य्यः॑ ।
तत्र॑ से॒दिर्न्यु॑च्यतु॒ सर्वा॑श्च यातु॒धा॒न्यः॑ ॥ ३ ॥

अ॒सौ । यः॒ । अ॒ध॒रात् । गृ॒हः । तत्र॑ । स॒न्तु॒ । अ॒रा॒य्यः॑ ।
तत्र॑ । से॒दिः । नि । उ॒च्य॒तु॒ । सर्वाः॑ । च॒ । या॒तु॒ऽधा॒न्यः॑ ॥ ३ ॥

असौ विप्रकृष्टो यः प्रसिद्धः अधरात् अधरः अस्माल्लोकाद् अधरभूतः अधस्तादेशे वा वर्तमानो गृहः गृहवन्निवासभूतः पातालोकोऽस्ति । ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति आतिप्रत्ययः ❀ । तत्र लोके अराय्यः अदायिन्यः दानोपलक्षितनिखि-

लश्रेयोविघ्नकारिण्यः एतत्संज्ञका पिशाच्यः सन्तु । इमं लोकं विसृज्य अत्यन्तविप्रकृष्टं पातालं गच्छन्तु इत्यर्थः । ❀ रा दाने इत्यस्मात् नञ्युपपदे "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इति णिनिः । छान्दसोन्त्यलोपः ❀ । यद्वा रायते दीयत इति रायो धनम् । ❀ कर्मणि घञ् ❀ । न रायः अरायः अधनम् आसाम् अस्तीत्यराय्यः अलक्ष्म्यः । ❀ "छन्दसीवनिपौ०" इति मत्वर्थीय ईकारः ❀ । "अरायि काणे विकटे गिरि गच्छ सदान्वे" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऋ० १०. १५५. १] ॥ सादयति नाशयतीति सेदिर्निर्ऋतिः । "जहामि सेदिम् अनिराम् अमीवाम्" [तै० सं० ४. २. ७. २] इति श्रुत्यन्तरात् । ❀ "उत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्" इति सदेः किप्रत्ययः । तस्य लिङ्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपौ ❀ । सापि तत्र पाताले न्युच्यतु । नीचीना समवैतु । इमं लोकं विहाय पूर्वोक्ताभिः सह निवसतु इत्यर्थः । ❀ उच समवाये दिवादिः ❀ ॥ किं च सर्वाः निखिला यातुधान्यः यातवो यातनाः पीडास्ताः प्राणिभ्यो धीयन्ते क्रियन्त आभिरिति यातुधान्यः उक्ताभ्योन्याः पिशाच्यः । ❀ करणे ल्युट् ❀ । तत्र न्युच्यन्तु इति वचनविपरिणामेन संबन्धः ॥

जो लोक भूलोकसे दूर है और इस लोकसे नीचे हैं वह घरकी समान निवासभूत पाताललोक है, उस लोकमें ये दान आदि सब पुण्य कामोंमें विघ्न डालने वाली अलक्ष्मीरूप † अरायि नाम वाली राक्षसियें जावे अर्थात् वे इस लोकको छोड़ कर बहुत दूरके पाताललोकमें चली जावें और नाश करनेवाली

---

† ऋग्वेदसंहिता १० । १५५ । १ में अलक्ष्मीरूप पिशाचियों का वर्णन करते हुए कहा है, कि–"अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे–हे सदा आक्रोश मचाने वाली अलक्ष्मीरूप कानी विकट पिशाची ! तू पहाड़ पर चली जा" ॥

सेदि ‡ राक्षसी भी पातालमें चली जावे, इस लोकको छोड़कर पहिली राक्षसियोंके साथ ही पाताललोकमें रहे, इस प्रकार सब प्रकारकी पिशाचिनी और राक्षसियें पाताललोकको चली जावें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

भू॒त॒पति॒र्निर॑ज॒त्विन्द्र॑श्चे॒तः स॒दान्वाः॑ ।
गृ॒हस्य॑ बु॒ध्न आसी॑ना॒स्ता इन्द्रो॒ वज्रे॒णाधि॑ तिष्ठतु ॥४॥

भू॒त॒ऽप॑तिः । निः । अ॒ज॒तु॒ । इन्द्रः । च॒ । इ॒तः । स॒दान्वाः ।
गृ॒हस्य॑ । बु॒ध्ने । आसी॑नाः । ताः । इन्द्र॑ः । वज्रे॑ण । अधि॑ । ति॒ष्ठतु॒ ॥४॥

भूतपतिः भूतानां पालको रुद्रः सदान्वाः सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिणीः पिशाचीः इतः अस्माद् मदीयात् स्थानात् निरजतु निःसारयतु ॥ इन्द्रश्च ता निरजतु ॥ गृहस्य मदीयस्य बुध्ने मूले अधःप्रदेशे । ❀ बन्धेर्ब्रधिबुधी च [उ० ३. ५] इति नक् प्रत्ययः ❀ । आसीनास्ताः पिशाचीः इन्द्रः इराया भूमेर्दारको देवः । ❀ इन्द्र इरां दृणातीति वा इरां दारयतीति वा इति हि निरुक्तम् [नि० १०. ८] ❀ । वज्रेण आयुधेन अधि तिष्ठतु । यथा पुनर्नोत्तिष्ठन्ति तथा आक्रम्य तिष्ठतु इत्यर्थः ॥

भूतोंके पालक रुद्र सदा आक्रोश करने वाली पिशाचियोंको मेरे घरसे निकाल दें, इन्द्रदेव भी उनको निकाल दें, मेरे घरकी

---

‡ तैत्तिरीयसंहिता ४ । २ । ७ । २ में कहा है, कि—"जहामि सेदिम् अनिराम् अमीवाम्—सेदि अनिरा और अमीवाको मैं त्यागता हूँ" ॥

सूलमें अर्थात् नीचे बैठी हुई पिशाचियोंको इन्द्र † अर्थात् भूमिके दारक इन्द्रदेव वज्रसे दबावें अर्थात् वह जिस प्रकार फिर न उठ सकें तैसा करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥५॥

यदि । स्थ । क्षेत्रियाणाम् । यदि । वा । पुरुषऽइषिताः ।
यदि । स्थ । दस्युऽभ्यः । जाताः । नश्यत । इतः । सदान्वाः ॥५॥

हे सदान्वाः । पिशाच्य इति शेषः । यूयं क्षेत्रियाणाम् क्षेत्रात् परक्षेत्रात् मातापितृशरीराद् आगतानां कुष्ठापस्मारग्रहण्यादिरोगाणां निदानभूता यदि स्थ भवथ । यदि वा पुरुषेषिताः पुरुषैः शत्रुभिः प्रेषिता भवथ । ❀ इष गतौ इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा । "तीषसहलुभरुषरिषः" इत्यत्र इषु इच्छायाम् इत्यस्यैव ग्रहणात् "यस्य विभाषा" इति तस्यैव निष्ठायाम् इट्प्रतिषेधो न तु इष गतौ इत्यस्य इति निष्ठायाम् इट् भवति । "तृतीया कर्मणि" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । दस्युभ्यः उपक्षयकारिभ्यश्चोरादिभ्यः । ❀ दसु उपक्षये । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् [उ ३. २०] इति युच् प्रत्ययः ❀ । तेभ्यः सकाशात् यदि जाताः प्रादुर्भूता भवथ । एवं बहुविधम् आगता यूयम् इतः अस्मात् स्थानात् निर्गताः सत्यो नश्यत विनष्टा भवत ॥

हे सदा आक्रोश मचानेवाली राक्षसियों ! तुम परक्षेत्र अर्थात् माता पिताके शरीरसे आने वाले कुष्ठ अपस्मार संग्रहणी आदि

---

† निरुक्त १० । ८ में कहा है, कि–इन्द्रं इरां दृणातीति वा दारयतीति वा इति हि निरुक्तम् ॥"

रोगोंकी कारण हो अथवा तुम शत्रुकी प्रेरित हो वा हानि करनेवाले डाँकू चोर आदिके पाससे उत्पन्न हुई हो, इसप्रकार अनेक प्रकार की आई हुई तुम इस स्थानसे निकल कर नष्ट होजाओ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वान् आजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

परि । धामानि । आसाम् । आशुः । गाष्ठाम्ऽइव । असरन् ।
अजैषम् । सर्वान् । आजीन् । वः । नश्यत । इतः । सदान्वाः ॥६॥

आसाम् पिशाचीनां धामानि निवासस्थानानि पर्यसरम् परितः सर्वत आक्रमिषम् । तत्र दृष्टान्तः । आशुः । अश्वनामैतत् । शीघ्रगामी अश्वः ग्लाष्ठामिव । परिधावनेन ग्लानः सन् यत्र तिष्ठति सा ग्लाष्ठा गन्तव्यावधिः आज्यन्तः काष्ठापरपर्यायः । तामिव । ❀ असरम् इति सृ गतौ इत्यस्मात् लुङि “सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च” इति च्लेः अङ् । “ऋदृशोऽङि गुणः” ❀ ॥ हे सदान्वाः वः युष्माकं सर्वान् आजीन् संग्रामान् अजैषम् जितवान् अस्मि ॥ इतः अस्मात् कारणात् भवदीयस्य निखिलस्य वासस्थानस्य अस्माभिराक्रान्तत्वाद् निराश्रयाः सत्यो यूयं नश्यत ॥

[इति] द्वितीये काण्डे तृतीयेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जैसे शीघ्रगामी अश्व अपनी गंतव्य अवधि पर आक्रमण करके खड़ा होजाता है, इसी प्रकार इन पिशाचियोंके निवासस्थानों पर मैं चारों ओरसे आक्रमण कर चुका हूँ हे सदा आक्रोश मचाने वाली पिशाचियों ! मैंने तुम्हारे सकल संग्रामोंको जीत लिया है, मैंने तुम्हारे सब निवासस्थानों पर अधिकार कर लिया है इस कारण तुम निराश्रय होकर नष्ट होजाओ ॥ ६ ॥

द्वितीयकाण्डके तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (४६) ॥

“यथा द्यौः” इति सूक्तेन आयुष्कामः स्थालीपाकम् ओदनं शान्त्युदकेन संप्रोक्ष्य अभिमन्त्र्य प्राश्नीयात् । सूत्रितं हि । “यथा द्यौः [२. १५] मनसे चेतसे धिये [६. ४१] इति महाव्रीहीणां स्थालीपाकं श्रपयित्वा शान्त्युदकेन उपसिच्य अभिमन्त्र्य प्राशयति” इति [कौ० ७. ५] ॥

आयु चाहनेवाला पुरुष “यथाद्यौ” सूक्तसे स्थालीपाकके ओदन को शान्तिजलसे प्रोक्षण और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे । सूत्रमें भी कहा है, कि–“यथा द्यौः (२ । १५) मनसे चेतसे धिये (६ । ४१) इति महाव्रीहीणां स्थालीपाकं श्रपयित्वा शांत्युदकेन उपसिच्य अभिमन्त्र्य प्राशयति–यथा द्यौः इस द्वितीयकांडके १५वें सूक्तसे और मनसे चेतसे धिये इस छठे काण्डके इकतालीसवें सूक्तसे महाव्रीहियोंके स्थालीपाकको बनाकर शांतिजलसे छिड़के फिर अभिमन्त्रण करके प्राशन करावे” (कौशिकसूत्र ७ । ५)

तत्र प्रथमा ॥

यथा॒ द्यौश्च॑ पृथि॒वी च॒ न बि॒भी॑तो न रिष्य॑तः ।
ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ १ ॥

यथा । द्यौः । च॒ । पृ॒थि॒वी । च॒ । न । बि॒भी॒तः । न । रिष्यतः ।
ए॒व । मे॒ । प्रा॒ण॒ । मा । बि॒भे॒ः ॥ १ ॥

द्यौः द्युलोको देवाद्याश्रयभूतः पृथिवी भूलोको मनुष्यादिभिराश्रितः । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तावुभौ लोकौ यथा येन प्रकारेण देवमनुष्यादिभिः सर्वैरुपजीव्यत्वाद् उपजीव्य विघातकस्य कस्य चिदपि असंभवाद् न बिभीतः भयशङ्कां न प्राप्नुतः । ❀ ञिभि भये ❀ । यथा च न रिष्यतः न विनश्यतः । ❀ रिष हिंसायाम् । देवादिकः । “यावद्यथाभ्याम्” इति आख्यातस्य

निघातप्रतिषेधः ❀ । एव एवम् । ❀ "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । मे मदीय हे प्राण त्वं मा बिभेः शत्रुग्रहरोगादिभ्यो भयशङ्कां मरणशंकां च मा कार्षीः । अनेन मन्त्रसामर्थ्येन द्यावापृथिवीवत् चिरकालावस्थानयुक्तो भवेत्यर्थः । ❀ बिभेरिति । माङि लुङिप्राप्ते छान्दसो लङ् ❀ ॥

देवता आदिका आश्रयभूत द्युलोक और मनुष्य आदिका आश्रय भूलोक ये दोनों लोक देवता मनुष्य आदि सबके उपजीव्य होने के कारण कोई उपजीव्यका नाश नहीं कर सकता—इस कारण जैसे किसीसे भय नहीं मानते हैं और नष्ट भी नहीं होते हैं, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी न डर अर्थात् शत्रुग्रह रोग आदिसे भयको शंका और मरणकी शंका न कर । इस मंत्रकी सामर्थ्यसे आकाश और पृथ्वीकी समान चिरकाल तक स्थित रह ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यथाह॑श्च॒ रात्री॑ च॒ न बि॒भीतो॒ न रिष्य॑तः ।
ए॒वा मे॑ प्रा॒ण॒ मा बि॑भेः ॥ २ ॥

यथा॑ । अह॑ः । च । रात्री॑ । च॒ । न । बि॒भी॒तः । न । रिष्य॑तः ।
ए॒व । मे॒ । प्रा॒ण॒ । मा । बि॒भे॒ः ॥ २ ॥

अहश्च रात्री च अहोरात्रौ कल्पान्तस्थायित्वाद् यथा न बिभीतः न रिष्यतः । एवा म इत्यादि पूर्ववत् । एवं सर्वेष्वपि पर्यायेषु योज्यम् । ❀ रात्रीति । "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप् ❀ ॥

दिन और रात्रि जैसे कल्पपर्यन्त रहने वाले होनेसे न किसी से डरते हैं और न नष्ट होते हैं, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी न डर अर्थात् शत्रुग्रह रोग आदिसे भय अथवा मरणकी शङ्का न कर दिन और रात्रिकी समान चिरकाल तक स्थायी रह २

तृतीया ॥

य॒था सूर्य॑श्च च॒न्द्रश्च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः ।
ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ ३ ॥

यथा॑ । सूर्यः॑ । च॒ । च॒न्द्रः । च॒ । न । बि॒भी॒तः । न । रिष्य॑तः ।
ए॒व । मे॒ । प्रा॒ण॒ । मा । बि॒भे॒ः ॥ ३ ॥

स्पष्टोर्थः ॥

जिस प्रकार कल्पान्तस्थायी होनेके कारण सूर्य और चन्द्रमा न किसीसे डरते हैं और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी मत डर, अर्थात् शत्रु ग्रह रोग आदिसे भय अथवा मरण की शंका न कर सूर्य और चन्द्रदेवकी समान चिरकाल तक स्थिर रह ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

य॒था ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः ।
ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ ४ ॥

यथा॑ । ब्रह्म॑ । च॒ । क्ष॒त्रम् । च॒ । न । बि॒भी॒तः । न । रिष्य॑तः ।
ए॒व । मे॒ । प्रा॒ण॒ । मा । बि॒भे॒ः ॥ ४ ॥

ब्रह्म ब्राह्मणजातिः क्षत्रम् क्षत्रियजातिः । जातेर्नित्यत्वाभ्युपगमात् भीत्याद्यभावः ॥

जिस प्रकार ब्राह्मणजाति और क्षत्रियजाति जातिके नित्य होनेसे न किसीसे डरती हैं और न नष्ट होती हैं, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी न डर, अर्थात् शत्रु ग्रह रोग आदिसे भय अथवा मरणकी शंका न कर, ब्राह्मण और क्षत्रिय जातिकी समान चिरकाल तक स्थित रह ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यथा॑ स॒त्यं चानृ॑तं च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः ।
ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ ५ ॥

यथा॑ । स॒त्यम् । च॒ । अनृ॑तम् । च॒ । न । बि॒भी॒तः । न । रिष्य॑तः ।
ए॒व । मे॒ । प्रा॒ण॒ । मा । बि॒भेः ॥ ५ ॥

सत्यम् यथार्थभाषणम् । अनृतम् मिथ्याभाषणम् । लोकव्यवहारस्य प्रवाहनित्यत्वात् सत्यानृतयोरपि भीत्याद्यभावः । तदभिमानिदेवतापेक्षया वा ॥

जिस प्रकार यथार्थभाषणरूप सत्य और मिथ्याभाषणरूप असत्य लोकव्यवहारके प्रवाहके नित्य होनेके कारण न किसीसे डरते हैं और न नष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू भी न डर, शत्रु ग्रह रोग आदिसे भय वा मरणकी शंका न कर ॥५॥

षष्ठी ॥

यथा॑ भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः ।
ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ ६ ॥

यथा॑ । भू॒तम् । च॒ । भव्य॑म् । च॒ । न । बि॒भी॒तः । न । रिष्य॑तः ।
ए॒व । मे॒ । प्रा॒ण॒ । मा । बि॒भेः ॥ ६ ॥

भूतम् सत्तां प्राप्तं वस्तुजातम् । भव्यम् भविष्यन् उत्पत्स्यमानं वस्तुजातम् । पूर्ववद् अनयोरपि प्रवाहनित्यत्वेन भीत्याद्यभावः । ❀ "भव्यगेय०" इत्यादिना भवतेः कर्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातितः ❀ ॥

इति द्वितीये काण्डे तृतीयऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

जिस प्रकार सत्ताको प्राप्त वस्तुसमूहरूप भूत और उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंका समूहरूप भव्य पूर्वमन्त्रकी समान प्रवाह-नित्य होनेसे न किसीसे डरते हैं और न विनष्ट होते हैं इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू न डर अर्थात् रोग शत्रु, ग्रह आदिसे भय वा मरणकी शंका न कर चिरकाल तक स्थिर रह ॥ ६ ॥

पञ्चमसूक्त समाप्त (५०) ॥

“प्राणापानौ” इति सूक्तेन आज्यसमित्पुरोडाशपयओदनपायसपशुव्रीहियवतिलधानाकरम्भशष्कुल्याख्यानि त्रयोदश द्रव्याणि आयुष्कामो जुहुयात् । सूत्रितं हि । “प्राणापानौ [२. १६] ओजोसि [२. १७] इत्युपदधीत” इति [कौ० ७. ५] ॥ उपदधीतेत्यत्र “उक्तैस्त्रयोदशभिर्द्रव्यैर्होम इति जानीयात्” इति पैठीनसिपरिभाषा त्रिषप्तीयसूक्त एवोदाहृता ॥

अत्र “द्यावापृथिवी उपश्रुत्या” [२] इति मन्त्रेण आग्रयणेष्टौ ब्रह्मा द्यावापृथिव्यं हविरनुमन्त्रयेत । तद् उक्तं वैताने । “ओषधीषु पक्वास्वाग्रयणेष्टिः” इत्युपक्रम्य “यद्व विद्वांसः [६. ११५] द्यावापृथिवी उपश्रुत्या [२. १६. २] सोमो वीरुधाम् [५. ४. ७] इति वैश्वदेवद्यावापृथिव्यसौम्यान्” इति [वै० २. ४] ॥

“प्राणपानौ” इस सूक्तसे घृत समिधा पुरोडाश दुग्ध ओदन पायस पशु धान जौ तिल धाना (भुने हुए जौ) करंभ (दही वाले सत्तू) और शष्कुली (पूरी) नाम वाले तेरह द्रव्योंको आयु चाहने वाला पुरुष होमे । सूत्रमें भी कहा है, कि–“प्राणपानौ (२ । १६) ओजोऽसि (२ । १७) इत्युपदधीत–प्राणपानौ इस दूसरे काण्डके सोलहवें सूक्तसे और ओजोसि इस दूसरे काण्डके सत्रहवें सूक्तसे उपधान करे” (कौशिकसूत्र ७ । ५) उपधान–उपदधीत–शब्दका अर्थ त्रिषप्तीय सूक्तमें पैठीनसि–परिभाषाके द्वारा ‘तरह द्रव्योंसे होम’ कर दिया है ॥

और इस सूक्तकी "द्यावापृथिवी" इसे दूसरी ऋचासे आग्रायणेष्टिमें ब्रह्मा द्यावापृथिवीकी हविका अनुमंत्रण करे। इस विषयमें वैतानसूक्तका प्रमाण है। "औषधीषु पक्वासु आग्रयणेष्टिः औषधियोंके पकने पर आग्रयणेष्टि होती है" इस बातका आरंभ करके कहा है, कि—"यद् विद्वांसः (६ । ११५) द्यावापृथिवी उपश्रुत्या (२ । १६ । २) सोमो वीरुधधाम् (५ । ४ । ७) इति—वैश्वदेवद्यावापृथिव्यसौम्यान् ॥ (वैतानसूत्र २ । ४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

प्राणा॑पानौ मृ॒त्योर्मा॑ पात॒ं स्वाहा॑ ॥ १ ॥

प्राणा॑पानौ । मृ॒त्योः । मा॒ । पा॒त॒म् । स्वाहा ॥ १ ॥

हे प्राणापानौ । प्राक् ऊर्ध्वमुखः अनिति चेष्टत इति प्राणः । अप अनिति अवाङ्मुखश्चेष्टत इत्यपानः । तदभिमानिनौ हे देवौ मृत्योः सकाशात् मा मां पातम् रक्षतम् । स्वाहा युक्ताभ्याम् इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु । मरणस्य प्राणापानवियोगरूपत्वाद् मदीयहविःस्वीकारेण तुष्टयोर्युवयोश्चिरकालावस्थानेन अहं दीर्घायुर्भूयासम् इति प्रार्थनाभिप्रायः ॥ ❀ स्वाहा इति देवानां हविर्दाने । "स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्योन्नं प्रदीयते" इति श्रुतेः। कौशिकेनाप्युक्तम् । "स्वाहाकारवषट्कारप्रदाना देवाः स्वधाकारनमस्कारप्रदानाः पितरः" इति [कौ० १, १] । अक्षरार्थस्तु यास्केनोक्तः । स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा [नि० ८. २०] इति । अत्र स्वा वागाहेत्ययम् अर्थस्तैत्तिरीयके स्पष्टम् आम्नातः । "स्वैव ते वागित्यब्रवीत् । सोजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म" [तै० ब्रा० २. १. २. ३] इति ॥

जो ऊपरको मुख करके चेष्टा करता है वह प्राण कहाता है

और जो अवाङ्मुख होकर चेष्टा करता है वह अपान कहलाता है, ऐसे हे प्राण और अपानके अभिमानी देवताओं ! आप मृत्युसे मेरी रक्षा करिये, आप दोनोंके लिये यह हवि स्वाहुत हो। प्रार्थनाका अभिप्राय यह है, कि-प्राण और अपानका वियोग होना ही मरण है, अतः मेरी हविको स्वीकार कर आप सन्तुष्ट हो तब आपके चिरकाल तक रहने पर मैं दीर्घायु होऊँ + ।१।

द्वितीया ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्य मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

+ देवताओंको हवि देनेमें स्वाहा शब्दका प्रयोग आता है। श्रुतिमें भी कहा है, कि-"स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते-स्वाहा वा वषट् कह कर देवताओंका अन्न दिया जाता है" कौशिकने भी कहा है, कि-"स्वाहाकारवषट्कारप्रदाना देवाः स्वधाकारनमस्कारप्रदानाः पितरः-स्वाहा और वषट्शब्दसे देवताओंको हवि देनी चाहिये और स्वधा तथा नमः कहकर पितरोंको हवि देनी चाहिये" [कौशिकसूत्र १ । १] स्वाहा शब्दका अक्षरार्थ यास्क मुनिने कहा है, कि-"स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-सुन्दर बोलता है, स्वा (अपनी वाणी) आह (बोली), स्वं (अपनेको) प्राह (बोला) वा भली प्रकार आहुत हविको होमता है-ये स्वाहा शब्दके अर्थ हैं" (निरुक्त ८ । २०) । इनमें स्वा वागाहका अर्थ तैत्तिरीयकमें स्पष्टरूपसे कहा है "स्वैव ते वागित्यब्रवीत् । सोजुहोत् स्वाहेति । तत् स्वाहाकारस्य जन्म-अपने आप ही वाणीने कहा । उसने होमा-इस अर्थको भी स्वाहा शब्द कहता है । यही स्वाहाकार का जन्म है" (तैत्तिरीरीय ब्राह्मण २ । १ । २ । ३ ॥

द्या॒व्या॑पृथिवी॒ इति॑ । उप॑ऽश्रुत्या । मा॒ । पा॒त॒म् । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

"तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहम् आपद्यथ । अहमेवैतद् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयामि" [प्र० उ० २. ३] इत्यादिना प्रश्नोपनिषदि महता प्रपञ्चेन इतरेन्द्रियापेक्षया प्राणस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपादितम् । इति प्रथमतः प्राणप्रार्थनां कृत्वा तदुपजीविनां श्रोत्रादीन्द्रियाणाम् एतदाद्यैर्मन्त्रैः स्थैर्यं प्रार्थ्यते । द्यावापृथिवी । अत्र द्यावापृथिवीशब्देन तदन्तरालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः । हे द्यावापृथिव्यौ उपश्रुत्या समीपश्रवणकरणेन श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणशक्तिप्रदानेन । मा पातम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

("तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहं आपद्यथ । अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणं अवष्टभ्य विधारयामि—उनसे श्रेष्ठ प्राणने कहा, कि—तुम मोहमें न पड़ो । मैं ही अपनेको पाँच प्रकार से बाँट इस शरीरमें व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ ॥" प्रश्नोपनिषत् २ । ३ इत्यादिके द्वारा प्रश्नोपनिषत्में और इन्द्रियों की अपेक्षा प्राणकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है । अतः यहाँ पर भी पहिले प्राणकी प्रार्थना करके उससे जीवित रहने वाली श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी मंत्रोंसे प्रार्थना करते हैं, कि—) हे द्यावापृथिवीके मध्यमें विराजमान दिशाओं ! तुम उपश्रुतिसे—समीप श्रवणकरण अर्थात् श्रवण—शक्ति देकर मेरी रक्षा करो । तुम दोनों के लिये मेरी आहुति स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूर्य॒ चक्षु॑षा मा पाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सूर्य॑ । चक्षु॑षा । मा॒ । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सूर्यश्चक्षुरभिमानी देवः। "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० उ० १. २] इति श्रुतेः। [हे सूर्य] त्वं चक्षुषा चक्षुरिन्द्रियेण रूपदर्शनशक्त्या। गतम् अन्यत् ॥

हे नेत्रके अभिमानी देवता ‡ सूर्यदेव! तुम चक्षुरिन्द्रियसे अर्थात् रूप दर्शनकी शक्ति देकर मेरी रक्षा करो, तुम्हारे लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्ने॑ वैश्वान॒र विश्वै॑र्मा दे॒वैः पा॑हि॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अग्ने॑। वै॒श्वा॒न॒र॒। विश्वैः॑। मा॒। दे॒वैः। पा॒हि॒। स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

हे वैश्वानर विश्वान् नरान् ऐहिकामुष्मिकलक्षणं तत्तत् कर्मफलं नयतीति वा विश्वैर्नरैस्तत्तद्यागादिकर्मसिद्धये नीयते प्रणीयत इति वा वैश्वानरः। ❀ विश्वनरशब्दान्नेतृत्वेन नीयमानत्वेन वा संबन्धीति "तस्येदम्" इति अण्। "अन्येषाम् अपि दृश्यते" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀। यद्वा विश्वान् जन्तून् अरः प्रतिगतः प्रविष्ट इति विश्वानरः। सामर्थ्यात् प्राणाख्यो वायुः। ❀ ऋ गतौ इत्यस्माद् भूते छान्दसः पचाद्यच्। उपपदविभक्तेश्च अलुक् ❀। तेन जन्यमानत्वाद् अयम् अग्निर्वैश्वानरः। ❀ पूर्ववद् अण् ❀। [यद्वा] विश्वे नरा यस्य पोष्यत्वेन स विश्वानरः। स विश्वानरः वैद्युतोग्निः आदित्यश्च। ❀ "नरे संज्ञायाम्" इति पूर्वपदस्य दीर्घः ❀। ताभ्यां जायमानत्वाद् अयं पार्थिवोग्निर्वैश्वानरः। ❀ [तथा च यास्कः। अयमेवाग्निर्वैश्वानरः] इति शाकपूणिः। विश्वानरादप्येते उत्तरे ज्योतिषी वैश्वानरोयं यत् ताभ्यां जायते

---

‡ ऐतरेय उपनिषत् १। २ में कहा है, कि—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्-आदित्य चक्षु होकर नेत्रोंमें प्रवेश कर गए"॥

[नि० ७. २३] इति च ❀ । तथाविध हे वैश्वानराग्ने सर्वदेवतात्मक । यद्वा अग्न्युपलक्षिततत्तदिन्द्रियाधिष्ठायक देव विश्वैः सर्वैर्देवैः देवनसाधनैर्वागादीन्द्रियैः तत्तदिन्द्रियसामर्थ्यप्रदानेन । मा पाहीत्यादि गतम् ॥

हे सम्पूर्ण मनुष्योंको इस लोकके और परलोकके कर्मफलको पहुँचाने वाले, सम्पूर्ण मनुष्योंके द्वारा याग आदि कर्मकी सिद्धिके लिये ले जाये जाने और बनाये जाने वाले वैश्वानर, और सम्पूर्ण मनुष्योंमें प्रविष्ट विश्वानर प्राणवायुसे उत्पन्न वैश्वानर अग्नि और सम्पूर्ण मनुष्य जिसके पोष्य हैं उस विश्वानर वैद्युतिक अग्नि और आदित्यसे उत्पन्न पार्थिव वैश्वानर अग्ने ! अथवा अग्निसे उपलक्षित प्रत्येक इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवसमूह ! अपने साधन वाणी आदि इन्द्रियोंकी शक्ति प्रदान करके मेरी रक्षा करिये, आपके लिये यह हुत हवि स्वाहुत हो ॥४॥

पञ्चमी ॥

विश्व॑म्भर॒ विश्वे॑न मा॒ भर॑सा पाहि स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

विश्व॑म्ऽभर । विश्वे॑न । मा॒ । भर॑सा । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

हे विश्वम्भर । विश्वं सर्वं प्राणिजातं बिभर्ति अनुप्रविश्य अशितपीतादिपचनेन पोषयतीति विश्वम्भरो जाठराग्निः । ❀ "संज्ञायां भृतॄवृजि०" इत्यादिना खच् । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुम् ❀ । तादृशस्त्वं विश्वेन कृत्स्नेन भरसा पोषणशक्त्या । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् "सर्वधातुभ्योऽसुन्" [उ० ४. १८८] इति असुन् ❀ । विश्वम्भरशब्दस्य अग्निवाचकत्वं बृहदारण्यके समाम्नातम् । "यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये" [बृ० आ० १. ४. ७] इति । यातम् अन्यत् ॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

सब प्राणियोंके भीतर प्रवेश कर खाये पियेको पचा कर पोषण करने वाले विश्वंभर जाठराग्ने ! आप अपनी पूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा करिये × यह आपके लिये दी हुई हवि स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

छठा सूक्त समाप्त (५१) ॥

"ओजोसि" इत्यनेन आयुष्कामः पूर्वम् उक्तप्रकारेण त्रयोदश द्रव्याणि जुहुयात् । सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतम् ॥

"ओजोऽसि" इस सूक्तसे आयु चाहने वाला पूर्वोक्तरीतिसे तेरह द्रव्योंकी आहुति देय । सूत्र पहिले सूक्तमें ही कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ओजो॒स्योजो॑ मे दा॒ः स्वाहा॑ ॥ १ ॥

ओज॑ः । अ॒सि॒ । ओज॑ः । मे॒ । दा॒ः । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

अत्र सूक्ते देवताविशेषस्य अश्रवणात् होमाधारभूतोग्निः संबोध्यः हूयमानद्रव्यं वा । हे अग्ने हूयमानद्रव्य वा त्वम् ओजः आत्मनः । ओजः शरीरस्थितिकारणम् अष्टमो धातुः । तद् उक्तम् आचार्यैः ॥

ओजो नामाष्टमी दशा ।
क्षेत्रज्ञस्य तद् ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते ।
यथा स्नेहः प्रदीपस्य यथाऽभ्रम् अशनित्विषः इति ।

तथाविधम् ओजः त्वम् असि । तद्धेतुत्वात् ताच्छब्द्यम् । "आयुर्वै घृतम्" [तै० सं० २. ३. ११. ५] इति वत् । अतो मे मह्यम् ओजः उक्तलक्षणं दाः देहि । स्वाहा स्वाहुतम् इदम् अस्तु । ❀ ओज इति । उब्ज आर्जवे । उब्जे[र्बले बलोपश्च इति उ० ४. १९१ असुन् बलोपश्च] ❀ ॥

× विश्वंभर शब्द अग्निका वाचक है, इस बातका बृहदारण्यक उपनिषत्में प्रतिपादन किया है । यथा—"यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये ॥

(इस सूक्तमें किसी देवताका श्रवण नहीं है अत एव होमके आधारभूत अग्निका वा होमे हुए द्रव्यका सम्बोधन समझना चाहिये) हे अग्ने ! वा हूयमान द्रव्य ! तू शरीरकी स्थितिकी कारण (घृतकी समान †) ओज नाम वाली आठवी दशाहै ‡ अतः तू मुझे ओज दे । तेरे लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सहो॑सि॒ सहो॑ मे दा॒ः स्वाहा॑ ॥ २ ॥

सह॑ः । अ॒सि॒ । सह॑ः । मे॒ । दा॒ः । स्वाहा॑ ॥ २ ॥

सहः शत्रूणाम् अभिभवनसमर्थं तेजोसि । ❀ सहतेरभिभवार्थाद् असुन् ❀ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

हे अग्ने ! वा हवन किये जाने वाले द्रव्य ! तुम सह अर्थात् शत्रुओंको दबानेमें समर्थ तेज हो, ऐसे तुम मुझे तेज दो, तुम्हारे निमित्त हवि स्वाहुत हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

बलं॑मसि॒ बलं॑ मे दा॒ः स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

बल॑म् । अ॒सि॒ । बल॑म् । मे॒ । दा॒ः । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

स्पष्टोर्थः ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता २ । ३ । ७१ । ५ में कहा है, कि—आयुर्वै घृतम्—घृत ही आयु है" ॥

‡ आचार्योंने कहा है, कि—"ओजो नामाष्टमी दशा । क्षेत्रज्ञस्य तद् ओजस्तु केवलाश्रय इष्यते । यथा स्नेहः प्रदीपस्य यथाभ्रम् अशनित्विषः ॥—ओज नाम वाली दशा आठवीं है । यह ओज जैसे स्नेह (तेल वा घृत) दीपकका एकमात्र आश्रय है और मेघ जैसे विजलीकी कान्तिका एकमात्र आश्रय है तैसे जीवका एकमात्र आश्रय है ॥

हे अग्ने ! तुम बलरूप हो, उस बलको तुम मुझे दो, तुम्हारे निमित्त होमी हुई हवि स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी॥

आयु॑र॒स्यायु॒र्मे॑ दा॒ः स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

आयु॑ः । अ॒सि॒ । आयु॑ः । मे॒ । दा॒ः । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

आयुश्चिरकालजीवनम् असि । अतः शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्मे देहि ॥

हे अग्ने ! तुम चिरकालजीवनरूप आयु हो अतः सौ वर्षतककी आयु मुझे दो, तुम्हारे निमित्त यह हवि स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दा॒ः स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

श्रोत्र॑म् । अ॒सि॒ । श्रोत्र॑म् । मे॒ । दा॒ः । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! तुम श्रवणशक्तिरूप श्रोत्र हो, अतः मुझे श्रवणशक्ति दीजिये, आपके लिये आहुति देने पर यह हवि भली प्रकार पहुँचे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

चक्षु॑रसि॒ चक्षु॑र्मे दा॒ः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

चक्षु॑ः । अ॒सि॒ । चक्षु॑ः । मे॒ । दा॒ः । स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

पञ्चमीषष्ठ्यौ निगदसिद्धे ॥

हे अग्ने ! तुम दर्शनशक्तिरूप चक्षु हो, अतः तुम मुझे दर्शनशक्ति दो, तुम्हारे निमित्त यह हवि स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

सप्तमी॥

प॒रि॒पाण॑मसि परि॒पाणं॑ मे दा॒ः स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

परिऽपानम् । असि । परिऽपानम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ७ ॥

परिपाणम् परितः पालनम् । तद्धेतुत्वात् ताच्छब्द्यम् । परिपालक इत्यर्थः । अतः परिपाणम् परितः सर्वतः आयुर्भङ्गनिमित्तभूतेभ्यः पालनं देहि । ❀ परिपूर्वात् पातेर्भावे ल्युट् । "कृत्यचः" इति नस्य णत्वम् ❀ ॥

इति द्वितीये काण्डे तृतीयेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

[इति] तृतीयोनुवाकः समाप्तः ॥

हे अग्ने ! तुम परिपालन हो अर्थात् पालक हो अतः आयुर्भंग के निमित्तोंसे हमैं पालन करिये, यह हवि आपके निमित्त स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

सप्तम सूक्त समाप्त (५२) ॥ तृतीय अनुवाक समाप्त

चतुर्थेनुवाके नव सूक्तानि । तत्र "भ्रातृव्यक्षयणम्" इति प्रथमसूक्तेन अभिचारकर्मणि शरसमिदाधानम् कृष्णव्रीहियवतिलाद्यावपनं च कुर्यात् । [कौ० ६. २] ॥

अत्र अरायक्षयणम् [३–५] इत्याद्यास्तिस्रः चातनगणे [कौ० १. ८] पठिताः । अतस्तस्य गणस्य यत्रयत्र विनियोगस्तत्रतत्र आसां विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

चौथे अनुवाकमें नौ सूक्त हैं । इनमेंसे "भ्रातृव्यक्षणम्" इस प्रथमसूक्तसे अभिचारकर्ममें शर (सैंटों) की समिधाओंको लाना और काले धान जौ, तथा तिल आदिका बोना आरम्भ करे (कौशिकसूत्र ६ । २) ॥

इस सूक्तकी अरायक्षयण आदि तीसरीसे पाँचवीं तककी ऋचाएँ चातनगणमें पढ़ी हैं (कौशिकसूत्र १ । ८) अत एव उस गणका जहाँ २ विनियोग होगा तहाँ २ इनका भी विनियोग करना चाहिये

तत्र प्रथमा ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

भ्रातृव्यऽक्षयणम् । असि । भ्रातृव्यऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥१॥

अत्रापि होमाधारोग्निः संबोध्यः होमद्रव्यं वा । हे अग्ने त्वं भ्रातृव्यक्षयणम् असि । भ्रातृव्यः शत्रुः । ❀ भ्रातृशब्दाद् "व्यन्त्सपत्ने" इति व्यन् प्रत्ययः ❀ । तस्य क्षयणं विनाशनम् असि । ❀ क्षि क्षये इत्यस्माद् भावे करणे वा ल्युट् ❀ । अतो मे मह्यं भ्रातृव्यचातनम् भ्रातृव्यनाशनम् । चातयतिर्नाशनकर्मा इत्युक्तम् । दाः देहि । स्वाहेति पूर्ववद् योज्यम् ॥

हे अग्ने ! तुम शत्रुओंका संहार करनेवाले हो अतः शत्रुनाशकत्वको मुझे दीजिये । तुम्हारे लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

सपत्नऽक्षयणम् । असि । सपत्नऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥२॥

सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः । ❀ "व्यन्त्सपत्ने" इति सूत्रे सपत्नशब्दः सपत्नीव सपत्न इति इवार्थे अकारप्रत्ययान्तो व्याख्यातः ❀ । यद्यपि भ्रातृव्यसपत्नशब्दौ पर्यायौ तथाप्यत्र उभयोरपि पृथगुपादानाद् आत्मीयानात्मीयरूपेण भेदो द्रष्टव्यः । गतम् अन्यत् ॥

हे अग्ने ! तुम वैरियोंका संहार करने वाले हो अतः वैरिनाशकत्व मुझे दीजिये तुम्हारे लिये यह हवि स्वाहुत हो २ †

तृतीया ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

---

† यद्यपि शत्रु और वैरी शब्द एकही अर्थके वाचक हैं तथापि पहिले मन्त्रको आत्मीय शत्रुपरक और दूसरे मन्त्रको अनात्मीयशत्रुपरक समझना चाहिये ॥

अरायऽक्षयणम् । असि । अरायऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥३॥

अरायक्षयणम् अरायाः अदायिनः दानोपलक्षितनिखिलश्रेयोविघ्नकारिणः । तेषां क्षयणम् । ❀ रा दाने इत्यस्य घञन्तस्य नञा बहुव्रीहिः ❀ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

दान आदि संपूर्ण मांगालिक कामोंमें विघ्न डालनेवाले राक्षस अराय कहलाते हैं, हे अग्ने ! तुम उन अरायोंके नाशक हो अतः अरायनाशकत्व मुझे दीजिये, यह हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥४॥

पिशाचऽक्षयणम् । असि । पिशाचऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥४॥

पिशाचाः पिशिताशिनो भूतविशेषाः । ❀ पिशितं मांसम् अश्नन्तीति "कर्मण्यण्" । पृषोदरादिषु पाठात् पिशिताशशब्दयोः पिशाचौ आदेशौ । गतम् अन्यत् ❀ ॥

हे अग्ने ! तुम कच्चे मांसका भक्षण करने वाले पिशाचोंके संहारक हो, अतः पिशाचोंको नष्ट करनेकी सामर्थ्य मुझे दीजिये यह हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥५॥

सदान्वाऽक्षयणम् । असि । सदान्वाऽचातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥५॥

सदान्वाक्षयणम् सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिण्यः पिशाच्यः । सदान्वा इति निःसालसूक्ते [२, १४] व्याख्यातम् ॥

इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! तुम सदा आक्रोश मचानेवाली राक्षसियोंके नाशक हो अतः उनके नाश करनेकी सामर्थ्य मुझे दीजिये, यह हवि आपके लिये स्वाहुत हो ॥ ५ ॥

द्वितीय काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५३) ॥

"अग्ने यत् ते" इत्यादिभिः पञ्चभिः सूक्तैरभिचारकर्मणि पुरस्ताद्धोमान् आज्येन जुहुयात् । [कौ० ६. १] ॥

"अग्ने यत् ते इत्यादि पाँच सूक्तोंसे अभिचारकर्ममें पुरस्ताद्धोम करे (पहिले होम करे)" (कौशिकसूत्र (६ । १) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

अग्ने । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् ।
द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

हे अग्ने पृथिवीस्थान ते त्वदीयं यत् तपः संतापनशक्तिः तेन तपसा तम् शत्रुं प्रति लक्षीकृत्य तप प्रज्वलितो भव । ❀ "लक्षणेत्थंभूताख्यान०" इत्यादिना प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । "कर्मप्रवचनीययुक्ते०" इति द्वितीया ❀ । यद्वा । ❀ कर्मणि द्वितीया ❀ । तं शत्रुं प्रति तप । प्रतिकूलं प्रतिमुखं प्रत्यवयवं वा तपेत्यर्थः । यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि द्वेषं करोति यं च शत्रुं वयं द्विष्मः अप्रियं कुर्मः । तम् इति पूर्वेण संबन्धः ॥ अनेन व्यतिहारनिर्देशेन अभिचारप्रत्यभिचारयोरुभयत्रापि अस्य मन्त्रस्य सामर्थ्यं दर्शितं भवति ॥

हे पृथिवी पर स्थित रहने वाले अग्ने ! तुममें जो सन्तापन शक्ति है उस संतप्त करनेवाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो जो शत्रु हमसे

द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये† ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

अ॒ग्ने यत् ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ ह॒र यो॒३॒॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं
व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । हरः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । ह॒र॒ । यः । अ॒स्मान् ।
द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

हरतीति हरः संहरणसामर्थ्यम् । क्रोधनामसु पाठात् क्रोधो वा । ❀ हरतेरसुन् ❀ । तेन हरसा तम् शत्रुं प्रति हर संहर । गतम् अन्यत् ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे अग्ने ! तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒ग्ने यत् ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॒र्च॒ यो॒३॒॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । अ॒र्चिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । अ॒र्च॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ३ ॥

❀ अर्चतिरत्र धातूनाम् अनेकार्थत्वाद् दीप्त्यर्थः ❀ । तेन अर्चिषा तं प्रत्यर्च प्रतिदग्धुं दीप्तो भव । उक्तम् अन्यत् ॥

---

† इस मन्त्रका अभिचार और अभिचारको हटाना—इन दोनों कर्मोंमें प्रयोग किया जासकता है ॥

हे अग्ने ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप, हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार के शत्रुओंको भस्म करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अग्ने यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

अग्ने । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

शोचिः शोकजननसामर्थ्यम् । ❀ शुच शोके इत्यस्मात् अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्यः इसिः [उ० २. १०७] इति करणे इसिप्रत्ययः ❀ । तेन शोचिषा तं प्रति शोच शोकयुक्तं कुरु ॥

हे अग्ने ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अग्ने यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

तेजः तीक्ष्णं पराभिभवनसामर्थ्यम् । ❀ तिज निशाने इत्यस्माद् असुन् ❀ । तेन तेजसा तम् शत्रुम् अतेजसं निस्तेजस्कं

कृणु कुरु ॥ गतम् अन्यत् ॥ यद्यप्यत्र सूक्ते क्रमेण निर्दिष्टास्तपोहरोर्चिःशोचिस्तेजःशब्दाः पञ्चापि यास्केन ज्वलन्नामसु पठितास्तथापि सर्वेषाम् अत्रोपादानाद् उक्तप्रकारेण धात्वर्थभेदाद् भेदोवगन्तव्यः ॥

इति चतुर्थेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! शत्रुओंको दवानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है—उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५४) ॥

इत उत्तराणि "वायो यत्" [२. २०] "सूर्य यत्" [२. २१] "चन्द्र यत्" [२. २२] "आपो यत्" [२. २३] इति चत्वारि सूक्तानि "अग्ने यत्" [२. १९] इति पूर्वसूक्तवद् व्याख्येयानि। तेषु वाय्वादिदेवतासंबोधनमेव विशेषः । "आपो यद् वः" इत्यत्र अपां नित्यबहुत्वाद् बहुवचननिर्देशः ॥

तत्र प्रथमा ॥

वा॒यो यत् ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॒स्मान् द्वेष्टि॒
यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

वायो॒ इति॑ । यत् । ते॒ । तपः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । त॒प॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

हे आकाशमें विचरने वाले वायुदेव ! तुममें जो संतापन शक्ति है उस सन्तप्त करनेवाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वायो यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे हे वायुदेव तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वायो यत् तेर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे वायुदेव ! आपकी जो अर्चि है, उस अर्चिसे आप, हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकारके शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वायो यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो इति । यत । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः ।

अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

हे वायुदेव ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करनेवाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

वायो॒ यत् ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॒॑३॒स्मान्
द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

वायो॒ इति॑ । यत् । ते॒ । तेजः॑ । तेन॑ । तम् । अ॒ते॒जस॑म् । कृ॒णु॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

[इति चतुर्थेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥]

हे वायुदेव ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है—उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५५)

तत्र प्रथमा ॥

सूर्य॒ यत् ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒॑३॒स्मान् द्वेष्टि॒ यं
व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते॒ । तपः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । त॒प॒ । यः । अ॒स्मान् ।
द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

हे आकाशमें स्थित रहने वाले सूर्य ! तुममें जो संतापन शक्ति

है उस सन्तप्त करने वाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सूर्य यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् ।
द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे सूर्य तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोध को तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूर्य यत् तेर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे सूर्य ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार के शत्रुओंको भस्म करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सूर्य॒ यत् ते॑ शो॒चिस्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒॑३॒स्मान्
द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते॒ । शो॒चिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । शो॒च॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

हे सूर्य ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

सूर्य॒ यत् ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॒॑३॒स्मान्
द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते॒ । तेजः॑ । तेन॑ । तम् । अ॒ते॒जस॑म् । कृ॒णु॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

[इति चतुर्थेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥]

हे सूर्य ! शत्रुओंको दवानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है, उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५६) ॥

तत्र प्रथमा

चन्द्र॒ यत् ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒॑३॒स्मान् द्वेष्टि॒

यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

हे आकाशमें स्थित रहनेवाले चन्द्र ! तुममें जो संतापन शक्ति है उस सन्तप्त करने वाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके प्रज्वलित हो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रज्वलित हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

चन्द्र यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

चन्द्र । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे चन्द्र ! तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

चन्द्र यत् तेर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च्च यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे चन्द्र ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकार से शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

चन्द्र यत् ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ।

हे चन्द्र ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ४

पञ्चमी ॥

चन्द्र यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः ।

अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

[इति चतुर्थेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥]

हे चन्द्र ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो

तीक्ष्ण तेज है–उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पंचम सूक्त समाप्त (५७) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आपो॒ यद् व॒स्तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तपत॒ यो॒३॒॑स्मान्
द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

आप॑ः । यत् । व॒ः । तप॑ः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । त॒प॒त॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

हे पृथिवी पर स्थित रहने वाले जलों ! तुममें जो संतापन शक्ति है उस सन्तप्त करने वाली शक्तिसे तुम शत्रुको लक्ष्य करके संतप्त करो, शत्रुके प्रतिकूल होकर प्रचण्ड हो, जो शत्रु हमसे द्वेष करता है हमारे ऊपर कृत्या आदि अभिचार करता है वा हमसे दुर्भाव रखता है और हम जिससे द्वेष करते हैं उसको लक्ष्य करके आप सन्ताप दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आपो॒ यद् वो॒ ह॒रस्तेन॒ तं प्रति॑ हरत॒ यो॒३॒॑स्मान् द्वेष्टि॒
यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

आप॑ः । यत् । व॒ः । हर॑ः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । ह॒र॒त॒ । यः ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

जो शत्रु हमसे द्वेष करता है और हम जिस शत्रुसे द्वेष करते हैं उस शत्रुको लक्ष्य करके हे जलों ! तुम्हारा जो क्रोध है, उस क्रोधको तुम उस शत्रु पर छोड़ो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आपो यद् वोर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

हे जलों ! आपकी जो दीप्ति है, उस दीप्तिसे आप, हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं इस प्रकार दोनों प्रकारके शत्रुओंको नष्ट करनेके लिये दीप्त हूजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

हे जलों ! तुममें जो शोक देनेकी सामर्थ्य है उसका तुम हमसे द्वेष करने वाले और हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु पर प्रयोग करो अर्थात् अपनी शोक देनेकी शक्तिसे शत्रुको शोकयुक्त करो ४

पञ्चमी ॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणुत ।

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

इति द्वितीयकाण्डे चतुर्थेनुवाके तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसूक्तानि ॥

हे जलों ! शत्रुओंको दबानेकी सामर्थ्य वाला तुम्हारा जो तीक्ष्ण तेज है-उस तेजसे तुम जिससे हम द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करता है उस शत्रुको निस्तेज करो ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमे षष्ठ सूक्त समाप्त (५८) ॥

"शेरभक" इति सप्तमसूक्तेन अलक्ष्मीविनाशकर्मणि समुद्रमध्ये शापेटस्थेग्नौ हुत्वा चरुं संपात्य अभिमन्त्र्य प्राश्नीयात् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि "शेरभक" इत्यनेनैव सूक्तेन खण्डितयवानां सक्तुं रक्तवर्णाया अजाया दध्युदके क्षिप्त्वा आज्येन हुत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथैव तस्मिन्नेव कर्मणि अनेन सूक्तेन तृणग्रन्थीन् कृत्वा उदपात्रे प्रत्यृचं विसृस्य तेनोदकेन आप्लावनं मुखमार्जनं च कुर्यात् ॥

उक्तं हि सूत्रे । "शेरभकेति सामुद्रम् अप्सु कर्म व्याख्यातम् अपहतधाना लोहिताजाया द्रप्सेन संनीयाश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

"शेरभक" नामवाले सप्तमसूक्तसे अलक्ष्मीविनाशकर्ममें समुद्रके मध्यमें शापेटस्थ अग्निमें होम करके चरुका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके प्राशन करे ॥

तथा इसी कर्ममें "शेरभक" नाम वाले सूक्तसे ही खण्डित जौके सत्तुओंको लाल वर्ण वाली बकरीके दुग्धमें डाल कर घृतसे आहुति देकर सम्पातन और अभिमन्त्रण करनेके अनन्तर प्राशन करे ॥

तथा इसी कर्ममें इस सूक्तसे तृणग्रन्थियोंको बनाकर जलपूर्ण पात्रमें प्रत्येक ऋचासे डालकर उस जलसे स्नान और मुखमार्जन करे ॥

इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है यथा–"शेरभकेति सामुद्रं अप्सु कर्म व्याख्यातम् अपहतधाना लोहितजाया द्रप्सेन संनीयाश्नाति" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

शेर॑भक॒ शेर॑भ॒ पुन॑र्वो॑ यन्तु या॒तव॒ः पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒ः प्राहै॒त् तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥ १ ॥

शेर॑भक । शेर॑भ । पुन॑ः । व॒ः । य॒न्तु॒ । या॒तवः॑ । पुन॑ः । हे॒तिः । कि॒मी॒दि॒न॒ः

यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । व॒ः । प्र॒ऽअहै॑त् । तम् । अ॒त्त॒ । स्वा ।
मां॒सा॑नि । अ॒त्त॒ ॥ १ ॥

हे शेरभक स्वाश्रितानां सुखस्य प्रापक । शरभवत् सर्वेषां हिंसको वा शेरभः यातुधानाधिपतिः । असौ ग्रामणीः प्रधानभूतो यस्य तत्सचिवादेः स शेरभकः । ❀ "स एषां ग्रामणीः" इति कन् प्रत्ययः ❀ । हे शेरभ यातुधानाधिपते हे शेरभक तत्स्वामिक सचिवादे वः युष्मदीया अलक्ष्मीकरा युष्माभिः अस्मदभिमुखं प्रेरिता यातवः राक्षसाः पुनर्यन्तु अस्मत्तः प्रतिनिवर्तन्ताम् ॥ तथा हेतिः हननसाधनं युष्मदीयम् आयुधजातं प्रतिनिवर्तताम् । किमीदिनः किम् इदानीं [किम् इदानीं] वर्तते किम् इदं किम् इदम् इति वा पैशुन्यार्थे चरन्तीति किमीदिनश्चोराः । ❀ आह च यास्कः । किमीदिने किम् इदानीम् इति चरते किं इदं किं इदं इति वा पिशुनाय चरते [नि० ६.११] इति ❀ । युष्मदीयास्तथाविधा अनुचराश्च । पुनर्यन्तु इति संबन्धः ॥ प्रतिनिवृत्तानां तेषां कर्तव्यम् आह । हे शेरभादयः सपरिकरा राक्षसाः यूयं यस्य स्थ यस्य अस्मद्विरोधिनः समीपे भवथ तम् अत्त भक्षयत ॥ यः प्रयोक्ता वः युष्मान्

[प्राहैत्] प्राहैषीत् अस्मत्सकाशं प्रेषितवान् तम् अत्त तमपि भक्षयत । ❀ हि गतौ । लुङि सिचि वृद्धौ “बहुलं छन्दसि” इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे “स्कोः संयोगाद्योः०” इति सलोपः ❀ ॥ अदने रुचिम् उत्पादयति सेत्यादिना । सा । ❀ “सुपां सुलुक्०” इति षष्ठ्याः सुः । लिङ्गव्यत्ययः ❀ । तस्य शत्रोः मांसान्यत्त । यद्वा सा हेतिः यूयं च शत्रोर्मांसानि भक्षयत । प्रेरकजीवने प्रतिनिवृत्तानामपि रक्षसां पुनःपुनःप्रेषणसंभवात् तत्प्रेरकनाशनकथनेन तेषां पुनरागमनं निरस्तम् इति भावः ॥

हे अपने आश्रितोंको सुख पहुँचानेवाले और शरभकी समान सबके हिंसक यातुधानोंके स्वामिन् शेरभ ! और शेरभोंमें प्रधान शेरभक ! तुम्हारी जो हमारी ओर प्रेरणा करी हुई यातना और राक्षस हैं. वे हमारे पाससे लौट जावें और तुम्हारे आयुध भी हमारे पाससे लौट जावें । और आपके इस समय क्या होरहा है वा यह क्या है ? यह क्या है ? इस प्रकार पैशुन्यके लिये घूमने वाले किमीदिन—†चोर तथा ऐसे ही दूसरे—अनुचर भी लौट जावें । हे शेरभ आदि दलबलसहित राक्षसों ! हमारे जिस विरोधीके पास तुम रहो उसको तुम खाजाओ, और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी खा जाओ । (भक्षण करनेमें रुचिको उत्पन्न करते हैं, कि—) आयुध और तुम शत्रुके मांसको खाजाओ । तात्पर्य यह है, कि–यदि प्रेरक जीवित रहेगा तो संभव है, कि–लौटे हुए राक्षसोंको भी वार वार भेजे, और प्रेरकका नाश होनेसे तो उनके पुनर्वार आनेकी शंका ही नहीं रहती ॥ १ ॥

---

† यास्क मुनिने कहा है, कि–किमीदिने किम् इदानीं इति चरते किम् इदम् किम् इदं इति वा पिशुनाय चरते (निरुक्त ६।११)॥

द्वितीया ॥

शेवृ॑धक॒ शेवृ॑ध॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒ः पुन॑र्हे॒तिः किमी॑-
दिनः ।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒ः प्राहै॒त् तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त

शे॑वृधक । शे॑वृध । पुन॑ः । व॒ः । य॒न्तु॒ । या॒त॑वः । पुन॑ः । हे॒तिः ।
कि॒मी॒दि॒नः॒ ।
यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । व॒ः । प्र॒ऽअहै॑त् । तम् । अ॒त्त॒ ।
स्वा । मां॒सा॑नि । अ॒त्त॒ ॥ २ ॥

हे शेवृधक स्वाश्रितानां सुखस्य वर्धक । ❀ वृधेरन्तर्णीतण्यर्थाद् इगुपधलक्षणः कः ❀ । शेवृधो ग्रामणीर्यस्य सचिवादेः स शेवृधकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

हे अपने आश्रितोंके सुखको बढ़ानेवाले शेवृध और शेवृधोंके स्वामिन् शेवृधक! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसियें हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारे किमीदिन तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें। हे दलबलसहित शेवृध राक्षसों! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ! उसके मांसको खाजाओ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

म्रोका॑नुम्रोक॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तव॒ः पुन॑र्हे॒ति किमी॑दिनः ।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒ः प्राहै॒त् तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ३

म्रोक । अनुऽम्रोक । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनः ।

यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त ।
स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ३ ॥

हे म्रोक म्रोचति धनादिकम् अपहृत्य छन्नः सन् गच्छतीति म्रोकः । म्रोकम् अनुसृत्य गच्छतीति अनुम्रोकः । ❀ म्रुचु म्लुचु गतौ । "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति व्यत्ययेन कर्तरि घः । "चजोः कुः घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀ ॥

हे धन आदिको छीन कर गुप्तरूपसे जाने वाले म्रोक ! और म्रोकके पीछे चलनेवाले अनुम्रोक ! अलक्ष्मी करनेवाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ–राक्षस हैं वे लौट जावें और हननके साधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारे किमीदिन और उनके सदृश दूसरे अनुचर भी लौटजावें ! हे दलबलसहित म्रोक और अनुम्रोकों ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खाजाओ ! उसके मांसको खा जाओ ३

चतुर्थी ॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ४

सर्प । अनुऽसर्प । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनः ।

यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त ।
स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ४ ॥

हे सर्प । सर्पति कुटिलं गच्छतीति सर्पः एतत्संज्ञो यातुधानाधिपतिः । तम् अनुसृत्य गच्छतीति अनुसर्पः । ❀ सृप्लृ गतौ त्यस्मात् पचाद्यच् ❀ । गतम् अन्यत् ॥

हे कुटिलतासे चलने वाले सर्प नामक यातुधानाधिपते ! और हे सर्पका अनुसरण करने वाले अनुसर्प ! अलक्ष्मी करने वाले तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षस हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हरे किमीदिन तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित राक्षसों ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको तुम खाजाओ ! उसके मांसको खाजाओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ५

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः ।
यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त ।
स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

जीर्यति जीर्णं भवति प्राणिशरीरम् अनयेति जूर्णिः एतत्संज्ञा राक्षसी तस्याः संबुद्धिः । ❀ जॄ वयोहानौ इत्यस्मात् करणे क्तिन् । "बहुलं छन्दसि" इति अनोष्ठ्यपूर्वस्यापि उत्वम् । "ॠकारल्वा-

दिभ्यः क्तिन् निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम्” इति निष्ठावद्भावाद् नत्वम् । यद्वा ज्वरति अनयेति करणे क्तिन् । “ज्वरत्वर०” इत्यादिना वकारोपधयोरूठ् , छान्दसं नत्वम् संबुद्धिगुणाभावश्च । यद्वा “वीज्याज्वरिभ्यो निः” इति [उ० ४. ४८] औणादिको निप्रत्ययः । पूर्ववद् ऊठ् । “कृदिकाराद् अक्तिनः” इति ङीषि “अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः” इति ह्रस्वत्वम् ❀। जूर्णेः स्त्रीत्वाद् यातवोत्र यातुधान्यः । किम् इदानीं किम् इदानीम् इति चरन्त्यो राक्षस्यः किमीदिन्यः । ❀ जसि “वा छन्दसि” इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। अन्यत् समानम् ॥

हे प्राणीके शरीरको जीर्ण करने वाली जूर्णि नाम वाली राक्षसी ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसियें हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदिनी तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित जूर्णि राक्षसी ! तुम जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ ! उसके मांसको खाजाओ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

उप॑ब्दे॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒त॒वः पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिनीः ।
य॒स्य स्थ तम॑त्त॒ यो व॒ः प्राहै॒त् तम॑त्त॒ स्वा मा॒ंसान्य॑त्त ६

उप॑ब्दे । पुन॑ः । व॒ः । य॒न्तु॒ । या॒त॑वः । पुन॑ः । हे॒तिः । कि॒मी॒दि॒नीः ।
यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । व॒ः । प्र॒ऽअहै॑त् । तम् । अ॒त्त॒ ।
स्वा । मा॒ंसानि॑ । अ॒त्त॒ ॥ ६ ॥

हे उपब्दे क्रूरशब्दकारिणि । ❀ उपपूर्वाद् वदतेः शब्दनार्थात् पद्यतेर्वा बद स्थैर्ये इत्यस्माद् वा इन् सर्वधातुभ्यः [उ० ४.११७] इति इन् । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः ❀ । गतम् अन्यत् ॥

हे क्रूर शब्द करनेवाली उपब्द नामवाली राक्षसी ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसियें हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदिनी और दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित उपब्द राक्षसी तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खा जाओ और जिस प्रयोग करनेवालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम खा जाओ ! उसके मांसको खाजाओ ६

सप्तमी ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ७

अर्जुनि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ७ ॥

हे अर्जुनि अर्जुनशीले अर्जुनवर्णे वा ॥

हे अर्जुन वृक्षकी समान वर्णवाली अर्जुनि नामवाली राक्षसी ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसी हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारी किमीदनी तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित अर्जुनि राक्षसी ! तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खाजाओ और जिस प्रयोग करनेवालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको तुम खाजाओ ! उसके मांसको खाजाओ ७

अष्टमी ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ८

भरूजि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः ।
यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्रऽअहैत् । तम् । अत्त ।
स्वा । मांसानि । अत्त ।' ८ ॥

हे भरूजि भ्रियते पोष्यत इति भरुः शरीरम् । तद्ध अपहर्तुम् अञ्चति गच्छतीति भरूची । ❀ डुभृञ् धारणपोषणयोः इत्यस्मात् भृमृशी० [उ० १. ७] इत्यादिना उप्रत्यये भरुः । तस्मिन्नुपपदे “ऋत्विक्०” इत्यादिना अञ्चतेः क्विन् । “अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्” इति ङीप् । “अचः” इत्यकारलोपे “चौ” इति दीर्घः ❀ । उक्तम् अन्यत् ॥

इति द्वितीये काण्डे चतुर्थेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे भरण करनेके पात्र भरु (शरीर) को नष्ट करनेके लिये जाने वाली भरूजी नामवाली राक्षसि ! अलक्ष्मी करने वाली तुम्हारी प्रेरित जो यातनाएँ और राक्षसी हैं वह लौट जावें और हननसाधन तुम्हारे आयुध भी लौट जावें तथा तुम्हारे किमीदन तथा दूसरे अनुचर भी लौट जावें । हे दलबलसहित भरूजी राक्षसी तुम हमारे जिस विरोधीके समीप रहो उसको खाजाओ और जिस प्रयोग करने वालेने तुमको हमारे पास भेजा है उसको भी तुम ख़ाजाओ ! उसके मांस खाजाओ ॥ ८ ॥

द्वितीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५९) ॥

"शं नो देवी पृश्निपर्णी" इति सूक्तेस्य चातनगणे पाठात् शान्त्युदकादौ अस्य विनियोगोवगन्तव्यः ॥

तथा कुष्ठादिसर्वरोगभैषज्यकर्मणि अनेन सूक्तेन पृश्निपर्णी पेषयित्वा लेपयेत् । सूत्रितं हि । "अघद्विष्टा [२. ७] शं नो देवी [२. २५] वरणः [६. ८५] पिप्पली" [६. १०६] इति प्रक्रम्य "द्वितीयेन मन्त्रोक्तस्य संपातवतावसिञ्चत्यनुलिंपति" इति [कौ० ४. २] ॥

"शं नो देवी पृश्निपर्णी" इस सूक्तका चातनगणमें पाठ है अत एव शान्त्युदक आदिमें इस सूक्तका विनियोग करना चाहिये ॥

तथा कुष्ठ आदि सब रोगोंकी चिकित्साके कर्ममें इस सूक्तसे पृश्निपर्णी (पिठवन) को पीस कर लेप करे । इस विषयमें सूत्र का प्रमाण है । यथा–"अघद्विष्टा (२ । ७) शं नो देवी (२ । २५) वरणः (६ । ८५) पिप्पली" (६ । १०६) इति प्रक्रम्य "द्वितीयेन मन्त्रोक्तस्य सम्पातवतावसिञ्चत्यनुलिम्पति–अघद्विष्टा (दूसरे काण्डका सातवाँ सूक्त) शं नो देवी (दूसरे काण्डका पच्चीसवाँ सूक्त) वरण (छठे कांडका पिचासीवाँ सूक्त) और पिप्पली (छठे काण्डका एक सौ नौवाँ सूक्त)" यह कह कर कहा है, कि–"इनमेंसे दूसरे (शं नो देवी) सूक्तसे मन्त्रोक्त सम्पातवाले द्रव्यसे छिड़के फिर लेपन करे" (कौशिकसूत्र ४ । २)"

तत्र प्रथमा ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥१॥

शम् । नः॒ । दे॒वीः । पृ॒श्नि॒ऽप॒र्णी । अश॑म् । निःऽऋ॑त्यै । अ॒कः॒ ।
उ॒ग्रा । हि । क॒ण्व॒ऽजम्भ॑नी । ताम् । अ॒भ॒क्षि॒ । सह॑स्वतीम् ॥१॥

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust and eGangotri

देवी द्योतमाना पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः नः अस्माकं शम् कुष्ठादिरोगशमनेन सुखम् अकः अकार्षीत् करोतु । ❀ ‘छन्दसि लुङ्लङ्लिटः” इति लोडर्थे लुङ् । “मन्त्रे घस०” इत्यादिना च्लेर्लुक् । गुणे “हल्ङ्याब्भ्यः”० इति तिलोपः ❀ । निर्ऋत्यै । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ❀ । निर्ऋत्याः रोगनिदानभूतायाः अशम् दुःखम् अकः करोतु ॥ हि यस्मात् उग्रा उद्गूर्णबला सती कण्वजम्भनी कण्वस्य पापस्य नाशयित्री ॥ अतः सहस्वतीम् रोगाभिभवनसामर्थ्ययुक्तां ताम् पृश्निपर्णीम् अभक्षि अहं भक्षे अनुलेपादिना सेवे । ❀ भक्षेर्लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचने रूपम् । सहस्वतीम् इति । “तसौ मत्वर्थे” इति भत्वेन अपदत्वाद्रुत्वाभावः ❀ ॥

दमकती हुई देवी चित्रपर्णी औषधि कुष्ठ आदि रोगको शान्त करके हमें सुख देय और रोगकी निदानभूत निर्ऋति राक्षसीको दुःख देय, यह चित्रपर्णी (पिठवन) प्रचण्ड बल धारण करके पापका संहार कर डालती है, अत एव इस रोगको दबानेकी शक्ति रखने वाली पृश्निपर्णी (चित्रपर्णी) को मैं खाता हूँ—लेप आदिसे उसका सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स॒ह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्नि॒पर्ण्य॑जायत ।
त॒याहं॑ दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

स॑हमाना । इ॒यम् । प्र॒थ॒मा । पृ॒श्नि॒ऽप॒र्णी । अ॒जा॒य॒त॒ ।
त॑या । अ॒हम् । दु॒ःऽनाम्ना॑म् । शिरः॑ । वृ॒श्चा॒मि॒ । श॒कुने॑ःऽइव ॥२॥

सहमाना रोगान् अभिभवन्ती इयं पृश्निपर्णी प्रथमा प्रथिता ओषधीनां मुख्या आदिभूता वा अजायत उत्पन्ना । ❀ जनी

प्रादुर्भावे । “ज्ञाजनोर्जा” इति जादेशः ❀ ॥ तया उक्तलक्षणया पृश्निपर्ण्या दुर्नाम्नाम् दद्रुविसर्पकश्वित्रादिकुष्ठरोगविशेषाणां शिरः शिरोवत्प्रधानभूतं रोगनिदानम् अहं वृश्चामि छिनद्मि नाशयामि । तत्र दृष्टान्तः । शकुनेरिव यथा पक्षिणः शिरः खड्गादिप्रहरणसाधनम् अनपेक्ष्य अनायासेन छिद्यते एवं पृश्निपर्णिलेपनमात्रेण समूलम् उन्मूलयामीत्यर्थः ॥

रोगोंको दबानेवाली यह पृश्निपर्णी ओषधियोंमें प्रथम उत्पन्न हुई है—प्रसिद्ध है। ऐसी पृश्निपर्णीसे दाद विसर्पक छाजन और कोढ़के शिरकी समान प्रधान रोगकारणको मैं पक्षियोंके शिरकी समान काटता हूँ अर्थात् जैसे पक्षियोंका शिर खड्ग आदि प्रहारके साधनकी अपेक्षा न रख कर अनायास ही काट डाला जाता है इसीप्रकार पृश्निपर्णीके लेपसे ही मैं रोगोंके कारणोंको जड़सहित नष्ट करे डालता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒राय॑मसृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति ।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च ॥ ३ ॥

अ॒राय॑म् । अ॒सृ॒क्ऽपावा॑नम् । यः । च॒ । स्फा॒तिम् । जिही॑र्षति ।
ग॒र्भ॒ऽअ॒दम् । कण्व॑म् । ना॒श॒य॒ । पृश्नि॑ऽपर्णि । सह॑स्व । च॒ ॥ ३ ॥

असृक्पावानम् शरीरगतरक्तस्य पातारम् अरायम् अरातिं कुष्ठादिरोगात्मकम् । नाशयेति संबन्धः । कुष्ठादिरोगेण शरीरपोषकशुद्धरक्तस्यापगमात् पानव्यपदेशः । ❀ पिबतेः “आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च” इति वनिप् प्रत्ययः ❀ । किं च यः रोगो ग्रहण्यादिरूपः स्फातिम् शरीरवृद्धिं जिहीर्षति हर्तुम् इच्छति नाशयितुम् उपक्रमते । तं नाशयेति संबन्धः । ❀ स्फायी वृद्धौ ।

क्तिनि "तितुत्र०" इति इट्प्रतिषेधे वलि लोपः। हरतेः सनि "अज्झनगमां सनि" इति दीर्घे "ऋृत इद्धातोः" इति इत्वम्। यद्वृत्तयोगेन निघातप्रतिषेधे नित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ तथा हे पृश्निपर्णि गर्भादम् गर्भस्य भक्षकं कण्वम् रोगनिदानपापं नाशय सहस्व च गर्भध्वंसकान् शत्रूंश्च अभिभव। ❀ गर्भादम् इति। अद भक्षणे। अस्माद् गर्भोपपदाद् "अदोनन्ने" इति विट् प्रत्ययः ❀ ॥

हे पृश्निपर्णि! शरीरके (शुद्ध) रक्तको पीने (निकालने) वाले कुष्ठादि रोगरूप शत्रुको तू नष्ट कर और जो ग्रहण आदि रोग शरीरकी वृद्धिको हरना चाहता है—नष्ट करता है उसको भी तू नष्ट कर। और हे पृश्निपर्णि! तू गर्भके भक्षक रोगके कारणको नष्ट कर और गर्भको नष्ट करनेवाले (रोगरूप) शत्रुओं को भी नष्ट कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

गिरिम्। एनान्। आ। वेशय। कण्वान्। जीवितऽयोपनान्।
तान्। त्वम्। देवि। पृश्निऽपर्णि। अग्निःऽइव। अनुऽदहन्। इहि ॥४॥

हे पृश्निपर्णि जीवितयोपनान् प्राणस्य मोहकान्। ❀ युप रुप लुप विमोहने। "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀। एनान् उक्तविधान् कण्वान् कुष्ठादिरोगनिदानभूतान् पाप्मनः गिरिम् पर्वतं स्वसंचाररहितम् आ वेशय प्रवेशय। ❀ "गति-बुद्धिप्रत्यवसानार्थ०" इति विशतेर्गत्यर्थाद् अणिकर्तुः पाप्मनः कर्मत्वम् ❀ ॥ हे देवि द्योतमाने हे पृश्निपर्णि त्वं तान् गिरौ

आवेशितान् कण्वान् अनुदहन् अग्निरिव अरण्यस्थितान् सर्पमृगादीन् अनुगम्य दहन् दावाग्निरिव अनुदहन्ती इहि गच्छ । ❀ अनुदहन्निति । अनुदहनलक्षणस्य साधारणधर्मस्य उपमानोपमेयनिष्ठत्वाद् उपमानापेक्षया पुंलिङ्गता । इहीति । इण् गतौ । लोटि अदादित्वात् शपो लुक् ❀ ॥

हे देवी पृश्निपर्णी ! प्राणोंको मोहमें डालनेवाले इन कुष्ठ आदि रोगोंके कारण पापोंको पर्वत पर लेजा और सर्प पशु आदिको भस्म करने वाले दावाग्निकी समान इनको तहाँ भस्म करनेके लिये जा ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

परा॑ञ्च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॑न् जीवि॒तयो॑पनान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

परा॑चः । ए॒ना॒न् । प्र । नु॒द॒ । कण्वा॑न् । जी॒वि॒त॒ऽयो॑पनान् ।
तमां॑सि । यत्र॑ । गच्छ॑न्ति । तत् । क्र॒व्य॒ऽअद॑ः । अ॒जी॒ग॒म॒म् ॥५॥

हे पृश्निपर्णि जीवितयोपनान् एनान् अन्वादिष्टान् कण्वान् पराचः प्रणुद पराङ्मुखान् प्रेरय अपसारय । ❀ परापूर्वाद् अञ्चतेः क्विनि शसि अकारलोपे "अनिगन्तोञ्चतावप्रत्यये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥ तमांसि सूर्योदयानन्तरं यत्र सूर्यरश्मिसंचाररहितं यं प्रदेशं गच्छन्ति तत् तथाविधं निःसूर्यं स्थानं क्रव्यादः पिशितादिधातुभक्षकान् कुष्ठादिरोगान् अजीगमम् त्वल्लेपनेन अहमपि प्रापयामि । ❀ क्रव्यशब्दोपपदाद् अत्तेः "क्रव्ये च" इति विट् प्रत्ययः । गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् ❀ ॥

इति चतुर्थेऽनुवाकेऽष्टमं सूक्तम् ॥

हे पृश्निपर्णी ! प्राणोंको मोहमें डालने वाले इन पापोंको उलटा मुख करके भेज दों, सूर्योदय होने पर सूर्यकी किरणोंके सञ्चारसे रहित जिस देशमें अंधकार जाता है उस सूर्यरहित स्थानमें मांस आदि धातुओंके भक्षक कुष्ठ आदि रोगोंको तुम्हारा लेपन करने से मैं भी भेजता हूँ ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (६०) ॥

"एह यन्तु पशवः" इति सूक्तेन गोपुष्टिकामः अभिनवं पयः वत्सलालामिश्रितं संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा अनेन सूक्तेन गाम् अभिमन्त्र्य दद्यात् ॥

तथैव अनेन उदपात्रम् अभिमन्त्र्य गोष्ठमध्ये निनयेत् ॥

एवं सारूपवत्सौदने गुग्गुलुलवणशकृत्पिण्डान् प्रक्षिप्य पश्चाद् अग्नेस्त्रिरात्रं निखाय चतुर्थेहनि उद्धृत्य अनेन संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

अत्रोक्तं कौशिकेन । "एह यन्तु पशवः [२. २६] सं वो गोष्ठेन [३. १४]" इति प्रक्रम्य "गृष्टे पीयूषं श्लेष्ममिश्रम् अश्नाति गां ददात्युदपात्रं निनयति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

गौओंकी पुष्टि चाहने वाला "एह यन्तु पशवः" सूक्तसे बछड़े की लार मिले नवीन दूधका सम्पातन और अभिमंत्रण करके भक्षण करे ॥

और इस सूक्तसे अभिमंत्रित करके गौको दे ॥

तथा इस सूक्तसे जलपूर्णपात्रको अभिमंत्रित करके गोठके बीच में ले जावे ॥

इसी प्रकार अपने और बछड़ेके एकसे रूप वाली गौके दूधमें बने भातमें गूगल नमक और गोबरके पिण्डों (अन्ने उपलों) को डाल फिर उनको तीन रात तक अग्निमें दवा रक्खे और चौथे दिन निकाल कर सम्पात और अभिमन्त्रण करके भक्षण करे

इस विषयमें कौशिकने कहा, कि—"एह यन्तु पशवः (२ । २६) सं वो गोष्ठेन (३ । १४)" इति प्रक्रम्य "गृष्टेः पीयूषं श्लेष्ममिश्रम् अश्नाति गां ददात्युदपात्रं निनयति" (कौशिकसूत्र ३ । २) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इह य॑न्तु प॒शवो॒ ये प॑रे॒युर्वा॒युर्ये॑षां सह॒चा॑रं जु॒जोष॑ ।
त्वष्टा॒ ये॑षां रू॒पधेया॑नि॒ वेदा॒स्मिन् तान् गो॒ष्ठे स॑वि॒ता
नि य॑च्छतु ॥ १ ॥

आ । इ॒ह । य॒न्तु॒ । प॒श॑वः । ये । प॒रा॒ऽई॒युः । वा॒युः । ये॑षाम् ।
स॒ह॒ऽचा॒रम् । जु॒जो॑ष ।

त्व॑ष्टा । ये॑षाम् । रू॒प॒ऽधे॑यानि । वेद॑ । अ॒स्मिन् । तान् । गो॑ऽस्थे॒ ।
स॒वि॒ता । नि । य॒च्छ॒तु॒ ॥ १ ॥

ये पशवः परेयुः परागताः पराङ्मुखाः पुनरावृत्तिरहिता अगमन् ते सर्वे इह अस्मिन् गोष्ठे आ यन्तु पुनरागच्छन्तु । ❀ इण् गतौ । "इणो यण्" इति यण् आदेशः । ईयुरिति । अस्मादेव धातोर्लिटि उसि पूर्ववद् यणि कृते "द्विर्वचनेचि" इति स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनम् । "दीर्घइणः किति" इति अभ्यासस्य दीर्घः ❀ । येषाम् पशूनां वायुः सहचारम् सहसंचरणं जुजोष सेव ते तद्रक्षणार्थं सह वर्तते । ❀ जुषेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । गोष्ठाद् विनिर्गतानां गवां वायुरेव रक्षक इत्ययम् अर्थस्तैत्तिरीयके स्पष्टम् आम्नायते । "वायवः स्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति" इति [तै० ब्रा० ३. २. १. ४] । येषाम् पशूनां त्वष्टा एतन्नामको देवः रूपधेयानि । ❀ "भाग-

रूपनामभ्यो धेयः” इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः ❀ । गर्भगतवत्सरूपाणि वेद कर्तुं जानाति । करोतीत्यर्थः । “यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते” [तै० सं० १. ५. ६. १] “त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृत्” [तै० ब्रा० ३. ८. ११. २] इत्यादिश्रुतेः । यद्वा रूपधेयानि रूपाणि धेयानि विधातव्यानि वेद । ❀ धाञः कर्मणि यत् । “ईद्यति” इति ईत्वम् ❀ । तान् उक्तान् सर्वान् पशून् अस्मिन् गोष्ठे । गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठम् । तस्मिन् । सविता सर्वप्रेरको देवो नि यच्छतु नियमयतु । यथा पुनर्न गच्छन्ति तथा स्थापयतु इत्यर्थः । ❀ निपूर्वाद् यमेः शपि “इषुगमियमां छः” इति छत्वम् ❀ ॥

जो पशु यहाँसे पराङ्मुख होकर चले गए हैं वे इस गोष्ठमें फिर आजावें, वायु रक्षा करनेके लिये जिन पशुओंके साथमें रहता है † और त्वष्टा देवता जिन गर्भगत पशुओंके नाम और रूपोंको करता है ‡ उन सब पशुओंका सूर्यदेव इस गोष्ठमें नियमन करें अर्थात्

---

† गोठसे बाहर निकली हुईं गौओंके वायुदेव ही रक्षक हैं इस बातको तैत्तिरीयक ब्राह्मणमें स्पष्टरूपसे कहा है, कि–“वायवःस्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्या खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददाति–हे गौओं ! तुम वायु हो अर्थात् अन्तरिक्षके अध्यक्ष वायुकी अधीनतामें रहती हो, पशु अन्तरिक्ष देवता वाले हैं, पुरुष वायुको ही इनको सौंपता है” (तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । २ । १ । ४) ॥

‡ “यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते–सींचें हुए वीर्यमें त्वष्टादेवता रूप बनाते हैं तब वह उत्पन्न होता है” (तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ६ । १) और तैत्तिरीयब्राह्मणकी ३ । ८ । ११ । २) श्रुतिमें कहा है, कि—

जिस प्रकार वे फिर न जा सकें तिस प्रकार यहाँ स्थापित करें १

द्वितीया ॥

इ॒मं गो॒ष्ठं प॒शवः॒ सं स्र॑वन्तु बृह॒स्पति॒रा न॑यतु प्रजा॒नन् ।
सि॒नी॒वा॒ली न॑य॒त्वाग्र॑मेषामाज॒ग्मुषो॑ अनुमते॒ नि
य॑च्छ ॥ २ ॥

इ॒मम् । गो॒ऽस्थम् । प॒शवः॑ । सम् । स्र॒व॒न्तु॒ । बृह॒स्पतिः॑ । आ ।
न॒य॒तु॒ । प्र॒ऽजा॒नन् ।

सि॒नी॒वा॒ली । न॒य॒तु॒ । आ । अग्र॑म् । ए॒षा॒म् । आ॒ऽज॒ग्मु॑षः ।
अ॒नु॒ऽम॒ते॒ । नि । य॒च्छ॒ ॥ २ ॥

पशवः गवाद्या इमम् अस्मदीयं गोष्ठं सं स्रवन्तु संप्राप्नुवन्तु ॥ बृहस्पतिर्देवः प्रजानन् आनयनप्रकारं विद्वान् आ नयतु गोष्ठं प्रापयतु ॥ तथा सिनीवाली एतन्नामिका देवपत्नी दृष्टेन्दुकलामावास्यादेवता वा । एषाम् । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । इमान् पशून् अग्रम् पुरोदेशम् आ नयतु । ❀ सिनीवालीशब्दो यास्केन बहुधा व्याख्यातः । सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । अमावास्ये इति याज्ञिकाः । [या पूर्वामावास्या सा सिनीवाली । योत्तरा सा कुहूरिति विज्ञायते] । सिनीवाली । सिनम् अन्नं भवति । सिनाति भूतानि । वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती वालिनी वा वालेनैवास्याम् अणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा [नि० ११. ३१] इति ❀ । आजग्मुषः आगतान् पशून् अनुगते हे अनुगमनकारिणि हे देवपत्नि पूर्वपौर्णमास्यभिमानि-

---

"त्वष्टा वै पशूनाम् मिथुनानाम् रूपकृत—त्वष्टादेवता पशुओंके जोड़ोंके रूपको बनाने वाले हैं" ॥

देवते वा त्वं नि यच्छ गोष्ठे नियमय। ❀ आजग्मुष इति। आङ्पूर्वाद् गमेः क्वसुः। शसि "वसोः संप्रसारणम्" इति संप्रसारणम् ❀ ॥

गौ आदि पशु मेरी गोठमें आजावें। और गौओंकी लानेकी विधिको जाननेवाले बृहस्पतिजी गौओंको गौष्ठमें पहुँचावें। तथा सिनीवाली नाम वाली देवपत्नी वा अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवता † इन पशुओंको इस सामनेके स्थानमें ले आवें, हे आने की इच्छा रखने वाले पशुओंके पीछे चलने वाली देवपत्नि अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवता! तुम इनको गोष्ठमें रक्खो ॥२॥

तृतीया ॥

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥३॥

सम्। सम्। स्रवन्तु। पशवः। सम्। अश्वाः। सम्। ऊं इति। पुरुषाः। सम्। धान्यस्य। या। स्फातिः। सम्ऽस्राव्येण। हविषा। जुहोमि॥ ३॥

पशवः गवाद्याः सं सं स्रवन्तु सम्यग् आगच्छन्तु। ❀ "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इति समो द्विर्वचनम् ❀ ॥ तथा अश्वाः। सम्

---

† यास्कमुनिने सिनीवाली शब्दको व्याख्या अनेक प्रकारसे की है यथा "निरुक्तको जानने वाले कहते हैं, कि—सिनीवाली और कुहू ये दो देवपत्नियें हैं। और याज्ञिक कहते हैं, कि—यह अमावास्याके नाम हैं। जिसकी (वाल) गाँठमें अन्न (सिन) पुरा हुआ होता है, वह सिनीवाली कहलाती है, और वालरूपसे अणुरूपसे चन्द्रमा इसमें सेवितव्य होता है इसलिये यह सिनीवाली कहलाती है" (निरुक्त ११। ३१)॥

इत्युपसर्गश्रवणात् सर्वत्र स्रवन्तु इति संबन्धः ॥ तथा पुरुषाश्च सेवकाद्याः ॥ धान्यस्य व्रीहियवादेर्या स्फातिः अभिवृद्धिः सापि [सं] स्रवतु ॥ अहमपि तत्सिद्धये संस्राव्येण संस्रावणार्हेण आज्येन हविषा जुहोमि ॥

गौ आदि पशु भली प्रकार आवें तथा घोड़े भी भली प्रकार आवें और सेवक आदि पुरुष भी प्रचुररूपमें आवें और धान जौ आदिकी वृद्धि भी मेरे यहाँ भली प्रकार हो, मैं भी उसकी सिद्धिके लिये घृतकी हविको होमता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । सम् । आज्येन । बलम् । रसम् ।

सम्ऽसिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः । मयि ।

गोऽपतौ ॥ ४ ॥

गवाम् । अत्र गोशब्देन गृष्टयो विवक्षिताः । गृष्टीनां क्षीरम् अभिनवं पयः आज्येन सं सिञ्चामि गवां क्षीरं सम् आज्येन संपातयामि । ❀ गवाम् इति । "[न] गोश्वन्त्साववर्ण०" इति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेधः ❀ ॥ तथा आज्येन बलम् बलकरम् अन्नं रसम् उदकं च बलकरं रसमेव वा । सं सिञ्चामीति संबन्धः ॥ अस्माकं वीराः पुत्राद्याः संसिक्ताः घृतादिना संसिक्तशरीराः दृढगात्राः । भवन्तु इति शेषः ॥ तदर्थं गोपतौ गोस्वामिनि मयि गावः ध्रुवाः स्थिरा भवन्तु । ❀ गोपताविति । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ ॥

मैं पहलौन गौओंके दूधका घृतसे सिञ्चन करता हूँ तथा बलप्रद अन्नको और जल वा बलवर्धक रसको घृतसे सींचता हूँ, हमारे पुत्र संसिक्त हों अर्थात् घृत आदिसे उनके शरीर दृढ़ हों। इसलिये मुझ गोस्वामीमें गौएँ स्थिर रहें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

आ । हरामि । गवाम् । क्षीरम् । आ । अहार्षम् । धान्यम् । रसम् ।
आऽहृताः । अस्माकम् । वीराः । आ । पत्नीः । इदम् । अस्तकम् ॥५॥

गवां क्षीरम् उक्तप्रयोगेण आ हरामि आनयामि । गोसंपत्त्या बहुतरं क्षीरसंपन्नो भवामीत्यर्थः ॥ तथा धान्यं रसं च आहार्षम् आहृतवान् अस्मि ॥ तथा अस्माकं वीराः पुत्राद्या आहृताः आनीताः प्राप्ताः । पत्नीः पत्न्यश्च । आ इत्युपसर्गश्रवणात् हृता इति संबन्धः ॥ उक्तानां सर्वेषां किं प्रति आहरणम् इति तद् आह । इदम् संनिहितम् अस्मत्संबन्धि अस्तकम् । ❀ अस्तम् इति गृहनाम । स्वार्थे कः ❀ । गृहम् । गोधान्यपुत्रादिभिरस्मद्गृहं सर्वतः पूर्णं भवतु इति भावः ॥

इति द्वितीये काण्डे चतुर्थेनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्चतुर्थोऽनुवाकः ॥

मैं अपने घरमें इस प्रयोगसे गौओंके दूधको लारहा हूँ और धान्य तथा रसको भी ला रहा हूँ और अपने पुत्र आदिको भी ला रहा हूँ और पत्नियोंको भी घरमें लारहा हूँ। तात्पर्य यह है, कि-हमारा घर गौ धान्य पुत्र आदिसे पूर्ण होजाय ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके चतुर्थ अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (६१)॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त

पञ्चमेनुवाके पञ्च सूक्तानि। तत्र "नेच्छत्रुः" इति प्रथमेन सूक्तेन विवादजयकर्मणि पाठामूलम् अभिमन्त्र्य खादन् अपराजिताद् देशात् सभास्थानं प्रविशेत् ॥

तथा अनेन अभिमन्त्रितां पाठां खादन् प्रतिवादिनं ब्रूयात् ॥

एवं पाठामूलं संपात्य अनेनाभिमन्त्र्य बध्नीयात् ॥

एवमेव अनेनाभिमन्त्रितां पाठामालां सप्तभिः पत्रैर्विरचितां शिरसि धारयेत् ॥

सूत्रितं हि। "नेच्छत्रुरिति पाठामूलं प्रतिप्राशितम् अन्वाह बध्नाति मालां सप्तपलाशीं धारयति" इति [कौ० ५. २]॥

तथा "अपराजितां विजयकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायाम् अपराजिताख्यायां महाशान्तौ पाठामूलमणिबन्धनेपि एतत् सूक्तम्। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "नेच्छत्रुरिति पाठामूलम् अपराजितायाम्" इति [न० क० १९]॥

पाँचवें अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं। उनमें "नेच्छत्रुः" इस प्रथम सूक्तसे विवादमें विजय पानेके कर्ममें पेठेकी जड़को अभिमंत्रण करके खाता हुआ अपराजित स्थानसे सभास्थानमें प्रवेश करे ॥

तथा इस सूक्तसे अभिमंत्रित पेठेको खाता हुआ प्रतिवादीसे बोले

इसी प्रकार पाठाकी जड़के लिये होम करके इस सूक्तसे अभिमंत्रण करके बाँध लेय ॥

इसी प्रकार इस मन्त्रसे अभिमंत्रित पाठाकी सात पत्तोंसे रची हुई मालाको शिर पर धारण करे ॥ सूत्रमें भी कहा है, कि— "नेच्छत्रुरिति पाठामूलं प्रतिप्राशितम् अन्वाह बध्नाति मालाम् सप्तपलाशीम् धारयति" (कौशिकसूत्र ५। २)॥

इसी प्रकार "अपराजितां विजयकामस्य—विजयकी कामना वालेको अपराजिता महाशांतिको करावे" इस नक्षत्रकल्प सत्रहसे विहित अपराजिता नाम वाली महाशान्तिके पाठामूलमणिबंधन

में भी यह सूक्त पढ़ा जाता है। इस बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"नेच्छत्रुरिति पाठामूलम् अपराजितायाम्" (नक्षत्रकल्प १९)॥

तत्र प्रथमा ॥

नेच्छत्रु॒ः प्राशं॑ जया॑ति॒ सह॑मानाभि॒भूर॑सि ।
प्राशं॒ प्रति॑प्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शत्रु॑ः । प्राश॑म् । ज॒या॒ति॒ । सह॑माना । अ॒भि॒ऽभूः । अ॒सि॒ ।
प्राश॑म् । प्रति॑ऽप्राशः । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ १ ॥

हे पाठाख्ये ओषधे शत्रुः प्रतिवादी प्राशम् प्रष्टारं वादिनं त्वत्सेवकं मां नेत् जयाति। इदिति अवधारणे । नैव जयतु। ❀ प्राशम् इति । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् इत्यस्मात् "क्विब्वचि०" इत्यादिना क्विप् तत्संनियोगेन दीर्घः संप्रसारणाभावश्च । "च्छ्वोः शूडनुनासिके च" इति सतुक्कस्य छकारस्य शकारः। जयातीति। जयतेर्लेटि आडागमः ❀ ॥ यतस्त्वं सहमाना शत्रुसहनस्वभावा अतः अभिभूरसि प्रतिवादिनः शत्रोरभिभवित्री भवसि । एवम् अतिशयितवीर्ययुक्तायास्तव सेवया मां शत्रुर्न जयतु इत्यर्थः । अस्याः सहनशीलत्वं श्रुत्यन्तरे सिद्धवद् आम्नातम् । "उत्तानपर्णे सुभगे सहमाने सहस्वति" । "उप तेधां सहमानाम्" इति च [ऋ० १०, १४५, ६] ॥ प्राशम् प्रष्टारं वादिनं माम् उद्दिश्य प्रतिप्राशः प्रतिकूलप्रश्नकर्तॄन् प्रतिवादिनो जहि पराजितान् कुरु। ❀ "हन्तेर्जः" इति जादेशः। "असिद्धवद् अत्राभात्" इति तस्यासिद्धत्वात् हेर्लुगभावः ❀ । यद्वा । ❀ प्रतिप्राश इति षष्ठी ❀ । प्रतिवादिनः प्राशम् प्रश्नं जहीत्यर्थः । ❀ प्रतिपूर्वात् प्रच्छेः पूर्ववत् प्रक्रिया ❀ । पराजयप्रकारमेवाह। हे ओषधे प्रति-

वादिवाक्यजनिततापापहर्त्रि । ❀ ओषः पाकोस्यां धीयत इति “कर्मण्यधिकरणे च” इति दधातेरधिकरणे क्विप्रत्ययः ❀ । यद्वा ओषे दाहके ज्वरादौ एनां पाठादिरूपां वैद्योपदेशप्रकारेण धयन्ति पिबन्ति आतुरा इति ओषधिः । अपि वा दोषं वातपित्तादिकं धयति पिबति विनाशयतीति ओषधिः । ❀ पृषोदरादित्वाद् आदिवर्णलोपः । पक्षद्वयेपि धेटः अनुपसर्गे सुबन्तमात्र उपपदे व्यत्ययेन क्विप्रत्ययः । अत्र यास्कः । ओषधय ओषद्धयन्तीति वा ओषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा इति [नि० ९. २७] ❀ । हे तथाविधौषधे प्रतिवादिनः अरसान् नीरसान् शुष्ककण्ठान् वक्तुम् असमर्थान् कृणु कुरु । यद्वा अरसान् रसरहितवाक्यान् । असंगतप्रलापिनः कुरु इत्यर्थः ॥

हे पाठा नामवाली ओषधे ! तेरे सेवक मुझको प्रतिवादी शत्रु कभी न जीत सके, तू स्वभावतः शत्रुओंकी टक्करोंको झेलती है अतः तू प्रतिवादी शत्रुको दबाने वाली है ऐसे श्रेष्ठवीर्य वाली तेरी सेवा करनेसे शत्रु मुझे न जीतसके । मुझ प्रश्न करनेवाले वादीका ध्यान रख कर तू प्रतिकूल प्रश्न करने वाले वादीको हरा दे । (पराजयकी रीति यह है, कि—) हे प्रतिवादीके दिये हुए तापको हरने वाली, वैद्यके उपदेशके अनुसार रोगी जिसको पीते हैं, और जो वात पित्त आदि दोषको पीजाती है (नष्ट कर डालती हैं) ऐसी हे पाठा (आदि) ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे हुए कण्ठ वाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर उनको असगत वाक्य वाले कर ॥ १ ॥

द्वितीया

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ २ ॥

सुऽपर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

सुपर्णः शोभनपक्षो वैनतेयस्त्वा त्वाम् अन्वविन्दत् विषाद्यपहरणाय अन्विष्य अलभत । ❀ विद्लृ लाभे । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् ❀ ॥ सूकरः आदिवराहस्त्वा त्वां नसा नासिकया तत्सहितया दंष्ट्रया अखनत् विदारितवान् । भूम्या अन्तरवस्थितां त्वां लोकोपकारार्थम् उदहार्षीद् इत्यर्थः । अनेन अस्या अमोघवीर्यत्वम् उक्तम् ॥ प्राशं प्रतिप्राशम् इत्यादि गतम् ॥

सुन्दर पर वाले गरुड़ने तुझको विष आदिका प्रभाव दूर करनेके लिये खोज करने पाया था और आदि–शूकरने तुझको नाक सहित डाढ़से खोदा था अर्थात् भूमिके भीतर स्थित तुझको लोकोपकारके लिये निकाला था इस प्रकार यह ओषधि अमोघ है यह कहदिया, हे ऐसी ओषधे ! मुझ प्रश्नकर्ताको लक्ष्यमें रख कर तू प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले वादियोंको हरा दे, हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठवाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनके वाक्योंमें रस न हो अर्थात् उनको असंगत वाक्यवाले कर ॥२॥

तृतीया ॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः । ह । चक्रे । त्वा । बाहौ । असुरेभ्यः । स्तरीतवे ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ३ ॥

हे पाठे त्वाम् इन्द्रस्त्रिलोकीपतिः असुरेभ्यः असुरान् तरीतवे स्तरीतुम् । हिंसितुम् इत्यर्थः । बाहौ दक्षिणभुजे चक्रे कृतवान्

धृतवान् ॥ तथा अहमपि प्रतिवादिविजयार्थं त्वाम् ॥ गतम् अन्यत् । ❀ असुरेभ्य इति। "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी । "तुमर्थेसेसेनसे०" इत्यादिना तवेप्रत्ययः । "वृतो वा" इति इटो दीर्घः ❀ ॥

हे पाठे ! त्रिलोकीके स्वामी इन्द्रने असुरोंको मारनेके लिये तुझे अपनी दाहिनी भुजा पर रक्खा था (बाँधा था) इसीप्रकार मैं भी प्रतिवादीको जीतनेके लिये तुझे अपने दाहिने हाथ पर बाँधता हूँ । हे ओषधे ! तू अपने सेवक मुझ प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले वादियोंको हरा दे, हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठवाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

पा॒टामिन्द्रो॒ व्या॑श्ना॒दसु॑रेभ्य॒ स्तरी॑तवे ।
प्राशं॒ प्रति॑प्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ४ ॥

पा॒टाम् । इन्द्रः॑ । वि । आ॒श्ना॒त् । असु॑रेभ्यः । स्तरी॑वते ।

प्रा॑शम् । प्रति॑ऽप्राशः । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ४ ॥

पाठाम् उक्तप्रभावाम् ओषधिम् असुरांस्तरीतुम् इन्द्रो व्याश्नात् । अभक्षयत् । ❀ अश भोजने। क्र्यादित्वात् श्नाप्रत्ययः ॥ गतम् अन्यत् ❀ ॥

इन्द्रदेवने ऐसे प्रभाव वाली पाठा नामकी ओषधिको असुरोंको जीतनेके लिये खाया था हे ओषधे ! तू अपने सेवक मुझ प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करने वाले वादियोंको हरा दे, हे औषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठ वाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया । अहम् । शत्रून् । साक्षे । इन्द्रः । सालावृकान्ऽइव ।
प्राशम् । प्रतिऽप्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ५ ॥

या उदीरितप्रभावा पाठा तयाहं धारणभक्षणादिना शत्रून् प्रतिवादिनः साक्षे अभिभवामि । निरुत्तरान् असत्प्रायान् करोमीत्यर्थः । ❀ सहतेरभिभवार्थात् लेटि उत्तमे "सिब्बहुलं लेटि" इति सिप् । "सिब्बहुलं छन्दसि णिद्व वक्तव्यः" इति सिपो णिद्वद्भावाद् वृद्धिः ❀ । तत्र दृष्टान्तः । इन्द्रो देवः सालावृकान् । अरण्यश्वानः सालावृकाः । तद्रूपान् असुरान् यथा विगीर्णवान् ॥ अयमेवार्थो दाशतय्या स्पष्टम् आम्नातः । "त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रं आसन् दधिषे" इति । [ऋ० १०. ७३. ३] ॥

जैसे इन्द्रने जंगली कुत्तोंकी समान असुरोंको निरुत्तर कर दिया था † इसी प्रकार मैं प्रसिद्ध प्रभाव वाली पाठाका भक्षण और सेवन करके प्रतिवादी शत्रुओंको निरुत्तर करता हूँ। हे ओषधे ! तू अपने सेवक मुझ प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले प्रतिवादियोंको हरा दे, हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठ वाले अत एव बोलनेमें असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ५ ॥

---

† ऋग्वेदसंहिता १० । ७३ । ३ में कहा है, कि–"त्वमिन्द्र सालावृकान्त्सहस्रं आसन् दधिषे–हे इन्द्र ! तुम जंगली कुत्तोंकी समान हजारों असुरोंको निरुत्तर कर चुके हो" ॥

षष्ठी ॥

रुद्र॒ जला॑षभेष॒ज नील॑शिखण्ड॒ कर्म॑कृत् ।
प्राश॒ं प्रति॑प्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ६ ॥

रु॑द्र । जला॑षऽभेषज । नील॑ऽशिखण्ड । कर्म॑ऽकृत् ।
प्रा॑शम् । प्रति॑ऽप्राशः । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒ष॒धे॒ । ६ ॥

रौति शब्दायते तारकं ब्रह्म उपदिशतीति रुद्रः । तथा च जाबालश्रुतिः । "अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे" इति [जा० उ० १] । शब्दब्रह्मात्मना रोरूयमाणो द्रवति सर्वप्राणिहृदये वर्तत इति वा अस्त्रेण छिन्नशिरसं शोचन्तं प्रजापतिम् अनु स्वयमपि शोकवशाद् अरोदीद् इति वा उत्पत्तिकाले स्वयम् अरुदद् इति वा रोदयति सर्वम् अन्तकाल इति वा रुद्रः । तद् उक्तं यास्केन । रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति विज्ञायते । यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम् यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रवकम् [नि० १०, ५] इति । तथा महोपनिषदि । "तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोजायत बिभ्रच्छ्रियं सत्यम्" इति [महोप० १] । अथर्वशिरस्यपि । "संयुगस्यान्तकाले संहृत्य विश्वा भुवनानि गोप्ता तस्माद् उच्यत एको रुद्रः" इति [अ० शि० उ० ४] । अथवा रुत् रोदनकरम् सांसारिकं दुःखं तद्धेतुभूताम् अविद्यां वा द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । तद् उक्तं वायवीयसंहितायाम् ॥

रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः ।
रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ।

इति । हे उक्तमहिमोपेत रुद्र जलाषभेषज । जलाषम् इति सुख-

नाम । जायन्त इति जाः जनाः । ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति जनेः केवलादपि डः ❀ । तैर्लष्यते वाञ्छ्यत इति जलाषं सुखम् । ❀ जशब्दे उपपदे लषेः कर्मणि घञ् ❀ । जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । यद्वा उदकनामैतत् । जलाषम् उदकमात्रं यस्य स्मरणेन भेषजं भवति स तथोक्तः । तस्य ध्येयम् आकारं दर्शयति । नीलशिखण्ड नीलवर्णकपर्दोपेत । अनेन नित्यतारुण्यम् उक्तम् । हे कर्मकृत् स्वोपासकानां दुष्कर्माणि कृन्ततीति कर्मकृत् । अथवा साध्वसाधुरूपाणि कर्माणि कारयतीति कर्मकृत् । ❀ करोतेरन्तर्भावितण्यर्थात् क्विप् ❀ । "एष ह्येव साधु कर्म कारयति" (कौ० ब्रा० ३. ८]इत्यादिश्रुतेः । यद्वा सृष्टयादीनि पञ्च कृत्यानि करोतीति कर्मकृत् । उक्तं हि ।

पञ्चविधं तत् कृत्यं सृष्टिः स्थितिसंहृती तिरोभावः ।
तद्वद् अनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ।

इति । एवंमहानुभाव रुद्र मया सेव्यमानाम् इमां पाठाख्याम् ओषधिं प्रतिवादितिरस्करणसमर्थां कुरु इति शेषः ॥ एवं रुद्रानुगृहीते पाठाख्ये ओषधे । प्राशं प्रतिप्राशो जहीत्यादि पूर्ववत् ॥

हे तारक ब्रह्मका उपदेश देनेवाले रुद्र !‡ हे स्मरणमात्रसे जल

---

‡ जाबाल उपनिषत् १ में कहा है, कि–"अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे–प्राणोंके निकलते समय रुद्र जन्तुको तारक ब्रह्मका उपदेश देते हैं" ॥ रौति शब्दायते तारकं ब्रह्मउपदिशतीति रुद्रः । अथवा शब्दब्रह्मरूपसे रोरूयमाण द्रवते हैं–सब प्राणियोंके हृदयमें रहते हैं इस कारण शिव रुद्र कहलाते हैं, वा अस्त्रसे छिन्न शिर वाले शोक करते हुए प्रजापतिके पीछे आप भी रोने लगे वा उत्पत्तिकालमें अपने आप रोये वा अन्तकालमें सबको रुलाते हैं इस कारण महादेवजी रुद्र कहलाते हैं । इसी बातको यास्कमुनिने भी कहा है, कि "रुद्रो रौतीति

को औषध बतानेवाले, नीलवर्णकी शिखा वाले और अपने उपासकोंके दुष्कर्मको काटनेवाले साधु असाधु कर्मोंको करानेवाले † अथवा सृष्टि आदि पाँच कर्मोंको करनेवाले + महानुभाव रुद्र !

सतो रोरूयमाणे द्रवतीति वा रोदयते र्वा। यद् अरुदत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वं इति विज्ञायते। यत् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति काठकम् यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रवकम्—० जो रोये वही रुद्रका रुद्रत्व है, ऐसा कठ शाखा वाले कहते हैं। और हारिद्रव कहते हैं, कि—जो रुलाता है यही रुद्रका रुद्रत्व है ॥" [नि० १० । ५) ॥ महोपनिषत् १ में कहा है, कि—तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत बिभ्रच्छ्रियं सत्यम्—उस ध्यानमग्नके ललाटसे तीन नेत्र वाला शूलपाणि शोभाधारी पुरुष उत्पन्न हुआ " ॥ अथर्वशिर उपनिषत् ४ में भी कहा है, कि—"युगस्यान्तकाले संहृत्य विश्वा भुवनानि गोप्ता तस्माद् उच्यते रुद्र एकः ॥—रुद्र प्रलयके समय सब प्राणियोंका (अपनेमें) संहार करके सब भुवनोंकी रक्षा करते हैं, इस कारण एक कहलाते हैं॥" अथवा रुलाने वाले संसारदुःखकी हेतु अविद्यारूप रुद्रको द्रावते हैं—भागते हैं—नष्ट करते हैं अतएव महादेव रुद्र कहलाते हैं। इसी बातको वायवीयसंहितामें कहा है, कि—"रुद्र दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः। रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ॥ दुःख वा दुःखका कारण रुद्र कहलाता है उसको हमारे प्रभु परम कारण शिव "द्रावयति" भगाते हैं, इससे वह रुद्र कहलाते हैं ॥

† कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्में कहा है, कि—एष एव साधु कर्म कारयति—यही साधु (अच्छा) कर्म कराता है"

+ सृष्टि स्थिति संहार तिरोभाव तथा अनुग्रह करना ये महादेवजी के पाँच कर्म हैं। इसी बातको कहा भी है, कि—"पञ्चविधं तत् कृत्यं सृष्टिः स्थितिसंहती तिरोभावः। तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य" ॥

आप मुझसे सेवित इस पाठाकी औषधिको प्रतिवादियोंका तिरस्कार करनेमें समर्थ करिये। हे ओषधे ! तू अपने सेवक प्रश्नकर्ताका ध्यान रख कर प्रतिकूल प्रश्न करनेवाले वादियोंको हरा दे, हे ओषधे ! तू प्रतिवादियोंको सूखे कण्ठवाले अत एव बोलने में असमर्थ कर, उनको नीरस वाक्य वाले कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

तस्य॒ प्राशं॒ त्वं॑ ज॑हि॒ यो॑ न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति ।
अधि॑ नो ब्रूहि॒ शक्ति॑भिः प्रा॒शि मामुत्त᳚रं कृधि ॥७॥

तस्य॑ । प्रा॑शम् । त्वम् । ज॒हि॒ । यः । न॒ः । इ॒न्द्र॒ । अ॒भि॒ऽदास॑ति ।
अधि॑ । न॒ः । ब्रू॒हि॒ । शक्ति॑ऽभिः । प्रा॒शि । माम् । उत्ऽत॑रम् । कृ॒धि॒ ७

हे इन्द्र यः प्रतिवादी नः अस्मान् अभिदासति उपक्षपयति युक्तिभिस्तिरस्करोति । ❀ दसु उपक्षये इत्यस्माद् ण्यन्तात् परस्य शपः "छन्दस्युभयथा" इति आर्धधातुकत्वात् "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । तस्य उपक्षपयितुः प्राशम् प्रतिकूलप्रश्नरूपं वाक्यं त्वं जहि नाशय ॥ तथा शक्तिभिः त्वदीयैः सामर्थ्यविशेषैः नः अस्मान् अधि ब्रूहि अधिकवचनयुक्तान् ग्राह्यवाचः कुरु । फलितम् आह । प्राशम् प्रष्टारं वादिनं माम् उत्तरम् प्रतिवादिनोप्युत्कृष्टतरं कृधि कुरु। "श्रुशृणुकृपृवृभ्यश्छन्दसि" इति हेर्धिरादेशः ॥

इति पञ्चमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे इन्द्र ! जो प्रतिवादी हमैं युक्तियोंसे क्षीण कर रहा है उसके प्रतिकूल प्रश्नरूप वाक्योंका आप नाश करिये तथा अपनी शक्तिसे आप हमको वचनोंको पकड़ने वाला अर्थात् वचनोंमें दोष निकालने वाला करिये तात्पर्य यह है, कि–मुझ प्रश्नकर्ता वादीको प्रतिवादीसे परमश्रेष्ठ करिये ॥ ७ ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६२) ॥

“तुभ्यमेव जरिमन्” इति सूक्तेन गोदानचौलकर्मणोर्मातापितरौ परस्परं पुत्रं त्रिः प्रत्यर्पतः ॥

तथा तत्रैव कर्मणि अनेन सूक्तेन घृतपिण्डान् संपात्य अभिमन्त्र्य पुत्रं प्राशयतः ॥

सूत्रितं हि । “तुभ्यमेव जरिमन्निति कुमारं मातापितरौ त्रिः प्रयच्छेते घृतपिण्डान् आशयतः” इति [कौ० ७. ५] ॥

“तुभ्यमेव जरिमन्” इस सूक्तसे गोदान और चौलकर्म में माता पिता पुत्रको तीन वार एक दूसरेको दें ॥

तथा इसी कर्म में इस सूक्तसे तीन घृतपिण्डोंका सम्पातन और अभिमन्त्रण करके पुत्रको खिलावें ॥

कौशिकसूत्र ७ । ५ में भी कहा है, कि—“तुभ्यमेवं जरिमन्निति कुमारं मातापितरौ त्रिः प्रयच्छेते घृतपिण्डान् आशयतः” ॥

तत्र प्रथमा ॥

तुभ्य॑मे॒व ज॑रिमन् वर्धता॑म॒यं मेमम॒न्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः
श॒तं ये ।
मा॒तेव॑ पु॒त्रं प्रम॑ना उ॒पस्थे॑ मि॒त्र ए॑नं मि॒त्रिया॑त् पा॒त्वंह॑सः

तुभ्य॑म् । ए॒व । ज॒रि॒म॒न् । व॒र्ध॒ता॒म् । अ॒यम् । मा । इ॒मम् ।

अ॒न्ये । मृ॒त्यव॑ः । हिं॒सि॒षुः॒ । श॒तम् । ये ।

मा॒ता॑ऽइव । पु॒त्रम् । प्रऽम॑नाः । उ॒प॒ऽस्थे॑ । मि॒त्रः । ए॒न॒म् ।

मि॒त्रि॒या॑त् । पा॒तु॒ । अंह॑सः ॥ १ ॥

जरिमन् जरतिः स्तुतिकर्मा । ❀ जरा स्तुतिर्जरते स्तुतिकर्मण इति यास्कः [नि० १०. ८] । तस्मात् कर्मणि औणादिक इम-

निच् ❀ । हे स्तूयमान अग्ने तुभ्यमेव त्वत्परिचरणार्थमेव अयम् कुमारो वर्धतां रोगादिरहितः सन् अभिवृद्धो भवतु । यद्वा जरिमन् । जरैव जरिमा । हे जरे तुभ्यं त्वदर्थं त्वदागमनपर्यन्तं चिरकालम् अयं वर्धताम् ।। किं च । शतम् शतसंख्योपलक्षिता अपरिमिता अन्ये त्वद्व्यतिरिक्ता ये मृत्यवः हिंसका रक्षःपिशाचादिरोगाद्याः सन्ति ते सर्वेपि इमं बालकं मा हिंसिषुः मा हिंसन्तु ।। तथा प्रमनाः प्रमुदितमना मित्रः एतन्नामा देवः मातेव पुत्रम् माता पुत्रमिव एनम् बालकम् उपस्थे उत्संगे निकटप्रदेशे कृत्वा मित्रियात् मित्रसंबन्धिनः अंहसः द्रोहजनितात् पापात् पातु रक्षतु ।।

हे अग्ने ! यह बालक आपकी सेवा करनेके लिये ही रोग आदिसे रहित होकर वृद्धिको प्राप्त होता रहे । और हे जरे ! तेरे आने तक यह बालक बढ़े और तेरे अतिरिक्त जो सैंकड़ों राक्षस पिशाच रोग आदि मृत्युके रूप हैं, वे सब इस बालकको न मार सकें और प्रमुदित मनवाले मित्रनामक देवता माता जैसे पुत्रकी रक्षा करती है तिस प्रकार इस बालकको समीपमें रख कर मित्र संबंधी द्रोहजनित पापसे रक्षा करें ।। १ ।।

द्वितीया ।।

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां
जनिमा विवक्ति ।। २ ।।

मित्रः । एनम् । वरुणः । वा । रिशादाः । जराऽमृत्युम् । कृणुताम् ।
सम्ऽविदानौ ।

तत् । अग्निः । होता । वयुनानि । विद्वान् । विश्वा । देवानाम् ।

जनिम । विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः अहरभिमानी देवः वरुणः रात्र्यभिमानी । "मैत्रं वा अहः वारुणी रात्रिः" इति [तै० ब्रा० १.७.१०.१] श्रुत्यन्तरात् । स च वरुणो रिशादाः रिशानां हिंसकानाम् अत्ता । ❀ रिश हिंसायाम् इत्यस्मात् इगुपधलक्षणः कः । अद भक्षणे इत्यस्माद् असुन् ❀ । वाशब्दः चार्थे । तावुभौ संविदानौ ऐकमत्यं प्राप्तौ । ❀ संपूर्वाद् वेत्तेरकर्मकात् "समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपदम् । लटः शानच् ❀ । एनम् माणवकं जरामृत्युम् जरयैव मृत्युर्मरणं यस्य तथाविधं कृणुताम् कुरुताम् । अहोरात्रयोरेव मरणसंभवात् तन्निवारणाय तदभिमानिदेवयोर्मित्रावरुणयोः प्रार्थनेति भावः ॥ होता देवानाम् आह्वाता वयुनानि । प्रज्ञानामैतत् । इह तु सामर्थ्यात् प्रज्ञातव्यानि विद्वान् जानन् अग्निः देवानां विश्वा विश्वानि सर्वाणि [जनिमा] जनिमानि जन्मानि प्रादुर्भावस्थानानि । प्राप्येति शेषः । तत् प्रार्थितं दीर्घम् आयुः विवक्ति ब्रवीतु । अग्निप्रमुखाः सर्वे देवाश्चास्य दीर्घम् आयुः कुर्वन्तु इत्यभिप्रायः । ❀ विवक्तीति । वचेः पञ्चमलकारे छान्दसः शपः श्लुः । "बहुलं छन्दसि" इत्यभ्यासस्य इत्वम् । जनिमेति । जनिमृङ्भ्याम् इमनिन् [उ० ४. १४८] इति इमनिन् ❀ ॥

दिनके अभिमानी देवता मित्र और रात्रिके अभिमाजी देवता वरुण † ये दोनों एकमत होकर इस बालकको जरामृत्यु वाला करें अर्थात् इसको बुढ़ापेमें ही मरने वाला करें † । देवताओंके

---

‡ तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ७ । १० । १ में कहा है, कि—"मैत्रं वा अहः वारुणी वा रात्रिः—दिनके देवता मित्र (सूर्य) हैं और रात्रि के देवता वरुण हैं" ॥

‡ दिन और रात्रिमें ही मरण होना संभव है अतः उसको

आह्वानकर्ता और जानने योग्य वस्तुओंको जानने वाले अग्निदेव सब देवताओंके प्रादुर्भावस्थानमें जाकर इस प्रार्थित दीर्घ आयुको कहें, तात्पर्य यह है, कि–अग्नि आदि सब देवता इस बालको दीर्घायु करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये
जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो
अमित्राः ॥ ३ ॥

त्वम् । ईशिषे । पशूनाम् । पार्थिवानाम् । ये । जाताः । उत । वा । ये । जनित्राः ।

मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । मा । इमम् । मित्राः । वधिषुः । मो इति । अमित्राः ॥ ३ ॥

हे अग्ने त्वं पार्थिवानाम् पृथिव्याम् उत्पन्नानाम् । ❀ "पृथिव्याञावञौ" इत्यञ् प्रत्ययः । ञित्त्वाद् आद्युदात्तत्वम् ❀ । पशूनाम् द्विपाच्चतुष्पाद्रूपाणां प्राणिनाम् । ❀ "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति षष्ठी ❀ । ईशिषे अधिपतिरसि । ❀ ईश ऐश्वर्ये । "थासः से" । अदादित्वात् शपो लुक् । "ईशः से" इति इडागमः ❀ । तानेव पशून् विशिनष्टि । ये जाताः पूर्वम् उत्पन्नाः उत वा । उतशब्दः अप्यर्थे । अपि वा ये जनित्राः जनिष्यमाणाः ।

हटानेके लिये दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मित्र और वरुणदेवकी प्रार्थनाकी है ॥

तेषाम् इति संबन्धः । ❀ जनेरौणादिक इत्रप्रत्ययः ❀ ॥ अतस्त्वत्प्रसादाद् इमम् माणवकं प्राणः ऊर्ध्वकायस्थो वायुः मा हासीत् मा त्याक्षीत् । अपानः अधरकायस्थो वायुः मो मैव हासीत् । ❀ ओहाक् त्यागे । "यमरमनमातां सक् च" इति सगिटौ ❀ ॥ तथा मित्राः । लिङ्गव्यत्ययः । मित्रभूता जनाः इमं कुमारं मा वधिषुः मा हिंसिषुः । अमित्राः शत्रवश्च मो मैव वधिषुः । ❀ हन्तेः "लुङि च" इति वधादेशः । तस्य अदन्तत्वेन अनेकाच्त्वाद् एकाज्लक्षणेट्प्रतिषेधाभावात् सिच इट् । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद् "अतो हलादेर्लघोः" इति वृद्धेरप्रसङ्गः ❀ ॥

हे अग्ने ! तुम पृथिवीमें उत्पन्न हुए दो पैर और चार पैर वाले प्राणिरूप पशुओंके स्वामी हो । जो पहिले उत्पन्न होचुके हैं और जो आगेको उत्पन्न होंगे उन सब प्राणियोंके स्वामी हो । अतः आपके प्रसादसे शरीरके ऊपरी भागमें स्थित प्राण इस बालकको न त्यागे और नीचेके शरीरमें स्थित अपानवायु भी इस बालक को न त्यागे और मित्र तथा शत्रु भी इस बालकको न मार सकें ३

चतुर्थी ॥

द्यौष्ट्वा॑ पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता ज॒राम॑ृत्युं कृणुतां॑ संवि॑दाने ।
यथा॒ जीवा॒ अदि॑ते॒रुपस्थे॑ प्राणापा॒नाभ्यां॑ गुपि॒तः श॒तं
हिमा॑ः ॥ ४ ॥

द्यौः । त्वा॒ । पि॒ता । पृ॒थि॒वी । मा॒ता । ज॒राऽमृ॑त्युम् । कृ॒णु॒ता॒म् ।
सं॒वि॒दा॒ने इति॑ स॒म्ऽवि॒दा॒ने ।
यथा॑ । जीवा॑ः । अदि॑तेः । उ॒पऽस्थे॑ । प्रा॒णा॒पा॒नाभ्या॑म् । गु॒पि॒तः ।
श॑तम् । हिमा॑ः ॥ ४ ॥

हे माणवक त्वा त्वां पिता पितृभूतो द्यौः द्युलोकः माता मातृभूता पृथिवी च संविदाने अन्योन्यम् ऐकमत्यम् आपन्ने जरामृत्युम् दीर्घायुषं कृणुताम् कुरुताम् । आयुषः परिमाणं दर्शयति । अदितेः अखण्डनीयायाः पृथिव्या उपस्थे उत्सङ्गे प्राणापानाभ्याम् उक्तलक्षणाभ्यां गुपितः रक्षितः । ❀ गुपू रक्षणे इत्यस्माद् निष्ठायां "यस्य विभाषा" इति इट प्रतिषेधो व्यत्ययेन [न] प्रवर्तते ❀। शतं हिमाः शतसंख्याकान् हेमन्तान् । संवत्सरान् इत्यर्थः । ❀ "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया ❀ । हिमशब्दस्य हेमन्तपरत्वं तैत्तिरीयके समाम्नायते । "शतं हिमा इत्याह । शतं त्वा हेमन्तान् इन्धिषीयेति वावैतद् आह" इति [तै० सं० १. ५. ८. ५] । यथा येन प्रकारेण त्वं जीवाः जीवेः । ❀ जीव प्राणधारणे इत्यस्मात् लेटि आडागमः ❀ । तथा जरामृत्युं कृणुताम् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

हे बालक ! तू अखण्डनीय पृथिवीकी गोदीमें प्राण और अपानसे रक्षित होकर सौ हिमों–हेमन्तों (संवत्सरों) तक † जिस प्रकार जीवित रह सके तिस प्रकार पितारूप द्युलोक और मातारूप पृथ्वी परस्पर एकमत रखकर तुझे जरामृत्यु करें अर्थात् दीर्घायु करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इ॒मम॑ग्न॒ आयु॑षे॒ वर्च॑से नय प्रि॒यं रेतो॑ वरुण मित्रराजन् ।
मा॒तेवा॑स्मा अदिते॒ शर्म॑ यच्छ॒ विश्वे॑ देवा ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑त् ॥ ५ ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ८ । ५ में सिद्ध किया है, कि हिम शब्द हेमन्तका वाचक है ।"शतं हिमा इत्याह । शतं त्वा हेमन्तान् इन्धिषीयेति वावैतद् आह ।"

इ॒मम् । अ॒ग्ने॒ । आयु॑षे । वर्च॑से । न॒य॒ । प्रि॒यम् । रेत॑ः । व॒रु॒ण॒ ।
मि॒त्रऽरा॒ज॒न् ।

मा॒ताऽइ॑व । अ॒स्मै॒ । अ॒दि॒ते॒ । शर्म॑ । य॒च्छ॒ । विश्वे॑ । दे॒वा॒ः ।
ज॒रत्ऽअ॑ष्टिः । यथा॑ । अस॑त् ॥ ५ ॥

हे अग्ने इमम् माणवकम् आयुषे शतसंवत्सरजीवनाय वर्चसे तेजसे । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाद् उभयत्र चतुर्थी ❀ । तद् उभयं नय प्रापय ॥ हे वरुण मित्र राजन् राजमान । उभयोर्विशेषणम् एतत् । अत एव दाशतय्याम् आम्नायते । "राजाना मित्रावरुणा सुपाणी" इति [ऋ० सं० १. ७१. ९] । हे युवां प्रियम् पुत्रादिजनकत्वेन अभिमतम् । ❀ प्रीङ् प्रीतौ इत्यस्मात् "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कः । यद्यपि वृत्तौ "इगुपधज्ञा०" इत्यत्र प्रीणातेरेव ग्रहणं कृतं तथापि आत्रेयधातुवृत्त्यनुसारेण अस्मादपि को द्रष्टव्यः । "अचि श्नुधातु०" इत्यादिना इयङ् ❀ । तथाभूतं रेतः इमं माणवकं नयतम् । पुत्रादिजननसमर्थं कुरुतम् इत्यर्थः ॥ हे अदिते देवमातस्त्वं मातेव जननीव अस्मै माणवकाय शर्म सुखं यच्छ । हे विश्वे देवाः यूयमपि अयं माणवको जरदष्टिः जरापर्यन्तजीवनस्य अष्टिर्व्याप्तिर्यस्य स तथोक्तः । ❀ "जीर्यतेरतृन्" । व्यत्ययेन भावे कर्तृप्रत्ययः ❀ । यद्वा जरतो जीर्यतोपि अष्टिः सर्वव्यापारविषया व्याप्तिर्यस्य तादृशो यथा असत् भवेत् । तथा दीर्घायुषं कुरुतेति शेषः । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे अग्ने ! आप इस बालकको सौ वर्षकी आयु और तेज प्राप्त

कराइये तथा हे प्रकाशसम्पन्न राजा वरुण और मित्रदेव † ! तुम दोनों इस बालकको पुत्र आदिके उत्पादक होनेसे प्रिय वीर्यको प्राप्त कराओ अर्थात् इस बालकको पुत्र आदिको उत्पन्न करनेमें समर्थ करो। हे देवमाता अदिति ! आप इस बालकको माताकी समान सुख देवें। हे विश्वेदेवताओं ! तुम भी इस बालकको बुढ़ापे तकमें सब बातोंसे सम्पन्न दीर्घायु करो ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६३)

"पार्थिवस्य" इति सूक्तेन तृषार्तभैषज्यकर्मणि सूर्योदयकाले सूत्रोक्तप्रकारेण व्याधितम् उपवेश्य मथितं सक्तूदकम् अभिमन्त्र्य पाययेत् ॥

अनेनैव सूक्तेन नद्यादिषु उदकम् अभिमन्त्र्य उद्धृत्य "सवासिनौ" [६] इत्यर्धर्चेन व्याधिताव्याधितौ एकासनस्थौ एकवस्त्रपरिहितौ कृत्वा उभावपि मन्थं पाययेत् प्रयोक्ता ॥

अत्र सूत्रम्। "पार्थिवस्येत्युद्यति पृष्ठसंहतावुपवेशयति प्राङ्मुखं व्याधितं प्रत्यङ्मुखम् अव्याधितं शाखासूपवेश्य वैतसे चमसे उपमन्थनीभ्यां तृष्णागृहीतस्य शिरसि मन्थम् उपमथ्य अतृषिताय प्रयच्छति तस्मिन् तृष्णां संनयत्युद्धृतम् उदकं पाययति सवासिनाविति मन्त्रोक्तम्" इति [कौ० ४. ३] ॥

"पार्थिवस्य" [१, २] इति द्वाभ्यां गोदानचौलकर्मणोः कुमारस्य मूर्ध्नि व्रीहियवशमीरभिमन्त्र्य प्रक्षिपेत्। सूत्रितं हि। "शिवे ते स्ताम् [८. २. १४, १५] इति परिदानान्तानि पार्थिवस्य [२. २९. १, २] मा प्र गाम [१३. १. ५९, ६०] इति चतस्रः" इति [कौ० ७. ५] ॥

---

† ऋग्वेदसंहिता १। ७१। ९ में कहा है, कि—"राजाना मित्रावरुणा सुपाणी—हे मित्र और वरुण देवताओं ! तुम राजा हो और तुम्हारे दोनों हाथ सुन्दर हैं ॥"

आशीर्ण ऊर्जम् [३] इति तृतीयया तृतीयसवने पूतभृति आसिच्यमानम् आशिरम् अनुमन्त्रयते। उक्तं वैताने। "आशिरं पूतभृत्यासिच्यमानम् आशीर्ण ऊर्जम् इत्यनुमन्त्रयते" इति [वै० ३. १२]॥

"पार्थिवस्य" सूक्तके द्वारा तृषार्त पुरुषके चिकित्साकर्ममें सूर्योदयके समय सूत्रोक्तरीतिसे रोगीको बैठा कर मथे हुए सत्तुओंके जलको अभिमन्त्रित करके पिलावे॥

तथा इसी सूक्तसे नदी आदिमें जलको अभिमन्त्रित करके निकाल कर "सवासिनौ" इस आधी छठी ऋचासे रोगी और नीरोगीको एक आसन पर बैठाकर एक ही वस्त्रसे दोनोंको ढके फिर प्रयोग करने वाला पुरुष दोनोंको मन्थ पिलावे॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण है, कि—"पार्थिवस्येत्युद्यति पृष्ठसंहितावुपवेशयति प्राङ्मुखं व्याधितं प्रत्यङ्मुखं अव्याधितं शाखासूपवेश्य वैतसे चमसे उपमन्थनीभ्यां तृष्णागृहीतस्य शिरसि मन्थं उपमथ्य अतृषिताय प्रयच्छति तस्मिन् तृष्णा संनयत्युद्धृतं उदकं पाययति सवासिनाविति मन्त्रोक्तम्॥ सूर्यका उदय होने पर पार्थिवस्य सूक्तसे पृष्ठसंहति पर रोगीको पूर्वकी ओर मुख करके बैठावे और नीरोगीको उत्तरकी ओर मुख करके शाखाओं पर बैठावे, फिर वेतसे वने चमस नामक पात्रमें उपमंथिनियोंसे तृष्णापीडितके सिर पर सवासिनौ मन्त्रमें कहे हुए मंथको मथ कर तृषारहितको देवे, उसमें तृष्णा लेजावे, उद्धृत जलको पिलावे (कौशिकसूत्र ४ । ३)॥

गोदान और चौलकर्ममें पार्थिवस्य सूक्तकी पहिली और दूसरी ऋचाओंसे बालकके शिर पर धान जौं और शमी (जण्ड) को अभिमन्त्रित करके डाले। इस विषयमें सूत्र का भी प्रमाण है, कि—"शिवे ते स्ताम् (८ । २ । १४, १५) इति परिदानान्तानि

पार्थिवस्य (२ । २९ १, २) मा प्र गाम (१३ । १ । ५९, ६०) इति चतस्रः (कौशिकसत्र ७ । ५) ॥

"आशीर्ण ऊर्जम्" इस तीसरी ऋचासे तृतीयसवन पूतिभृत् में असिच्यमान आशिरका अनुमन्त्रण करे । इस विषयमें वैतानसूत्रका प्रमाण है, कि–आशिरं पूतभृत्यासिच्यमानं आशीर्ण ऊर्जम् इत्यनुमन्त्रयते (वैतानसूत्र ३ । १२) ॥

तत्र प्रथमा

पार्थि॑वस्य॒ रसे॑ देवा॒ भग॑स्य त॒न्वो॒३॒ बले॑ ।
आ॒यु॒ष्य॑मस्मा अ॒ग्निः सूर्यो॒ वर्च॒ आ धा॒द् बृह॒स्पतिः॑ ॥१॥

पार्थि॑वस्य । रसे॑ । दे॒वाः॒ । भग॑स्य । त॒न्वः॑ । बले॑ ।

आ॒यु॒ष्य॑म् । अ॒स्मै । अ॒ग्निः । सूर्यः॑ । वर्चः॑ । आ । धा॒त् । बृह॒स्पतिः॑ ॥१॥

पार्थिवस्य पृथिव्याः संबन्धिनः । ❀ पूर्ववत् पृथिव्या अञ् ❀। मथ्यमानसक्त्वादिकस्य रसे सारभूते मन्थोदके तृषारोगार्तपुरुषेण पीते सति देवाः इन्द्राद्या भगस्य भजनीयस्य एतन्नाम्नो देवस्य तन्वः शरीरस्य संबन्धिनि बले वीर्ये। योजयन्तु इति शेषः । भगसदृशबलयुक्तं कुर्वन्तु इत्यर्थः । भगदेवताया अतिशयितबलवत्त्वं तैत्तिरीयके समाम्नातम् ।

श्रेष्ठो देवानां भगवो भगासि
तत् त्वा विदुः फल्गुनीस्तस्य वित्तात् ।
अस्मभ्यं क्षत्रम् अजरं सुवीर्यं
गोमद् अश्ववद् उपसन्नुदेह [तै० ब्रा० ३. १, १. ८] ।

इति । ❀ भगस्येति। भज सेवायाम् इत्यस्मात् "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति घः । "चजोः कु घिण्ण्यतोः" इति कुत्वम् ❀॥ यद्वा देवाः इन्द्राद्याः पार्थिवस्य व्रीहियवादिलक्षणस्य रसे सारांशे

उक्तलक्षणे बले च इमं पुरुषम् । योजयन्तु इति वाक्यशेषः ॥ अपि च अस्मै पुरुषाय अग्निः आयुष्यम् शतसंवत्सरलक्षणम् आधात् आदधातु करोतु ॥ तथा सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः बृहस्पतिः बृहतां मन्त्राणां पालको देवश्च अस्मै वर्चः शरीरकान्ति श्रुताध्ययनजन्यं तेजश्च यथोचितम् आदधातु ॥

पृथिवीसे संबन्ध रखने वाले सत्तु आदिके सारभूत रस मन्थोदक को तृषार्त पुरुष पी लेय तो इन्द्रादि देवता सेवा करने योग्य भग नामक देवताके वीर्यसे इस पुरुषको सम्पन्न करें अर्थात् इसको भग देवताकी समान बलवान् करें † । और अग्निदेव इस पुरुषको सौ वर्षकी आयु दें तथा सबके प्रेरक सूर्यदेव और मन्त्रों के पालक बृहस्पतिदेव इस पुरुषको शरीरकी कान्ति और वेदाध्ययनकी कान्तिको दें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आयु॑र॒स्मै धे॑हि जातवेदः प्र॒जां त्व॑ष्टरधि॒निधे॑ह्य॒स्मै ।
रा॒यस्पोषं॑ सवित॒रा सु॑वा॒स्मै श॒तं जी॑वाति श॒रद॒स्तवा॒यम् ॥ २ ॥

आ॑युः अ॒स्मै । धे॒हि॒ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । प्र॒ऽजा॑म् । त्व॒ष्टः॒ । अ॒धि॒ऽनि॒धे॑हि । अ॒स्मै ॥

---

† तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । १ । १ । ८ में कहा है, कि—"हे भगवन् ! भग देवता ! तुम देवताओंमें श्रेष्ठ हो, उस धनके कारण ही तुमको फल्गुनी कहते हैं आप हमैं गौ घोड़े वाला वीर्यवान् अजर धन दीजिये ॥"

रा॒यः। पो॑षम्। स॒वि॒तः॒। आ। सु॒व॒। अ॒स्मै। श॒तम्। जी॒वा॒ति॒।

श॒र॑दः। त॑व। अ॒यम् ॥ २ ॥

हे [जातवेदः] जातानां वेदितरग्ने अस्मै आयुः शतसंवत्सरसंमितं धेहि प्रयच्छ। अग्नेरायुषो दातृत्वम् "आयुर्दा अग्ने" [२. १३. १] इत्यादिमन्त्रसिद्धम् ॥ तथा हे त्वष्टः अस्मै प्रजाम् पुत्रपौत्रादिलक्षणाम् अधिनिधेहि अधिकं स्थापय। "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते" [तै० सं० १. ५. ६. १] इत्यादिश्रुतौ त्वष्टुः प्रजानां बहुधोत्पादकत्वं प्रसिद्धम् ॥ तथा हे सवितः सर्वस्य प्रेरक देव अस्मै रायः धनस्य गवादिलक्षणस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिम् आ सुव अभिमुखं प्रेरय। ❀ षू प्रेरणे। तौदादिकः। रायः। "ऊडिदम्०" इत्यादिना विभक्तेरुदात्तत्वम्। "षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु" इति विसर्जनीयस्य सत्वम् ❀। सवितुर्धनप्रदत्वम् "स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः" [ऋ० ५. ८२. ३] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धम्। हे अग्न्यादिदेवाः तव। प्रत्येकापेक्षया एकवचनम्। युष्मदनुगृहीतः सन् [अयं] शतं शरदः जीवाति जीवतु। ❀ जीव प्राणधारणे। लेटि आडागमः ❀ ॥

हे उत्पन्न हुओंको जानने वाले अग्ने! आप इसे सौ वर्षकी आयु दीजिये †। हे त्वष्टा! आप इसे पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजा अधिकतासे दीजिये ‡। तथा हे सबके प्रेरक सूर्यदेव! आप इस

---

† "आयुर्दा अग्ने–हे आयुःप्रद अग्निदेव!" (२।१३।१) इत्यादि मन्त्रोंसे अग्निका आयुःप्रदत्व सिद्ध है ॥

‡ "यावच्छो वै रेतसः सिक्तस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायते ॥–सींचें हुए वीर्यमें त्वष्टा जितने रूपोंको फैलाते हैं उतनी प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं" (तैत्तिरीयसंहिता १।५।६।१)

को गौ आदिरूप धनकी समृद्धिके अभिमुख करिये × आपका अनुग्रह पाकर यह सौ वर्ष तक जीता रहे ॥ २ ॥

तृतीयां ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

आऽशीः । नः । ऊर्जम् । उत । सौप्रजाःऽत्वम् । दक्षम् । धत्तम् ।
द्रविणम् । सऽचेतसौ ।
जयम् । क्षेत्राणि । सहसा । अयम् । इन्द्र । कृण्वानः । अन्यान् ।
अधरान् । सऽपत्नान् ॥ ३ ॥

नः अस्माकम् आशीः आशिषम् आशास्यमानां धनधान्यादिसंपत्तिं धत्तम् इति संबन्धः । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति द्वितीयैकवचनस्य सुः ❀ । यद्वा आशीः फलप्रार्थना । सत्या भवतु इति शेषः । ❀ आङः शासु इच्छायाम् इत्यस्मात् कर्मणि भावे वा क्विप् । "आशासः क्वावित्वम्" इति वचनाद् उपधाया इत्वम् ❀ ॥ तथा ऊर्जम् अन्नं हे द्यावापृथिव्यौ धत्तम् ॥ उत अपि च सौप्रजास्त्वम् । सुप्रजसो भावः [सौप्रजास्त्वम्] ।

इत्यादि श्रुतियोंमें त्वष्टादेवताका प्रजाओंको अनेकमें रूप उत्पन्न करना सिद्ध है ।

× सविता–सूर्यदेव–का धनप्रदत्व श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है । यथा–स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः–भगवान् सविता देवता दानपात्रको रत्न देते हैं" ॥

शोभनापत्यत्वं कुरुतम्। ❀ "नित्यम् असिच् प्रजामेधयोः" इत्यसिच् समासान्तः। छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ ❀ ॥ सचेतसौ समानमनसौ युवां दत्तम्। बलनामैतत्। बलं द्रविणम् धनं च धत्तम् प्रयच्छतम् ॥ यद्वा आशीरिति रेफान्तोयम्। तृतीयसवने सोमावसेकार्थस्य पयसो वाचकः। तत् आशीराख्यं द्रव्यं पूतभृति आसिच्यमानं नः अस्मभ्यम् ऊर्जं शोभनापत्यत्वं च। करोतु इतिः शेषः। ❀ "अपस्पृधेथाम्०" इत्यत्र "आताश्रितमाशीराशीर्ताः" इति आङ्पूर्वात् श्रीञ् पाके इत्यस्मात् क्विपि शिरादेशो निपातितः ❀ ॥ हे इन्द्र त्वत्प्रसादाद् अयं पुरुषः सहसा अभिभवनसाधनेन बलेन शत्रूणां जयं क्षेत्राणि च कृण्वानः आत्मसात् कुर्वाणः अन्यानपि सपत्नान् शत्रून् अधरान् अधःकृतान पराजितान्। करोतु इत्यर्थः ॥

हे द्यावापृथिवी! हमैं अभिलषित धन सम्पत्ति दो, हमारी फलप्रार्थना सत्य हो, तथा हे द्यावापृथिवी! आप हमैं अन्न दीजिये और हमैं सुसन्तान वाला करिये। समान मन वाले आप दोनों हमैं बल और धन दीजिये। (अथवा यह आशीर शब्द तृतीयसवनमें सोम छिड़कनेके जलका वाचक है) वह पूतभृत्में छिड़का जाने वाला आशीर् नाम वाला द्रव्य हमैं अन्न और शोभन सन्तानसे सम्पन्न करे। हे इन्द्र! आपके प्रसादसे यह पुरुष तिरस्कार करनेके साधन बलसे शत्रुओंको जीतता हुआ और उनके घरोंको भी अपने अधीन करता हुआ शत्रुओंको पराजित करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४॥

इन्द्रे॑ण । द॒त्तः । वरु॑णेन । शि॒ष्टः । म॒रुत्ऽभिः॑ । उ॒ग्र । प्रऽहि॑तः ।
न॒ः । आ । अ॒ग॒न् ।

ए॒षः । वा॒म् । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वी॒ इति॑ । उ॒पऽस्थे॑ । मा । क्षु॒ध॒त् । मा ।
तृ॒ष॒त् ॥ ४ ॥

तृष्णागृहीतः पुरुषः इन्द्रेण देवेन दत्तः लब्धजीवनः । ❀ “दो दद् घोः” इति दद्भावः ❀ । वरुणेन अरिष्टनिवारकेण देवेन शिष्टः अनुज्ञातः । ❀ “शास इदङ्हलोः” इत्युपधाया इत्वम् । “शासिवसिघसीनां च” इति षत्वम् ❀ । मरुद्भिः मरुद्गणैः उग्रः उद्गूर्णबलः सन् प्रहितः प्रेषितः । ❀ हि गतौ इत्यस्मात् कर्मणि निष्ठा ❀ । [नः] अस्मान् आगन् आगमत् । ❀ गमेर्लुङि “मन्त्रे घस०” इति च्लेर्लुक् । “मो नो धातोः” इति नत्वम् ❀ ॥ एवम् आगत एषः द्यावापृथिवी हे द्यावापृथिव्यौ वाम् युवयोरुपस्थे उत्संगे वर्तमानो मा क्षुधत् क्षुत्पीडां मा प्रापत् । मा तृषत् तृषार्तिं मा गमत् । ❀ क्षुध बुभुक्षायाम् ञितृष पिपासायाम् । उभयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ् ❀ ॥

इन्द्रके द्वारा जीवन पाकर और अरिष्टनिवारक वरुणदेवताके द्वारा आज्ञा पाकर और बलसम्पन्न होकर मरुत्देवताओंसे प्रेरित यह तृषार्त पुरुष हममें आगया है । हे द्यावापृथिवी ! इस प्रकार आया हुआ यह पुरुष तुम्हारी गोदमें रहकर क्षुधासे पीड़ित न हो और तृषासे भी पीड़ित न हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ऊर्ज॑मस्मा ऊर्जस्वती धत्तं॒ पयो॑ अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्ज॑म॒स्मै द्यावा॑पृथि॒वी अ॑धातां॒ विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॒
ऊर्ज॒मापः॑ ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै । पयस्वती इति । धत्तम् ।
ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥ ५ ॥

ऊर्जस्वती हे ऊर्जस्वत्यौ बलवत्यौ द्यावापृथिव्यौ । ❀ ऊर्ज बलप्राणनयोः इत्यस्माद् असुन् । "तसौ मत्वर्थे" इति भत्वाद् रुत्वाभावः ❀ । अस्मै तृषिताय ऊर्जम् बलं बलकरम् अन्नं वा धत्तम् प्रयच्छतम् ॥ तथा पयस्वती हे पयस्वत्यौ अस्मै पयः उदकं धत्तम् ॥ प्रार्थितं फलं लब्धम् इति सहसा रोगनिवृत्तये सिद्धवद् अनुवदति ऊर्जम् इत्यधर्चेन । द्यावापृथिवी उक्तलक्षणे ते द्यावापृथिव्यौ अस्मै ऊर्जम् प्रार्थितम् अन्नं बलं वा अधाताम् दत्तवत्यौ । तथा विश्वे देवाः मरुतः आपः अब्देवताश्च ऊर्जम् । अधुः इति वचनविपरिणामेन संबन्धः ॥

हे बलवती द्यावापृथिवी ! इस तृषित पुरुषके लिये तुम दोनों बलप्रद अन्न दो और जलसम्पन्न द्यावापृथिवी ! इसको तुम जल दो (प्रार्थित फल मिल गया, इस प्रकार सहसा रोगनिवृत्तिके लिये सिद्धसा कहते हैं, कि–) हे द्यावापृथिवियों ! तुमने इसे प्रार्थित अन्न बल देदिया है । तथा विश्वेदेवता मरुद्गण और जलदेवताओंने भी इसमें बल स्थापित कर दिया है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय
मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषीष्ठाः ।
सुऽवर्चाः ।

सऽवासिनौ । पिबताम् । मन्थम् । एतम् । अश्विनोः । रूपम् ।
परिऽधाय । मायाम् ॥ ६ ॥

हे तृषार्त ते तव हृदयं नीरसं शिवाभिः सुखकरीभिरद्भिस्तर्पयामि । ❀ "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तपादम्" इति भिसो विसर्जनीयस्य षत्वम् ❀ ॥ अनन्तरं त्वम् अनमीवः तृषारोगरहितः सुवर्चाः शोभनतेजोयुक्तः सन् मोदिषीष्ठाः मोदस्व । ❀ मुद हर्षे इत्यस्माद् आशिषि लिङ् । अनमीव इति । बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । सुवर्चा इति । बहुव्रीहौ "सोर्मनसी अलोमोषसी" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ सवासिनौ समानम् एकं वस्त्रं वसानौ समानम् एकत्र वसन्तौ वा । ❀ वस आच्छादने इत्यस्माद् वस निवासे इत्यस्माद् वा समानशब्दोपपदाद् "व्रते" इति णिनिप्रत्ययः । तत्र सूत्रे व्रतशब्देन शास्त्रीयो नियम उक्तः । "समानस्य च्छन्दसि०" इत्यादिना समानशब्दस्य सभावः ❀ । व्याधिताव्याधितौ तौ अश्विनोः देवभिषजो रूपं मायाम् मायामयं परिधाय धृत्वा एतं मन्थं पिबताम् पीतं कुरुताम् । यद्यपि सक्तूदकं द्विशलाकया समिधा मथितं मन्थ उच्यते तथापि अत्र सूत्रे विशेषविधानाद् वैतसे चमसे वैतसशलाकाभ्यां मथितं सक्तूदकं मन्थशब्देन विवक्षितम् ॥

हे तृषार्त पुरुष ! मैं तेरे नीरस हृदयको सुखदायक जलसे तृप्त करता हूँ, तदनन्तर तू तृषारोगरहित होने पर शोभन तेजसे सम्पन्न होकर आनन्द कर। एक वस्त्रको धारण करने वाले वा एकत्र वसने वाले ये रोगी और नीरोगी देववैद्य अश्विनीकुमारों

के मायामय रूपको धारण करके इस मन्थको पियें † ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्र॑ ए॒तां सं॑सृजे वि॒द्धो अग्र॑ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा
त॑ ए॒षा ।
त॒या त्वं जीव॑ श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सुं॑स्रोद् भि॒ष-
जं॑स्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑ । ए॒ताम् । स॒सृ॒जे॒ । वि॒द्धः । अग्रे॑ । ऊ॒र्जाम् । स्व॒धाम् । अ॒ज-
रा॑म् । सा॑ । ते॒ । ए॒षा ।
त॑या । त्वम् । जी॒व॒ । श॒रदः॑ । सु॒ऽवर्चाः॑ । मा । ते॒ । आ । सु॒स्रो॒त् ।
भि॒षजः॑ । ते॒ । अ॒क्र॒न् ॥ ७ ॥

अग्रे पुरा विद्धः वृत्राद्यसुरैस्ताडित इन्द्रः तृषार्तः सन् तन्निवृत्तये ऊर्जम् बलकरीं स्वधाम् । अन्ननामैतत् । अन्नवत्पुष्टिकरीम् अजराम् जराया निवर्तयित्रीम् एताम् मन्थलक्षणाम् ऊर्जं ससृजे सृष्टवान् ॥ हे व्याधित ते तुभ्यं [सा] एषा दीयमाना । सेवकबलकरत्वाद्युक्तगुणसद्भावप्रतिपादनाय तत्तादात्म्यव्यपदेशः ॥

❀ विद्ध इति । व्यधताडने इत्यस्माद् निष्ठायां "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् । ऊर्जम् इति । ऊर्ज बलप्राणनयोः । अस्माद् भावे क्विप् । ऊर्ग् बलं तद्वन्तं करोतीति णिचि "विन्म-

---

† यद्यपि दो शलाका वाली समिधासे मथा हुआ सत्तुओं का जल मन्थ कहलाता है, तथापि यहाँ सूत्रमें विशेष विधान होनेसे वैतस चमसमें वेतकी शलाकाओंसे मथा हुआ सत्तुओंका जल मन्थ कहलाता है ॥

तोर्लुक्" । ततः कर्तरि क्विप् । यद्वा ऊर्ज्यते प्राण्यते अनयेति अण्यन्तादेव वा करणे क्विप् । स्वधेति । स्वेभ्यो धीयते स्वस्मिन् वा धीयत इति स्वधा । "घञर्थे कविधानम्" इति कः । स्वम् आत्मानं भोक्तृशरीरं दधाति पुष्णातीति वा स्वधा । "आतोनुपसर्गे कः" ❀ ॥ तया ऊर्जा सुवर्चाः सन् त्वं शरदः शतसंख्याका जीव ॥ पीतो मन्थस्ते तव शरीरात् मा आ सुस्रोत् मच्युतो मा भूत् । शरीरे स्थित्वा बलादिकं करोतु इत्यर्थः ॥ भिषजः आदिवैद्यास्ते तव अक्रन् इदं भैषज्यम् अकार्षुः । ❀ स्रु गतौ । लङि छान्दसः शपः श्लुः । अक्रन् । करोतेः "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

पहिले वृत्र आदि असुरोंसे ताड़ित इन्द्रने तृषार्त्त होकर उसकी निवृत्तिके लिये, इस बलदायक अन्नकी समान पुष्टि देने वाले बुढ़ापेको हटानेवाले मंथरूप बलकी सृष्टिकी थी। हे रोगिन् ! तुझे बल आदि सद्गुण पानेके लिये दिया हुआ यह जो मन्थ है उस है उससे तू तेजःसम्पन्न होकर सौ वर्ष तक जीवित रह। पिया हुआ मन्थ तेरे शरीरसे च्युत न हो, तेरे शरीरमें रहकर बल आदि करे। आदि वैद्योंने तेरे लिये यह ओषधि रची है ॥७॥

पाँचवें अनुवाकमें तीसरा सूक्त समाप्त (६४)॥

"यथेदं भूम्याः" बति सूक्तेन स्त्रीवशीकरणकर्मणि वृत्तत्वक्शरखण्डतगराञ्जनकुष्ठादिद्रव्याणि पेषयित्वा आज्येन आलोड्य स्त्रिया अङ्गम् अनुलिम्पेत् । "यथेदं भूम्याम् अधि [२. ३०] यथा वृत्तम् [६. ८]" इतिप्रक्रम्य सूत्रितम् । "संस्पृष्टयोर्वृत्तलिबुजयोः शकलावन्तरेषुतगराञ्जनकुष्ठ [मदुघरेष्ममथित] तृणम् आज्येन संनीय संस्पृशति" इति [कौ० ४. ११] ॥

स्त्रीवशीकरणकर्ममें "यथेदं भूम्या" सूक्तसे वृत्तकी छाल,

शरखण्ड तगर अञ्जन और कूट आदि द्रव्योंको पीस कर घृतसे आलोडन करे, फिर स्त्रीके अंगों पर लगावे। इसी बातको कौशिकसूत्र ४। ११ में कहा है, कि—

"संस्पृष्टयोर्वृक्षलिबुजयोः शकलान्तरेषुतगराञ्जनकुष्ठमदुघरेष्ममथिततृणम् आज्येन संनीय संस्पृशति ॥—लिपटे हुए वृक्ष और लताओंके टुकड़ोंमें तगर अञ्जन कूट मधुदुघ रेष्मसे मथित तृणको घृतमें मिला कर लेप करे" ॥

तत्र प्रथमा ॥

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति ।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा
मन्नापगा असः ॥ १ ॥

यथा। इदम् । भूम्याः। अधि। तृणम्। वातः । मथायति।
एव । मथ्नामि । ते। मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः ।
यथा। मत् । न। अपऽगाः । असः ॥ १ ॥

भूम्याम् पृथिव्याम्। अधिः उपर्यर्थः। भूम्या उपरि इदम् परिदृश्यमानं तृणं वातः वात्यालक्षणो वायुः यथा येन प्रकारेण मथायति मथ्नाति अनवस्थितं कृत्वा भ्रामयति। ❀ "छन्दसि शायजपि" इत्यत्र "शायच् छन्दसि सर्वत्र" इति वचनाद् अहावपि श्नः शायजादेशः। शायचश्चित्त्वाद् अन्तोदात्तत्वम्। "यावद्यथाभ्याम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀। हे स्त्रि एव एवं ते मनः मथ्नामि आलोडयामि। यथा येन प्रकारेण मां कामयमानं कामिनी काङ्क्षिष्यन्ती असः भवेः। यथा येन प्रकारेण मत् मत्तः सकाशाद् अपगाः अपसृत्य अन्यत्र गन्त्री नासः न भवेः। तथा मथ्नामीति

पूर्वत्र संबन्धः । ❀ कामिनीति । कमेर्णिङन्ताद् औणादिक इनिप्रत्ययः । तस्य "भविष्यति गम्यादयः" इति भविष्यदर्थत्वम् । ततो ङीप् । "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इति कर्मणि षष्ठीप्रतिषेधः । तस्माद् माम् इति द्वितीया । अपगा इति । "जनसनखनक्रमगमो विट्" इति गमेर्विट् प्रत्ययः । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀ ॥

पृथ्वी पर स्थित तृणको वायु जिस प्रकार अनवस्थित करके घुमाता है । हे स्त्रि ! इसी प्रकार, मैं तेरे हृदयको मथता हूँ-घुमाता हूँ जिस प्रकार तू मेरी कामना करने वाली हो और जिस प्रकार तू मुझे छोड़ कर अन्यत्र न जावे (तिस कारण) मैं तेरे हृदय को मथता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया

सं चेन्नया॑थो अश्विना का॒मिना॒ सं च॒ वक्ष॑थः ।
सं वां॒ भगा॑सो अग्मत॒ सं चि॒त्तानि॒ समु॑ व्र॒ता ॥२॥

सम् । च॒ । इत् । नया॑थः । अ॒श्वि॒ना॒ । का॒मिना॑ । सम् । च॒ । वक्ष॑थः ।

सम् । वा॒म् । भगा॑सः । अ॒ग्म॒त॒ । सम् । चि॒त्तानि॑ । सम् । ऊं॒ इति॑ । व्र॒ता ॥ २ ॥

अश्विना हे अश्विनौ कामनाविषयभूतां स्त्रियम् । इत् इत्यवधारणे । सं नयाथः मत्समीपं प्रापयतम् । ❀ नयतेर्लेटि आडागमः । "चवायोगे प्रथमा" इति प्रथमा तिङ्विभक्तिर्न निहन्यते ❀ ॥ आनीय च कामिना मया सं वक्षथः संयोजयतम् । ❀ वहेर्लेटि अडागमः । "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । वाम् युवयोर्भगासः भगाः भाग्यानि । ❀ "आज्जसेरसुक्" ❀ । सम् अग्मत संगच्छन्ताम् । मयेति शेषः

❀"समो गम्यृच्छि०" इत्यात्मनेपदम् । छान्दसे लुङि च्लेर्लुक् । "गमहन०" इत्युपधालोपः ❀ ॥ तथा चित्तानि ज्ञानानि । समग्मतेत्यनुषङ्गः ॥ एवं व्रता व्रतानि । कर्मनामैतत् । उशब्दः अप्यर्थे । विविधानि कर्माण्यपि समग्मतेति संबन्धः ॥

हे अश्विनीकुमारों ! जिसकी मैं कामना करता हूँ उस स्त्रीको मेरे समीप पहुँचाओ और पहुँचा कर मुझ कामीसे मिला दो, तुम दोनोंके भाग्य मुझसे संयुक्त होजावें, तथा तुम्हारे चित्त और व्रत भी मुझसे संयुक्त हो जावें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

यत् सु॑प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षवः॑ ।
तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॒व कुल्म॑ल॒ं यथा ॥३॥

यत् । सु॒ऽप॒र्णाः । वि॒व॒क्षवः॑ । अ॒न॒मी॒वाः । वि॒व॒क्षवः॑ ।
तत्र॑ । मे॒ । ग॒च्छ॒ता॒त् । हव॑म् । श॒ल्यः॑ऽइ॑व । कुल्म॑लम् । यथा॑ ३

सुपर्णाः शोभनपक्षाः पारावतादयः पक्षिणः यत् स्त्रीविषयं वाक्यं विवक्षवः वक्तुम् इच्छवो भवन्ति अनमीवाः अरोगिणो दृप्ताः कामिजनाश्च यद् विवक्षवो भवन्ति तत्र विषये क्रियमाणं मे मम संबन्धिनं हवम् आह्वानं कुल्मलं यथा कुत्सितमलोपेतं मृदुलं शरीरावयवविशेषमिव सा कामिनी शल्यः बाण इव गच्छतात् प्राप्नोतु । मद्वाक्यं श्रुत्वा मत्परवशा भवतु इत्यर्थः। ❀ विवक्षवः। ब्रुवः सनि वच्यादेशे "सनाशंसभिक्ष उः" इति उप्रत्ययः । "न लोकाव्ययनिष्ठा०" इति षष्ठीप्रतिषेधे यत् इति द्वितीया । सुपर्णाः अनमीवा इत्युभयत्र "नञ्सुभ्याम्" इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । यथेति पदान्ते [फि० ४. १७] इति यथाशब्दो निहन्यते ❀ ॥

सुन्दर पर वाले कबूतर आदि पक्षी जिस स्त्रीविषयक वाक्य

को कहना चाहा करते हैं और नीरोग मत्त कामीपुरुष जिस वाक्य को कहना चाहा करते हैं। उस विषयमें कहा हुआ मेरा आह्वान बाणकी समान और कुल्मलकी समान उस स्त्रीको प्राप्त हो, अर्थात् वह कामिनी मेरे वाक्यको सुन कर मेरे अधीन होजाय ३

चतुर्थी ॥

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।
कन्याऽनां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अन्तरम् । तत् । बाह्यम् । यत् । बाह्यम् । तत् । अन्तरम् ।
कन्याऽनाम् । विश्वऽरूपाणाम् । मनः । गृभाय । ओषधे ॥ ४ ॥

यत् अर्थजातम् अन्तरम् अभ्यन्तरं मनः विषयीकरोति तदेव बाह्यम् बहिष्ठं वाग्विषयो भवति । यद् बाह्यम् उक्तलक्षणं च तत् एव अन्तरं मानसं भवति । अनेन वाङ्मनसयोः परस्परं विसंवादो निरस्तः । ❀ बाह्यम् इति । "बहिषष्टिलोपो यञ् च" इति यञ् प्रत्ययः लोपश्च ❀ ॥ एवं निर्दुष्टं विश्वरूपाणाम् अनवद्यसंपूर्णावयवानां कन्यानाम् अभुक्तपूर्वाणां मनः हे ओषधे तृणादिरूपे गृभाय गृहाण । त्वदनुलेपनेन तां मदनुरक्तचित्तां कुर्वित्यर्थः । ❀ कन्यानाम् इति । तिल्यशिक्यमर्त्यकार्ष्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणाम् अन्तः [फि० ४.८] इति अन्तस्वरितत्वम् । गृभाय । ग्रहेर्लोटि "छन्दसि शायजपि" इति श्नः शायजादेशः । "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भत्वम् ❀ ॥

जिस विषयको मन भीतर विचार करता है वही बाहर वाणी का विषय होता है। और जो बाहर होता है, वही मनमें होता है, ऐसे मन वाली अभुक्तपूर्वा निर्दोष अंगोंवाली कन्याओंके निर्मल मनको हे ओषधे! तू ग्रहण कर । अर्थात् अपने अनुलेपनसे तू उसके चित्तको मुझसे अनुरक्त कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

एयमगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

आ । इयम् । अगन् । पतिऽकामा । जनिऽकामः । अहम् । आ । अगमम् ।

अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् । सह । आ । अगमम् ५

इयम् काम्यमाना स्त्री पतिकामा पतिं भर्तारम् अभिलष्यन्ती आगन् मत्समीपम् आगमत् । ❀ गमेर्लुङि तिपि च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति नत्वम् । पतिकामेति । "शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः" इति णप्रत्ययान्तत्वात् ङीप् न भवति ❀ ॥ अहमपि जनिकामः जनिर्जाया तां कामयमानः सन् आगमम् तां प्राप्तवान् अस्मि ॥ किं च कनिक्रदत् भृशं हेषाशब्दं कुर्वन् अश्वः यथा वडवया संगच्छते तथा अहं भगेन सह आगमम् । ❀ कनिक्रदत् इति । क्रन्देराह्वानार्थाद् "दाधर्ति०" इत्यादिसूत्रे इतिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात् कनिक्रदच्छब्दोपि शत्रन्तो निपातितो द्रष्टव्यः ❀ ॥

इति पञ्चमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

यह अभिलषित स्त्री पतिको चाहती हुई मुझ भर्ताके समीप आगई है और स्त्रीकी कामना वाला मैं भी उसकी कामना करता हुआ उसके पास आगया हूँ । जैसे घोड़ा बहुत हींसता हुआ घोड़ीसे संयुक्त होता है, इसी प्रकार मैं ऐश्वर्यके साथ इससे संयुक्त होता हूँ ॥ ५ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६५) ॥

"इन्द्रस्य या मही" इति सूक्तेन शरीरगतविविधक्रिमिरोगेषु तच्छान्तये घृतमिश्रान् कृष्णचणकान् जुहुयात् ॥

तथा गोवालवेष्टितं शरकाण्डं संभिद्य अग्नौ प्रताप्य आदध्यात् ॥

एवमेव रथ्यापांसुं सव्यहस्तेनादाय दक्षिणहस्तेन संमृज्य दक्षिणामुखः एतत् सूक्तं जपन् व्याधितस्योपरि किरति ॥

तथैव एतत् सूक्तं जपन् व्याधितो हस्ताभ्यां पांसुं मर्दयेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन पलाशोदुम्बराद्याः समिध आदध्यात् ॥

तद्ध उक्तं कौशिकेन । "इन्द्रस्य या महीति खल्वाङ्गान् अल्गण्डुहननान् घृतमिश्रान् जुहोति । बालान् असितकाण्डे सव्यं परिवेष्ट्य संभिनत्ति प्रतपत्यादधाति सव्येन दक्षिणामुखः पांसुम् उपमथ्य परिकिरति संमृद्नात्यादधाति" इति [कौ० ४. ३] ॥

"इन्द्रस्य या मही" इस सूक्तसे शरीरमें हुए अनेक कृमिरोगों में उनकी शान्तिके लिये घी मिलेहुए काले चनोंकी आहुति देय ॥

तथा गोवालसे लिपटे हुए शरकाण्डको भेद कर अग्निमें तपा कर रक्खे ॥

इसी प्रकार गलीकी धूलको बायें हाथसे उठाकर दाहिने हाथ से शुद्ध कर दक्षिणकी ओर मुख करके इस सूक्तको जपताहुआ रोगीके ऊपर डाले ॥

तथा रोगी इस सूक्तको जपता हुआ हाथसे धूलके कणोंका मर्दन करे ॥

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि—"इन्द्रस्य या महीति खल्वांगान् अल्गण्डुहननान् घृतमिश्रान् जुहोति। बालान् असितकाण्डे सव्यं परिवेष्ट्य संभिनत्ति प्रतपत्यादधाति सव्येनदक्षिणामुखः पांसुम् उपमथ्य परिकिरति संमृद्नायतदधाति॥—इन्द्रस्य या मही सूक्तसे कीड़ोंका नाश करनेवाले घृत मिले हुए काले चनों की आहुति देय। बालोंको असितकाण्डमें बाईं ओरसे लपेट कर भेदे, तपावे, रक्खे और बायें हाथसे दक्षिणकी ओर मुख करके धूलके कणोंको मसल कर फेंके रक्खे ॥" (कौशिकसूत्र ४।३)

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । या । मही । दृषत् । क्रिमेः । विश्वस्य । तर्हणी ।
तया । पिनष्मि । सम् । क्रिमीन् । दृषदा । खल्वान्ऽइव ॥ १ ॥

इन्द्रस्य देवस्य संबन्धिनी या मही महती । ❀ अच्छब्दलोपश्छान्दसः ❀ । दृषत् शिलास्ति । तामेव विशिनष्टि । विश्वस्य सर्वस्य क्रिमेस्तर्हणी हन्त्री । ❀ तृहेर्हिंसार्थात् करणे ल्युट् । ङीप् ❀ । तया उक्तप्रभावया दृषदा क्रिमीन् शरीरान्तर्गतान् सर्वान् क्षुद्रजन्तून् सं पिनष्मि संचूर्णयामि । ❀ पिष्लृ संचूर्णने । रुधादित्वात् श्नम् ❀ । तत्र दृष्टान्तः । दृषदा पेषण्या खल्वान् चणकानिव ॥

इन्द्रदेवकी जो सब प्रकारके कीड़ोंका नाश करने वाली बड़ी भारी शिला है उससे मैं शरीरान्तर्गत सब कीड़ोंको पत्थरसे चनों को पीसनेकी समान पीसता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि

दृष्टम् । अदृष्टम् । अतृहम् । अथो इति । कुरूरुम् । अतृहम् ।
अल्गण्डून् । सर्वान् । शलुनान् । क्रिमीन् । वचसा । जम्भयामसि

दृष्टम् चक्षुर्गोचरम् अदृष्टम् तदगोचरम् अन्तरवस्थितं क्रिमिजातम् अतृहम् तृणेह्मि हन्मि । ❀ तृह हिंसायाम् । छान्दसे लुङि

व्यत्ययेन च्लेरङ् ❀ ॥ अथो अपि च कुरीरम् । कुरीरं जालम् । तद्वद् अन्तरवस्थितं क्रिमिकुलम् अतृहम् । नाशयामीत्यर्थः ॥ तानेव विशेषतो दर्शयति अल्गण्डून् इति । एतन्नाम्नः क्रिमिविशेषान् शल्गान् एतन्नाम्नश्च सर्वान् अन्यानपि क्रिमीन् वचसा मन्त्रेण [जम्भयामसि] जम्भयामः नाशयामः । ❀ जभेर्णौ “रधिजभोरचि” इति नुम् ❀ ॥

मैं नेत्रसे दीखतेहुए और नेत्रसे न दीखते हुए—शरीरके भीतर स्थित कीड़ोंको नष्ट करता हूँ, जालकी समान भीतर स्थित कीड़ोंको नष्ट करता हूँ, रक्त और मांसको दूषित करने वाले अल्गंडु नामक कीड़ोंको और शल्ग नामक कीड़ोंको तथा अन्य सब प्रकारके कीटोंको हम नष्ट करते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अलगण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना
अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां
नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥

अलगण्डून् । हन्मि । महता । वधेन । दूनाः । अदूना । अरसाः ।
अभूवन् ।
शिष्टान् । अशिष्टान् । नि । तिरामि । वाचा । यथा । क्रिमीणाम् । नकिः । उत्ऽशिषातै ॥ ३ ॥

अल्गण्डून् शोणितमांसदूषकान् जन्तून् महता प्रभूतेन वधेन हननसाधनेन मन्त्रौषधादिना हन्मि । ❀ वधेनेति । “हनश्च वधः”

इति करणे अप् वधादेशश्च । अल्लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण अन्तोदात्तत्वम् ❀ ॥ ते च दूनाः मत्कृतौषधादिना परितप्ताः अदूनाः अपरितप्ताश्च ये सन्ति ते सर्वे अरसाः शुष्का निर्जीवा अभूवन् ।❀ दूना इति । टुदु उपतापे । तस्मान्निष्ठा। "दुग्वोर्दीर्घश्च" इति दीर्घो निष्ठानत्वं च । दूङ् परितापे इत्यस्मादेव वा । "स्वादय ओदितः" इति ओदित्त्वातिदेशाद्द "ओदितश्च" इति निष्ठानत्वम् ❀ ॥ तथा शिष्टान् । कान् । अशिष्टान् प्राग् अहतान् क्रिमिविशेषान् वाचा मन्त्रेण नितिरामि निहन्मि । ❀ निपूर्वस्तिरतिर्हिंसने ❀ । यथा येन प्रकारेण क्रिमीणां नानाविधानां मध्ये कश्चिदपि नकिः उच्छिषातै नैवोच्छिष्यात् । तथा नि तिरामिति संबन्धः । ❀ नकिर्नेत्यर्थे । नकीम् नकिः आकृतम् इति नवोत्तराणि पदानि [निघ० ३. १२] इत्युक्तत्वात् । उच्छिषातै । शिष्लृ विशेषणे इत्यस्मात् उत्पूर्वात् लेटि आडागमः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । टेरेत्वे कृते "वैतोन्यत्र" इति ऐत्वम् । छान्दसो विकरणस्य लुक् ❀ ॥

मैं रक्त और मांसको दूषित करनेवाले अल्गण्डु नामक जन्तुओं के वधके बड़े भारी साधन मन्त्र और ओषधिसे उनको नष्ट करता हूँ, जो कृमि मेरी औषध आदिसे सन्तप्त होगए हैं और जो संतप्त नहीं हुए हैं वे सब सूख जावें, निर्जीव होजावें । अनेक प्रकारके कृमियोंमेंसे कोई भी न बचे इस लिये मैं न मारेहुए अत एव बचे हुए कृमियोंको मन्त्ररूप वाणीसे नष्ट करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥४॥

अनुऽआन्त्र्यम् । शीर्षण्यम् । अथो इति । पार्ष्टेयम् । क्रिमीन् ।

अ॒व॒स्क॒वम् । वि॒ऽअ॒ध्व॒रम् । क्रिमी॑न् । वच॑सा । ज॒म्भ॒या॒म॒सि॒ ॥४॥

अन्वान्त्र्यम् अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवं क्रिमिजातं शीर्षण्यम् शिरसि भवं च । ❀ उभयत्र "शरीरावयवाच्च" इति यत् । "ये च तद्धिते" इति शिरःशब्दस्य शीर्षन् आदेशः । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावः । "तित् स्वरितः" इत्युभयत्र स्वरितत्वम् ❀ । अथो अपि च पार्ष्णेयम् पार्ष्णिभवं क्रिमिम् । ❀ शरीरावयववाचिनः पार्ष्णिशब्दाद् व्यत्ययेन ढञ् ❀ । एतान् उक्तान् क्रिमीन् । जम्भयामसीत्युत्तरत्र संबन्धः ॥ अवस्कवम् अवाग्गमनस्वभावम् । अन्तरन्तः प्रविश्य वर्तमानम् इत्यर्थः । ❀ स्कुञ् आप्रवणे । अस्माद् अवपूर्वात् पचाद्यच् ❀ । व्यध्वरम् विविधमार्गोपेतम् । नानाद्वाराणि कृत्वा तत्र गच्छन्तम् इत्यर्थः । ❀ विविधोध्वा व्यध्वम् । "उपसर्गाद् अध्वनः" इत्यच् प्रत्ययः समासान्तः । रो मत्वर्थीयः ❀ । यद्वा ध्वरो हिंसा । विविधैरौषधादिभिरपि न विद्यते ध्वरो यस्य स तथोक्तः । एवं नानाजातीयान् सर्वान् क्रिमीन् वचसा मन्त्रेण जम्भयामसि जम्भयामः ॥

अँतड़ियोंमें क्रमशः होनेवाले कीड़ोंको, शिरमें होनेवाले कीड़ोंको और पसलियोंमें होने वाले कीड़ोंको हम नष्ट करते हैं और नीचे ओर मुख करके जाने वाले और अनेक मार्ग बना कर जाने वाले तथा अनेक प्रकारके उपायोंसे भी जिनकी हिंसा नहीं होसकती ऐसे सब प्रकारके कृमियोंको हम मन्त्रके द्वारा नष्ट करते हैं

पञ्चमी ॥

ये क्रिम॑य॒ः पर्व॑तेषु व॒नेष्वोष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॒१न्तः ।
ये अ॒स्माकं॑ त॒न्व॑मावि॒विशुः सर्वं॒ तद्ध॑न्मि॒ जनि॑म॒
क्रिमी॑णाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिमयः । पर्वतेषु । वनेषु । ओषधीषु । पशुषु । अप्ऽसु । अन्तः ।

ये । अस्माकम् । तन्वम् । आऽविविशुः । सर्वम् । तत् । हन्मि । जनिम । क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

पर्वतादिषु अन्तः मध्ये ये क्रिमयः स्थिताः ते अस्माकं तन्वः तनूः शरीराणि आविविशुः व्रणमुखेन अन्नपानादिद्वारेण वा प्रविष्टाः । सर्वम् निरवशेषं तत् उक्तविधं क्रिमीणां जनिम जन्म उत्पत्तिमेव हन्मि नाशयामि ॥

इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

[इति पञ्चमोनुवाकः] ॥

पर्वतोंमें वनोंमें ओषधियोंमें और पशुओंमेंके जो कीड़े घावके मुखके द्वारा वा अन्न पान आदिके द्वारा हमारे शरीरमें प्रविष्ट होगए हैं, मैं उन सबकी उत्पत्तिको ही नष्ट करता हूँ ॥ ५ ॥

द्वितीयकाण्डके पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (६६) ॥

पञ्चम अनुवाक समाप्त

षष्ठेनुवाके पञ्च सूक्तानि । तत्र "उद्यन्नादित्यः" इति प्रथमसूक्तेन गोक्रिमिभैषज्यकर्मणि संध्यात्रयेपि क्रिमियुतव्रणमुखं दर्भैस्ताडयेत् ॥

तथा अनेन सूक्तेन साज्यकृष्णचणकहोमादिकं पूर्वसूक्तोक्तप्रकारेणैव कुर्यात् ॥

सूत्रितं हि । "उद्यन्नादित्य इत्युद्यति गोनामेत्याह असाविति । सूक्तान्ते ते हता इति दर्भैरभ्यस्यति मध्यंदिने च प्रतीचीम् अपराह्णे वालस्तुकाम् आच्छिद्य खल्वादीनि" इति [कौ० ४. ३]॥

छठे अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । उनमें "उद्यन्नादित्यः" इस प्रथमसूक्तसे गौके कीड़ोंकी चिकित्साके कर्ममें तीनों संध्याओंके

समय कृमियोंसे युक्त घावके मुखको दर्भोंसे ताड़ित करे ॥

तथा इस सूक्तसे पूर्वसूक्तकी समान घृत मिले हुए काले चनों का होम आदि करे ॥

सूत्रमें भी कहा है, कि–"उद्यन्नादित्य इत्युद्यति गोनामेत्याह असाविति । सूक्तान्ते ते हता इति दर्भैरभ्यस्यति मध्यन्दिने च प्रतीचीम् अपराह्णे बालस्तुकाम् आच्छिद्य खल्वादीनि" (कौशिकसूत्र ४ । ३)

तत्र। प्रथमा ॥

उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यः क्रिमी॑न् हन्तु नि॒म्रोच॑न् हन्तु र॒श्मिभिः॑ ।
ये अ॒न्तः क्रिम॑यो॒ गवि॑ ॥ १ ॥

उ॒द्ऽयन् । आ॒दि॒त्यः । क्रिमीन् । ह॒न्तु॒ । नि॒ऽम्रोच॑न् । ह॒न्तु॒ ।
र॒श्मिऽभिः॑ ।
ये । अ॒न्तः । क्रिम॑यः । गवि॑ ॥ १ ॥

आदित्यः उद्यन् उदयं प्राप्नुवन् रश्मिभिर्व्यापनशीलैः स्वकरणैः क्रिमीन् हन्तु हिनस्तु । निम्रोचन् अस्तं गच्छंश्च रश्मिभिः क्रिमीन् हन्तु । ❀ रश्मिभिरिति । अशे रश च [उ० ४. ४६] इति मिप्रत्ययो रशादेशश्च ❀ ॥ कुत्रत्यान् क्रिमीन् इति तत्राह । ये क्रिमयः गवि । जातावेकवचनम् । गोशरीरेषु अन्तः मध्ये सन्ति । तान् क्रिमीन् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

जो कृमि गौओंके शरीरके भीतर हैं उदय होते हुए आदित्य अपनी व्यापक किरणोंसे उनका संहार करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

वि॒श्वरू॑पं चतु॒र॒क्षं क्रिमिं॑ सा॒र॒ङ्गमर्जु॑नम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

विश्वऽरूपम् । चतुःऽअक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।

शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥ २ ॥

विश्वरूपम् नानाकारं चतुरक्षम् चतुर्नेत्रम् । ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति षच् समासान्तः ❀ । सारङ्गम् शवलवर्णम् अर्जुनम् शुभ्रवर्णम् एवम् अनेकाकारं क्रिमिं शृणामि हन्मि । ❀ शॄ हिंसायाम् । "प्वादीनां ह्रस्वः" ❀ ॥ अस्य उक्तलक्षणस्य क्रिमेः पृष्टीः पार्श्वावयवानपि यच्छिरः शरीरान्तर्गतमांसादिभक्षकं प्रधानम् अङ्गं तदपि वृश्चामि छिनद्मि ॥

मैं अनेक प्रकारके आकार वाले और चार नेत्रों वाले चितकवरे तथा श्वेत इस प्रकार अनेक आकार वाले कामियोंको मारता हूँ तथा कीड़ोंकी पसलियोंको और शरीरके भीतर स्थित मांस आदिके भक्षक प्रधान अंग शिरको भी मैं काटता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

अत्रिऽवत् । वः । क्रिमयः । हन्मि । कण्वऽवत् । जमदग्निऽवत् ।
अगस्त्यस्य । ब्रह्मणा । सम् । पिनष्मि । अहम् । क्रिमीन् ॥ ३ ॥

हे क्रिमयः वः युष्मान् अत्रिवत् कण्ववत् जमदग्नि वत् । ❀सर्वत्र प्रथमार्थे वतिः ❀ । ते यथा मन्त्रसामर्थ्यात् क्रिमीन् निघ्नन्ति एवम् अहम् अपि हन्मि ॥ तथा अगस्त्यस्य महर्षेर्ब्रह्मणा मन्त्रेण अहं क्रिमीन् सर्वान् सं पिनष्मि पुनरुद्भवो यथा न भवति तथा नाशयामि । एतेषां क्रिमिनिवारकत्वं श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्

"अत्रिणा त्वा क्रिमे हन्मि कण्वेन जमदग्निना विश्वावसोर्ब्रह्मणा हतः" इति ॥

हे कृमियों! मैं तुमको अत्रि कण्व और जमदग्नि ऋषिकी समान मारता हूँ अर्थात् वे तुमको मंत्रकी शक्तिसे जिस प्रकार मारते हैं, इसी प्रकार मैं भी तुमको मंत्रशक्तिसे मारता हूँ, तथा महर्षि अगस्त्यके मंत्रके प्रभावसे मैं तुमको पुनरुत्पत्तिरहित करके मारता हूँ ‡ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ह॒तो राजा॒ क्रिमी॑णामुतैषां॑ स्थ॒पति॑र्ह॒तः ।
ह॒तो ह॒तमा॑ता॒ क्रिमि॑र्ह॒तभ्रा॑ता ह॒तस्व॑सा ॥ ४ ॥

ह॒तः । राजा॑ । क्रिमी॑णाम् । उ॒त । ए॒षा॒म् । स्थ॒पतिः॑ । ह॒तः ।
ह॒तः । ह॒तऽमा॑ता । क्रिमिः॑ । ह॒तऽभ्रा॑ता । ह॒तऽस्व॑सा ॥ ४ ॥

क्रिमीणां राजा हतः अस्मत्प्रयुक्तमन्त्रौषधादिना नष्टः ॥ उत अपि च एषां क्रिमीणां स्थपतिः सचिवो [हतः] ॥ एवं हतमाता नष्टमातृकः हतभ्राता हतभ्रातृकः हतस्वसा नष्टभगिनीकश्च क्रिमिर्हतः नष्टः ॥ सस्वामिकं सामात्यं सबान्धवं कृत्स्नं क्रिमिकुलं निरवशेषं नष्टम् इत्यर्थः । ❀ हतमातेत्यादिषु "नद्यृतश्च" इति नित्यं प्राप्तस्य कपः "ऋतश्छन्दसि" इति प्रतिषेधः ❀ ॥

---

‡ ये ऋषि कृमियोंको हरने वाले हैं, यह बात अन्य श्रुतिमें भी प्रसिद्ध है। यथा—"अत्रिणा त्वा क्रिमे हन्मि कण्वेन जमदग्निना विश्वावसोर्ब्रह्मणा हतः ॥ हे कृमे! मैं तुझको अत्रि जमदग्नि और कण्व ऋषि (के मन्त्र) से मारता हूँ और तू विश्वावसुके मन्त्र मारा गया" ॥

कृमियोंका राजा हमारी प्रयुक्त औषधि मन्त्र आदिसे मारा गया और इन कृमियोंका मंत्री भी मारा गया । तथा माता भ्राता और बहिनके साथ कृमि मारा गया अर्थात् स्वामी बांधव मन्त्री आदि सहित सारा कृमिकुल (मंत्रप्रभावसे) नष्ट होगया ॥४॥

पञ्चमी ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।
अथो ये क्षुल्लकः इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥

हतासः । अस्य । वेशसः । हतासः । परिऽवेशसः ।
अथो इति । ये । क्षुल्लकाःऽइव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हताः ॥५॥

अस्य क्रिमिकुलस्य वेशसः निवेशनस्थानानि मुख्यगृहा हतासः हताः । एवं परिवेशसः परितः स्थिताः समीपगृहाश्च हतासः हताः । ❀ वेशसः । विशतेरधिकरणे औणादिकः असिप्रत्ययः ❀ ॥ अथो अपि च ये क्षुल्लका इव बीजावस्थाः सूक्ष्मरूपा दुर्लक्ष्याः क्रिमयः सन्ति ते सर्वेपि क्रिमयः हताः नाशिताः ॥

इस कृमिकुलके बैठनेके स्थान मुख्यगृह (घड़िया) नष्ट हो गए और समीपके गृह भी नष्ट होगए और जो बीजरूपमें स्थित दुर्लक्ष्य छोटे २ कीड़े थे वे भी नष्ट होगए ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

प्र । ते । शृणामि । शृङ्गे इति । याभ्याम् । विऽतुदायसि ।
भिनद्मि । ते । कुषुम्भम् । यः । ते । विषऽधानः ॥ ६ ॥

हे क्रिमे ते त्वदीये शृंगे विषाणे प्र शृणामि प्रभिनद्मि याभ्यां शृङ्गाभ्यां वितुदायसि विशेषेण तुदसि व्यथयसे। ते इति संबन्धः। ❀ तुद व्यथने इत्यस्मात् परस्य शस्यापि व्यत्ययेन शायजादेशः ❀ ॥ ते तव षुकम्भम् अवयवविशेषं भिनद्मि विदारयामि। तमेवावयवं विशिनष्टि। ते तव संबन्धी यः अवयवः विषधानः। विषं धीयतेस्मिन्निति विषधानः विषस्थानम्। तम् इति पूर्वत्र संबन्धः। ❀ "करणाधिकरणयोश्च" इत्यधिकरणे ल्युट् ❀ ॥

इति षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

हे कीट ! जिन सींगोंसे तू पीड़ा देता है, उन तेरे सींगोंको मैं तोड़ता हूँ। तथा तेरे षुकम्भको भी मैं तोड़ता हूँ तेरे अवयवोंमें विष रहता है (उनको मैं नष्ट करता हूँ) ॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (६७) ॥

"अक्षीभ्याम्" इति सूक्तेन अक्षिनासाकर्णशिरोजिह्वाग्रीवादिसर्वावयवजरोगभैषज्यकर्मणि बाह्वादिपर्वसु बद्धं व्याधितं संपातितोदकेन पर्वग्रन्थीन् विमुच्य अवसिञ्चेत्। सूत्रितं हि। "अक्षीभ्यां त इति विवर्हम् उदपात्रेण संपातवतावसिञ्चति" इति [कौ० ४.३]॥

तथा अस्य सूक्तस्य अंहोलिङ्गगणे पाठात् तस्य गणस्य यत्र-यत्र सर्वरोगभैषज्यादिषु विनियोग उक्तस्तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगोनुसंधेयः। सूत्रितं हि। "ओषधिवनस्पतीनाम् अनुक्तान्यप्रतिषिद्धानि भैषज्यानाम् अंहोलिङ्गाभिः" इति [कौ० ४. ८]॥ अत्र अक्षीभ्यां ते [२. ३३] मुञ्चामि त्वा [३. ११] उत देवाः [४. १३] आवतस्ते [५. ३०] शीर्षक्तिम् [६. १३] इति पञ्चप्रतीको गणो विवक्षितः ॥

तथैव अश्वमेधादिषु दीक्षावतो यजमानस्य भैषज्यकर्मणि एतत् सूक्तं विनियुक्तं वैताने। "अथ भैषज्याय यजमानम् अक्षीभ्यां ते मुञ्चामि त्वा" इति [वै० ७. ३]॥

आँख नाक कान शिर जीभ गर्दन आदि सब अवयवोंमें उत्पन्न हुए रोगोंकी चिकित्साके कर्ममें "अक्षीभ्याम्" सूक्तसे बाहु आदि में जकड़े हुए रोगी पर जोड़ोंकी गाँठोंको छोड़कर संपातित जल छिड़के। इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण है। यथा–"अक्षीभ्यां त इति विवर्हं उदपात्रेण सम्पातवतावसिंचति" (कौ० सू० ४ । ३)

तथा इस सूक्तका अंहोलिंगगणमें पाठ है अत एव अंहोलिंगगणका सर्वरोगचिकित्सा आदि कर्मोंमें जहाँ २ विनियोग कहा हो तहाँ २ इसका विनियोग समझना चाहिये। सूत्रमें भी कहा है, कि–"ओषधि और वनस्पतियोंकी चिकित्साके अनुक्त और अप्रतिसिद्ध विनियोग अंहोलिंगोंसे करने चाहिये" (कौशिकसूत्र ४ । ८) उनमें अत्र अक्षीभ्याम् ते (२ । ३३) मुञ्चामि त्वा (३ । ११) उत देवाः (४ । १३) आवतस्ते (५ । ३०) शीर्षक्तिम् (६ । १३) पञ्च प्रतीक वाला गण विवक्षित है।

तथा वैतानसूत्रमें अश्वमेधमें दीक्षित यजमानकी चिकित्सा करनेमें इस सूक्तका विनियोग कहा है। यथा–"अथ भैषज्याय यजमानम् अक्षीभ्यां ते मुञ्चामि त्वा" (वैतानसूत्र ७ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि ।
यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १ ॥

हे यक्ष्मगृहीत ते तव अक्षीभ्याम् चक्षुर्भ्यां यक्ष्मम् रोगं वि वृहामि उद्धरामि । विश्लेषयामीत्यर्थः । ❀ "ई च द्विवचने" इति अक्षिशब्दस्य ईकारान्तादेशः स चोदात्तः ❀ ॥ तथा नासिका-

भ्याम् घ्राणेन्द्रियाधिष्ठानाभ्यां कर्णाभ्याम् श्रोत्राभ्यां च चुबुकाद् ओष्ठस्याधःप्रदेशाच्च। अधिः अनर्थकः ॥ अपि च शीर्षण्यम् शिरसि भवो रोगः शीर्षण्यः। ❀ “शरीरावयवाच्च”इति यत्। “ये च तद्धिते” इति शिरसः शीर्षन् आदेशः। “ये चाभावकर्मणोः” इति [प्रकृति] भावः ❀। ईदृशं यक्ष्मं रोगं ते तव मस्तिष्कात्। शिरसोन्तरवस्थितो मांसविशेषो मस्तिष्कः। तस्मात् जिह्वाया रसनायाश्च सकाशाद् वि वृहामि उद्धरामि। पृथक्करोमीत्यर्थः। ❀ वृहू उद्यमने इति धातुः ❀ ॥

हे यक्ष्मा (दिक्क) रोगसे ग्रस्त पुरुष ! मैं तेरे नेत्रोंमेंसे यक्ष्मारोगको अलग करता हूँ और तेरी नाक कान और ठोड़ीसे भी यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ और तेरी जीभसे भी मैं यक्ष्मारोगको अलग करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यं१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

ग्रीवाभ्यः। ते। उष्णिहाभ्यः। कीकसाभ्यः। अनूक्यात्।
यक्ष्मम्। दोषण्यम्। अंसाभ्याम्। बाहुऽभ्याम्। वि। वृहामि। ते॥२॥

हे व्याधिगृहीत ते तव ग्रीवाभ्यः। अत्र ग्रीवाशब्देन तदवयवभूतानि चतुर्दश सूक्ष्माण्यस्थीनि उच्यन्ते बहुवचननिर्देशाद्। तद् उक्तं शतपथे ब्राह्मणे। “ग्रीवाः पञ्चदशः। चतुर्दश वा एतासां करूकराणि वीर्यं पञ्चदशम्। तस्माद् एताभिरण्वीभिः सतीभिर्गुरुं भारं हरति” [श० ब्रा० १२. २. ४. १० इति]। ताभ्यो यक्ष्मं वि वृहामीति उत्तरत्र संबन्धः। तथा उष्णिहाभ्यः ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः। तद् उक्तं यास्केन।

उष्णिग् उत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः इति [नि० ७. १२]। उष्णिगेव उष्णिहा । ❀ "टापं चापि हलन्तानाम्" इति टापः स्मरणात् ❀ । तथा चापि अन्यत्र श्रूयते । "उष्णिहा छन्दः" इति [तै० सं० ४. ३. ५. १]। "सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव" [ऋ० १०. १३०. ४] इति च । अत्र प्रकरणाद् व्युत्पत्तिसामान्येन उष्णिहाशब्दो धमनीवाचकः । तथा कीकसाभ्यः जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः । अनूक्यात् अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि अस्मिन्निति अनूक्यम् तत्संधिः । तस्मात् । तथा च वाजसनेयकम् । "अनूकं त्रयस्त्रिंशः द्वात्रिंशद् वा एतस्य करूकराण्यनूकं त्रयस्त्रिंशम्" इति [श० ब्रा० १२. २. ४. १४]। ❀ अनुपूर्वाद् उच समवाये इत्यस्मात् "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति अधिकरणे ण्यत् । "तित् स्वरितः" इति स्वरितत्वम् ❀ । वि वृहामीति सर्वत्र संबन्धः ॥ तथा दोषण्यम् दोष्णोर्भवम् । ❀ पूर्ववद् यति "पद्दन्नः०" इत्यादिना दोषन् आदेशः ❀ । तथाविधं ते त्वदीयं यक्ष्मम् रोगम् अंसाभ्यां बाहुशिरोभ्यां बाहुभ्यां हस्ताभ्यां वि वृहामि उन्मूलयामि ॥

हे व्याधिग्रस्त ! तेरी ग्रीवा (गरदन) की चौदह सूक्ष्म नाड़ियों से मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ और रक्तप्रवाहके कारण ऊपर को स्नान करने वालीं स्निग्ध उष्णिह नामकी नाड़ियोंसे, हँसली और वक्षःस्थलकी नाड़ियोंसे, तथा जिसमें क्रमशः अस्थियें मिलती हैं उस अनूक्यसे मैं यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ, तथा तेरे कन्धोंसे और भुजाओंसे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

हृद॑यात् ते॒ परि॑ क्लो॒म्नो हली॑क्ष्णात् पा॒र्श्वाभ्या॑म् ।
यक्ष्म॒ं मत॑स्नाभ्यां प्ली॒ह्नो य॒क्नस्ते॒ वि वृ॑हामसि ३

हृ॑दयात् । ते॒ । परि॑ । क्लो॒म्नः । हली॑क्ष्णात् । पा॒र्श्वा॑भ्याम् ।

यक्ष्म॑म् । मत॑स्नाभ्याम् । प्ली॒ह्नः । य॒क्नः । ते॒ । वि । वृ॒हा॒म॒सि॒ ३

हे रुग्ण ते तव हृदयात् हृदयपुण्डरीकाद् यक्ष्मं विवृहामसीति उत्तरत्र संबन्धः ॥ तथा परि क्लोम्नः । हृदयसमीपस्थो मांसपिण्डविशेषः क्लोमा । तस्मात् । हलीक्ष्णात् एतत्संज्ञकात् तत्संबन्धाद् मांसपिण्डविशेषात् पार्श्वाभ्याम् दक्षिणोत्तराभ्यां मतस्नाभ्याम् उभयपार्श्वसंबन्धाभ्यां वृक्याभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्यां वा प्लीह्नः उदरपार्श्वस्थितात् श्येनपत्राकाराद् मांसपिण्डात् यक्नः हृदयसमीपस्थाद् एतत्संज्ञकात् कालखण्डात् । ❀ "पद्दन्नः०" इत्यादिना यकृच्छब्दस्य यकन्नादेशः । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण प्लीह्नः यक्नः इत्युभयत्र विभक्त्युदात्तत्वम् ❀ । हे रुग्ण ते त्वदीयं यक्ष्मं तेभ्योवयवेभ्यो वि वृहामसि विवृहामः । ❀ इदन्तो मसिः ❀ ॥

हे रोगिन् ! मैं तेरे हृदयकमलसे यक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ और हृदयके समीप स्थित क्लोम (मूत्राधार–मसाना) से तथा हलीक्ष्ण नाम वाले मांसपिंडसे, दोनों पसलियोंसे, दोनों पित्ताधारपात्रोंसे और उदर तथा पसलियोंमें स्थित श्येनपक्षीकी समान आकार वाले प्लीहा (तिल्ली) से और हृदयके समीपमें स्थित यकृत् (जिगर) से भी मैं राजयक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ ३

चतुर्थी ॥

आ॒न्त्रेभ्य॑स्ते॒ गुदा॑भ्यो वनि॒ष्ठोरु॒दरा॒दधिं ।

यक्ष्मं॑ कु॒क्षिभ्यां॑ प्ला॒शेर्नाभ्या॒ वि वृ॑हामि ते ॥ ४ ॥

आ॒न्त्रेभ्य॑ः । ते॒ । गुदा॑भ्यः । व॒नि॒ष्ठोः । उ॒दरा॑त् । अधि॑ ।

यक्ष्म॑म् । कु॒क्षिऽभ्या॑म् । प्ला॒शेः । नाभ्या॑ः । वि । वृ॒हा॒मि॒ । ते॒ ।

हे यक्ष्मगृहीत ते तव आन्त्रेभ्यः पुरीतद्भ्यः गुदाभ्यः एतत्संज्ञकाभ्यः आन्त्रसमीपस्थेभ्यो मलमूत्रप्रवहणमार्गेभ्यः वनिष्ठोः स्थविरान्त्रात् उदरात् एतत्सर्वाधारभूताज्जठरात् । अधिः अनर्थकः । यक्ष्मं वि वृहामीति संबन्धः ॥ तथा कुक्षिभ्याम् दक्षिणोत्तराभ्याम् उदरभागाभ्यां प्लाशेः बहुच्छिद्रात् मलपात्रात् नाभ्याः नाभिमण्डलाच्च ते त्वदीयं यक्ष्मं वि वृहामि नाशयामि । एतन्मन्त्रद्वयप्रतिपादितानाम् अवयवानां विभागो माध्यंदिनब्राह्मणे सौत्रामण्यां यज्ञाङ्गैः पुरोडाशादिभिः संस्कार्यत्वेन स्पष्टम् आम्नातः । "हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः । यकृत् सावित्रः । क्लोमा वारुणः । मतस्ने एवास्याश्वत्थं च पात्रम् औदुम्बरं च । पित्तं नैयग्रोधम् । आन्त्राणि स्थाल्यः । गुदा उपशयानि । श्येनपत्रे प्लीहासन्दी । नाभिः कुम्भः । वनिष्ठुः प्लाशिः शतातृण्णा तद् यत् सा बहुधा वितृण्णा भवति तस्मात् प्लाशिर्बहुधा विकृत्तः" इति [श० ब्रा० १२. ६. १. ३]॥

हे यक्ष्मा रोगसे ग्रसे हुए ! मैं तेरी अँतड़ियोंसे, मल और मूत्रके सरकनेके स्थानोंसे मोटी आँतसे और इन सबके आधार उदरसे यक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ, तथा तेरी दाईं बाईं कोखों से और अनेक छिद्र वाले मलपात्र प्लाशिसे और नाभिमण्डलसे तेरे यक्ष्मारोगको दूर करता हूँ † ॥ ४ ॥

---

† इन दोनों मन्त्रोंमें प्रतिपादित अवयवोंका विभाग माध्यन्दिन ब्राह्मणमें सौत्रामणीके यज्ञांगपुरोडाश आदिके संस्कार्यरूपसे स्पष्टतया कहा है, कि–"हृदय ही इसका इन्द्रसंबन्धी पुरोडाश है, यकृत् (जिगर) सविताका भाग, मूत्राधार वरुणका भाग है। पित्ताधारपात्र ही इस सौत्रामणि यज्ञके पीपल और गूलड़के पात्र हैं। पित्त ही नैयग्रोध (बटका पात्र) है। अँतड़ियें स्थाली हैं। गुदा उपशयन है। श्येनपत्र प्लीहासन्दी हैं। नाभि ही कुम्भ है,०" (शतपथ ब्राह्मण १२। ६। १। ३)॥

पञ्चमी ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं १ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते

ऊरुऽभ्याम् । ते । अष्ठीवत्ऽभ्याम् । पार्ष्णिऽभ्याम् । प्रऽपदाभ्याम् ।
यक्ष्मम् । भसद्यम् । श्रोणिऽभ्याम् । भासदम् । भंससः । वि ।
वृहामि । ते ॥ ५ ॥

हे रोगार्त ते तव ऊरुभ्याम् अष्ठीवद्भ्याम् जानुभ्याम् । ❀ "आसन्दीवद् अष्ठीवत्०" इत्यादिना अस्थिशब्दस्य मतुपि अष्ठीभावो निपातितः ❀ । पार्ष्णिभ्याम् पादयोरपरभागाभ्याम् प्रपदाभ्याम् पादाग्राभ्यां यक्ष्मम् । वि वृहामीति सर्वत्र संबन्धः ॥ तथा भसद्यम् भसत् कटिप्रदेशः तत्र भवं यक्ष्मम् रोगं श्रोणिभ्याम् कट्योरधरभागाभ्यां वि वृहामि । एवं ते त्वदीयं भासदम् गुह्यप्रदेशभवं रोगं भंससः भासमानाद् गुह्यस्थानाद् वि वृहामि ॥

मैं तेरी ऊरुओंसे, जानुओंसे, पैरोंके अपरभागसे और पैरोंके अग्रभागसे यक्ष्मारोगको अलग करता हूँ और तेरी कमरमें होने वाले यक्ष्माको कटिके नीचेके भागसे दूर करता हूँ और गुह्यदेशमें होने वाले रोगको भासमान गुह्यस्थानसे पृथक् करता हूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ६

अस्थिभ्यः । ते । मज्जऽभ्यः । स्नावऽभ्यः । धमनिऽभ्यः ।
यक्ष्मम् । पाणिऽभ्याम् । अंगुलिऽभ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि । ते ६

अस्थिमज्जशब्दौ सर्वधातूपलक्षकौ। सूक्ष्माः सिराः स्नावशब्देन उच्यन्ते। धमनिशब्देन स्थूलाः। शिष्टं निगदसिद्धम् ॥

मैं तेरी हड्डी मज्जा आदि सब धातुओंसे, सूक्ष्म नाडियोंसे और स्थूल नाड़ियोंसे हाथ अंगुलि और नखोंसे यक्ष्मा रोगको दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं
वि वृहामसि ॥ ७ ॥

अङ्गेऽङ्गे । लोम्निऽलोम्नि । यः । ते । पर्वणिऽपर्वणि ।
यक्ष्मम् । त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । विऽबर्हेण । विष्वञ्चम् ।
वि । वृहामसि ॥ ७ ॥

इत्थं प्रसिद्धावयवेभ्यो रोगस्यापनोदनं [प्रतिपाद्य अप्रसिद्धावयवेभ्योपि अपनोदनं]प्रतिपाद्यते। हे रुग्ण ते तव अंगेअंगे अनुक्तेषु सर्वेष्ववयवेषु लोम्निलोम्नि सर्वेषु रोमकूपेषु पर्वणिपर्वणि सर्वेषु संधिषु यो यक्ष्मो जातः। ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति सर्वत्र द्विर्वचनम् ❀। तं यक्ष्मं वि वृहामसीत्युत्तरत्र संबन्धः ॥ तथा ते तव त्वचस्यम् त्वचि भवं यक्ष्मम्। ❀ त्वच संवरणे इत्यस्मात् असुन्। पूर्ववद् यत्। "यचि भम्" इति भत्वेन पदत्वाभावाद् रुत्वाभावः ❀। वयं वि वृहामः। सूक्तार्थम् उपसंहरति। विष्वञ्चम् चक्षुरादिसर्वावयवव्याप्तं रोगजातं कश्यपस्य महर्षेर्विबर्हेण। विवृहत्यनेनेति विबर्हं सूक्तम्। तेन वयं वि वृहामसि विवृहामः। मन्त्रद्रष्टुर्महर्षेः संकीर्तनेन इदानीं प्रयुज्यमानस्यापि मन्त्रस्य अमोघवीर्यत्वं सूचितं भवति ॥

इति षष्ठेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

(इस प्रकार प्रसिद्ध अवयवोंसे रागके हटानेका वर्णन कर अब अप्रसिद्ध अवयवोंसे भी रोगके दूर करनेका वर्णन किया जाता है) हे रोगिन् ! तेरे ऊपर न कहे हुए प्रत्येक अङ्गोंमें, सम्पूर्ण रोमकूपोंमें और प्रत्येक जोड़ोंमें जो यक्ष्मा होगया है उस रोगको हम दूर करते हैं । और तेरी त्वचामें जो यक्ष्मा रोग पहुँच गया है उसको हम दूर करते हैं । और तेरे नेत्र आदि सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त रोगको हम महर्षि कश्यपके इस विवर्ह मन्त्रसे दूर करते हैं † ॥ ७ ॥

द्वितीया सूक्त समाप्त (६८)॥

"य ईशे पशुपतिः" इति सूक्तेन वशाशमनकर्मणि आज्यं जुहुयात् । तद् उक्तं सूत्रे । "य ईशे पशुपतिः पशूनाम् इति हुत्वा वशाम् अनक्ति" इति [कौ० ५. ८] ॥

तथा सर्वलोकाधिपत्यकामः अनेन सूक्तेन इन्द्राग्न्योर्यागम् उपस्थानं वा कुर्यात् ॥

तथैव अनेन सूक्तेन इष्टम् अन्नम् अभिमन्त्र्य ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्

सूत्रितं हि । "य ईशे [२. ३४] ये भक्षयन्तः [२. ३५] इति इन्द्राग्नी लोककामोऽन्नं ददाति" इति [कौ० ७. १०] ॥

तथैव अनेन पशुयागे संज्ञपनार्थं यूपात् प्रमुच्यमानं पशुम् अनुमन्त्रयेत । उक्तं वैताने । "अथ पशुर्वैष्णवं पूर्वहोमम् उरु विष्णो" इति प्रक्रम्य "य ईश इति प्रमुच्यमानम् अनुमन्त्रयते" इति [वै० २. ६] ॥

अत्र प्रजानन्तः [५] इत्यनया वशाख्यपशोः संज्ञपनं कुर्यात् । अत्र सूत्रम् । "अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्त इति" [कौ० ५. ८] इति ॥

---

† मन्त्रद्रष्टा महर्षिके संकीर्तनसे इस प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रकी अमोघ शक्ति सिद्ध है

"य ईशे पशुपतिः" इस सूक्तसे वशाशमनकर्म में घृतकी आहुति देय। इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ८ में कहा है, कि-"य ईशे पशुपतिः पशूनां इति हुत्वा वशां अनक्ति" ॥

सब लोकों पर अधिपतित्व चाहने वाला पुरुष इस सूक्तसे इन्द्र और अग्नि देवताका याग वा उपस्थान करे ॥

तथा इस सूक्तसे इष्ट (अभिलषित) अन्न ब्राह्मणोंको देय ॥

इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"य ईशे (२। ३४) ये भक्षयन्तः (२। ३५) इति इन्द्राग्नी लोककामोऽन्नं ददाति- द्वितीयकाण्डके चौंतीसवें सूक्त-य ईशे-से और द्वितीयकाण्डके पैंतीसवें सूक्त-ये भक्षयन्तः-से लोकोंकी कामना वाला इन्द्र और अग्निका याग करे और अन्न देय"।

तथा पशुयागमें यूपसे संज्ञपनके लिये छोड़े हुए पशुका इस सूक्तसे अनुमन्त्रण करे इसी बातको वैतानसूत्र २। ६ में कहा है, कि-"य ईश इति प्रमुच्यमानं अनुमन्त्रयते-य ईशे सूक्तसे यूपसे छोड़े हुए पशुका अनुमन्त्रण करे" ॥

इस सूक्तकी "प्रजानन्त" इस पाँचवीं ऋचासे वशा पशुका संज्ञपन करे। इसी बातको कौशिकसूत्र ५। ८ में कहा है, कि- "अथ प्राणान् आस्थापयति प्रजानन्त इति" ॥

तत्र प्रथमा ॥

य ई॒शे॑ प॒शुप॑तिः प॒शू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् ।
निष्क्री॑त॒ः स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं
सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः । ईशे॑ । प॒शु॒ऽपति॑ः । प॒शू॒नाम् । चतु॑ःऽपदाम् । उ॒त । यः । द्वि॒ऽप॑दाम् ।

नि॑ःऽक्रीतः । सः । य॒ज्ञिय॑म् । भा॒गम् । ए॒तु॒ । रा॒यः । पोषा॑ः ।
यज॑मानम् । स॒च॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

यः पशुपतिः पशूनां पालयिता रुद्रः चतुष्पदाम् गवादीनां पशूनाम् ईशे ईष्टे नियन्ता भवति । उत अपि च यः पशुपतिर्द्विपदाम् मनुष्यादीनां च ईष्टे । ❀ ईश ऐश्वर्ये । "लोपस्त आत्मनेपदेषु" इति तलोपः । अनुदात्तेत्त्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इति कर्मणि षष्ठी । चतुष्पदां द्विपदाम् इत्युभयत्र "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादशब्दस्य अन्त्यलोपः समासान्तः । "द्वित्रिभ्यां पाद्न्०" इति द्विपदाम् इत्यस्य उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । तस्मात् पशुपतेः सकाशाद् निष्क्रीतः [सः] निष्कृष्य स्वाधीनीकृतोयं वशारूपः पशुः यज्ञियम् यज्ञार्हं भागम् एतु गच्छतु यज्ञभागतां प्रतिपद्यताम् । ❀"यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" इति घः ❀ ॥ किं च रायः धनस्य पशुहिरण्यादिलक्षणस्य पोषाः समृद्धयः यजमानं सचन्ताम् समवयन्तु । ❀ "ऊडिदम्०" इति रायः षष्ठ्या उदात्तत्वम् । "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इति सत्वम् ❀ ॥

जो पशुओंका पालन करने वाले रुद्र चार पैर वाले गौ आदि पशुओंके ईश हैं—नियन्ता—हैं और दो पैर वाले मनुष्य आदिके भी नियन्ता हैं । उन पशुपतिके पाससे खींच स्वाधीन कियाहुआ यह वशा पशु यज्ञभाग बने और धनकी पुष्टि अर्थात् पशु सुवर्ण आदिकी पुष्टि यजमानको प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया

प्र॒मु॒ञ्चन्तो॒ भुव॑नस्य॒ रेतो॑ गा॒तुं धत्त॒ यज॑मानाय देवाः ।
उ॒पाकृ॑तं शशमा॒नं यदस्था॑त् प्रि॒यं दे॒वाना॒मप्ये॑तु॒ पाथ॑ः २

प्र॒ऽमु॒ञ्चन्तः॑ । भुव॑नस्य । रेतः॑ । गा॒तुम् । ध॒त्त॒ । यज॑मानाय । दे॒वाः॒ ।

उ॒प॒ऽआकृ॑तम् । श॒श॒मा॒नम् । यत् । अस्था॑त् । प्रि॒यम् । दे॒वाना॑म् ।

अपि॑ । ए॒तु॒ । पाथः॑ ॥ २ ॥

प्रमुञ्चन्तः इमं हन्यमानं पशुं त्यक्त्वा गच्छन्तो हे देवाः चक्षुराद्याः प्राणा यूयम् । कीदृशं पशुम् । भुवनस्य भूतजातस्य रेतः कारणं यागद्वारेण उत्पत्तिहेतुम् । यजमानाय अस्मै गातुम् गतिं धत्त पुण्यलोकान् गन्तुं मार्गं कुरुत ॥ किं च उपाकृतम् उपाकरणेन संस्कृतं शशमानम् शाम्यन्तम् । संज्ञप्यमानम् इत्यर्थः । ❀ शाम्यतेस्ताच्छीलिकश्चानश् । छान्दसः शपः श्लुः ❀ । यद्वा शशमानम् अस्मात् लोकाद् उत्प्लुत्य गच्छन्तम् । ❀ शश प्लुतगतौ । उदात्तेत् । पूर्ववत् चानश् । अत एव लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावः ❀ । एतादृशं पशुम् । व्याप्येति क्रियाध्याहारः । यत् मांसलक्षणं पाथः अन्नम् अस्थात् तिष्ठति तद्देवानां प्रियं पाथः मांसलक्षणम् अन्नम् अयम् उपाकृतः पशुः अप्येतु अपिगच्छतु । देवोपभोग्यान्नभावं प्रतिपद्यताम् इत्यर्थः । “विश्वेषां देवानां प्रियं पाथो अपीहि” [तै० सं० ३. ३. ३. ३.] इत्यादौ यथा अनभिषुतस्य सोमस्य कर्तृत्वम् पाथसः कर्मत्वम् एवम् अत्रापि पशोरन्नकर्तृत्वम् । अत एव याज्ञिका द्विबहुपशुकेषु कर्मसु अपीताम् अपि यन्तु इति ऊहं कुर्वन्ति ॥ यद्वा देवा इति अग्न्यादय एव संबोध्याः । तथा हि । हे देवा अग्न्यादयः यूयम् भुवनस्य कृत्स्नस्य भूतजातस्य रेतः उत्पत्तिकारणं पुष्टिरूपम् उदकं प्रमुञ्चन्तः विसृजन्त अन्यत् समानम् ॥

यागके द्वारा प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण इस हन्यमान पशु को छोड़ कर जाते हुए हे चक्षु आदि देवताओं ! तुम इस यजमानको पुण्यलोकमें जानेके लिये मार्ग बनाओ । और वेदश्रुतिका

श्रवण कर इस लोकसे ऊपरके लोकमें उछल कर जाते हुए पशु में जो मांसरूप पाथ (अन्न) है उस देवताओंके पाथरूप अन्न को यह पशु प्राप्त हो अर्थात् यह पशु देवोचित अन्नभावको प्राप्त हो २

तृतीया ॥

ये व॒ध्यमा॑न॒मनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च।
अ॒ग्निष्टानग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑
संररा॒णः ॥ ३ ॥

ये । व॒ध्यमा॑नम् । अनु॑ । दीध्या॑नाः । अ॒नु॒ऽऐक्ष॑न्त । मन॑सा ।
चक्षु॑षा । च॒ ।

अ॒ग्निः । तान् । अग्रे॑ । प्र । मु॒मो॒क्तु॒ । दे॒वः । वि॒श्वऽक॑र्मा ।
प्र॒ऽजया॑ । स॒म्ऽर॒रा॒णः ॥ ३ ॥

ये सयूथ्याः पशवः वध्यमानम् इमं पशुम् अनुदीध्यानाः अनुदीप्यमाना अनुतप्ताः सन्तो मनसा चक्षुषा च स्नेहवशाद् अन्वैक्षन्त अनुपश्यन्ति न जहति स्नेहात् कारुण्याद् वा । ❀ ईक्ष दर्शने । छान्दसो लङ् । "यद्वृत्तान्नित्यम्" इति निघातप्रतिषेधः ❀ । तान् सर्वान् सयूथ्यान् पशून् अग्निर्देवः अग्रे प्रथमं प्र मुमोक्तु स्नेहपाशं प्रमोचयतु ॥ विश्वकर्मा विश्वं कर्म कर्तव्यं यस्य सः प्रजया स्वसृष्टया संरराणः सह शब्दायमानः । दानार्थम् ऐकमत्यं प्राप्त इत्यर्थः । सोपि प्र मुमोक्तु । ❀ मुञ्चतेश्छान्दसः शपः श्लुः । रै शब्दे इत्यस्मात् लिटः कानच् । "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्" इति अग्निष्टान् इत्यत्र षत्वम् ❀ ॥

जो झुण्डमें साथ रहने वाले पशु इस वध्यमान पशुको अनुतप्त होते हुए मन और नेत्रसे देख रहे हैं और स्नेहवश इसको

देखना नहीं छोड़ते हैं। अग्निदेवता! पहिले इन सब पशुओंके स्नेहपाशको छुड़ावे। और सब ही जिनका कर्म है, वह विश्वकर्मा अपनी रची हुई प्रजाके साथ शब्द करते हुए अर्थात् एकमत हो कर इसके स्नेहको छुड़ा देवें॥ ३॥

चतुर्थी॥

ये ग्रा॒म्याः प॒शवो॑ वि॒श्वरू॑पा॒ विरू॑पाः॒ सन्तो॑ बहु॒धैक॑-
रूपाः।
वा॒युष्टान॒ग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वः प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ संर-
रा॒णः॥ ४॥

ये। ग्रा॒म्याः। प॒शवः॑। वि॒श्वऽरू॑पाः। विऽरू॑पाः। सन्तः॑।
ब॒हु॒ऽधा। एकरूपाः।
वा॒युः। तान्। अग्रे॑। प्र। मु॒मो॒क्तु॒। दे॒वः। प्र॒जाऽप॑तिः।
प्र॒ऽजया॑। स॒म्ऽर॒रा॒णः॥ ४॥

ग्राम्याः ग्रामे भवा गवाद्या ये पशवो विश्वरूपाः सर्वरूपान्विता विरूपाः विविधरूपा एवं बहुधा सन्तोपि एकरूपाः संज्ञप्यमानं पशुं प्रति एकस्वभावाः सन्ति तान् सर्वान् वायुः [अग्रे प्र मुमोक्तु] प्रथमं प्रमोचयतु प्रजापतिश्च स्वकीयया प्रजया एकमत्यं गच्छन् पश्चात् प्रमोचयतु॥

ग्राममें रहने वाले गौ आदि जो पशु सर्वरूप अनेकरूप वाले होने पर भी इस संज्ञप्यमान पशुके प्रति एकमत होरहे हैं पहिले उन सब (के स्नेहपाश) को वायुदेवता छुड़ा दें और प्रजापति देवता अपनी रची हुई प्रजाके साथ सम्मति कर इसके स्नेहपाश छुड़ा देवें॥ ४॥

पञ्चमी ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

प्रऽजानन्तः । प्रति । गृह्णन्तु । पूर्वे । प्राणम् । अङ्गेभ्यः । परि । आऽचरन्तम् ।

दिवम् । गच्छ । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः । स्वःऽगम् । याहि । पथिऽभिः । देवऽयानैः ॥ ५ ॥

प्रजानन्तः इह यागे उपयुक्तस्य तव माहात्म्यं प्रकर्षेण जानन्तः [पूर्वे] पूर्वमेवान्तरिक्षे स्थिता देवाः तव अङ्गेभ्यः शरीरावयवेभ्यः शरीरावयवेभ्यः पर्याचरन्तम् परितः सर्वतो निष्क्रम्य आभिमुख्येन आगच्छन्तं तव प्राणम् तत्सहितम् आत्मानं प्रति गृह्णन्तु ॥ ततस्त्वं देवैः परिगृहीतो दिवम् अन्तरिक्षं गच्छ ॥ तत्र च शरीरैः दिव्यभोगार्हैः [प्रति तिष्ठ] प्रतिष्ठितो भव । ❀ 'द्व्यचोतस्तिङः" इति दीर्घत्वम् ❀ ॥ ततो देवयानैः देवा यैर्यान्ति तैः पथिभिः मार्गैः स्वर्गम् अभिलष्यमाणसुखोपभोगस्थानं याहि गच्छ ॥

इति द्वितीयकाण्डे षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

(हे पशो) इस यागमें उपयोगमें आने वाले तेरे माहात्म्यके वेत्ता देवता पहिलेसे ही आकाशमें खड़े हुए हैं, वह तेरे अंगोंसे निकल कर अभिमुख होकर आते हुए तेरे प्राण पर–आत्मा पर–अनुग्रह करें–तुझको ग्रहण करें, तब तू देवताओंके ग्रहण करने पर अन्तरिक्षको जा । तहाँ भोग भोगनेके पात्र शरीरोंमें

प्रतिष्ठित हो, फिर देवयान मार्गोंसे अभिलषित सुख भोगनेके स्थान स्वर्गको जा ॥ ५ ॥

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६९) ॥

“ये भक्षयन्तः” इति सूक्तेन बहुजनमध्ये भुञ्जानो दृष्टिदोषनिवारणाय अन्नम् अभिमन्त्र्य भुञ्जीत । अत्र सूत्रम् । “ये भक्षयन्त इति परिषद्येकभक्तम् अन्वीक्षमाणो भुङ्क्ते” इति । [कौ० ५. २] ॥

तथा सर्वलोकाधिपत्यकामः इन्द्राग्न्योर्यागम् उपस्थानम् अन्नदानं वा अनेन सूक्तेन कुर्यात् । सूत्रं तु पूर्वसूक्त एवोदाहृतम् ॥

तथा सर्वेषु सवयज्ञेषु अनेन सक्तेन पुरस्ताद्धोमान् जुहुयात् । सूत्रितं हि । “य ईशे [२. ३४] ये भक्षयन्तः [२. ३५]” इति प्रक्रम्य “प्रथमं पशूपाकरण उत्तरेण सवपुरस्ताद्धोमान्” इति [कौ. ७. १०]

साकमेधाख्यपर्वणि “ये भक्षयन्तः” इत्यनेन वैश्वकर्मणयागानुमन्त्रणं कुर्यात् । उक्तं वैताने । “कार्तिक्यां साकमेधाः” इति प्रक्रम्य “वैश्वकर्मणं ये भक्षयन्त इति” इति [वै० २. ५] ॥

तथा अग्निचयने वैश्वकर्मणहोमानुमन्त्रणे अस्य विनियोगः । उक्तं वैताने । “ये भक्षयन्तः [२. ३५] एतं सधस्थाः [६. १२३] इति द्वे येना सहस्रम् [९. ५. १७.] इति वैश्वकर्मणहोमान्” [वै० ५. २] ॥

यज्ञस्य चक्षुरित्येषा दर्शपूर्णमासयोः पुरस्ताद्धोमे विनियुक्ता । “अग्नावग्निः [४. ३९. ९] हृदा पूतम् [४. ३९. १०] पुरस्ताद् युक्तः [५. २९. १] यज्ञस्य चक्षुः [२. ३५. ५] इति जुहोति इत्यादिसूत्रात् [कौ० १. ३] ॥

बहुतसे मनुष्योंके बीचमें भोजन करे तो दृष्टिदोषको दूर करने के लिये ‘ये भक्षयन्तः’ सूक्तसे अन्नको अभिमंत्रित करके भक्षण

करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"ये भक्षयन्त इति परिषद्येकभक्तं अन्वीक्षमाणो भुङ्क्ते" (कौशिकसूत्र ५ । २)॥

तथा सब लोकों पर स्वामित्व चाहने वाला इस सूक्तसे इन्द्राग्नी के उपस्थान वा यागको करे। सूत्र पहिले सूक्तमें ही लिख दिया है॥

तथा सम्पूर्ण सत्रयज्ञोंमें इस सूक्तसे पुरस्ताद्धोम करे। सूत्रमें भी कहा है, कि—"य ईशे (२ । ३४) ये भक्षयन्तः (२ । ३५)" इति प्रक्रम्य "प्रथमं पशूपाकरण उत्तरेण सत्रपुरस्ताद्धोमान्—द्वितीय काण्डके चौतीसवें पैंतीसवें सूक्तका नाम लिख कर कहा है कि— पहिलेका पशूपाकरणमें विनियोग है और दूसरेसे सत्रपुरस्ताद्धोमों को करे" (कौशिकसूत्र ७ । १०)॥

साकमेध नाम वाले कर्ममें "ये भक्षयन्तः" सूक्तसे वैश्वकर्म-यागका अनुमन्त्रण करे। इसी बातको वैतानसूत्र २ । ५ में कहा है, कि—"कार्त्तिक्यां साकमेधाः" इति प्रक्रम्य "वैश्वकर्मणं ये भक्षयन्त इति"॥

तथा अग्निचयनके वैश्वकर्मणहोमानुमन्त्रणमें भी इसका विनियोग होता है। इसी बातको वैतानसूत्रमें कहा है, कि—'ये भक्षयन्तः (२ । ३५) एवं सधस्थाः (६ । १२३) इति द्वे येना सहस्रम् (९ । ५ । १७) इति वैश्वकर्मणहोमान् (वैतानसूत्र ५ । २)॥

"यज्ञस्य चक्षुः" इस पाँचवीं ऋचाका दर्शपूर्णमासके पुरस्ताद्धोममें विनियोग है। कौशिकसूत्र १ । ३ में कहा है, कि— "अग्नावग्निः (४ । ३९ । ९) हृदा पूतम् (४ । ३९ । १०) पुरस्ताद् युक्तः (५ । २९ । १) यज्ञस्य चक्षुः (२ । ३५ । ५) इति जुहोति"॥

तत्र प्रथमा॥

ये भ॒क्षयं॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒धुर्यान॒ग्नयो॑ अ॒न्वतं॑प्यन्त॒

धिष्ण्या॑ः ।
या तेषा॑मव॒या॑ दुरि॑ष्टि॒ः स्वि॑ष्टिं न॒स्तां॑ कृ॑णवद् वि॒श्वक॑र्मा

ये । भ॒क्षय॑न्तः । न । वसू॑नि । आ॒नृ॒धुः । यान् । अ॒ग्नय॑ः ।
अ॒नु॒ऽअत॑प्यन्त । धिष्ण्या॑ः ।
या । ते॑षाम् । अ॒व॒ऽयाः । दुःऽइ॑ष्टिः । सुऽइ॑ष्टिम् । न॒ः । ताम् ।
कृ॒ण॒व॒त् । वि॒श्वऽक॑र्मा ॥ १ ॥

ये वयं भक्षयन्तो न भक्षयन्तं इव अदन्त इव वसूनि धनानि आनृधुः । पुरुषव्यत्ययः । वर्धितवन्तः [स्मः । यद्वा न भक्षयन्तः नादन्तः] अपि तु पृथिव्यां धनानि निक्षिप्तवन्तः । यद्वा वसूनि भक्षयन्तः अयागार्थेन व्ययेन नाशयन्तः नानृधुः समृद्धा नाभूम । ❀ ऋधु वृद्धौ । अस्मात् लिटि द्विर्वचने "अत आदेः" इत्यभ्यासदीर्घत्वे "तस्मान्नुड् द्विहलः" इत्यत्र ऋकारैकदेशस्य रेफस्य हल्ग्रहणेन ग्रहणाद् द्विहल्त्वेन नुडागमः ❀ । [धिष्ण्याः] धिष्ण्येषु स्थानेषु स्थिता अग्नयः आहवनीयाद्याः यान् उद्दिश्य अन्वतप्यन्त अस्मद्विषयम् अनुतापं धृतवन्तः । यागादौ दक्षिणाद्यप्रदानेन यागवैकल्यात् तेषां धनवतां जन्म व्यर्थम् अहो शोच्या एत इति । एवम् अयष्टारो दुर्यष्टारश्च । तेषाम् द्विविधानाम् अस्माकं या अवयाः अवयजनं यागाननुष्ठानां दुरिष्टिः दुर्यागश्चस्ति ताम् अनिष्टिदुरिष्टिदोषपरिहारार्थं कृतां स्विष्टिम् शोभनाम् इष्टिं नः अस्माकं कृणवत् करोतु विश्वकर्मा विश्वकृद् देवः । अनिष्टिदुरिष्टनिवारणसामर्थ्यं शोभनत्वम् इष्टेः । ❀ अवया इति । "अवे यजः" इति ण्विनि कृते "अवयाः श्वेतवाः०" इति निपातितः । दुरिष्टिरिति । प्रत्ययान्तविशेषणत्वे दुरो गतित्वाभावाद् अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । धात्वर्थविशेषणत्वे गति-

त्वात् "तादौ च निति०" इति प्रकृतिस्वरत्वम्। स्विष्टिशब्देऽप्येवम्। सोः प्रकृतिस्वरत्वे "उदात्तस्वरितयोर्यणः०" इति संहितायां ततः पर इकारः स्वर्यते ❀ ॥

हम धनका यागमें व्यय न कर अन्यत्र व्यय करनेसे (भक्षण सा करके) समृद्धि सम्पन्न नहीं हुए हैं अत एव स्थानोंमें स्थित आहवनीय आदि अग्नि जिन हमारा शोक करते हैं, कि–(याग आदिमें दक्षिणा आदि न देनेसे याग विफल रह जाता है अतः इन धनवानोंका जन्म व्यर्थ है) इस प्रकार जो हम अयष्टा (यज्ञ न करने वाले) और दुर्यष्टा (दुर्यज्ञ करने वाले) हैं। ऐसे हम दोनोंकी याग न करनेकी और दुर्यागोंकी निवृत्ति करने वाली शोभन इष्टिको विश्वकर्मा देवता (पूर्ण) करें ॥१॥

द्वितीया ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान् रराध सं नष्टेभिः सृजतु
विश्वकर्मा ॥ २ ॥

यज्ञऽपतिम्। ऋषयः। एनसा। आहुः। निःऽभक्तम्। प्रऽजाः।
अनुऽतप्यमानम्।
मथव्यान्। स्तोकान्। अप। यान्। रराध। सम्। नः। तेभिः।
सृजतु। विश्वऽकर्मा ॥ २ ॥

ऋषयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनः यज्ञपतिम् यजमानम् एनसा। ❀ इत्थंभावे तृतीया ❀। [युक्तम्] एनस्विनम् आहुः। कथंभूतम्। निर्भक्तम् निर्भागं दौर्गत्ययुक्तम् प्रजाः अस्य यागवैकल्य-

निमित्तेन एनसा परितप्यमानाः प्रजा अनु स्वयं तप्यमानम् एवं भूतं यज्ञपतिं एनसा युक्तम् आहुः ॥ किं च मधव्यान् । मधुररसः सोमो मधुः । तद्विकारभूतान् यान् स्तोकान् बिन्दून् अप रराध अपराद्धवान् । अन्तरितान् कृतवान् इत्यर्थः । तेभिस्तैः स्तोकैः नः अस्मदीयं यज्ञपतिं सं सृजतु संयोजयतु [विश्वकर्मा] विश्वं कर्म करणीयं यस्य स प्रजापतिः । ❀ यज्ञपतिम् । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । मधव्यान् इति । "मये च" "मधोः" इति विकारे यप्रत्ययः ❀ ॥

अतीन्द्रिय पदार्थोंको देखने वाले ऋषि, यागवैकल्परूप पाप के निमित्त दुर्भागी प्रजाके साथ स्वयं भी अनुताप करते हुए इस यज्ञपति—यजमान—को पाप युक्त कहते हैं । विश्वकर्मा अर्थात् प्रजापति देवताने मधुर रस वाले सोमकी विन्दुओंको अन्तरित करलिया है, प्रजापति देवता उन विन्दुओंसे हमारे यज्ञको संयुक्त करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अ॒दा॒न्यान्त्सोम॒पान् मन्य॑मानो य॒ज्ञस्य॑ वि॒द्वान्त्सं॑म॒ये
न धीर॑ः ।
यदेन॑श्चकृ॒वान् ब॒द्ध ए॒ष तं वि॑श्वकर्म॒न् प्र मु॑ञ्चा स्व॒स्तये॑ ३

अ॒दा॒न्यान् । सो॒म॒ऽपान् । मन्य॑मानः । य॒ज्ञस्य॑ । वि॒द्वान् । स॒म्ऽअ॒ये ।
न । धीर॑ः ।
यत् । एन॑ः । च॒कृ॒ऽवान् । ब॒द्धः । ए॒षः । तम् । वि॒श्व॒ऽक॒र्म॒न् ।
प्र । मु॒ञ्च॒ । स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

यज्ञस्य वैदिकस्य क्रियाकलापस्य । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्"

इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । यज्ञम् विद्वान् जानन् । यद्वा यज्ञस्य स्वरूपं विद्वान् विद्वान् अहमेवेति विद्यामदेन मोहितः सोमपान् । ❀ "गापोष्टक्" इति टक् ❀ । स्वव्यतिरिक्तान् कृतसोमयागान् पण्डितानपि अदान्यान् अज्ञत्वारोपेण दानानर्हान् मन्यमानः । ❀ "छन्दसि च" इति यः ❀। तत्र दृष्टान्तः। समये न धीरः समयन्ति संगच्छन्ते योद्धारोत्रेति समयः संग्रामः तत्र धीर इव । स यथा स्वभुजबलाभिमानेन प्रतिभटान् तिरस्कार्यान् मनुते एवम् अहंकारेण बद्ध एषः यद्व एनश्चकृवान् तिरस्कारलक्षणं यत् पापं कृतवान् । ❀ करोतेर्लिटः क्वसुः ❀ । हे विश्वकर्मन् देव तम् एनोयुक्तं स्वस्तये अविनाशाय प्र मुञ्च तस्मात् पापात् प्रमोचय ॥

जैसे योधा संग्राममें दूसरे भटोंको तुच्छ समझता है तैसे इसने यज्ञके स्वरूपको मैं ही समझने वाला हूँ, इस प्रकार विद्यामदसे मोहित हो अपनेसे अतिरिक्त सोमयागों करने वाले पण्डितोंको अज्ञ समझ कर दानका पात्र न मान उनका अभिमानवश तिरस्काररूप पाप किया है। हे विश्वकर्मन् देव ! ऐसे पापसे युक्त इसको अविनाश पानेके लिये पापसे मुक्त करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

घो॒रा ऋष॑यो॒ नमो॑ अस्त्वे॒भ्य॒श्चक्षु॒र्यदे॑षां॒ मन॑सश्च स॒त्यम्।
बृह॒स्पत॑ये महिष द्यु॒मन्नमो॒ विश्व॑कर्म॒न् नम॑स्ते
पा॒ह्य॑१॒स्मान् ॥ ४ ॥

घो॒राः। ऋष॑यः। नमः॑। अ॒स्तु। ए॒भ्यः॑। चक्षुः॑। यत्। ए॒षा॒म्।
मन॑सः। च॒। स॒त्यम्।

बृ॒हस्पत॑ये । म॒हि॒ष॒ । द्यु॒ऽमत् । नम॑ः । विश्व॑ऽकर्मन् । नम॑ः । ते॒ । पा॒हि॒ । अ॒स्मान् ॥ ४ ॥

ये घोराः क्रूरा ऋषयः प्राणाश्चक्षुराद्याः । श्रूयते हि । "के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः" इति । एभ्यः प्राणेभ्यो नमोस्तु ॥ एषां प्राणानां मनसः अन्तःकरणस्य च मध्ये यत् सत्यम् यथार्थदर्शि चक्षुः तस्मा अपि नमोस्तु । अत्र ऋषिशब्देन सामान्येन उपात्तस्यापि चक्षुषः पृथग् उपदेशः प्राधान्यद्योतनाय । अत एव दृष्टिदोषनिवारणकर्मणि अस्य विनियोग उपपन्नः ॥ तथा बृहस्पतये बृहतां देवानां पत्ये देवाय महि महत् प्रभूतं सत् शोभनं द्युमत् दीप्तिमत् । अनेन विशेषणत्रयेण करणत्रयस्यापि तदेकतानत्वम् उक्तम् । उक्तलक्षणं नमोस्तु ॥ तथा हे विश्वकर्मन् ते तुभ्यं नमोस्तु । क्रूरचक्षुर्जन्यदोषादिपरिहारेण अस्मान् पाहि पालय ॥ यद्वा नम इत्यन्ननाम । भुज्यमानम् अन्नम् इन्द्रियाधिष्ठातृदेवेभ्योस्तु । बृहताम् उक्तानाम् इन्द्रियाणां पतिः पालको नियन्ता अन्तरात्मा बृहस्पतिः । तस्मै महत्त्वाद्युक्तगुणविशिष्टं नमोस्तु ॥ तथा [हे विश्वकर्मन्] विश्वं कर्म करणीयं यस्य स तादृग्रूप परमात्मन् ते नमोस्तु । अनेन बहुजनदृष्ट्युपहतस्यापि अन्नस्य उक्तप्रकारेण देवतार्थत्वाद् भोक्तुस्तद्भोजननिमित्तदृष्टिदोषादिकं न भवतीत्यर्थः ॥

जो चक्षु आदि प्राणरूप घोरऋषि हैं ‡ । इन प्राणोंके अन्तःकरणके मध्यमें जो यथार्थदर्शी चक्षु है उसको भी नमस्कार हो†

---

‡ श्रुतिमें कहा है, कि–"के ते ऋषयः प्राणा वा ऋषयः–वे ऋषि कौन हैं, चक्षु आदि प्राण ही ऋषि हैं" ॥

† प्राण शब्दसे चक्षु आदि सबका ग्रहण होजाता है । फिर चक्षुका अलग उल्लेख चक्षुकी प्रधानता दिखानेके लिये किया गया है।

बड़े २ देवताओंके पालक बृहस्पतिजीके लिये बड़ा भारी कांतिमय नमस्कार (रूप हवि) प्राप्त हो। तथा हे विश्वकर्मन् ! आपके लिये नमस्कार हो, आप क्रूरनेत्रसे उत्पन्न हुए दोष आदिको दूर कर हमारी रक्षा करिये ॥

अथवा—यह खाया जानेवाला अन्न इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवताओंके लिये हो और इन्द्रियोंके पालक अन्तरात्मा नियन्ता बृहस्पतिदेवके लिये महत्व आदि गुणसम्पन्न नमस्कार हो और सम्पूर्ण कर्म ही जिनका है, ऐसे विश्वकर्मन् परमात्मन् ! आपके लिये नमस्कार है ॥ (इस प्रकार अनेक मनुष्योंकी दृष्टिसे दूषित अन्नके भी देवताके निमित्त होने पर भोक्ताको दृष्टिदोष नहीं लगता है) ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

य॒ज्ञस्य॒ चक्षुः॒ प्रभृ॑ति॒र्मुखं॑ च वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा
जुहोमि ।
इ॒मं य॒ज्ञं वि॒त॑तं वि॒श्वक॑र्म॒णा दे॒वा य॑न्तु सुमन॒स्यमा॑नाः

य॒ज्ञस्य॑ । चक्षु॑ः । प्रऽभृ॑तिः । मुख॑म् । च॒ । वा॒चा । श्रोत्रे॑ण ।
मन॑सा । जु॒हो॒मि॒ ।
इ॒मम् । य॒ज्ञम् । वि॒ऽत॑तम् । वि॒श्वऽक॑र्मणा । आ । दे॒वाः । य॒न्तु॒ ।
सु॒ऽम॒न॒स्यमा॑नाः ॥ ५ ॥

यज्ञस्य यागस्य चक्षुः चक्षुरिन्द्रियवत् प्रदर्शकः। तदधीनत्वाद् यज्ञसिद्धेः। यद्वा यज्ञाधिदेवतायाश्चक्षुरिन्द्रियम् अयम् अग्निः। तथा च मन्त्रवर्णः। "अग्निना यज्ञश्चक्षुष्मान्" इति। तथा प्रभृतिः यज्ञस्य आदिभूतः। अग्निस्थापनपूर्वकत्वात् सर्वयज्ञानाम्। मुखं

च आस्यमपि अग्निरेव । तथा च दाशतय्याम् आम्नायते । "त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे" इति [ऋ० २. १. १३] । यद्वा मुखम् मुखमिव मुख्यः सर्वदेवतानां प्रयाजादिषु प्रथमयष्टव्यत्वात् । "अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्" [ऐ० ब्रा० १. ४] इत्यादिश्रुतेः ।। यद्वा आज्यम् उच्यते यज्ञस्य चक्षुः । चक्षुःसंस्तुताज्यभागनिष्पादकत्वात् । प्रभृतिः आदिभूतं प्रथमं हूयमानत्वात् । मुखं च मुखवत् प्रधानभूतं मुख्यद्रव्यम् । "तं देवा अब्रुवन् । एष वाव यज्ञो यद् आज्यमप्येव नोत्रास्तु" [तै० सं २. ६. ३. १] इत्यादिश्रुतेः । एवंलक्षणम् आज्यं वाचा मन्त्रेण श्रोत्रेण श्रोत्रवता । ❀ मत्वर्थीयः अकारः ❀ । उपलक्षणम् एतत् सर्वेन्द्रियाणाम् । अनन्यव्यापारश्रोत्रादियुक्तेन मनसा अन्तःकरणेन यष्टव्यदेवतां ध्यायन् जुहोमि अग्नौ प्रक्षिपामि । "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेद् वषट्करिष्यन्" [ऐ० ब्रा० ३. ८] इति श्रुतेः । अग्निपक्षे उक्तगुणविशिष्टम् अग्निम् उद्दिश्य जुहोमि । आज्यम् इति सामर्थ्यात् लभ्यते । ततः विश्वकर्मणा देवेन विततम् विस्तृतम् उत्पादितम् इमम् अनुष्ठीयमानं यज्ञं देवाः इन्द्राद्या यष्टव्यदेवताः सुमनस्यमानाः सुमनस इव आचरन्तः अनुग्रहबुद्ध्युपेताः सन्तः आ यन्तु आगच्छन्तु । ❀ सुमनःशब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । तत्र वाग्रहणस्य अनुवृत्तस्य सलोपेन अभिसंबन्धात् तस्य च व्यवस्थितविभाषात्वाद् अत्र सलोपाभावः ❀ ।।

[इति] षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ।।

यह अग्नि यज्ञको नेत्रकी समान दिखाने वाले हैं, यज्ञके अधिष्ठात्री देवताके नेत्रेंद्रिय हैं † । सब यज्ञ अग्निको स्थापित करके

---

† मन्त्रमें भी कहा है, कि–"अग्निना यज्ञश्चक्षुष्मान्–यज्ञ अग्निसे नेत्र वाले हैं ।।

ही किये जाते हैं अत एव अग्नि यज्ञकी आदि हैं। और अग्निदेव यज्ञके मुख हैं ‡। और प्रयाज आदिमें सब देवताओंसे पहिले आपका पूजन होता है अतः आप मुखकी समान मुख्य है + ऐसे अग्निदेवके उद्देश्यसे मैं अनन्य व्यापारवाले श्रोत्र आदि युक्त मनसे पूजनीय देवताका ध्यान करता हुआ घृतकी आहुति देता हूँ अब विश्वकर्माके द्वारा उत्पन्न किये हुए इस अनुष्ठीयमान यज्ञमें पूजनीय इन्द्र आदि देवता अनुग्रह बुद्धि रख कर आवें ॥

अथवा—संस्तुत घृतभागका निष्पादक होनेसे घृत ही यज्ञका चक्षु है, और पहले घृतकी आहुति दीजाती है अतः घृत यज्ञका आदिभूत है और मुखकी समान प्रधान द्रव्य है ÷ ऐसे घृतको मैं मन्त्रके द्वारा श्रोत्र आदि सकल इन्द्रियोंको अनन्यभावसे लगा कर पूजनीय देवताका मनमें ध्यान करता हुआ—अग्निमें होमता हूँ × तदनन्तर विश्वकर्मा देवतासे उत्पादित इस चलते हुए यज्ञमें इन्द्र आदि पूजनीय देवता अनुग्रह बुद्धि रखकर आवें ॥ ५ ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (७०) ॥

---

‡ ऋग्वेदसंहिता २ । १ । १३ में कहा है, कि—"त्वमग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे ।—हे अग्ने ! देवता तुम को मुख और जिह्वा कहते हैं" ॥

+ ऐतरेयब्राह्मणमें कहा है, कि—"अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्—अग्नि देवताओंमें प्रथम हैं और मुख हैं" (ऐतरेयब्राह्मण १ । ४) ॥

÷ तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ३ । १ में कहा है, कि—"तं देवा अब्रुवन् । एष वाव यज्ञो यद् आज्यमप्येव नोऽत्रास्तु ॥—देवताओंने कहा, कि—जो घृत है यही यज्ञ है, यही हमें यहाँ मिले"

× "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां देवतां ध्यायेद् वषट् करिष्यन् ॥—जिस देवताके लिये हवि ग्रहण की जावे उस देवता का वषट् कह कर ध्यान करे" (ऐ० ब्रा० ३ । ८) ॥

"आ नो अग्ने" इति सूक्तेन पतिलाभकर्मणि आगमकृसरं संपात्य कुमारीम् आशयेत् ॥

तथा तस्मिन्नेव कर्मणि तस्या एव अलंकारगुग्गुल्वौक्षाणां संपातितानां क्रमेण बन्धनं धूपनं प्रलेपनं च कुर्यात् । औक्षशब्दः अग्रे व्याख्यास्यते ॥

तथैव अनेन सूक्तेन रात्रौ व्रीहान् हुत्वा कुमारीं दक्षिणेन प्रक्रामयेत् ॥

एवम् अनेनैव सूक्तेन संपातवतीं नावं कन्याम् आरोप्य "भगस्य नावम्" इति पञ्चम्यर्चा ताम् उत्तारयेत् ॥

तथा पतिलाभविज्ञानकर्मणि सप्तदामतन्त्र्यां संपातवत्यां सप्त वत्सान् बन्धयित्वा कुमार्या मोचयेत् । सा यदि प्रदक्षिणं मुञ्चेत् तर्हि पतिलाभं जानीयात् ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन अहतवस्त्रेण वेष्टितम् ऋषभं संपात्य विसर्जयेत् ॥

अत्र "पतिवेदनान्या नो अग्न इत्यागमकृसरम् आशयति मृगाखराद् वेद्यां मन्त्रोक्तानि संपातवन्ति" इत्यादि [कौ० ४. १०] सूत्रं द्रष्टव्यम् ॥

तथा अनेनैव सूक्तेन विवाहकर्मणि आगमकृसरं संपात्य अभिमन्त्र्य कन्यकां प्राशयेत् । तद् उक्तं सूत्रकृता । "अथ विवाहः" इति प्रक्रम्य "पूर्वापरम् [७. ८६] इत्युपदधीत । पतिवेदनं [२. ३६] च" इति [कौ० १०. १]। अत्र पतिवेदनशब्देन पतिलाभसाधनत्वाद् इदमेव सूक्तं विवक्षितम् ॥

पतिको प्राप्त करनेके कर्ममें आ नो अग्ने–सूक्तसे आगमकृसर (तिल चावल) का सम्पात कर कुमारीको खिलावे ॥

तथा इसी कर्ममें संपातित अलंकार गूगल और औक्षको क्रमशः कुमारीके बाँधे धूप देव और लेप करे । (औक्ष शब्दका अर्थ आगे किया जावेगा) ॥

तथा इसी सूक्तसे रात्रिमें धानोंकी आहुति देकर कुमारीको दक्षिणसे परिक्रमा करावे ॥

तथा इसी सूक्तसे सम्पात वाली नाव पर कुमारीको चढ़ा कर "भगस्य नावम्" इस पाँचवी ऋचासे उसको उतारे ॥

तथा पतिलाभविज्ञान नाम वाले कर्ममें सम्पात वाली सप्तदामतंत्रीमें सात बछड़ोंको बाँधकर कुमारीसे छुड़वावे। वह यदि दक्षिणको छोड़े तो पतिका लाभ जाने।

तथा इसी सूक्तसे विना फटे कोरे वस्त्रसे लिपटे हुए ऋषभके निमित्त होम कर उसको छोड़ देय ॥

इस विषयमें कौशिकसूत्रका प्रमाण भी है, कि-"पतिवेदनान्या नो अग्न इत्यागमकुसरम् सम्पात्य अभिमन्त्र्य कन्यकां प्राशयेत् ॥" (कौशिकसूत्र ४। १०) ॥

तथा विवाहकर्ममें इसी सूक्तसे आगमकुसरका सम्पातन और अनुमन्त्रण करके कन्याको खिलावे। इसी बातको सूत्रकारने कहा है, कि-"अथ विवाहः" इति प्रक्रम्य "पूर्वापरम् (७।८६) इत्युपदधीत। पतिवेदनं (२। ३६) च" (कौशिकसूत्र १०।१) यहाँ पर पतिवेदन शब्द पतिलाभका साधन है। अत एव इसी सूक्तको कहा है ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं॑ सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॒मारीं॑ स॒ह नो॒ भगे॑न ।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ।१।

आ । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । सु॒ऽम॒तिम् । स॒म्ऽभ॒लः । ग॒मे॒त् । इ॒माम् ।

कु॒मा॒रीम् । स॒ह । नः॒ । भगे॑न ।

जु॒ष्टा । व॒रे॑षु । स॒म॑नेषु । व॒ल्गुः । ओ॒षम् । पत्या॑ । सौभ॑गम् । अ॒स्तु॒ । अ॒स्यै ॥ १ ॥

हे अग्ने संभलः संभाषकः समादाता वा कन्यार्थी पुरुषः नः अस्माकं कन्यावतां सुमतिम् शोभनां बुद्धिम् आ गमेत् आगच्छतु अस्मद्बुद्ध्यनुसारेण सर्वलक्षणसंपूर्णः अभिलषितो वरः प्राप्नोतु । यद्वा संभलो हिंसकः पूर्वम् अभिलाषविघाती कन्याम् अनिच्छन् पुरुषः सुमतिम् एतत्कामनायुक्तां कल्याणीं बुद्धिं प्राप्य नः अस्मान् आ गमेत् । कन्यां वरयितुम् इति शेषः । ❀ भल भल्ल परिभाषणहिंसादानेषु । अस्मात् संपूर्वात् पचाद्यच् । गमेदिति । “लिङ्याशिष्यङ्” इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥ आगत्य च भगेन भाग्येन सह नः अस्मदीयाम् इमां कुमारीम् । आ गमेत् इत्यनुषङ्गः । ❀ कुमारशब्दाद्द “वयसि प्रथमे” इति ङीप् ❀ ॥ ततः समनेषु समानमनस्केषु । ❀ सलोपश्छान्दसः ❀ । यद्वा समानं मन्यमानेषु सहृदयेषु । ❀ मन्यतेः पचाद्यच् ❀ । वरेषु वरयितृषु कन्यावरणार्थम् आगतेषु वरपक्षीयेषु । उक्तं हि वरप्रेषणम् आपस्तम्बेन । “सुहृदः समवेतान् मन्त्रवतो वरान् प्रहिणुयात्” इति [आप० गृ० १. ४] । तेषु जुष्टा प्रीता वरयितृपुरुषसंमता सती वल्गुः रुचिरा प्रीतिजननी स्यात् । ❀ “जुष्टार्पिते च छन्दसि” “नित्यं मन्त्रे” इति जुष्टशब्द आद्युदात्तः ❀ । ऊषम् ऊषति रुजति अपनुदति दुःखजातम् इति ऊषम् सुखकरम् । ❀ ऊष रुजायाम् इति धातोरच् । यद्वा वस निवासे इत्यस्माद्द “घञर्थे कविधानम्” इति करणे कप्रत्ययः । यजादित्वात् संप्रसारणे “कृञादीनां के द्वे भवतः” इति द्विर्वचने सवर्णदीर्घे “शासिवसिघसीनाम्०” इति षत्वे च रूपम् ❀ । पत्या सह निवाससाधनं सौभगम् सौभाग्यम् अस्मै अस्याः कुमार्यै [कुमार्याः] अस्तु भवतु । ❀ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सौभगशब्दस्य अञ् प्रत्ययः उत्तरपदवृद्ध्यभावश्च प्राग् उक्तः ❀ ॥

हे अग्ने ! सुन्दर भाषण करने वाला कन्याको ग्रहण करनेकी उत्कट इच्छा वाला कन्यार्थी पुरुष हम कन्या वालोंकी शोभन बुद्धिमें आवे अर्थात् हमारी बुद्धिके अनुसार सर्वलक्षणसम्पन्न वर प्राप्त हो । वा पहिले जो हमारी अभिलाषाको नष्ट कर चुका है वह कन्याको न चाहने वाला पुरुष इस कन्याकी कामना वाली कल्याणी बुद्धिको पाकर हमारे पास आवे । और आकर ऐश्वर्यके साथ हमारी कन्यासे मिले । तदनन्तर यह कन्याका बरण करनेके लिये आये हुए सहृदय वरपक्षियों (वरातियों) से † माननीय होकर उनको अच्छी लगे, फिर इस कुमारीको पतिके साथ रहना रूप सौभाग्य प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सोम॑जुष्ट॒ं ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑त॒ं भग॑म् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृ॒णोमि॑ प॒तिवेद॑नम् ॥ २ ॥

सोम॑ऽजुष्टम् । ब्रह्म॑ऽजुष्टम् । अ॒र्य॒म्णा । सम्ऽभृ॑तम् । भग॑म् ।
धा॒तुः । दे॒वस्य॑ । स॒त्येन॑ । कृ॒णोमि॑ । प॒ति॒ऽवेद॑नम् ॥ २ ॥

सोमजुष्टम् सोमदेवेन सेवितं ब्रह्मजुष्टम् ब्रह्मणा परिवृढेन गन्धर्वेण च जुष्टम् । अर्यम्णा । अत्र अर्यमशब्देन विवाहाग्निरुच्यते । "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निम् अयक्षत" इति [आश्व० गृ० १. ७. १३] मन्त्रवर्णात् । तेन च संभृतम् स्वीकृतं भगम् कन्यारूपं भागधेयं धातुः "धाता गर्भं दधातु ते" इति [ऋ० १०. १८४. १]

---

† आपस्तम्बमुनिने कन्याके यहाँ वरको भेजनेका आदेश दिया है, कि—"सुहृदः समवेतान् मन्त्रतो वरान् प्रहिणुयात् ॥—मन्त्र वाले मित्रोंको एकत्रित कर वरपक्ष वाले वरको भेजें" (आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र १ । ४) ॥

प्रसिद्धस्य देवस्य सत्येन अनुज्ञारूपेण यथार्थवचनेन पतिवेदनम् देवताव्यतिरिक्तस्य मनुष्यरूपस्य पत्युर्लम्भकं कृणोमि करोमि । सोमादिदेवतात्रयोपभोगानन्तरं कन्याया मानुषपतिसंबन्धः श्रुत्यन्तरे समाम्नायते । "सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः" [ऋ०१०.८५.४०] इति॥

सोमदेवतासे सेवित, गंधर्वसे सेवित अर्यमा नामक विवाहाग्नि से † स्वीकृत कन्यारूप ऐश्वर्यको प्रसिद्ध देव धाताके ‡ आज्ञारूप यथार्थवचनसे देवताओंसे अतिरिक्त मनुष्यरूप पतिको पाने वाला करता हूँ ÷ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इ॒यम॑ग्ने॒ नारी॒ पतिं॑ विदे॒ष्ट सोमो॒ हि राजा॑ सु॒भगां॑
कृ॒णोति॑ ।
सुवा॑ना पु॒त्रान् महि॑षी भवाति ग॒त्वा पतिं॑ सु॒भगा॒
वि रा॑जतु ॥ ३ ॥

---

† यहाँ पर मूलके अर्यमाशब्दका आश्वलायन गृह्यसूत्रकेमन्त्रके अनुसार विवाहाग्नि अर्थ लिया गया है। "अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निं अयक्षत" (आश्वलायनगृह्यसूत्र १ । ७ । १३)॥

‡ "धाता गर्भं दधातु ते–धाता तुझमें गर्भ धारण करनेकी शक्ति स्थापित करें" ऋग्वेदसंहिता (१० । १८४ । १) ॥

÷–सोम आदि तीन देवताओंके उपभोगके अनन्तर कन्याका मनुष्य पतिसे संबंध अन्य श्रुतियोंमें भी वर्णित है। यथा–'सोमः प्रथमो विविदे गंधर्वो विविद उत्तरः।तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥–सोम तेरे पहिले पति हैं, गंधर्व तेरे दूसरे पति हैं, अग्नि तेरे तीसरे पति (रक्षक) हैं और मनुष्य तेरा चौथा पति है"।

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्ट । सोमः । हि । राजा ।
सुऽभगाम् । कृणोति ।
सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा । पतिम् । सुऽभगा ।
वि । राजतु ॥ ३ ॥

हे अग्ने इयम् अस्मदीया नारी कुमारी पतिं विदेष्ट विन्दतां लभताम् । ❀ विद्लृ लाभे इत्यस्माद् आशिषि लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" । "छन्दस्युभयथा" इति लिङः सार्वधातुकत्वात् सीयुटः सलोपः । "सुट् तिथोः" इति सुडागमः ❀ ॥ हि यस्मात् सोमो राजा सुभगाम् सौभाग्ययुक्तां कृणोति करोति । ❀ सुभगाम् इति । "आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि" इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ❀ ॥ पतिलाभानन्तरं पुत्रान् सुवाना जनयन्ती । ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । आदादिकः ❀ । महिषी महनीया श्रेष्ठा भार्या भवाति भवतु । ❀ महिषीति । मह पूजायाम् । अविमह्योष्टिषच् [उ० १. ४५] । टित्वान्ङीप् ❀ ॥ इत्थं पतिं गत्वा लब्ध्वा सुभगा सौभाग्ययुक्ता सती विराजतु विशेषेण तेजस्विनी भवतु ॥

यह हमारी कुमारी पतिको प्राप्त हो । राजा सोम इसको सौभाग्ययुक्त करें । पतिको प्राप्त करनेके अनन्तर यह पुत्रको उत्पन्न करे यह श्रेष्ठ भार्या हो । इस प्रकार यह पतिको पाकर सौभाग्यवती हो परमतेजस्विनी होवे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥ ४ ॥

यथा॑ । आ॒ऽख॒रः । म॒घ॒ऽव॒न् । चा॑रुः । ए॒षः । प्रि॒यः । मृ॒गाणा॑म् ।
सु॒ऽसदा॑ः । ब॒भूव॑ ।

ए॒व । भग॑स्य । जु॒ष्टा । इ॒यम् । अ॒स्तु॒ । नारी॑ । सम्ऽप्रि॑या ।
पत्या॑ । अवि॑ऽराधयन्ती ॥ ४ ॥

मघवान् मंहनीयभोग्यपदार्थयुक्तः चारुः शोभनः मृगाणाम् आखरः निजावासप्रदेशः । ❀ खनु अवदारणे इत्यस्माद् आङ्पूर्वात् "डरो वक्तव्यः" इति डरः । टिलोपः ❀ । स प्रदेशः प्रियः सन् यथा येन प्रकारेण सुषदाः सुखेन स्थातुं योग्यो बभूव भवति । ❀ छान्दसो लिट् । सुपूर्वात् सदेरसुनि रूपम् ❀ । एव एवम् इयं नारी भगस्य भाग्येन जुष्टास्तु । किं कुर्वती । पत्या भर्त्रा सह संप्रिया संप्रियाणि सम्यक्प्रीतिकराणि भोग्यानि वस्तूनि अभिराधयन्ती अभिवर्धयन्ती । यद्वा पत्या सह संप्रिया संप्रीयमाणा अभिराधयन्ती पुत्रपश्वादिभिः समृद्धा भवन्ती ॥

प्रशंसनीय भोग्य पदार्थोंसे सम्पन्न शोभन आवास आवासस्थान जैसे मृगोंको प्रिय और सुखसे रहने योग्य होता है । इसी प्रकार यह नारी पतिके साथ प्रीति कर भोग्य वस्तुओंको बढ़ाती हुई भाग्यवती रहे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

भग॑स्य॒ नाव॒मा रोह॑ पू॒र्णामनु॑पदस्वतीम् ।
तयो॑प॒प्रता॑रय॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य᳡ः ॥ ५ ॥

भग॑स्य । नाव॑म् । आ । रो॒ह॒ । पू॒र्णाम् । अनु॑पऽदस्वतीम् ।
तया॑ । उ॒प॒ऽप्रता॑रय । यः । व॒रः । प्र॒ति॒ऽका॒म्य᳡ः ॥ ५ ॥

भगस्य भाग्यस्य प्राप्तिसाधनभूतां पूर्णाम् अभिमतफलैः परिपूरिताम् अनुपदस्वतीम् क्षयरहितां नावम् हे कन्ये त्वम् आ रोह ॥ तथा उक्तलक्षणया नावा उप अभिलष्यमाणपतिसमीपं प्रतारय आत्मानं प्रापय । प्रतिकाम्यः अयमेव मे भर्ता स्याद् इति प्रतिनियतं काम्यमानो यो वरः पतिस्तस्य समीपम् इति पूर्वत्र संबन्धः ॥

हे कन्ये ! तू भाग्यप्राप्तिकी साधनरूप अभिलषित फलोंसे परिपूरित क्षयरहित नाव पर चढ़ और इस नावके द्वारा अभिलषित पतिके पास अपनेको पहुँचा दे, यही मेरा वर है ऐसे काम्यमान नियत वरके पास अपनेको पहुँचा दे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

आ क्र॑न्दय धनपते व॒रमाम॑नसं कृणु ।
सर्वं॑ प्रदक्षि॒णं कृ॑णु॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्य॑ः ॥ ६ ॥

आ । क्र॒न्द॒य॒ । ध॒न॒ऽप॒ते॒ । व॒र॑म् । आऽम॑नसम् । कृ॒णु॒ ।
सर्व॑म् । प्र॒ऽद॒क्षि॒णम् । कृ॒णु॒ । यः । व॒रः । प्र॒ति॒ऽका॒म्य॑ः ॥ ६ ॥

हे धनपते वैश्रवण वरम् वरयितारं पतिम् आ क्रन्दय एषा कन्या मे जाया भूयाद् इति संततम् उद्घोषय । अभिधापयेत्यर्थः । ❀ "आङः क्रन्द सातत्ये" इति णिच् ❀ । यद्वा वरम् आ क्रन्दय एतत्कन्याभिमुखम् आह्वय । ❀ क्रदि आह्वाने ❀ ॥ तथा आमनसम् अभिमुखमनस्कं कृणु कुरु ॥ किं च सर्वम् प्राणिजातं प्रदक्षिणम् प्रदक्षिणाचारं विवाहानुकूलव्यापारं कृणु कुरु । यो वरः प्रतिकाम्यः । उक्तोर्थः । तस्मै सर्वं प्रदक्षिणं कुरु इति संबन्धः ॥

हे धनपते वरुण ! पतिसे उद्घोष कराइये कि—"यह कन्या मेरी पत्नी हो" वरको इस कन्याके अभिमुख बुलाइये और वर के मनको इस कन्या की ओर करिये । सब प्राणियोंको विवाहके

अनुकूल व्यापार वाला करिये और अभिलषित वरको विवाहके अनुकूल व्यापार वाला करिये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इ॒दं हिर॑ण्यं॒ गुल्गु॑ल्व॒यमौ॒क्षो अ॒थो भग॑ः ।
ए॒ते पति॑भ्य॒स्त्वाम॑दुः प्रति॒का॒माय॒ वेत्त॑वे ॥ ७ ॥

इ॒दम् । हिर॑ण्यम् । गुल्गु॑लु । अ॒यम् । औ॒क्षः । अ॒थो इति॑ । भग॑ः ।
ए॒ते । पति॑ऽभ्यः । त्वाम् । अ॒दु॒ः । प्र॒ति॒ऽका॒माय॑ । वेत्त॑वे ॥७॥

इदं हिरण्यम् हिरण्मयालंकारः गुग्गुलु धूपनद्रव्यविशेषः प्रसिद्धः। अयम् औक्षः प्रलेपनद्रव्यम्। तत्स्वरूपं च कौशिकसूत्रभाष्यकारैर्दर्शितम्।

आवपेत् सुरभीन् गन्धान् क्षीरं सर्पिस्तथोदके।
एतद्ध आयनम् इत्याहुरौक्षं तु मधुना सह।

इति [के० ४. १०, १०. ५]। अथो अपि च तेषां अलंकारादीनाम् अधिष्ठाता [भगः] एतन्नामा देवः एते सर्वे धारणधूपनलेपनैः हे कुमारि त्वां पतिभ्यः सोमगन्धर्वाग्निभ्यः प्रतिकामाय प्रतिनियतम् एनां कन्यां कामयमानं मानुषं पतिं वेत्तवे वेत्तुं लब्धुम् अदुः दत्तवन्तः। ❀ दाञो लुङि "गातिस्था०" इति सिचो लुक्। प्रतिकामाय। "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वात् चतुर्थी। वेत्तवे इति। "तुमर्थे सेसेनसे०" इत्यादिना विदेर्लाभार्थात् तवेप्रत्ययः ❀ ॥

हे कुमारी ! यह सुवर्णमय अलङ्कार, धूप देनेकी यह गूगल और यह लेप करनेका द्रव्य औक्ष † तथा इन अलंकार आदिके

---

† केशवीगृहपद्धति ४। १०, १०। ५ में कहा है, कि–"आवपेत् सुरभीन् गन्धान् क्षीरं सर्पिस्तथोदके। एतद्ध आयनमित्याहुरौक्षं

अधिष्ठाता देवता भगं—ये सब देवता धारण धूपन और लेपनोंके द्वारा तुझको सोम गंधर्व और अग्नि नामक पतियों (रक्षकों) से नियत मनुष्य पतिको पानेके लिये दे रहे हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते । नयतु । सविता । नयतु । पतिः । यः । प्रतिऽकाम्यः ।
त्वम् । अस्यै । धेहि । ओषधे ॥ ८ ॥

हे कन्ये ते त्वाम् अभिलक्ष्य सविता सर्वस्य प्रेरको देवः आ नयतु वरम् आगमयतु । यः प्रतिकाम्यः । उक्तोर्थः । पति सोपि नयतु उपयम्य त्वां स्वगृहं प्रापयतु ॥ तथा हे ओषधे व्रीह्यात्मके त्वम् अस्यै कुमार्यैं धेहि पतिं विधेहि । प्रयच्छेत्यर्थः । ❀ "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ ❀ ॥

द्वितीये काण्डे षष्ठेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

समाप्तश्च षष्ठोनुवाकः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरप्रतापहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये अथर्ववेदार्थ प्रकाशके द्वितीये काण्डे षष्ठोनुवाकः ॥

समाप्तं द्वितीयं काण्डम् ॥

तु मधुना सह ॥—सुगंधित चन्दन दूध घी और जलको एकत्रित करके इनको मधुके साथ मिलावे इसको औक्ष कहते हैं ॥"

हे कन्ये ! तेरी ओर ध्यान देकर सबके प्रेरक सूर्यदेव वरको तेरे समीप लावें और तेरा जो नियत पति है वह भी तेरे साथ विवाह कर तुझे अपने घरको ले जावे तथा हे व्रीहि आदि औषधे ! तुम इस कुमारीके लिये पतिको दो ॥ ८ ॥

द्वितीयकाण्डके छठे अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (७१) ॥

छठा अनुवाक समाप्त

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका द्वितीयकाण्ड ऋ० कु०
प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका
सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र
शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल
भाषानुवाद सहित

4450

4450

वैदिक-ग्रन्था :

१	**ऋग्वेद प्रातिशाख्यम्**। उव्वट्-भाष्य-हिन्दी टीका सहित। डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा	(चौ. प्रति. ११)	१५०-००
२	**हिन्दी ऋग्वेदभाष्य-भूमिका**। श्री जगन्नाथ पाठक।	(वि. सं. ४५)	१५-००
३	**ऋग्वेदसंहिता**। (प्रथम अध्याय, सूक्त १-१९) सम्पादक — प्रो॰ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'	(वि. सं. १६३)	६०-००
४	**ऋग्वेद :**। पदपाठ। **सायणभाष्य हिन्दी टीका सहित** (१-९ भाग सम्पूर्ण)		**२५००-००**
५	ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्। सायणाचार्यकृत भाष्य सहित। सम्पा.—आनन्दचन्द्रवेदान्तवागीश १-२ भाग	(व्रज.प्रा. ३८)	१०००-००
६	**निरुक्त**। १-७ अध्याय। विवेचनात्मक बृहत् हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित। व्याख्याकार — डॉ॰ उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'	(वि. सं ५७)	५०-००
७	अथर्ववेदः। सायणाचार्य कृत भाष्य सह हिन्दी व्याख्या सहित। रामस्वरूप शर्मा 'गौड़' १-८ भाग सम्पूर्ण	(वि.प्रा. १८)	१५००-००
८	**मूल-संस्कृत-उद्धरण**। (ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स) लेखक — प्रो॰ जे॰ मूइर। हिन्दी अनुवादक — डॉ॰ रामकुमार राय। (१-५ भाग)	(वि. रा. ६७)	५००-००
९	**वेदकालीन समाज**। डॉ॰ शिवदत्त शर्मा	(वि. रा. १०७)	७५-००
१०	**सामवेदः**। सायणाचार्यकृत भाष्य सह हिन्दी व्याख्या सहित।	(त्रि.प्रा. ७)	२००-००
११	**शुक्लयजुर्वेदसंहितां**। मूलमात्र। (निर्णयसागर संस्करण (पत्रात्मक १००-०० सजिल्द		१२५-००
१२	निरुक्तम्। दुर्गाचार्यकृत ऋज्वर्थाख्य व्याख्यानुसारिणी	संस्कृत व्याख्या	२००-००
१३	**वैदिक इण्डेक्स**। (वैदिक-कोष) मैकडोनेल और कीथ। (हिन्दी रूपान्तर) अनुवादक — डॉ॰ रामकुमार राय। (१-२ भाग सम्पूर्ण)	(वि. रा. ४६)	४००.००
१४	**वैदिक एवं वेदोत्तर भारतीय संस्कृति**। श्रीगङ्गाधरमिश्र	(चौ. भा. ५)	३०-००
१५	**वैदिक निबन्धावली**। डॉ॰ मुन्शीराम शर्मा	(वि. रा. ६१)	२०-००
१६	**वैदिक माइथोलॉजी**। (वैदिक पुराकथाशास्त्र) प्रो॰ ए॰ ए॰ मैकडोनल। (हिन्दी रुपान्तर) अनुवादक — डॉ॰ रामकुमार राय नवीन संस्करण	(वि. रा. ४०)	८०-००
१७	**वैदिक युग के भारतीय आभूषण**। डॉ॰ रायगोविन्दचन्द	(वि. रा. ८४)	७५-००
१८	**वैदिक योगसूत्र**। श्री हरिशंकर जोशी।	(चौ. रा. ३)	७५-००
१९	प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन		५०-००
२०	**(हिन्दी) वैदिक व्याकरण**। श्री उमेशचन्द्र पाण्डेय	(वि. रा. ३७)	८-००
२१	**वैदिक साहित्य और संस्कृति**। वाचस्पति गैरौला	(चौ. प्रति. १४)	७५-००
२२	**वैदिक साहित्य का इतिहास**। डॉ॰ पारसनाथ द्विवेदी	(चौ. भा. ७)	३०-००
२३	**वैदिक साहित्य की रूपरेखा**। प्रो॰ हंसराज अग्रवाल	(वि. रा. ८७)	१०-००
२४	वैदिक वाङ्मयस्येतिहासः। आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र	(चौ.सु. १५१)	६०-००
२५	**शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यम् अथवा वाजसनेयिप्रातिशाख्यम्**। भाष्यद्वयसहित। टीकाकार — डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा	(चौ. प्रति. १६)	८०-००